

MARATHI KE SANT-BHAKT KAVION KI HINDI KAVITAON KA AITIHASIK ADHYAYAN

A thesis submitted during (Year) 2015 to the University of Hyderabad in partial
fulfillment of the award of a **Ph.D.degree** in Hindi, school of Humanities.

By
MOBIN JAHORODDIN



Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
(Po) Central University, Gachibowli
Prof. C.R. Rao Road
Telangana
India

DECLARATION

I, MOBIN JAHORODDIN hereby declare that this thesis entitled **“MARATHI KE SANT-BHAKT KAVION KI HINDI KAVITAON KA AITIHASIK ADHYAYAN”** (मराठी के सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का ऐतिहासिक अध्ययन) submitted by me under the guidance and supervision of Prof. Ravi Ranjan, is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma which is plagiarism free thesis.

Date: 13 January, 2015

Name: Mobin Jahroddin



CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled “**MARATHI KE SANT-BHAKT KAVION KI HINDI KAVITAON KA AITIHASIK ADHYAYAN**” (मराठी के सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का ऐतिहासिक अध्ययन) submitted by **MOBIN JAHORODDIN** bearing **Regd.No.10HHPH10** in partial fulfillment of the requirement for the award of Doctor of Philosophy in Hindi as a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of Supervisor

Head of the Department

Dean of the school

अनुक्रमणिका

भूमिका	I-VI
ऋणनिर्देश	VII-X

प्रथम अध्याय : दक्षिण में भक्ति आन्दोलन एवं उसकी ऊर्ध्वगामी यात्रा	1-23

- 1.1 भक्ति और आन्दोलन
- 1.2 'भक्ति द्राविड़ी उपजी' : एक दृष्टिक्षेप
- 1.3 तमिळ एवं कन्नड क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन : अथ, सामाजिक भूमिका एवं संक्रमण
- 1.4 'लाए रामानन्द' : मूल्यसंक्रमण एवं मूल्यवहन की धारणाएँ
- 1.5 मराठी भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि : महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय का प्रसार
- 1.6 'ज्ञानापासि प्रेम उत्तम' : महानुभाव पंथ

द्वितीय अध्याय : मराठी भक्ति आन्दोलन एवं साहित्य	24-55

तृतीय अध्याय : मराठी सन्त-भक्त हिन्दी कवि : समय, समाज एवं साहित्य	56-130

- 3.1 मराठी सन्त-भक्त हिन्दी कवि : समय, समाज एवं जीवन संघर्ष
 - 3.1.1 आद्यकवि मुकुंदराज
 - 3.1.2 चक्रधर
 - 3.1.3 महानुभाव पंथ की रचनाकार के रूप में स्त्री जीवन : महदंबा
 - 3.1.4 दामोदर पण्डित
 - 3.1.5 त्रिलोचन
 - 3.1.6 'ज्ञानदेवे रचियला पाया' : ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई
 - 3.1.7 'नामा तयाचा किंकर' - नामदेव का जीवन एवं समय
 - 3.1.8 भानुदास
 - 3.1.9 गोंदा
 - 3.1.10 सेनानाई
 - 3.1.11 'वे' दो सौ से अधिक वर्ष और एकनाथ कालीन भक्ति आन्दोलन एवं समाज
 - 3.1.12 'तुका झालासे कळस' - तुकोबा का जीवन-संघर्ष एवं सामाजिक जीवन
 - 3.1.13 तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन एवं रामदास
 - 3.1.14 बहेणाबाई का जीवन-वृत्त

3.2 मराठी कविताएँ : अन्तर्वस्तु विवेचन एवं रूप-विवेचन

- 3.2.1 मुकुंदराज का 'विवेकसिंधू'
- 3.2.2 चर्चक महतारी : महदंबा का मराठी काव्यत्व
- 3.2.3 करुणा के गायक दामोदर पण्डित की मराठी रचनात्मकता
- 3.2.4 दयनीय महानता : ज्ञानेश्वर एवं बहन मुक्ताबाई
- 3.2.5 आदि अभंगकार नामदेव का मराठी काव्य
- 3.2.6 कीर्तन, अभंग छन्द और नामदेव की मराठी कविताओं का रूप-विधान
- 3.2.7 विठ्ठल रक्षक भानुदास
- 3.2.8 आम्हीं वारीक वारीक : सेनानाई
- 3.2.9 लोक एवं शास्त्र के रचनाकार : एकनाथ के मराठी साहित्य का स्वरूप
- 3.2.10 शिखरपुरुष तुकोबा का मराठी काव्य
- 3.2.11 तुकोबा की मराठी कविताओं का रूप विधान
- 3.2.12 'गुरु' रामदास का मराठी काव्य
- 3.2.13 रामदास के मराठी काव्य का रूप विधान
- 3.2.14 जीवन कथा से गाथा तक : बहेणाबाई का मराठी काव्य
- 3.2.15 बहेणी म्हणे : बहेणाबाई की मराठी कविताओं का रूप-विधान

चतुर्थ अध्याय :

मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : भक्ति, प्रतिरोध और पॉलिमिक्स 131-236

4.1 मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य : पाठ परम्परा

- 4.1.1 चक्रधर की एकमात्र हिन्दी कविता
- 4.1.2 महदंबा
- 4.1.3 दामोदर पण्डित
- 4.1.4 त्रिलोचन, नामदेव और सेनानाई की कविताएँ : पाठ की शुद्धता एवं शुद्ध पाठ
- 4.1.5 ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई
- 4.1.6 भानुदास
- 4.1.7 एकनाथ
- 4.1.8 तुकोबा की हिन्दी कविताएँ : हस्तलिखित प्रतियों से संकेतस्थल तक
- 4.1.9 रामदास
- 4.1.10 बहेणाबाई

4.2 मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य : वस्तुगत अध्ययन

- 4.2.1 चक्रधर
- 4.2.2 महदंबा
- 4.2.3 दामोदर पण्डित
- 4.2.4 त्रिलोचन

- 4.2.5 ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई
- 4.2.6 नामदेव
- 4.2.7 भानुदास एवं सेनानाई
- 4.2.8 एकनाथ
- 4.2.10 प्यार खुदाई रे बाबा, जिकिर खुदाई : तुकोबा
- 4.2.11 रामदास का हिन्दी का काव्य
- 4.2.12 'वो हि सत्य जान' : बहेणाबाई

पंचम अध्याय : मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : रूपगत अध्ययन 237-259

- 5.1 चक्रधर एवं महदंबा
- 5.2 दामोदर पण्डित
- 5.3 त्रिलोचन
- 5.4 ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई
- 5.5 नामदेव की हिन्दी कविताओं का रूप-विधान
- 5.6 भानुदास
- 5.7 एकनाथ की कविताओं का पाठक-श्रोता केन्द्रीत रूप-विधान
- 5.8 'राग कला नहीं जानत तुका': तुकोबा की हिन्दी कविताओं का रूप-विधान
- 5.9 'हिन्दुस्तानी' का विकास और रामदास के हिन्दी काव्य का रूप विधान
- 5.10 बहेणाबाई की भाषा एवं शैली

षष्ठम अध्याय : परवर्ती मराठी सन्त भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : विविधांगी अध्ययन 260-302

- 6.1 दासपंचायतन का हिन्दी काव्य
 - 6.1.1 रंगनाथ स्वामी
 - 6.1.2 केशव स्वामी
- 6.2 समर्थ शिष्यों एवं रामदासी सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य
 - 6.2.1 कल्याण
 - 6.2.2 बयाबाई
- 6.3 सम्प्रदाय निरपेक्ष कवि
 - 6.3.1 मध्वमुनि
 - 6.3.2 अमृतराय
 - 6.3.3 सिद्धेश्वर महाराज
 - 6.3.4 माधव
- 6.4 एक लम्बी परम्परा का विस्तार
 - 6.4.1 शिवदीन केसरी
 - 6.4.2 नरहरिनाथ

सप्तम अध्याय : हिन्दी भक्ति आन्दोलन और मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ : तुलनात्मक अध्ययन	303-318

अष्टम अध्याय :

मराठी सन्त-भक्त कवियों की मराठी-हिन्दी कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन	319-354

- 8.1 महदंबा की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना
- 8.2 दामोदर पण्डित
- 8.3 ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई
- 8.4 नामदेव की मराठी-हिन्दी कविताओं की तुलना
- 8.5 गोंदा
- 8.6 भानुदास
- 8.7 सेनानाई
- 8.8 एकनाथ की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना
- 8.9 तुकोबा की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना
- 8.10 रामदास की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना
- 8.11 बहेणाबाई की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना

उपसंहार	355-366

आधार ग्रंथ सूची	367-374

भूमिका

सुविख्यात इतिहासकार ई.एच कार ने कहा था कि 'इतिहास दरअसल इतिहासकार तथा तथ्यों के साथ निरन्तर चलती अन्तक्रिया एवं अतीत के साथ वर्तमान के लगातार जारी संवाद' का दूसरा नाम है। ('History is a continuous process of interaction between the historian and his facts, an unending dialogue between the present and the past.') इस रूप में देखा जाए तो इतिहास एवं इतिहासकार की समकालीन समाज के निर्माण-पुनर्निर्माण में जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है। वह मात्र तथ्यों का प्रस्तोता एवं व्याख्याकार नहीं रह जाता है। इस पर भी निर्भर करता है कि इतिहासकार तथ्यों को किस दृष्टि से देख रहा है, किस भूमि पर खड़ा होकर देख रहा है, उसका सामाजिक और राजनैतिक नज़रिया किन तथ्यों को महत्व देता है। ऐसे में यह लगभग तय है कि इतिहास का वस्तुनिष्ठ लेखन असंभव कार्य है। वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन कुछ-कुछ मिथक जैसा है। जिसे आसानी से नकारा भी नहीं जा सकता, किन्तु पूर्णतः स्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त भारतीय उपमहाद्वीप के सामाजिक इतिहास पर राजनैतिक इतिहास को हावी होते हुए देखा जा सकता है। यहाँ का अधिकांश इतिहास लेखन राजा-रानी, राजघरानों-युद्धों का इतिहास रहा है। इसमें भी बेन जॉन्स्टन द्वारा प्रस्तावित इतिहास के तीसरे हिस्से का ही आधिक्य देखा जा सकता है। बेन जॉन्स्टन ने इतिहास को तीन हिस्सों में प्रस्तावित किया है : स्मृतियों में बसा इतिहास (Remembered History), खोजा गया इतिहास (Recovered History) और सर के बल खड़ा किया गया इतिहास (Inverted History)। जहाँ स्मृतियों में बसे इतिहास को वैज्ञानिक इतिहास लेखन के नाम पर अछूत माना गया तो अपनी आवश्यकताओं के अनुसार इतिहास को खोजकर प्रस्तुत किया जाना भी ऐतिहासिक तथ्य है। इसके पिछे इतिहास को अपने राजनैतिक लाभों के लिए इतिहास को अपने अनुसार सर के बल खड़ा करने का उद्देश्य था। भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में यहाँ के इतिहास के साथ खिलवाड़ के पिछे यहाँ उपस्थित विस्तृत बाज़ार को कारण के रूप में देखा जा सकता है।

साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में देखा जाए तो, यह प्रक्रिया और भी अधिक जटिल, बहुआयामी एवं बहुस्तरीय हो जाती है। साहित्येतिहास लेखन समाज विज्ञान शाखा के इतिहास लेखन जितना ही महत्वपूर्ण एवं उन्हीं आवश्यकताओं की माँग करता है, तो दूसरी ओर साहित्य की किसी भी विधा

जितना ही रचनात्मक कार्य होता है। साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों को निर्धारणवादी दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। इतिहास कोई भी हो, उसे आलोचनात्मक दृष्टिकोण के अभाव में लिखा ही नहीं जा सकता है। आलोचनात्मक दृष्टिकोण के अभाव में इतिहास लेखन के वर्तमान से कटने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है। इस रूप में इतिहास को वर्तमान प्रभावित करता है। इतिहास में कई घटनाओं, व्यक्तियों एवं उनके अवदान का भी स्थान वर्तमान निर्धारित करता है। इस रूप में इतिहास को अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता है। वर्तमान की आवश्यकताओं एवं दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास में बदलाव भी देखे जा सकते हैं। भूतकाल में हुई घटनाओं के सन्दर्भ में हुए शोध भी इतिहास को बदलने का कार्य करते हैं। इतिहास लेखन से सम्बन्धित इन मान्यताओं एवं आवश्यकताओं को हिन्दी-मराठी साहित्येतिहास लेखन के सन्दर्भ में भी चरितार्थ होते हुए देखा जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन को भक्ति कालीन सन्त-भक्तों द्वारा लिखित साहित्य तक ही सीमित रखा गया है। शीर्षक में 'मराठी सन्त-भक्त' कवियों को अधिक स्पष्ट करना अनिवार्य है। इस अध्ययन में 'मराठी' सन्त-भक्तों से तात्पर्य वे कवि, जिनका जन्म मराठी भाषा-भाषी प्रदेश में हुआ और जिनकी मातृभाषा मराठी थी और जिन्होंने हिन्दी में भी अपना रचनात्मक उत्कर्ष किया। इसका दूसरा अर्थ यह है कि जिन्होंने मराठी भाषा-भाषी प्रदेश में रहकर मराठी के साथ हिन्दी में भी रचनात्मकता की। किन्तु इस व्याख्या में महानुभाव सम्प्रदाय के चक्रधर नहीं समा पाते हैं। उन्होंने न तो मराठी भाषा-भाषी प्रदेश में जन्म लिया था और साथ ही इस प्रदेश में रहकर भी उन्होंने मराठी में कोई रचना नहीं की, किन्तु उनकी एक हिन्दी कविता मिलती है, जिसका अध्ययन इसलिए आवश्यक है। चक्रधर ने भले ही मराठी में रचनाएँ नहीं लिखी है, किन्तु वे अपने समकालीन साहित्य के प्रेरणास्रोत रहे हैं। मराठी को अपने सम्प्रदाय की प्रमुख भाषा के रूप में स्थापित करना उनका सर्वप्रमुख कार्य था। वैसे इस अध्ययन में यह भी दिखाया गया है कि महानुभाव मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र के भक्ति आन्दोलन का प्रथम सम्प्रदाय था, न कि वारकरी सम्प्रदाय। मुक्तिबोध को इस सन्दर्भ में गलतफहमी हो गई थी कि ज्ञानेश्वर मराठी भक्ति आन्दोलन के प्रथम सन्त-भक्त कवि थे, किन्तु महानुभाव सम्प्रदाय की कवयित्री महदंबा प्रथम सन्त-भक्त कवि थी। इतना होते हुए भी चक्रधर की कविता के अध्ययन को समाहित करने के कारण, यहाँ प्रस्तुत स्पष्टीकरण को अव्याप्ति दोष से युक्त माना भी जाए, तो हमें कोई आपत्ति नहीं होगी।

ऊपर यह कहा गया है कि प्रस्तुत अध्ययन को भक्तिकालीन सन्त-भक्त कवियों तक सीमित रखा गया है। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करना अनिवार्य है कि है मराठी साहित्येतिहासों में कालों का वैसा विभाजन एवं नामकरण नहीं मिलता है, जैसा हिन्दी साहित्येतिहास में किया जाता है।

यहाँ प्रत्येक कवि पर स्वतंत्र विवेचन किया जाता है। इसलिए मराठी साहित्येतिहास में भक्तिकाल की कल्पना करना असंभव है। इसी कारण इस अध्ययन को साहित्य में अभिव्यक्त आन्दोलन के मूल्यों एवं उसकी समाज सापेक्षता को ध्यान में रखते हुए बहेणाबाई के साहित्य तक सीमित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इसके बाद भी मराठी प्रदेश के एवं मराठी में लिखनेवाले कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ लिखी हैं, किन्तु इसे तथ्य को ध्यान में रखते हुए उन्हें इस अध्ययन से बाहर रखा गया है। किन्तु साथ ही बाद के कवियों के इतिहास की निरन्तरता जानने के लिए अध्ययन करना अनिवार्य था, इसलिए उन पर भी एक अध्याय में प्रकाश डाला गया है। इन्हें भक्तिकाल के परवर्ती कवि ही माना जाए। किन्तु यहाँ उन्हीं कवियों तक अध्ययन किया गया है, जहाँ तक मराठी कवियों की हिन्दी कविताओं में श्रृंगारिकता हावि न हो गई। यहाँ यदि हिन्दी आलोचना के भक्तिकाल सम्बन्धी मान्यताओं एवं मानदंडों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में किया गया है, किन्तु साथ ही मराठी आलोचना के मानदंडों का भी ध्यान रखा गया है।

शोध प्रबंध में प्रयुक्त 'सन्त-भक्त' इन दोनों विशेषणों पर विशेष ध्यान जाना स्वाभाविक है। सर्वप्रथम तो यह बता देना आवश्यक है कि इन दोनों का भक्तिकालीन मराठी कवियों के लिए प्रयोग किया जाता है, किन्तु इनमें से प्रायः 'सन्त' का ही प्रयोग होता है। यहाँ मराठी भक्ति आन्दोलन में वारकरियों की धारणा को विशेष रूप में प्रयुक्त होते हुए देखा जा सकता है। उनकी मान्यताओं के अनुसार सन्त और भक्त कोई भी हो सकता है, किन्तु 'सन्त' विशेषण का प्रयोग एक सीमित अर्थ में ही किया जाता है। वैसे वे दोनों में उस ध्रुव पर जाकर विभाजन नहीं करते हैं, जैसे हिन्दी साहित्येतिहास में किया जाता है। मराठी साहित्येतिहासों में भी सन्त और भक्त को लेकर उस प्रकार का विभाजन नहीं देखा जाता है। इस सन्दर्भ में मराठी सन्त-भक्त साहित्य के विशेष अध्येता डॉ.सदानंद मोरे ने एक साक्षात्कार में कहा था, 'सन 1750 में समाधि लेनेवाले निळोबा पिंपळनेरकर उनकी परम्परा के अन्तिम सन्त-भक्त थे। उसके बाद होनेवाले सन्त को या सत्पुरुष को वे उस अर्थ में सन्त नहीं कहते हैं, जिस अर्थ में ज्ञानदेव-तुकोबा को सन्त कहते हैं। यह मैं उनके सम्प्रदाय तक की भूमिका बता रहा हूँ। अब हम सन्त शब्द का विस्तार भी कर सकते हैं, उसके अर्थ का विस्तार और निश्चित तौर पर कह सकते हैं कि इधर के समय में भी सन्त हुए हैं। सन्त गाडगे बाबा को सन्त कहा जाता है। तुकडो जी महाराज को राष्ट्रसन्त कहा जाता है। इसलिए हम इसे किस अर्थ में ले रहे हैं, सम्प्रदाय के अर्थ में ले रहे हैं या असम्प्रदायिक अर्थ में ले रहे हैं, इस पर निर्भर करता है।' इस कारण 'सन्त' और 'भक्त' दोनों विशेषणों का प्रयोग हिन्दी साहित्येतिहासों के ढंग पर किया गया है।

प्रस्तुत शोध में कई विवादों में जानबूझकर हाथ डालने से बचा गया है। कुछ ऐसे विवाद हैं, जिनकी अब प्रासंगिकता नहीं रह गई है। कुछ ऐसे विवाद हैं, जो अब सिद्ध होने की सीमा से परे जा चुके हैं। कुछ ऐसे विवाद हैं, जो कभी विवाद थे ही नहीं, जिन्हें जान-बूझकर खड़ा किया गया था। ऐसे विवादों में मोरे-चित्रे-साळुंखे का ऐतिहासिक विवाद, जो सांस्कृतिक-ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, किन्तु इसकी कोई निष्पत्ति न होने के कारण इसे यहाँ सविस्तार देने की अपेक्षा इसका उल्लेख कर अपना मत स्पष्ट कर दिया गया है। कालबाह्य विवादों में दो-दो नामदेव होने का विवाद सर्वप्रमुख है। एक धारा के अनुसार महाराष्ट्र और पंजाब में दो भिन्न नामदेव थे, किन्तु कई अध्येताओं-आलोचकों ने साधारण यह सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में यह दोनों नामदेव एक ही हैं। ऐसे में इसे अधिक तूल देने का कोई अर्थ नहीं बनता, किन्तु इसका उल्लेख करना भी अनिवार्य था, सो कर दिया।

किसी भी रचना को कई इतिहास-प्रवाहों का सामना करना पड़ता है और इसी रूप में वह इन प्रवाहों में अपने को सिद्ध करती है तथा उसका अनिवार्यतः अंग होती है। साहित्य के अध्येताओं को अनिवार्यतः रचनाकार के समकालीन सभी इतिहास-प्रवाहों से रचनाओं का संबंध जाँचना-परखना चाहिए, जो मात्र विभिन्न प्रवाहों के सम्यक ज्ञान से ही संभव हो पाता है। मराठी सन्त-भक्त कवियों के हिन्दी रचनाकर्म के साथ भी निश्चित तौर पर कई रचना-प्रवाह उपस्थित थे। इनमें से सर्वप्रथम तो उन्हीं के द्वारा लिखा जा रहा मराठी काव्य था। दूसरा था उनके पूर्ववर्ती एवं समकालीन रचनाकारों द्वारा लिखा जा रहा मराठी काव्य। तीसरा उनके पूर्ववर्ती एवं समकालीन सन्त-भक्तों द्वारा लिखा जा रहा हिन्दी काव्य था। चौथा उनके परिवेश में हिन्दी-मराठी काव्य के समानान्तर लिखा जा रहा दक्खिनी काव्य था। इसके साथ ही पाँचवाँ था उनके कई बार सम्पर्क में आता हिन्दी प्रदेश की विभिन्न बोलियों में वहाँ लिखा जा रहा साहित्य।

‘हिन्दी भक्ति आन्दोलन और मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ : तुलनात्मक अध्ययन’ शीर्षक अध्याय में हिन्दी भक्ति आन्दोलन से तात्पर्य हिन्दी प्रदेश कहेजानेवाले प्रदेश में भक्ति आन्दोलन के दौरान लिखित हिन्दी साहित्य से है। मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का हिन्दी साहित्येतिहास में भी एक स्थान बनता दिखता है, जिससे पूर्वनिर्मित कई विभाग-उपविभाग एवं स्थापनाएँ टूटती दिखाई देती हैं। इस अध्याय में की गई तुलना से तो कम-से-कम यह बात अधिक स्पष्ट होती हुई दिखाई देती है। इसमें कई बार हिन्दी भक्ति आन्दोलन से इतर कवियों से भी तुलना करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुतिकरण की सुविधा के लिए सम्पूर्ण अध्ययन को आठ अध्यायों में विभाजित किया गया है। ‘दक्षिण में भक्ति आन्दोलन और उसकी ऊर्ध्वगामी यात्रा’ शीर्षक प्रथम अध्याय में “भक्ति” एवं “आन्दोलन”, “भक्ति द्रविड़ी उपजी एवं लाए रामानन्द तथा मूल्यवहन की अवधारणाएँ” आदि के माध्यम से मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि को देखने-दिखानी का प्रयास किया गया है।

‘मराठी भक्ति आन्दोलन और साहित्य’ शीर्षक दूसरे अध्याय में मराठी क्षेत्र में भक्ति ने किस प्रकार साहित्य के माध्यम से आन्दोलन का रूप ग्रहण किया, किस प्रकार उसने शास्त्रीय एवं लोक परम्पराओं को साथ में लेकर अपना विद्रोही स्वर कामय किया और उसने किन-किन पड़ावों से अपना प्रवास तय करते हुए साहित्य में भी अपना योगदान दिया, इसका विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है ‘मराठी सन्त-भक्त हिन्दी कवि-समय, समाज एवं साहित्य’ इसमें ‘मराठी सन्त-भक्त हिन्दी कवि’ से तात्पर्य है, वे कवि जिन्होंने अपनी मातृभाषा मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी काव्य रचना की है। प्रस्तुत अध्याय में उन मराठी सन्त-भक्त कवियों के जीवन, संघर्ष एवं उससे जुड़े मिथकों का उल्लेख किया गया है। साथ में सामाजिक-राजनैतिक इतिहास की घटनाओं को भी जानने का प्रयास किया गया है। इसके बाद उनके मराठी साहित्य पर सविस्तार प्रकाश डालते हुए भक्ति आन्दोलन, तत्कालीन समाज एवं साहित्य से उसके अन्तर्संबंधों पर विचार किया गया है।

‘मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : भक्ति, प्रतिरोध और पॉलिमिक्स’ शीर्षक चतुर्थ अध्याय में मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाओं का विभिन्न अंगों से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इसमें सर्वप्रथम उनकी हिन्दी कविताओं की पाठ परम्पराओं एवं तद्जनित पाठ में आए अन्तरों को देखने का प्रयास किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः चक्रधर, महदंबा, दामोदर पण्डित, त्रिलोचन, ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई, नामदेव, भानुदास, सेनानाई, एकनाथ, तुकोबा, रामदास एवं बहेणाबाई की कविताओं का वस्तुगत अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसमें इन कविताओं में अभिव्यक्त भक्ति, प्रतिरोध एवं तत्कालीन समाज की अवधारणाओं को ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा इतिहास के प्रवाह में रखकर देखने की कोशिश की गई है।

चतुर्थ अध्याय में पाठ परम्परा एवं वस्तुगत अध्ययन के पश्चात् ‘मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य : रूपगत अध्ययन’ शीर्षक अध्याय में इन कवियों की कविताओं के रूप का सामाजिक सन्दर्भ एवं उसके ऐतिहासिक सम्बन्धों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

‘हिन्दी भक्ति आन्दोलन और मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ : तुलनात्मक अध्ययन’ शीर्षक अध्याय में हिन्दी भक्ति आन्दोलन से तात्पर्य हिन्दी प्रदेश कहेजानेवाले प्रदेश में भक्ति आन्दोलन के दौरान लिखित हिन्दी साहित्य से है। मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का हिन्दी साहित्येतिहास में भी एक स्थान बनता दिखता है, जिससे पूर्वनिर्मित कई विभाग-उपविभाग एवं स्थापनाएँ टूटती दिखाई देती हैं। इस अध्याय में की गई तुलना से तो कम-से-कम यह बात अधिक स्पष्ट होती हुई दिखाई देती है। इसमें कई बार हिन्दी भक्ति आन्दोलन से इतर कवियों से भी तुलना करने का प्रयास किया गया है।

इन आठों अध्यायों का सारांश प्रत्येक अध्याय के अन्त में दिया गया है। इसके पश्चात अध्ययन के सार को उपसंहार में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आधार एवं सन्दर्भ ग्रंथों की सूची को मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी एवं सेतु (लिंक्स) के रूप में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है।

इतिहास एक अविरल धारा के रूप दिखाने के क्रम में बहेणाबाई के पश्चात के कवियों के हिन्दी काव्य का अध्ययन ‘परवर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : विविधांगी अध्ययन’ शीर्षक अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में इन कवियों का जीवन परिचय, मराठी रचनाओं का परिचय तथा हिन्दी कविताओं का वस्तुगत एवं रूपगत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे बाद के समय में आनेवाले कवियों की हिन्दी कविताओं का परिचय तो मिलता ही है और साथ ही मराठी भक्ति आन्दोलन के दौरान लिखित मराठी में लिखित साहित्य के साथ-साथ उन कवियों की हिन्दी काव्यकर्म भी किस प्रकार दरबारी एवं श्रृंगारिक होता जा रहा था, इसका भी परिचय मिलता है।

मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का अध्ययन करते समय हमें इस बात का बराबर ध्यान रखना पड़ता है कि यह प्रस्तुत कवियों का सम्पूर्ण रचनाकर्म नहीं है। इसके साथ ही उनकी हिन्दी कविताओं का पाठक-श्रोता कई बार उनकी मराठी कविताओं से भिन्न रहा होगा, कविताओं का स्वर तो यही कहता है। अष्ठम अध्याय में उन्हीं की मराठी-हिन्दी कविताओं की तुलना कर यह देखने का प्रयास किया गया है कि भाषा का अन्तर आने के कारण काव्य के किन उपादानों एवं कथ्य के स्वर में किनता अन्तर आ गया है। इनमें उन्हीं कवियों की तुलना की जा सकती थी, जिनका दोनों भाषाओं में काव्य उपलब्ध हो। जैसे चक्रधर या त्रिलोचन की एक हिन्दी कविताएँ तो उपलब्ध हैं, किन्तु उन्होंने मराठी कविताएँ नहीं लिखी हैं।

ऋणनिर्देश

इस कार्य सम्पन्न करने का प्रवास मेरे लिए जितना रोचक था, उतना ही महत्वपूर्ण था मेरे जैसे कुली के परिवार के गाँव में पले-बड़े बच्चे का यहाँ तक पहुँचना। पिता कुली थे, तो नाना जी पढ़ाने के ईरादे अपने यहाँ रख लिया। गाँव के स्कूल में चौथी क्लास तक जैसे-तैसे पढ़ाई पूर्ण की। यहाँ मुझे शिवकुमार जायशेटवार के रूप में बेहतरीन शिक्षक मिले। उन्हीं की बदौलत मैं चार वर्ष से भी कम आयु में पहली कक्षा में दाखिला पा गया और उन्हीं का सुझाव था कि दो वर्ष इसी कक्षा में पढ़ूँ। उनके द्वारा स्थापित नींव मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का हिस्सा बनी। घर में नाना जी ने कलम पकड़ना सिखायी तो नानी जी ने सारी जिम्मेदारियों का वहन किया। नाना जी के देहान्त के बाद मामा और मामी मेरे टेक केअरर बने। चौथी कक्षा के बाद गाँव से एक मील स्कूल जाने की यात्रा में रुखाजी लोणे, रवि वाघमारे, आमेना, स्वर्गीय फरज़ाना, शिवाजी लोकमान्य, माणिक चिखले साथी बने। माणिक चिखले हम सब में अधिक होनहार छात्र था, जो अपनी गरीबी और पारिवारिक स्थितियों के कारण दो-तीन वर्षों में ही पढ़ाई छोड़ने पर मजबूर हुआ। मामाजी के साथ होटल में काम करते हुए वारकरी, दत्त और महानुभाव सम्प्रदायी गाँववालों के बीच होनेवाली बातें मुझे अभी भी याद हैं।

साँतवीं कक्षा के बाद फिर स्कूल की दूरी बढ़कर तीन किलोमीटर हुई। साथी वही थे। अब हम सभी मिलकर पढ़ाई के साथ-साथ खेतों में मजदूरी करने लगे। सन 2000 से 2004 के बीच हमने रेल की पटरियों पर कंकड़ ढोने और रेलवे स्टेशनों की रंगाई का काम किया। आज उस पटरी से गुज़रते हुए उन स्टेशनों को देखता हूँ, तो उन तमाम साथियों की याद आती है, जो कई सालों से नहीं मिले। इस मौके पर उन्हें याद करना भावविह्वल कर देता है।

दसवीं में बहुत कम अंक मिलने के कारण मैंने 12 वीं में सबसे अच्छे अंक लाने का जो प्रण किया था, उसे पूरा कर दिखाया। यहाँ पढ़ते हुए शिक्षक के कई रूप मुझे देखने मिले। मेरे एक ऐसे शिक्षक को याद करना चाहूँगा, जिनका पूरा नाम तक अब मुझे याद नहीं - सुंडगे सर। उन्होंने मुझे 'सहकार' पढ़ाते समय आर्थिक ही नहीं, मानसिक रूप से साधिकार पढ़ाई जारी रखने के लिए प्रेरित किया। जब बारहवीं की परीक्षा खत्म हो गई, तब तक सुंडगे सर ने भी दुनिया से विदा ले ली। इसके बाद मैं बाबू मामा के साथ कपास की जिनिंग में काम करने कोपरगाँव चला गया। बाबू मामा हमारे तंडे (बंजारा बस्ती) के अधिकांश युवकों की तरह ही मेरे मामा थे। यहाँ मुझे एक ऐसा परिवार मिला जो घर से दूर मेरा घर बन गया। आपको जरूर मिलूँगा एक दिन। बहुत अच्छी कमाई हो रही थी। मेरा परिवार भी

खुश था कि मैं दिन के सौ रुपये तक कमा लेता था। रोज़ की तरह मैं जिनिंग में काम कर रहा था। उतने में जिनिंग के मालिक का बुलावा आया। मैं घबरा गया। मालिक हट्टे-कट्टे नौजवान विधायक थे, जिनके माथे पर लगा लम्बा तिलक मेरे लिए उनके प्रति मेरे डर में इज़ाफ़ा कर देता था। अपने आम लहज़े से हटकर उन्होंने मुझसे पूछा, पिताजी क्या करते हैं? मैंने जवाब दिया। फिर उन्होंने कई तरह के प्रश्न पूछे। फिर डाँटना आरंभ कर दिया। उनका अन्तिम वाक्य था, 'आज के बाद इस तो क्या किसी भी जिनिंग या फैक्ट्री में नज़र आओगे न, तो टाँगें तोड़ दूँगा। जाओ, और जाकर अच्छे से पढ़ाई करो, तुमने बहुत अच्छे अंक पाए हैं...' और उन्होंने मेरे हाथ में कुछ पैसे रख दिए। दरअसल मेरे कुछ दोस्तों ने मिलकर वहाँ फोन कर उन्हें मेरे परीक्षा परिणामों की जानकारी दी थी। कुछ दिन काम करने के बाद उन्होंने मुझे जाने की अनुमति दे दी। अगले वर्ष मैं जिनिंग नहीं गया, लेकिन बाबू मामा का जिनिंग में हाथ कट जाने की खबर का आना मेरे लिए धक्कादायक था।

बी.ए.में पढ़ाई की शुरुआत बड़ी रोचक रही। मैं पढ़ना चाहता था मराठी साहित्य, लेकिन देरी होने के कारण मुझे हिन्दी में दाखिला दिया गया। इतिहास के शिक्षक सुनील सोनकांबळे और अंग्रेजी के सर आनंद थोरात, शिक्षक हैं या मित्र अभी तक नहीं समझ पाया। हैदराबाद आने के बाद सुनील सर ने इतिहास से सम्बन्धित मेरा पीएच.डी. विषय सुनकर तो अंग्रेजी बोल लेने के कारण थोरात सर ने खुशी जाहिर की। गोवर्धन तानूरकर, डेविड कदम, प्रवीण जाधव, सुनील कानगुलवार और साईनाथ गणशेटवार सभी साथी इतने मददगार साबित हुए कि घर बहुत ही कम जाना होने लगा। इस कारण मौसी-मौसाजी परेशान भी रहते थे।

हैदराबाद विश्वविद्यालय आया तो, एक ही सहारा था-मनोहर बन्नालीकर। उन्होंने जो किया उसे शब्दों में बता नहीं सकता। गुरुदत्ता मिल गया तो चौबिस घंटों का साथी। उसने सँभाला, अन्यथा न टिक पाता इस शहरी वातावरण में। कक्षा में गुरुदत्ता, रम्या बालन, सजिता, सौमी मंडल ने काफी साथ दिया। अग्रजों में गणेश दादा और साईनाथ शाहु दादा ने जो साथ दिया, जो आज तक जारी है। दादा आप बहुत हवा भरते हैं। शायद इसलिए काम पूरा करने में कामयाब हुआ। अब समय था, बहस करने का। अखाड़े में मौजूद थे, अवधेश झा, डॉ.अनुज कुमार, अविनाश कोट्टावार, इक्ष्वांकु गुप्ता। इन्होंने न सिर्फ बातचीत में कंटेंट दिया, बल्कि बहस-चर्चाएँ एवं संवाद करना भी सिखाया। समाज-विज्ञान के मित्रों ने साहित्य के इस विद्यार्थी को बहुत कुछ ऐसा दिया, जिससे दृष्टि में व्यापकता आती गई, आ रही है। निलेश कुमार झा, ज़िकरुल्लाह 'जैक' खान, मुकेश कुमार पाण्डेय, प्रसाद मुठे से मिलना और साथ बनाए रखना अद्भुत था। निलेश बाबा ने तो लगभग सारी क्लासिकल पॉलिटिकल

इकॉनॉमिक्स थिअरी पढ़ा दी। निलेश ने जो विद्यापति के सन्दर्भ में जो लोककथाएँ और लोकमान्यताएँ बताई, वो मेरी अजीवन पूँजी है।

जब पीएच.डी.विषय चुनने का मौका आया तो मैंने लीक से हटकर सिद्ध और नाथ साहित्य पर काम करने का निर्णय लिया। किन्तु कई दिक्कतों के चलते यह काम नहीं कर पाया। विषय चयन के एक साल बाद जब मैं जद्दोजहद में थी, तब सामने आकर मैनेजर पाण्डेय ने प्रस्तुत विषय न सिर्फ सुझाया, बल्कि इसका बाहरी आरेखन भी कर दिया। इसके बाद का अधिकांश अंधेरे में ही था, ऐसे में प्रो.यू.म.पठान (सेवानिवृत्त, डॉ.अंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद) ने फोन पर कई सुझावों के माध्यम से प्रकाश दिखाया। इस दौरान मराठी के वरिष्ठ आलोचक रामचन्द्र चिंतामणि ढेरे ने फोन पर हौसला-अफ़ज़ाई की। इसी दौरान महाराष्ट्र के सबसे विवादास्पद इतिहासकार मा.म.देशमुख से बात कर इतिहास की कई अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। कथाकार काशीनाथ सिंह ने विषय चयन की प्रशंसा कर मनोबल बढ़ाया। आचार्य विनयमोहन शर्मा और डॉ.श्रीराम शर्मा ने इस क्षेत्र में अपने समय में बेहतरीन कार्य करते हुए राह बनाई थी, उसे आगे बढ़ाने में इसी राह का उपयोग मैंने किया।

सामग्री संकलन के दौरान जब कुछ स्थानों पर मन्दिरों में जाने से मुझे रोका गया, तब मेरे मित्र प्रवीण जाधव एवं डेविड कदम ने मन्दिरों से कविताओं के छायाचित्र ले आने का काम करने लगे। दोस्तों वे दिन मैं कभी नहीं भूल सकता जब आप भूखे रहकर भी सुबह छः बजे से मन्दिर में चले जाते थे और बाहर लैपटॉप लेकर तुम्हारी मैं प्रतिक्षा किया करता था। दोनों में से एक हर घंटे कैमरा लेकर बाहर आता था, फिर लौट जाता था। तुम्हारे भूखे रहकर भी काम करने का नतीजा ही है कि यह काम पूरा हो पा रहा है। हसन पठान, गणेश पालदेवाड, बसवेश्वर शाहु, रामकृष्ण रेड्डी, सुनिल केरकेट्टा, 'जैक' खान, मुकेश पाण्डेय, मैरी लिडिया, बहन रम्या, प्रकाश चिलवंत, शिंगाडे सचिन, बालाजी सुरबुलवाड ने कई सवालों के माध्यम से नई दिशाओं में सोचने के लिए मजबूर किया।

डॉ.एम.श्यामराव, प्रो.गरिमा श्रीवास्तव, प्रो.सुवास कुमार, प्रो.शशि मुदीराज, प्रो.सञ्जिवानन्द चतुर्वेदी, डॉ.गजेन्द्र पाठक, डॉ.एम.अंजनेयलू ने एम.ए.से जो पढ़ाया और दिशा देने की जिम्मेदारी ली है, उससे नई दिशाओं की ओर बढ़ने की ललक पैदा हुई। इन सभी प्राध्यापकों, अध्यापकों के साथ-साथ विशेषतः उन लेखकों-आलोचकों-इतिहासकारों के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगा जिनके लेखन ने इस कार्य में ही नहीं, जीवन में भी सहायता की और करत रहेंगे। पुनः धन्यवाद।

परिवारवालों में किसी को धन्यवाद देकर अपने रिश्तों को औपचारिक नहीं बनाना चाहता । हिना खान तुम्हारे लिए जायसी के यह शब्द - ‘जहाँ जहाँ बिहँसि सुभावहिं हँसी । तहाँ तहाँ छिटकि जोति परगसी ।’ मनुष्य के लिए अनिवार्य है कि वह माता-पिता के कर्ज में मरे । मेरे लिए यह कर्ज तीन गुना है । उन सबके लिए मुनव्वर राणा के सारे शेर कहना चाहूँगा । नानाजी के बाद उनकी जगह लेनेवाले अंकल ने हर विषय पर जो चर्चाएँ की हैं, वहीं से मेरा आलोचनात्मक विवेक जागृत हुआ, वह मेरे लिए जीवन का नज़रिया भी बना । आंटी आपके जैसा खाना दुनिया में शायद बहन हिन्दोला बैनर्जी ही बना सकती है । नानाजी जैसी चाय विश्वविद्यालय में मज़हर भाई बना सकते हैं । दोनों ने मेरे अन्दर ऊर्जा भरी । मामा जी हॉटल में चाय के ग्लास इकट्ठा करने से लेकर हैदराबाद विश्वविद्यालय में ब्रेस्ट , मोहन राकेश के काव्य-नाटकों में काम करने तक का सफर जीवन को पूरी तरह उलटने का रहा ।

पहले एम.फिल. और अब पीएच.डी. का शोधकार्य मैंने प्रोफ़ेसर रवि रंजन जी के निर्देशन में किया । वे मेरे शोध-निर्देशक से अधिक मेंटॉर और टेक-केअरर रहे हैं । उन्होंने अकादमिक शिक्षा के अतिरिक्त व्यावहारिक जीवन के लिए इतना कुछ सिखाया कि कई दिशाओं में सोचने-समझने की समझ बनी । साहित्य और समाज ही नहीं, समकालीन राजनीति, इतिहास, नुसरत फतेह अली खान-भीमसेन जोशी, ग़ालिब-इक़बाल-फ़ैज़ अहमद फ़ैज़-बाबा नागार्जुन-धूमिल, कबीर-तुलसीदास, आचार्य शुक्ल-नामवर सिंह जैसे विषयों पर हम ‘चर्चाएँ’ किया करते थे । शायद मेरी गहराई जाँचने के लिए किए गए उनके प्रश्नों ने मुझे कई बार अधिक मेहनत करने और सोचने पर विवश किया । यह रिश्ता अजीवन का है, धन्यवाद से इसे पूरा नहीं करना चाहता ।

प्रस्तुत शोध के लिए जिन-जिन ग्रंथालयों से सामग्री ली गई है, उनमें इंदिरा गाँधी स्मारक ग्रंथालय, हैदराबाद विश्वविद्यालय; जयकर ग्रंथालय, पुणे विद्यापीठ; डॉ.बाबासाहेब अंबेडकर मराठवाड़ा विद्यापीठ, औरंगाबाद; इंदिरा गाँधी पुस्तकालय, हैदराबाद विश्वविद्यालय; मराठवाड़ा साहित्य परिषद पुस्तकालय, किंग कोटी, हैदराबाद; लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय, धर्माबाद का आभार और यहाँ काम करनेवाले प्रत्येक कर्मचारी का भी विशेष सहायता एवं उनकी सेवाओं के लिए धन्यवाद ।

सभी का पुनः धन्यवाद, धन्यवाद, जिस कारण आप, आप हैं । धन्यवाद उन सभी को, जिनका नाम यहाँ शब्दों में न आ पाया । धन्यवाद ।

मोबिन जहोरोद्दीन

प्रथम अध्याय

दक्षिण में भक्ति आन्दोलन एवं उसकी ऊर्ध्वगामी यात्रा

1.1 भक्ति और आन्दोलन

भारतीय उपमहाद्वीप में 10 वीं से 16 वीं शताब्दी में हुई सामाजिक-सांस्कृतिक हलचलों-गतिविधियों को भक्ति आन्दोलन का नाम दिया गया। 'भक्ति' से 'आन्दोलन' को जोड़कर देखा गया। भक्ति तो इससे पूर्व भी थी तथा समाज-परंपराओं के चिन्तन को इससे पहले चार्वाकों, बौद्धों ने आन्दोलित भी किया था। बौद्धों का क्षेत्र तो मध्यपूर्व एशिया तक फैला था; ऐसे में एकमात्र व्यापकता के आधार पर इस समय की गतिविधियों को आन्दोलन का नाम नहीं दिया जा सकता। इस आन्दोलन में बौद्धों की देय को नापना दूभर कार्य है। भक्ति इससे पहले अपने सामूहिक रूप में भी मौजूद थी। भक्ति आन्दोलन में मौजूद मात्र सामूहिक को आन्दोलन का नाम नहीं दिया जा सकता। स्वतंत्र चिन्तन की प्रवृत्ति चार्वाकों, बौद्धों को लीक से हटकर सिद्ध करती है, भक्ति आन्दोलन की यह कोई अद्वितीय और एकमात्र विशेषता न थी। प्रत्येक नया विचार जो सामूहिक, बहुजनों के हित में होता है, आधुनिक कहा जा सकता है और ऐसा आधुनिक विचार काल की कसौटी पर खरा न उतरे तो वह मूल्य नहीं सिद्ध हो सकता है। भक्ति आन्दोलन ने ऐसे मूल्य दिए जरूर हैं, लेकिन उसकी आधुनिकता कोई अचंभे की वस्तु न थी। इस आधार पर बौद्ध आधुनिक सिद्ध होते हैं। जिस 'देशज आधुनिकता' को भक्ति आन्दोलन के केन्द्र में माना गया है उसे उसके पूर्ववर्ती काल में भी देखा जा सकता है, चाहे उसका भिन्न रूप और सन्दर्भ हो। वैसे आधुनिकता मूल्याधारित धारणा है।

लोक की अभिव्यक्ति के लिए किसी आन्दोलन की आवश्यकता नहीं होती, वह तो स्वच्छन्द गीतों, कथाओं, गप्प-गोष्ठियों आदि की भाषा में अभिव्यक्त होता रहता है। लोक की इस अभिव्यक्ति में शास्त्र के सारे-के-सारे उपकरण भले ही न होते हो, लेकिन वह शास्त्र ही क्या जो लोक के अनुसार अपने प्रतिमान न बदले और उसे मूल्यांकित करने में असफल हो जाए। भक्ति आन्दोलन सिर्फ साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए चलाया गया आन्दोलन नहीं था। केवल इस आधार पर उसे आन्दोलन कहने पर उससे समाज भिन्न मानना पड़ेगा, जो कि मूढता का लक्षण है।

आलोचनात्मक रवैया किसी भी दर्शन के विकास का मूल होता है। बौद्धों से ज्यादा धारदार आलोचनात्मक रवैया चार्वाकों के पास था। तो ऐसे क्या तत्व हैं जो इस भक्ति विशेषणधारी आन्दोलन को आन्दोलन के रूप में स्थापित करते हैं। पहले विशेषण पर चर्चा। वेदों में कृषि संस्कृति समाज की भक्ति के कई उदाहरण मिल जाते हैं। वहाँ प्रार्थना की प्राथमिकता, चिन्तन की द्वितीयता तथा समाज धुंधलके में है। आगे चलकर वेदों पर हुए एकाधिकारशाही की कहानी अकथ नहीं है। अतः वे लोक से और ज्यादा दूर होते गए। लेकिन लोक में स्थान पा चुकी भक्ति ने उसके व्यापार को जन्म दिया और व्यापारी पुरोहित कहलाए। बौद्ध धर्म ने इस पुरोहिती के विरुद्ध आलोचनात्मक

रवैया अपनाकर अपना स्वतंत्र चिन्तन प्रस्तुत किया जो अपने समय का आधुनिक चिन्तन था, जिसने बौद्ध विचारों को व्यापक क्षेत्र में फैलाया। बुद्ध तो क्रान्तिकारी चिन्तक साबित हुए लेकिन आगे के समय में बौद्ध धर्म उतना आन्दोलनकारी नहीं रहा जितना गौतम के समय में था। बौद्ध धर्म का आलोचनात्मक रवैया और स्वतंत्र चिन्तन अपने समय की सीमाओं को लिए हुए था। उसका स्वतंत्र चिन्तन उतना स्वतंत्र न हो पाया जो उसके आलोचनात्मक रवैये को और धारदार बना पाता। बौद्ध चिन्तन व्यवहार और चिन्तन में तालमेल बिठाने में कुछ भूलें कर बैठा। बुद्ध के बाद इस अंग पर कोई ध्यान नहीं दे पाया, फलतः आन्दोलन की सारी सामग्री होते हुए भी परवर्ती बौद्ध धर्म समाज को उस तरह आन्दोलित नहीं कर पाया जैसे अकेले बुद्ध के चिन्तन ने एक समय-सीमा में किया था। वैसे बौद्ध चिन्तन लोक से नहीं उपजा था, उसमें लोक की आवाजों के विभिन्न स्तर नहीं थे, वह तो लोक की तरफ जाता हुआ चिन्तन था, जो लोक के अनुकूल था और अपने समय में व्यापक स्तर पर स्वीकृत भी हुआ था। अचरज की बात तो यह है कि अपने से पहले के जैनों से बौद्धों ने बहुत कम सीखा।

भक्ति को आन्दोलन के रूप में स्थापित करने में सिद्धों-नाथों का महत्वपूर्ण योगदान रहा और उनके माध्यम से ही बौद्ध धर्म का भी। बौद्ध धर्म चिन्तन की परम्परा को सिद्धों से होते हुए नाथों में संक्रमित होते हुए देखा जा सकता है। दरअसल नाथों ने भक्ति आन्दोलन की सामाजिक भूमिका को आधार प्रदान किया है। नाथों की कविताओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है कि भक्ति को सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्थापित होने की भूमिका नाथों द्वारा किस प्रकार बनाई जा रही थी।

दरअसल भक्ति आन्दोलन कई परस्पराश्रित तथा संश्लिष्ट तत्व लिए हुए है, जिनमें 'लोक से जुड़ाव', 'लोक चेतना' या 'लोक की अभिव्यक्ति' को महत्वपूर्ण बिन्दुओं के रूप में रेखांकित किए गए हैं। वस्तुतः भक्ति आन्दोलन लोक की तरफ से उपजा आन्दोलन है। इसमें लोकप्रेरणा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इसकी सही पहचान करते हुए इसे 'लोकचेतना' से निष्पन्न माना था। जब लोक की तरफ आया आन्दोलन लोक से न जुड़ा रहेगा तो क्या किसी और वर्ग से जुड़ेगा? ऐसे में उसे लोक से जुड़ा आन्दोलन मानना, उसकी प्रक्रिया को उलटा करके देखना है। यह तो इस आन्दोलन की अनिवार्यता थी, भले ही अन्त तक यह गुण न रहा हो और वह उच्च वर्ग-वर्ण के हाथों में चला गया जिसकी ओर ग.मा.मुक्तिबोध¹ ने इंगित किया है। तमाम अलवार सन्त, बसवेश्वर, नामदेव, प्रकारान्तकर से कबीर आदि कवि अपनी 'वर्ग चेतना' की अभिव्यक्ति कर रहे थे, न कि अपने को जबरन लोक से जोड़ने का प्रयास कर रहे थे। लोक से तो वे जुड़ने का प्रयास करते हैं जो अपने को लोक से भिन्न मानते हैं या होते हैं। जब लोक की अभिव्यक्ति भक्ति काव्य में हो रही होती है तो उसमें सामूहिकता तथा तद्जनित व्यापकता अपने-आप समाहित हो जाती है। सामूहिकता के सबसे बेहतरीन दस्तावेज़ 'वचन साहित्य' एवं 'आदिग्रंथ' है। 'आदिग्रंथ' सम्पादन की शुरुआत गुरु नानक ने की थी और जिसका परिणत पूर्ण रूप गुरु अर्जुनदेव (ई.स.1563-1606) के समय में सामने आया। 'आदिग्रंथ' किसी भी प्रकार के भेदभाव को ठुकराते हुए भक्ति आन्दोलन के सभी तत्वों-मूल्यों को समेटता है।

भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में व्यापकता का अर्थ सिर्फ भौगोलिक व्यापकता नहीं है। यह आन्दोलन निःसंकोच भारतीय उपमहाद्वीप का सबसे ज्यादा क्षेत्र व्यापने वाला आन्दोलन था। इसके साथ-ही यह आन्दोलन और कई दृष्टियों में 'व्यापकता' शब्द का अर्थविस्तार करते हुए प्रत्येक प्रकार की संकुचितता का पुरजोर विरोध करता है। दृष्टि की व्यापकता, मानसिकता की व्यापकता, चिन्तन की व्यापकता आदि को यह आन्दोलन विस्तारित करता हुआ दिखाई देता है। यह व्यापकता भौगोलिक क्षेत्रानुसार वहाँ की स्थानीयता को, स्थानीय लोक को महत्व देते हुए भी अपने चरित्र में सारे उपमहाद्वीप में एक है। संभवतः यह इस महाद्वीप का अकेला ऐसा आन्दोलन है जिसने अपने लोक व्यापक चरित्र को सही अर्थों में चरितार्थ करते हुए स्थानीयता को भी आदर देते हुए, अपने 'भिन्न शेड्स' निर्माण होने के अवसर प्रदान किए हैं। उसकी यह विशेषता उसे लोकरंग, लोकजीवन, लोकभाषा, लोकसंकेत आदि को ग्रहण करने की छूट देती है। यहाँ व्यापकता के फेर में स्थानीयता को वैकल्पिक नहीं बल्कि अनिवार्य माना गया है। अलवार हो या शेख फ़रीद, बसवेश्वर हो या कबीर, बंका महार हो या रविदास, तुकोबा हो या शंकरदेव, अक्कमहादेवी हो या मीराँ, इन सभी की कविताएँ अपने स्थानीय रंग में रंगी होने के बावजूद ग्लोबल मनुष्य की चिन्ता दिखाई देती है। ये सारे सन्त अपनी सामूहिक या वर्ग चेतना के ध्रुवीकरण के साथ हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं, इस कारण ये विशेष अभिव्यक्ति कर रहे थे। इस अर्थ में वे चेतन थे, न कि दार्शनिक अर्थ में चेतना से चमत्कृत। इस चेतना और लोकाभिव्यक्ति के कारण इस आन्दोलन को धार प्राप्त होती है, आलोचनात्मक रवैये का साहस आता है, जिसे इरफान हबीब मात्र 'आर्थिक सबलता'² से जोड़कर देखते हैं।

1.2 'भक्ति द्राविड़ी उपजी' : एक दृष्टिक्षेप

भक्ति आन्दोलन के उद्भव के सन्दर्भ में कई विद्वानों में भले ही मतभेद हैं, किन्तु प्रायः प्रत्येक ने 'भक्ति द्राविड़ी उपजी लाए रामानन्द' को वैदुष्य स्तर पर मान्यता दी है। साथ में इस सत्य को भी दोहराया है कि भक्ति आन्दोलन का लोक भाषाओं में सृजनात्मक उत्कर्ष भी सर्वप्रथम अलवार सन्तों की वाणी के साथ 8 वीं शताब्दी में हुआ। यह मत केवल 'भक्ति' के सन्दर्भ में नहीं अपितु उसके साथ 'आन्दोलन' के जुड़ाव के सन्दर्भ में, एक ऐसी चेतना के सन्दर्भ में - जो भावनात्मकता, श्रद्धा तथा बौद्धिकता आदि के समानुपातिकता पर बल देती है - के बारे में कहा गया है। भक्ति तथा उसके सन्दर्भ में सृजनात्मकता के प्राचीन-से-प्राचीन उदाहरण मिल जाते हैं किन्तु उसमें उस सामूहिक चेतना का अभाव है जो भक्ति आन्दोलन के केन्द्र में है, जिसे कुछ विद्वान 'देशज आधुनिकता' कहते हैं, हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे 'भारतीय चिन्तनधारा का विकास' के रूप में देखते हैं, मुक्तिबोध इसे 'लोक का शास्त्र के प्रति विद्रोह' मानते हैं तो इरफान हबीब के लिए यह 'निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार' का परिणाम है। ये मत प्रायः परस्पर विरोधी माने गए हैं, लेकिन इन सभी मतदाताओं ने भक्ति के दक्षिण से रामानन्द द्वारा लाए जाने पर एक प्रकार से अपनी मुहर लगाई है। साथ ही इस सन्दर्भ में अन्य कम महत्वपूर्ण मत देने वाले जॉर्ज ग्रियर्सन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और शुक्ल जी की लकीर पर चलने वाले डॉ. नामवर सिंह और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतों में समन्वय करने वाले रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि कईयों ने भक्ति के 'द्राविड़ी उपजी' को अकाट्य सत्य मान लिया है, जो एक मध्यकालीन प्रमाण और इतिहासक्रम की दृष्टि से सही भी है।

किसी भी चिन्तनधारा, विचारधारा, आन्दोलन को सामाजिक अंग बनने के लिए विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। इन परिस्थितियों का विशेष बुद्धिजीवी वर्ग के बीच ही नहीं तो सामान्य जनता के बीच भी उत्पन्न होना आवश्यक होता है, या कम-से-कम लोक में उसकी गहरी पैठ का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के अलावा ग्रियर्सन से लेकर सतीश चन्द्रा तक, सारे विद्वान उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के लोक स्वीकृति के लिए बनी परिस्थितियों की व्याख्या कर रहे थे। इनकी भक्ति आन्दोलन के दक्षिण में उद्भूत होने तथा रामानन्द द्वारा उत्तर में लाए जाने के स्वीकार करने का यह कारण है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की भी केवल एक धारणा कि “भक्ति आन्दोलन भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास है” के कारण उनका मत अधिक व्यापक बन पाया है। अन्यथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, “बौद्ध धर्म क्रमशः लोक स्तरों पर संक्रमित हुआ और धीरे-धीरे निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं का प्रेरक तत्व बन गया।” उनकी दूसरी धारणा सृजनात्मकता के सन्दर्भ में दी गई लगती है। उनका मानना है कि प्राकृत-अपभ्रंश की श्रृंगारिकता की प्रतिक्रिया भक्तिकाल का दूसरा प्रेरक तत्व बनी। उनके यह मानने में भी इसी उत्तर भारतीय परिस्थिति निर्माण मात्र की दृष्टि को देखा जा सकता है। इरफान हबीब की धारणा इसे व्याख्यायित करने के काफी करीब है, लेकिन भक्ति काव्य के वैचारिक आधार को वह स्पष्ट नहीं कर पाती है। उनके अध्ययन में कहीं भी इस बात का उत्तर नहीं है कि तथाकथित अवर्णों को वैचारिक आधार किस स्रोत से मिल रहा था, जिसकी ओर आचार्य द्विवेदी इशारा कर रहे थे। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी, मुक्तिबोध तथा इरफान हबीब के विचारों को एक साथ पढ़ने से स्थिति के कुछ करीब पहुँचा जा सकता है। अतः इन तीनों विद्वानों की धारणाओं का सार कुछ इस प्रकार है :

मुक्तिबोध ने भक्ति आन्दोलन सम्बन्धी अपना चिन्तन ‘मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन एक पहलू’ निबन्ध में कई प्रश्नों के माध्यम से व्यक्त किया है। मुक्तिबोध इसे ‘निम्न जातियों का राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलन’ तथा इसे ‘एक असफल आन्दोलन’³ मानते हैं। उन्होंने कहा है - “भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् अलवार सन्तों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रचार किया।” मुक्तिबोध का यह लेख इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसने हिन्दी भक्ति आन्दोलन और मराठी भक्ति आन्दोलन के समान बिन्दुओं पर संभवतः पहली बार प्रकाश डाला था। इस लेख के अपने वाम उद्देश्य हैं। लेख के केन्द्र में मुक्तिबोध की यह स्थापना है कि किस प्रकार तथाकथित (वैसे मुक्तिबोध इसका प्रयोग नहीं करते) निम्न जातियाँ तथाकथित उच्चवर्गीयों के अन्याय-अत्याचार के खिलाफ विद्रोह करती हैं और अपना मानवतावादी आन्दोलन खड़ा करती हैं लेकिन सामन्तवादी शक्तियाँ पुनः सक्रिय होकर उस आन्दोलन को अपने अनुसार बना लेती हैं और पुनः सामन्तवाद की स्थापना होती है और ये सामन्तवाद तथाकथित निम्न जातियों में भी अपनी पैठ जमा लेता है। मराठी भक्ति आन्दोलन में तथाकथित निम्न वर्गीय सन्तों की बात तो आलोचक करता है लेकिन उसे याद आते हैं ब्राह्मणों द्वारा प्रताड़ित ज्ञानेश्वर ही, वह नामदेव, बंका महार, सावता माली (सन् 1250-1295), चोखामेळा (मृत्यु सन् 1338), नरहरी सोनार (मृत्यु सन् 1313), जनाबाई दासी आदि-आदि सन्तों को भूल जाता है, जो सचमुच तथाकथित निम्न जातीय

सन्त हैं, और जिनकी सृजनात्मकता ने मराठी भक्ति आन्दोलन और काव्य को लोक में स्थापित करने में, उनका प्रतिनिधित्व करने में आरंभिक योगदान दिया। ज्ञानेश्वर के बाद याद आते भी हैं तो तुकाराम और बार-बार रामदास। मुक्तिबोध की आलोचना के वाम रुझान को अब युग की कसौटी का स्वाद चखाने का समय आ गया है, जहाँ उसके अन्तर्विरोध सामने आ रहे हैं, इसको ईमानदारी से हमारे वाम आलोचक बेहतर ढंग से कर सकते हैं।

मुक्तिबोध की स्थापनाओं पर दृष्टिक्षेप करने के पश्चात् प्रो. इरफान हबीब की स्थापनाएँ मात्र उसका कारण लगती हैं। मुक्तिबोध ने जिस तथाकथित निम्न जातियों के विद्रोह की बात की, प्रो. इरफान हबीब उस विद्रोह के पीछे आर्थिक सबलता का कारण देते हैं। प्रो. हबीब का मानना है कि “7 वीं-8 वीं शताब्दी में नहर निर्माण, वस्त्र निर्माण स्थापत्य इत्यादि के विकास के कारण अवर्णों की आर्थिक स्थिति सदृढ़ हुई और उनमें आत्मगौरव का भाव उदित हुआ। यह भक्ति काव्य विशेषतः सन्तकाव्य का प्रेरक बना।”⁴ यानि एक स्थापना दूसरी को पूर्ण करते हुए यहाँ दिखाई देती है। प्रो. हबीब का ‘आत्मगौरव का भाव’ क्या ‘अस्मिता’ के प्रश्न से जुड़ा है? क्योंकि अलग अस्मिता का प्रश्न नाथों के यहाँ बड़ी तत्परता से उठाया गया है। ‘गोरखबानी’ की एक सबदी चौदह उद्धृत करते हुए डेविड एन. लॉरेंजन ने उसकी बड़ी दिलचस्प व्याख्या की है। वह इस प्रकार है –

उतपति हिंदू जरणां जोगी अकलि परि मुसलमानीं।

ते राह चीन्हों हो काजी मुलां ब्रह्मा बिस्त्र महादेव मांती ॥

डेविड का इस सबदी के सन्दर्भ में कहना है कि “इस सबदी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें तीन अलग-अलग धार्मिक परंपराओं को अलग-अलग पहचाना जा रहा है। ये परंपराएँ हिन्दू, योगी और मुसलमान की हैं।”⁵ जाहिर है कि भक्ति आन्दोलन तथाकथित निम्न जातियों की अस्मिता के प्रश्न की विचारधारा को नाथों से ग्रहण करता है। हिन्दू परंपरा इस वर्ग को पहले ही अपने में स्थान देने से इन्कार कर चुकी थी, नाथों की साधना पद्धति सहज नहीं थी। इस वजह से मुसलमान धर्म कईयों ने स्वीकार किया था। लेकिन लोक धर्म ने इन सबसे परे मार्ग निकालते हुए अपनी अस्मिता का निर्माण करता है, जहाँ ये सारे धर्म नामधारी रह जाते हैं और एक महासमन्वय से मानवता की फैन्टसी रची जाती है। ये फैन्टसी कितने हृद तक प्राप्त हुई और कितनी नहीं, इसके क्या कारण रहे? इस पर आगे चर्चा होनी है।

जैसाकि पहले संकेत किया जा चुका है, मुक्तिबोध और प्रो. हबीब की धारणाओं को एक साथ रखने पर भी एक प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है, वह है – इस आन्दोलन के लिए वैचारिक आधार लोक कहाँ से जुटाता है। इसका एक समान्य-सा उत्तर ये हो सकता है कि लोक अपना वैचारिक आधार अपने में से ही जुटाता है, क्योंकि तत्कालीन चिन्तन परंपरा लोक से कट चुकी थी। लेकिन यह उत्तर एक और प्रश्न को जन्म देता है – तो सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में फैले इस आन्दोलन में इतने समान तत्व कैसे जुट पाए, क्योंकि उस समय संचार साधनों का तो वैसा विकास नहीं हुआ था, जैसा आज। उपरोद्धृत डेविड की व्याख्या आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की स्थापनाओं की प्रतिध्वनि हैं, जो मुक्तिबोध तथा प्रो. हबीब की धारणाओं की कमी को पूरा करती हैं। उनकी सर्वविदित उक्ति भक्ति, “आन्दोलन भारतीय चिन्तनधारा का स्वतः स्फूर्त विकास है”, इस कमी को पूरा करती है। द्विवेदी जी के इस वक्तव्य को मुक्तिबोध से पहले रखकर देखना चाहिए और उसके

बाद इरफान हबीब की स्थापना को। जिससे पता चलता है कि भक्ति आन्दोलन का उद्भव व्यापार, लघु-उद्योगों आदि के विकास के कारण हुआ। इस समय तक तथाकथित निम्न जातियाँ पुरोहिती परम्परा के अत्याचारों के कारण पारम्परिक धर्म प्रतीकों के बजाए अपने प्रतीक स्थापित कर चुकी थी। ये प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया बौद्ध धर्म के क्षीण होने के साथ आगे बढ़ती रही। ये लोक-धर्म के प्रतीक वैदिक धर्म और पुरोहिती परम्परा के विरोध में, लेकिन उससे ग्रहण-त्याग की प्रक्रिया के साथ, अपना रूप ग्रहण कर रहे थे। इस बीच हो रहे वैष्णव-शैव संघर्ष ने भी इसमें अपना योग दिया तो इसमें समन्वय की भावना आती गई। इसे महाराष्ट्र के अधिकतर सन्तों के अराध्य 'विठ्ठल' के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र में अप-प्रवृत्तियों के नकार-अपवर्जन की विचारधारा नाथों से ग्रहण हुई, इस अर्थ में द्विवेदी जी की धारणा पुष्ट होती है। नाथों ने केवल नकार का साहस नहीं तो लोक के इस आन्दोलन को विचारधारा के युक्त करने का काम किया। आरंभिक समय में जितने इस्लामी व्यापारी भारत में आया करते थे वे मात्र व्यापारी ही थे, धर्म प्रचार करना उनका केन्द्रीय उद्देश्य नहीं हुआ करता था। जब भक्ति आन्दोलन आगे बढ़ने लगा उसके बाद सही मायनों में इस्लाम का धर्म के रूप में भारत आगमन हुआ। जिसने भक्ति आन्दोलन के आलोचनात्मक रवैये को नाथों से और अधिक तीक्ष्ण किया। नाथों से प्राप्त विचारधारा ने नवागंतुक इस्लाम को भी अपने कटघरे में लेते हुए उसकी भी कड़ी आलोचना की। इस प्रकार नाथों की विचारधारा का मुख्य तत्व भक्ति आन्दोलन में समाया, जिसने आगे आत्मालोचना का विकास किया और अपने आप को निर्वैक्तिकता की ओर अग्रसर किया।

समन्वय के मूल्य के साथ भक्ति आन्दोलन को वैचारिक आधार तो शैव-वैष्णव संघर्ष ने भी दिया। दरअसल भक्ति आन्दोलन में व्याप्त आलोचना का भाव व्यापक स्तर पर समन्वय का महाप्रयास है। यह कई स्तरों पर घटित होता दिखाई देता है, जैसे मनुष्य और मनुष्यता, मानुष और प्रेम, व्यष्टि तथा समष्टि, धर्म और प्रपंच आदि आदि। शैव-वैष्णव संघर्ष ने चिन्तन के क्षेत्र में कोई मौलिकता नहीं लाई, किन्तु इतना तो स्पष्ट कर दिया कि इस संघर्ष से सामान्य जनता की धर्म भावनाओं को कोई विशेष लाभ नहीं होने वाला। इससे पहले बौद्ध-अबौद्ध संघर्ष भी इतिहास दिखा चुका था। नाथों ने इसे वैचारिक स्तर पर अधिक प्रतिफलित किया। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि में इस प्रकार का समन्वय दिखाई देता है जहाँ हथियारों का नहीं शब्दों का संघर्ष निर्माण करने का प्रयास है। जिसे सन्त साहित्य ने अपने इन पूर्वजों से युगानुरूपता की विशेषता देते हुए स्वीकार किया और भक्ति ने सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में स्पष्ट रूप से दिखाया है कि किस प्रकार लोकभाषाओं का साहित्य अपना रूप निर्माण कर रहा था, उसकी वस्तु पारंपारिक प्रतीकों से हटकर लोक में प्रश्रय पा रही थी, वह अपनी अभिव्यक्ति किस प्रकार साहित्यशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं बल्कि लोक के स्वच्छन्द छन्दों में कर रहा था। "सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। उनके पद इतने सुन्दर और कलापूर्ण हैं कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह रचना ब्रजभाषा की पहली रचना है। पं.रामचन्द्र शुक्ल ने तो एक बार यह भी अनुमान किया था कि 'सूरसागर' दीर्घकाल से चली आती हुई किसी पुरानी परम्परा का विकास है।"⁶ कबीर के बारे में तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनकी विचारधारा नाथों की विचारधारा

का समयानुरूप-समाजानुरूप परिवर्द्धित रूप है। शैव-वैष्णव समन्वय भावना तुलसीदास की कोई मौलिक उद्भावना नहीं थी, उसे महाराष्ट्र के अधिकतर सन्तों के अराध्य विठ्ठल में देखा जा सकता है, जिसका उल्लेख ई.स. 959-60 के शिलालेखों में देखने को मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्ति का जो सोता दक्षिण भारत से आ रहा था उसे सारे हिन्दुस्तान में फैलने, मूल्य निर्माण करने की क्षमता से युक्त बनाने में न किसी बाहरी आक्रमण का योगदान है, न किसी विशिष्ट व्यक्ति का। वह तो सामन्तवाद तथा तथाकथित उच्च वर्णवालों के अमानुष व्यवहार के प्रति किया गया विद्रोह था। व्यापार-उद्योग के कारण निर्माण हुई परिस्थितियों ने साहस और नाथों से चली आ रही वैचारिक परम्परा ने तात्विक आधार प्रदान किया। भले ही दक्षिण से विचारधारा के रूप में ये मूल्य आए हो लेकिन ये मूल्य कहीं-न-कहीं दक्षिणोत्तर क्षेत्र में पनप रहे थे, या इस प्रकार के मूल्यों की भूमिका बन रही थी, जिसे दक्षिण से आए इस वैचारिक सोते ने गति देने का कार्य किया। इस रूप में भक्ति द्रविड़ी उपजी को स्वीकार किया जा सकता है। किसी भी विशाल आन्दोलन या उसकी विचारधारा की स्वीकृति के लिए समाज में उस आन्दोलन के मूल्यों को जड़ करने की पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है, अन्यथा तत्संबंधी विचारधारा या मूल्यों को समाज उस रूप में स्वीकार कर नहीं पाएगा, जिससे वह आन्दोलन का रूप ग्रहण करे। नाथों ने इस आन्दोलन की भूमिका को समाज में पल्लवित करने का तथा भक्ति आन्दोलन की न सिर्फ साहित्यिक बल्कि सामाजिक भूमिका बनाने का अतुलनीय कार्य किया है। इस अर्थ में नाथों के माध्यम से बौद्धों का योगदान हमारे समय-समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण है।

1.3 तमिळ एवं कन्नड क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन : अथ, सामाजिक भूमिका एवं संक्रमण

इतिहासकार जातिवाद के उदय का सम्बन्ध दासत्व से जोड़ते हैं एवं वर्णाश्रम के उदय तथा लोगों के अलगाव की प्रक्रिया का सम्बन्ध दक्षिण भारत के आर्यकरण से जोड़ते हैं, जो चोल साम्राज्य के समय में अपने शिखर पर था। अन्य बातों की तरह चोल साम्राज्य के नियमों ने भूमि सम्बन्धों में बुनियादी बदलाव लाए। दक्षिण में, विशेषतः तमिल प्रदेश में, सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक चोल राजाओं द्वारा ब्राम्हणों के 'ब्रम्हदेय' एवं 'अग्रहार' नामक अनुदानों के रूप में बड़ी मात्रा में भूमि वितरण के कारण 'परयैयार' और 'पल्लर' जैसे मूल निवासियों को अपनी भूमि से निष्कासित होना पड़ा। ब्राम्हण, जो पहले भी अधिकतर पुरोहित एवं अपने सामन्त मालिकों के सलाहकार थे, अब ज़मींदार/ भू-स्वामी भी बन गए। इस स्थिति ने सत्ताधारियों को अपना वर्णवादयुक्त सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण समाज पर आरोपित करने में मदद की। एस.मनिक्खम अपनी पुस्तक 'Slavery in Tamil country : a Historical overview' (तमिल राष्ट्र में दासत्व : एक ऐतिहासिक दृष्टिक्षेप) में रेखांकित करते हैं : "यह कहना मुश्किल है कि दक्षिण में दास व्यवस्था का उदय कब हुआ। आर्यों का विजित होकर दक्षिण भारत में नवीन भूमि-प्रणाली की शुरुआत करना एवं दोनों का मिश्रण होने के फलस्वरूप जाति प्रथा तथा इसी से करीबी से जुड़ी दास व्यवस्था का उदय होना संभव हो सकता है।"⁷ आर्यकरण की इस प्रक्रिया में निर्माण हो रहे सामाजिक स्तरीकरण में अधिकतर मूल निवासियों को उत्पीड़न एवं भूमि विलगाव ने निम्न स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया।

इस प्रकार समाज में वर्ग एवं वर्ण के बीच खाई बढ़ती गई। इस पूरी प्रक्रिया को सिद्धों ने समझा और पाया इस सबके मूल में धार्मिक कर्मकाण्ड एवं पुरोहिती व्यवस्था है। तमिल सिद्धों की धर्मालोचना में शोषण के प्रति उनके प्रमाण है। जो आर्थिक शोषण के मूल में रहा है, जिसने सामन्ती व्यवस्था को जन्म दिया, उसे पोषित किया और वह था – धर्म। ब्राम्हणों का पुरोहित एवं सामन्तों के रूप में उदय होने का कारण उनकी तथाकथित विशेष भाषा एवं तदलिखित साहित्य के ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखने की प्रवृत्ति तथा उसके लिए खड़ी की गई शुद्धतावादी व्यवस्था थी। इस शुद्धतावादी भ्रम और व्यवस्था को तमिल सिद्धों ने जनभाषा को गौरवान्वित करके, शैव नयनारों एवं वैष्णव अलवारों ने धर्म-प्रतीकों को लोक-प्रतीकों-धुनों में प्रस्तुत कर तोड़ने का प्रयास किया। यह भक्ति आन्दोलन, साहित्य का सांसारिक आयाम था। सिद्ध शिववाक्कियर, पंमवत्ती सित्तार आदि सिद्धों ने धार्मिक कर्मकाण्डों की इसलिए भी आलोचना की कि वह आर्थिक शोषण के केन्द्र में था। इनकी कविताओं के सन्दर्भ में एक समाजविज्ञानी का कहना है : “आज भी पंमवत्ती सित्तार की कविताएँ तमिळनाडु में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। तमिलवासी उनके गीतों को सपेरे के लोकगीतों की तरह गाते हैं। इन साधारण मनुष्यों की असाधारण कविताएँ उन्हें अपने पूर्वजों के मन में प्रवेश कराती हैं। ये कविताएँ साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि किस प्रकार हिम्मत से उन्होंने प्रभुत्व स्थापित करके वैदिक-ब्राम्हणवाद के प्रतिरोध में अपनी समतावादी संस्कृति को बनाए रखा।... यह देख पाना मुश्किल नहीं कि क्यों सिद्धों के गीत लोगों के होठों पर हैं। उनकी कविताएँ जीवन और विश्व को एक गर्माहटभरी और सकारात्मक उर्जा देती हैं।...लोक प्राज्ञ के रूप में उन्होंने मानवतावादी एवं जीवन-प्रतिज्ञान करने वाले स्थितियों को बिखेरा। उन्होंने एक व्यक्ति में गायक, पीड़ाहारक, चिकित्सक, जादूगर की भूमिका निभाते हुए लोगों की विपत्तियों को हलका करने का, जिस शर्मन संस्कृति ने उन्हें जिन बेहतर परंपराओं को दिया था, जिन खुशी के गुच्छों को अर्पण किया था उन्हें जीवित रखने का काम किया। मानव मात्र के लिए प्रेम सिद्धों की प्रत्येक पंक्ति में और कृति में है। ‘मेरा विश्व भी मेरी तरह सुखी हो जाए’ यह तिरुवल्लुर की बहु-उद्धृत पंक्ति मानवता के विभूतिमान संबंधों को दर्शाती है।”⁸ तमिल सिद्धों की यह स्वस्थ प्रतिरोध की परम्परा उत्तर में नाथों ने पोषित की, जो समय के साथ व्यापारियों, तीर्थयात्रियों आदि के द्वारा प्रसार पाती रही, उसकी यात्रा में आनेवाली सारी भूमि और वहाँ के वासी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

बारहवीं शताब्दी तक भक्ति आन्दोलन के मूल्य कन्नड-मराठी प्रदेश से होते हुए मध्यदेश तक पहुँच रहे थे। कन्नड प्रदेश में भक्ति आन्दोलन अपना रूप ग्यारहवीं शताब्दी में धारण करता है। यहाँ भक्ति आन्दोलन को अपना रूप शैवों की सैद्धान्तिकता से मुक्त किन्तु शिव भक्तों से युक्त रहा है। यह सम्प्रदाय वीरशैव सम्प्रदाय था। दसवीं शताब्दी के देवरदासिमय्या से वीरशैव परम्परा का आरंभ माना जाता है, जो सतरहवीं शताब्दी में हुए सर्वज्ञ तक अविरल रूप में अपना सामाजिक योगदान देती रही। इस बीच अल्लमप्रभु, बसवेश्वर, चन्नबसव, अक्कमहादेवी, सिद्धरामय्या आदि अनेक सन्तों ने इस परम्परा का पोषण किया। तमिल साहित्य समता-मानवतावादी दृष्टि से कालबाह्य पुरोहिती विचारधारा का प्रतिरोध कर रहा था, लगभग उसी समय वीरशैव परम्परा का सूत्रपात होता है, ठीक उन्हीं सामन्तवादी समाज-मानसिकता से दूर करने के लिए। देवरदासिमय्या, पहला वीरशैव वचनकार एक समाजबाह्य बहेलिया वर्ग से आता है जिसकी परम्परा जन्मना धोबी

माचय्या, अंत्यज केतकय्या, न्हावी अप्पण्ण, नावाडी चौडय्या, नगाडची, बोम्मण्ण, तेली कण्णप्प, डोंब चेन्नय्य तथा कई स्त्रियाँ आगे बढ़ाती हैं। वीरशैवों की चर्चाओं एवं अनुभवों का लिप्यन्तर समूह रूप से 'वचनसाहित्य' कहलाता है। इसे 'वचन गळु' या प्रमुख भाषा कन्नड होने के कारण भी 'कन्नड सूक्तिसाहित्य' भी कहा जाता है। अब तक 213 वचनकारों का पता चला है और कहा जाता है कि इनके कुल वचनों की संख्या 170 कोटि के आसपास है। 'वचन' अर्थात् 20-30 शब्दों का सहजसम्प्रेषिनीय वाक्य, जिसे न किसी टीका की, न किसी भाष्य की आवश्यकता है, आशय स्पष्ट एवं निःसंदिग्ध। वचन साहित्य में धार्मिक के साथ नैतिक एवं सामाजिक विषयों पर भी निर्भिकता से टिप्पणियाँ की गई हैं। इन गेय पदों में सामान्य व्यवहार के वाक्प्रचार, कहावतें, मुहावरें जिससे सामान्य जन वचन साहित्य से अपना सदृढ सम्बन्ध पाते हैं।

वीरशैवों की पंक्ति में बसवेश्वर, अल्लमप्रभू, चन्नबसव एवं सर्वज्ञ का विशेष स्थान है। बसवेश्वर की दृष्टि न सिर्फ उनके समय में बल्कि आज भी परिवर्तकारी रूप में स्थापित है। उन्होंने एकेश्वरवाद का स्वीकार करते हुए मूर्तिपूजा का विरोध किया। उनका स्पष्ट मत था कि "वर्णाश्रम पाखण्ड है। वह समाज में भेदभाव को खादपानी डालता है। वर्ण, जाति सब कुछ तुच्छ, बस मनुष्य-मनुष्य समान। मूर्तिपूजा का आडंबर मूर्तियों के साथ फेंक दो, केवल हृदय पर शिवलिंग धारण कीजिए, बस्स। इस भावना से परिश्रम करना भी शिवभक्ति का एक प्रकार है। परिश्रम को तुच्छ न मानो। श्राद्ध मत कीजिए। जीवहिंसा वर्ज्य। 'एको देवा' मानो तथा वह है 'परमशिव'।"⁹ इस बात को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने 'अनुभवमंडप' नामक संस्था की स्थापना की जिसमें धर्म साधना ही नहीं 'कायक' (शरीरश्रम) भी किया जाता था। यह अपने समय की एक युगान्तरकारी संस्था थी, जिसने धर्म और व्यवहार को समानुपातिक महत्व दिया, उसकी सामाजिक संलग्नता को प्रेरित किया। इस संस्था के अध्यक्ष के रूप में बसवेश्वर ने अल्लमप्रभु को निर्वाचित किया। विशेष उल्लेखनीय है कि हमारे मध्ययुग में जहाँ प्रत्येक संघटन धर्मकेन्द्रित या पंथ अथवा गद्दी के रूप में सामने आता था, वहीं धर्म को पृष्ठभूमि में रखते हुए किसी आचार्य या महन्त की परम्परा को कायम न करते हुए बसवेश्वर ने एक सामाजिक संस्था की स्थापना की। इसी कारण उन्हें साधु या बाबा से बढ़कर समाजसुधार प्रबुद्ध व्यक्ति के रूप में जाना जाता है।

अल्लमप्रभु को एक विचारक के रूप में कन्नड जन-मानस में सम्माननीय स्थान है। उनके निजी जीवन के सन्दर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। उनके 'षट्स्थल ज्ञानचरित्र' 'शून्य संपादने' 'मंत्रगौप्य' 'सृष्टिवचन' ग्रंथ वीरशैवों के लिए आदरणीय-नित्यपठनीय हैं। बसवेश्वर के अनपेक्षित अंत के बाद संस्था का कार्य चन्नबसव के साथ मिलकर अल्लमप्रभु ने संभाला। चन्नबसव वीरशैवों में तत्त्वज्ञानी एवं विद्वान के रूप में विख्यात हैं, तभी वे उन्हें 'षट्स्थल चक्रवर्ती' के नाम से जानते हैं। बसव ने आन्दोलन को व्यावहारिक रूप देते हुए समाज में जातिप्रथा के तोड़ के लिए प्रतिलोम विवाह को प्रचलित करने का प्रयास किया। बसव द्वारा मधुवय्या नामक ब्राम्हण के पुत्री का प्रतिलोम विवाह हरलय्या नामक एक शूद्र के पुत्र से कराते समय, कट्टरवादियों के कहने पर इन दोनों पिताओं को राजा ने पहले तो हाथी के पैरों को साँकल से बाँधा, फिर उनकी आँखें निकाली दी और अन्त में चौराहे पर उनकी हत्या करवा दी। बाद के वीरशैव साहित्यकारों ने इन

दोनों उदारवादी पिताओं को गौरवान्वित किया है। बसव खुद जन्मना ब्राम्हण थे फिर भी उन्होंने स्वयं को शूद्रोत्पन्न-जारज सन्तान घोषित किया।¹⁰

बसव की विचारधारा की ओर तत्कालीन नीचले तबके के लोक बड़ी मात्रा में आकर्षित हुए जिनमें अछूत मदार कन्नय्या, अल्लम्मा के साथ ही अक्कमहादेवी तथा मुक्तयक्का जैसी स्त्रियों का भी नाम लिया जा सकता है। हमारे यहाँ ऐतिहासिक क्रम में बाद वाले व्यक्तित्व की पहले वाली से तुलना करने की एक अजब अनैतिहासिक परम्परा रही है, जबकि इसका ठीक विपरीत होना चाहिए। जिस अक्कमहादेवी को 'दक्षिण की मीराँ' कहा जाता है, वह इसी पंथ से जुड़ी हुई थी। एक रूपवान शिवभक्ति में लीन बालिका, राजा ने विवाहोपरान्त भी शिवसाधना में विघ्न न डालने की शर्त को मंजूर देकर विवाह कर लिया। लेकिन जैसा कि कहा जाता है 'राजा किसी के नहीं होते' वह भी किसी का नहीं हुआ। न शिवसाधना का, न अपने किए वादे का, न अपनी स्त्री का – हुआ तो बस उसके रूप के प्रति आसक्त। शिवशरण में खोई स्त्री अक्कमहादेवी को यह रास न आया, उसने राजा के साथ राजदरबार और उसका ऐश्वर्य त्याग दिया ! उसने घोषित किया कि 'मेरा पति तो वह परमशिव कैलाशनाथ है'। उसका एक वचन है – 'हे परमशिव, मैं तुझ पर मुग्ध-लुब्ध हूँ, तू मुझ पर। मैं तुझसे अविभक्त हूँ, तू मुझसे !' अक्कमहादेवी संभवतः ऐसी एकमात्र कवयित्री हैं, जिसने शिव के प्रति प्रेमा-भाव की भक्ति अपने कविताओं में अभिव्यक्त की है। उसकी कविताएँ (वचन) संख्या में अधिक नहीं हैं, किन्तु उसका तत्त्वार्थ आकाश को स्पर्श करता है, इसलिए यह तमाम कन्नड साहित्य की 'अक्का' (बड़ी बहन) सिद्ध होती है।

सत्रहवीं शताब्दी में हुए सर्वश्रुत वीरशैव कवि सर्वज्ञ को कन्नडिग 'जनपद साहित्य का शिरोमणि' कहते हैं। सर्वज्ञ ने अपनी 'त्रिपदियों' में भक्ति-भगवंत, नीति, व्यवहार के साथ-साथ अपने समकालीन हुई अनेक घटनाओं को संस्पर्श किया। कबीर-तुकराम सी वाणी में कटुता है, किन्तु उसके पीछे एक सामाजिक महत्तोद्देश्य उनकी रचनाओं को जनप्रिय बनाता है। जिन कारणों को विजयदेव नारायण साही¹¹ ने किसी रचना में क्षेपक जुड़ने का कारण माना है, लगभग उन्हीं कारणों से सर्वज्ञ की रचनाओं में बाद के कई कवियों के क्षेपक जुड़ते गए। सर्वज्ञ की कई रचनाओं में अनुभव के पहले क्षण, अपनी जनपदीयता, अपनी विभिन्न यात्राओं में देखे गए प्रसंग-दृश्य सहजता से अभिव्यक्ति किए गए हैं। उनकी व्यंग्य दृष्टि, लोकव्यवहार की पहचान देखकर लगता है कि तुकाराम भी सर्वज्ञ के एक पाठक या उनकी कविताओं के श्रोता रहे होंगे। सर्वज्ञ ने रचना में त्रिपदी का उपयोग किया है। प्रथम पंक्ति दो चरण, द्वितीय पंक्ति अखंडित तथा तृतीय अर्ध। इसकी रचना कुछ-कुछ मराठी ओवी बन्ध की तरह होती है। सर्वज्ञ अन्तिम वचनकार माने जाते हैं। जिस प्रकार तुकाराम तक आकर मराठी भक्ति साहित्य का शिखर दिखता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ कन्नड साहित्य भूमि पर विराजमान हैं।

वीरशैव सम्प्रदाय ने अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन भक्ति सम्प्रदायों से अपने तत्व ग्रहण किए। सर्व धर्म-वर्ण समावेशकता, मूर्तिपूजा के बाह्याडंबरों को अधिक महत्व न देते हुए ईश्वरत्व को महत्व देना, 'स्थल' जैसी संकल्पना, सनातनी धार्मिक संस्कारों को त्याज्य मानना आदि समान बिन्दु वीरशैवों तथा महानुभावों में दिखाई देते हैं। एक शिव साधना को आधार बनाता है तो दूसरा कृष्ण भक्ति को, किन्तु दोनों में मृत शरीर को अग्नि देने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। प्रो.रा.चिं डेरे

ने दक्षिण के प्रत्येक पंथ पर नाथ पंथ के प्रभाव की सविस्तार विवेचना की है। नाथ सम्प्रदाय के मूल में भी पाशुपत सम्प्रदाय तथा शैव पृष्ठभूमि रही है, जो वीरशैवों में भी देखी जा सकती है। प्रो.रा.चिं.ढेरे के अनुसार “बसवेश्वर को शैव धर्म की स्वगृह में जन्मतः ही मिली हुई थी तथा वह वसिहत पाशुपत शैवों की थी।”¹² वीरशैवों ने नागेश सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय, दत्त सम्प्रदाय, आदि को प्रभावित किया, उनसे प्रभावित हुए। उनका “वचन साहित्य सम्प्रदाय की कोख से जन्म लेकर भी सम्प्रदाय की सीमाओं के पार जाता है। वह विश्वमानवता को स्पर्श करता है। वचनों के नैतिक उपदेश केवल सम्प्रदायिकों के लिए नहीं वरन् मानवमात्र के लिए हैं।”¹³

वीरशैवों ने सिर्फ मुख्यधारा के धर्म पद्धतियों, मान्यताओं, त्यौहारों, सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका की आलोचना ही नहीं की बल्कि, उसके साथ ही उन्होंने उससे अधिक सरल और लोकपयोग-सामाजिक, कर्मकाण्डरहित पर्याय भी प्रस्तुत किए। लिंगायत रचनाकार अल्लम्मा का कहना था कि सच्चे धर्म मार्ग में प्रचलित धर्म की छः त्रुटियों को जरूर छोड़ना चाहिए ‘जाति’, ‘वर्णाश्रम धर्म’, ‘कुल’, ‘मातृभूमि’, ‘नाम’ एवं ‘वंश’। आगे के समय में वीरशैव या लिंगायत बनने के लिए इन सबको नियमों के रूप में स्थापित किया गया। इस सम्प्रदाय में हुए अनेकानेक सन्तों ने भक्ति आन्दोलन की सामाजिक भूमिका को बनाए रखा और अपने समय समाज को आन्दोलित करने का प्रयास किया। लोक से जुड़ा होने के कारण न सिर्फ शिव की आराधना यहाँ फली-फूली बल्कि कई लोकदेवताओं को लेकर भी अनेक स्वर भी इसी के साथ कन्नडिगों से आने लगे।

1.4 ‘लाए रामानन्द’ : मूल्यसंक्रमण एवं मूल्यवहन की धारणाएँ

जिस प्रकार भारत में संस्कृति एवं सभ्यता सम्बन्धी बहस और चर्चाओं का आरंभ द्वितीय महायुद्ध के दौरान हुआ लगभग उसी समय मानवीय-मूल्यों पर भी बहस-मुबाहसों का आरंभ इसी विश्व-संकट के समय में हुआ। मानव-मूल्य की कई व्याख्याएँ की गई हैं। जगदीश गुप्त ने मानवीय संवेदनाओं को मानव मूल्यों के निर्धारण का आधार मानते हुए लिखा है – “बिना मानवीय संवेदनाओं को केन्द्र में रखे मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानव एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है। उसके बिना मानवीय अस्तित्व निरर्थक है।”¹⁴ डॉ. हुकुमचन्द “मानवीय जीवन कसौटियों”¹⁵ को मानव मूल्य मानते हैं, तो डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त “जीवन प्रणाली के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों”¹⁶ को मानव मूल्य मानने के पक्ष में हैं। रामधारी सिंह दिनकर मानवीय मूल्यों को अधिक व्यापक एवं सही सन्दर्भ देते हुए उसे संस्कृति से नहीं, अपितु सभ्यता से जोड़ते हैं। उनका कहना है - “मानव-मूल्य आचरण के सिद्धान्त हैं। समाज में प्रचलित नियमों और सिद्धान्तों ने सभ्यता को जन्म दिया। यह सभ्यता मूल्यों की रचना करती है, जिसका महत्व तब तक नहीं होता जब तक वे जीवन के अंग नहीं बन जाते-जो मूल्य वाणी की शोभा हैं, आचरणों के आधार नहीं हैं; वे अगर व्यर्थ मान लिए जाएँ तो इनमें आश्चर्य नहीं।”¹⁷ मूल्यों के निर्माण या उसके स्थापना के लिए मूल्य रिक्तता या मूल्यहीनता की आवश्यकता होती है। साथ में पर-संस्कृति-सभ्यता के सम्पर्क से भी ऐसी आवश्यकता महसूस हो सकती है, जहाँ स्थापित मूल्यों में परिवर्तन-परिवर्द्धन की सख्ती का भान होता है। ऐसे भान, या आवश्यकता की स्थिति को मूल्य-संक्रमण की स्थिति कहा जाता है। संभवतः उत्तर भारत में ऐसी स्थिति के उद्भव को देखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस्लामी

आक्रमण को भक्ति के उदय का कारण माना था, जहाँ नाथों द्वारा नवीन मूल्यों के निर्माण या पुराने मूल्यों में परिवर्द्धन का प्रयास हो रहा था।

मूल्य-रिक्तता के भाव को जगाने का कार्य एवं उसे भरने का कार्य या मूल्य वहन का कार्य कुछ महत्वपूर्ण समाज चिन्तकों द्वारा करने का प्रयास किया जाता है, किन्तु इस प्रक्रिया के दौरान उस व्यक्ति की विचारधारा का प्रभाव जाने-अनजाने इस महत्त प्रक्रिया में ही जाता है। मूल्यवहन एवं संक्रमण परिवर्तन पर आधारित होता है तथा परिवर्तन अवश्यंभावी है। लेकिन यह परिवर्तन एक व्यक्ति द्वारा किया जाए तो विचारधारा की एकलता निर्माण होती है। यदि भक्ति काव्य के मूल में मौजूद नए प्रकार की स्वतंत्रता को दक्षिण से उत्तर एक विशिष्ट व्यक्ति द्वारा ले जाया जाता तो संभवतः उसमें उस व्यक्ति की अपनी स्विकृत विचारधारा का पूट होता। इस स्थिति में दक्षिण एवं उत्तर के भक्ति आन्दोलन के मूल्यों में काफी अन्तर पड़ जाता। दरअसल भक्ति आन्दोलन एक नहीं, कई मूल्यों के गुच्छ का नाम है। ऐसे में इन सबका वहन विशिष्ट व्यक्ति द्वारा असंभव है। यह प्रक्रिया लम्बे समय तक और कई स्तरों पर घटित होती रही, फलतः अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में इसने उत्तर में कबीर, नानक, दादू, रैदास जैसे युगान्तरकारियों के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। जिन्होंने स्थापित जीवन मूल्यों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की, उनमें परिवर्द्धन किया, नए मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में रामानन्द सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करना अनिवार्य है।

‘देशी भाषा स्रोतों को सम्मान’ देते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल ने रामानन्द का समय 15 वीं शती के दूसरे दशक से माना है।¹⁸ 8-9 वीं शताब्दी से दक्षिण में भक्ति आन्दोलन का संघटित रूप उभरकर सामने आता है। महाराष्ट्र में इसका संघटित रूप 12 वीं शताब्दी में स्पष्ट दिखने लगता है। हिन्दी भाषा क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन का आरंभिक रूप सम्प्रदाय या पंथों के अर्थ में संघटित नहीं कहा जा सकता, वैचारिक-भावनिक अर्थ में वह संघटित था। चक्रधर, शेख फरीद (इ.स.1188-1280) निश्चित ही रामानन्द से पहले बीत चुके थे। ऐसे में मध्यकालीन साक्ष्य और वर्तमान प्राप्त तथ्यों के बीच संभ्रम होने लगता है कि क्या सचमुच द्रविड़ से भक्ति के मूल्य को रामानन्द लाए थे या वह उत्तर भारत में भी अपना स्वाभाविक विकास कर रहे थे ? लेकिन यह तो मान लिया गया कि भक्ति आन्दोलन की विचारधारा दक्षिण से उत्तर की ओर संक्रमित हुई है, जबकि तिथियाँ तो कुछ और ही कह रही हैं !

मध्यकाल में संभवतः उससे भी पूर्व अन्तर्देशीय सम्बन्ध चार प्रकार से स्थापित हुआ करते थे – युद्धों से, विवाह से, तीर्थयात्रा से तथा व्यापार से। अन्तर्देशीय युद्धों के लिए भारत पहले से ही विख्यात है। अन्तर्देशीय युद्धों के अलावा सामान्य जन में एक सीमित दूरी तक तो विवाह सम्बन्ध हुआ करते थे। मध्यकाल में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के तक सन्दर्भ मिल जाते हैं। इन सबसे तथा तीर्थयात्रों से एक सांस्कृतिक आदान प्रदान की भूमिका निर्मित होती रही। नाथों द्वारा देश के उत्तरी भाग में एक चेतना का निर्माण हो रहा था, व्यापारियों, तीर्थयात्रियों द्वारा दक्षिण के भक्ति के मूल्यों का वहन कई शताब्दियों तक उत्तर की ओर होता रहा। नाथों की भूमिका तथा इस प्रकार देशान्तर्गत हो रहे आवागमन से भक्ति आन्दोलन के मूल्य शनैः शनैः उत्तर की ओर बढ़ने लगे। सामन्तवाद-पुरोहितवाद के खिलाफ जोरदार प्रतिरोध के हिमायती इन मूल्यों को मध्य तथा उत्तर

भारत का समाज अपने करीब पाता है, स्वीकार करता है। भक्ति आन्दोलन की दक्षिण से उत्तर की यात्रा तथा उत्तर में उसके स्वीकार के सम्बन्ध में इतिहासकार ब्रज रंजन मणि ने लिखा है :

“As in the south and the Deccan, in the north too, the movement transcended its religious confines and established itself as a powerful platform for new socio-culture dispensations. Many factors were responsible for this unique development. First, the prestige and power of the Brahmans was on the wane, following the defeat of their feudal lords and consequent establishment of the Delhi Sultanate. Second, at about the same time, the movement of the Nathpan this and Siddhas openly challenging the cast system and supremacy of the brahmans, had gained popularity among the masses.”¹⁹

इतिहासकार ब्रज रंजन मणि भाषावैज्ञानिक श्रीधर कुलकर्णी के हवाले से ‘लाए रामानन्द’ के स्थान पर “लाए नामदेव” की स्थापना देते हैं। उनका कहना है :

“A recent and rigorously researched Marathi book *Sahitya Setu* by the linguist-scholar Shridhar Kulkarni has convincingly proved that it was not ramanda but the great Maharashtrian saint-poet who played the pioneering role of ‘bridge-builder’ between the north and the south. It may be noted that Namdev, in his later years, had become an itinerant saint and had finally settled in Punjab, composing his poems and spreading *nirguna* emotionalism among the locals.”²⁰

इतिहासकार ने अपनी बात प्रस्तुत करते समय नामदेव पर कबीर, नानक, रैदास एवं दादूदयाल द्वारा लिखित कविताओं तथा नामदेव की ‘गुरुग्रंथ साहब’ में संकलित कविताओं का हवाला दिया है। उनका यह मत बाद के समय में भक्ति आन्दोलन के मूल्यों को लोक तक पहुँचाने के सम्बन्ध में सही भी माना जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से केवल नामदेव को दक्षिण से उत्तर में भक्ति के प्रचार का श्रेय नहीं दिया जा सकता। भक्ति आन्दोलन के तमाम मूल्यों को दक्षिण से उत्तर भारत की यात्रा कराने का श्रेय किसी एक व्यक्ति - रामानन्द या नामदेव – को नहीं बल्कि तत्कालीन व्यापारियों, तीर्थयात्रियों के रूप में जन को ही है। वैसे मूल्य वहन न एक समय में होनेवाली प्रक्रिया है, न एक व्यक्ति से वह संभव है। “मूल्यों-संक्रमण की प्रक्रिया लगातार चलती रहती है किन्तु इसका बोध तभी होता है जब मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन का रूप लेता है।”²¹ मूल्य वहन की प्रक्रिया तथा उसका स्वीकार लोक में रचने-पचने के लिए उस प्रकार की समाज रचना अत्यावश्यक होती है, ‘दक्षिण से आते हुए इस सोते को जनता के हृदय में बसने’ के लिए नाथ यह भूमिका बना रहे थे, जो आगे चलकर भक्ति आन्दोलन का न सिर्फ वैचारिक आधार बने बल्कि उसकी पुरखे भी बने।

1.5 मराठी भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि : महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय का प्रसार एवं विकास

‘हठयोग प्रदीपिका’ में शिव को नाथ सम्प्रदाय का संस्थापक मानते हुए उन्हें आदिनाथ कहा गया है। देशभर में फैला नाथ सम्प्रदाय अपनी प्रवृत्तियों, साधना पद्धतियों तथा आचरण पद्धतियों के कारण विभिन्न नामों से अभिहित किया गया, जैसे सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय, अवधूत मत, अवधूत सम्प्रदाय आदि। इन नामों के कारणों की चर्चा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ‘नाथ-

सम्प्रदाय' पुस्तक के आरंभ में ही सविस्तार की है।²² नाथ-सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ प्रथम मानवदेहधारी गुरु माने जाते हैं। नाथ सम्प्रदाय का आरंभ भारत के उत्तर-पूर्व में माना जाता है, किन्तु मराठी के प्रख्यात शोधकर्ता रा.चिं.ढेरे ने कई तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि “नाथ सम्प्रदाय की उदयभूमि दक्षिण का श्रीशैल-कदलीवन है तथा आंध्र-कर्नाटक-महाराष्ट्र नाथ-सम्प्रदाय की प्रथम लीलास्थली है।”²³ ढेरे जी का मानना है कि “यह मान्यता रूढ़ है कि नाथ सम्प्रदाय के आदिसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथ उत्तर के, इस कारण नाथ सम्प्रदाय की उदयभूमि भी वहीं की है। द्वार पर आनेवाले नाथजोगी एवं विभिन्न मठों में पाए जानेवाले जोगी हिन्दी का प्रयोग करते हैं, इस कारण इस मान्यता को पुष्टि भी मिलती है। जिन पण्डितों ने आज तक नाथ सम्प्रदाय पर लेखन किया वह दक्षिण भारत की शोध सामग्री से सर्वथा वंचित रहे। रूढ़ मान्यताओं के आधार पर उन्होंने अपना शोधकार्य आरंभ किया और अनुमानों की कसरत करते हुए अपने संशोधनपूर्ण प्रबंध का पसारा फैला दिया। विभिन्न पण्डितों ने नेपाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, आसाम आदि प्रदेशों को नाथ-सम्प्रदाय की उदयभूमि होने का सम्मान दिया है। डॉ. मोहनसिंह, प्रो. ब्रिगज़, डॉ. द्विवेदी, डॉ. मलिक इन पण्डितों के मोटे – मोटे ग्रंथों का अनुसरण करनेवाले महाराष्ट्रीय पण्डित भी आज तक इसी मत को सही मानते आए हैं।”²⁴ प्रा. सोनपत दांडेकर के ग्रंथ ‘ज्ञानेश्वरी की प्रस्तावना’, श्री मोकाशी जी के ग्रंथ ‘महाराष्ट्रातील पाच संप्रदाय’ इन ग्रंथों में भी ढेरे जी को इसी मत की पुनरावृत्ति मिली। ‘नाथ सम्प्रदाय दक्षिण का – महाराष्ट्र का ही है’ यह सरदार मिरीकर का मत इन तमाम विद्वानों के एकालाप से भिन्न लगा, जिसे उन्होंने ‘क्रान्तिकारी’ मानते हुए भी पूर्णतः सिद्ध न कर पाने के कारण ‘भावनात्मक आग्रह’ मात्र कहा। किन्तु इसी बात को विभिन्न तर्कों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास उन्होंने किया है, इसमें उनका मुख्य आधार नाथ सम्प्रदाय की उदयभूमि मानेजाने वाला स्थान कदलीवन और दक्षिण में स्थित श्रीशैल की अभिन्नता है, जिसे वे कई मध्ययुगीन स्रोतों, लोककथाओं, मान्यताओं आदि द्वारा सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में इस विषय पर अधिकारपूर्ण शोध की आवश्यकता प्रतीत होती है, जिसके अभाव में कोई भी विधान करना सर्वथा भूल होगी।

मराठी में यह मान्यता सर्वग्राह्य है कि नाथ सम्प्रदाय में भक्ति तत्व को स्थान देकर पहले-पहल ज्ञानेश्वर ने वारकरी पंथ की नींव रखी अथवा उसका मार्ग प्रशस्त किया। हिन्दी शोध-आलोचना में भी यह मान्यता प्रचलित है कि नाथ सम्प्रदाय प्रायः योगप्रधान एवं केवल ज्ञान को महत्व देनेवाला शुष्क सम्प्रदाय रहा है। गोरखनाथ के सन्दर्भ में भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का यही मत था कि “उन्होंने प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावुकता को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।”²⁵ इस प्रकार महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर पूर्व नाथ सम्प्रदाय की छवि पूर्णतः ‘योगसम्प्रदाय’ के रूप में प्रस्तुत की गई है, जिसे रा.चिं.ढेरे कई प्रश्नों का उत्तर देकर नकार देते हैं। ज्ञानेश्वर ‘गीता’ पर भाष्य लिखते हैं और उसमें स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि गुरु-परम्परा से प्राप्त ‘बोध संसार’ उन्होंने अपने ग्रंथ में अभिव्यक्त किया है। निवृत्तिनाथ कृष्णनाम का अखण्ड घोष करते हैं। इसके अतिरिक्त चक्रधर के पितामः एवं गुरु नाथ सिद्ध थे उन्होंने ही उन्हें कृष्णभक्ति का मंत्र दिया था। इनके साथ ही ढेरे जी ने एक और प्रमाण प्रस्तुत किया है। महानुभावों के ग्रंथ “‘लीळाचरित्र’ में

अउसा नामक नाथजोगिनी का चक्रधर की शिष्या बनने का वर्णन है। दीक्षाविधि से पूर्ण अउसा की पड़ताल की जाती है, ... “नाथपंथी उपदेशु’ लेनेवाली, चौवर्णिकों के यहाँ भीक्षा माँगनेवाली, ‘दीक्षिताची सून’ (दीक्षीतों की बहु) एवं ‘उपासनियाची कन्या’ अउसा कृष्णवेडी थी”, यह ठेरे जी द्वारा ‘लीळाचरित्र’ से उद्धृत परिच्छेद से स्पष्ट होता है²⁶। इसलिए उनका स्पष्ट मत है कि “नाथ सम्प्रदाय में ‘भक्ति’ ज्ञानेश्वर की देन नहीं; अपितु उससे पूर्व भी नाथ सम्प्रदाय में भक्ति-कृष्णभक्ति-को स्थान प्राप्त था।”²⁷ दरअसल ठेरे जी नाथ सम्प्रदाय को रुक्ष योगप्रधान सम्प्रदाय मानने के पक्ष में हैं ही नहीं किन्तु उन्होंने भक्ति आन्दोलन को नाथ सम्प्रदाय से पूर्णतः जोड़कर देखा एवं भक्ति आन्दोलन को नाथ परम्परा से विकसित माना। “इतिहास में गोरखनाथ की विरासत नाथपंथी जोगियों ने सँभाली नहीं। वह चक्रधर, ज्ञानेश्वर, अल्लमप्रभु, कबीर, नानक, दादु जैसे महापुरुषों ने निभाही और अपने स्फूर्तिदाता के उदात्त साधनमूल्यों की नींव पर उन्होंने मध्ययुगीन भारतीय साधना का महान्मंगल मंदिर खड़ा किया।”²⁸ इस प्रकार कहा जा सकता है कि गोरखनाथ के बाद महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय केवल शुष्क साधना पद्धति को लेकर आगे नहीं बढ़ा अपितु उसमें युगानुकूल गहिनीनाथ ने मानस-रूचि को देखते हुए भक्ति का भी योग दिया, यह एक क्रान्तिकारी कदम था जिसने नाथ सम्प्रदाय की परम्परा की श्रीवृद्धि करने में अमूल्य योगदान दिया। केवल हठयोगी साधना सामान्य जन की पहुँच से बाहर थी। अतः महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय सरस एवं सरल साधना को लेकर आगे बढ़ा।

दक्षिण में विकसित नाथ सम्प्रदाय की परम्पराएँ या तो प्रायः उपेक्षित रही अथवा अज्ञात। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तमाम स्रोतों तथा परम्पराओं का उल्लेख करते हुए ज्ञानेश्वर तक की परम्परा का उल्लेख किया है²⁹, किन्तु उससे पूर्व एवं उत्तरवर्ती परम्परा उनसे भी छूट गई। वैसे ज्ञानेश्वर-पूर्व महाराष्ट्र की नाथ परम्परा का अध्ययन करने के लिए अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। अमरनाथ एवं गहिनीनाथ गोरक्षनाथ के शिष्य होने के प्राचीन प्रमाणों का उल्लेख हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने किया है। द्विवेदी जी को प्रमुख गोरख-शिष्य होने के कारण गहिनीनाथ के नाम का उल्लेख ‘योगि संप्रदाया विष्कृति’ नामक ग्रंथ में भी उल्लेख मिला है। यही गोरख-शिष्य गहिनीनाथ तथा अमरनाथ महाराष्ट्र की नाथ-परम्परा के मूल पुरुष माने जाते हैं।

‘अमरनाथ-संवाद’ नामक मराठी ग्रंथ गोरखनाथ रचित माना जाता है। इस योगमार्गपरक ग्रंथ का समय वि.ल.भावे ने ‘बारहवीं शताब्दी या उससे पहले’³⁰ का माना है। वि.ल.भावे जी ने ज्ञानेश्वर की गोरखनाथ से परम्परा जोड़ने के लिए ‘ज्ञानेश्वरी’ के कई पद्यों का मिलान कर दोनों में कई समानताएँ ढूँढ निकाली।³¹ ग्रंथ का समाप्ति-लेख ‘श्रीगोरक्षनाथविरचिते अमरनाथसंवादे आत्मज्ञान कथंति निजविचारें’ होने के कारण वि.ल.भावे इसे गोरखनाथ रचित मानते हैं तो “किन्तु अपना ग्रंथ आदरभाव से गुरु के नाम लिखने की प्रथा है। इस ग्रंथ ने अमरनाथ ने गुरुप्रदत्त ज्ञान ग्रंथित किया है”³² कहते हुए स्पष्टतः ग्रंथ को अमरनाथ प्रणित माना है। इस ग्रंथ का पूर्वार्ध भाग उपलब्ध नहीं है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अमरनाथी शाखा³³ का उल्लेख किया है किन्तु महाराष्ट्र में अमरनाथी शाखा की अभी तक कोई ज्ञात परम्परा मिल नहीं पाई है। ये गहिनीनाथ के गुरुभाई थे तथा गोरखनाथ के शिष्य थे। ‘अमरनाथ-संवाद’ नामक ग्रंथ का कृतित्व इन्हें दिया जाता है।

महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय की अविच्छिन्न परम्परा निर्माण करने वाले गहिनीनाथ का 'गहिनीप्रताप' नामक मराठी ग्रंथ आज अनुपलब्ध है। अपने गुरु गोरखनाथ से हुए संवादों को गहिनीनाथ ने 'गोरक्षगीता' ग्रंथ में लिपिबद्ध किया है। पहले यह पुस्तक गोरख-प्रणित मानी जाती थी। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थवाल के श्रमपूर्ण शोध के हवाले से गोरखनाथ की जिन 40 प्रमाणिक-अप्रामाणिक पुस्तकों का उल्लेख किया है उनमें 'गोरक्षगीता' कहीं भी नहीं है³⁴। अतः रा.चिं. ढेरे एवं वि.ल.भावे के अनुसार यह ग्रंथ गहिनीनाथ प्रणित है तथा इस ग्रंथ पर "सोपान परम्परा के गंगाधर नामक नाथपंथी ने 'गोरक्षगीता-निरूपण' नामक एक टीका भी लिखी है"³⁵। श्री भिंगारकर के 'ज्ञानेश्वरमहाराज यांचा कालनिर्णय' (ज्ञानेश्वर महाराज का कालनिर्णय) पुस्तक का सन्दर्भ देते हुए रा.चिं. ढेरे जी ने गहिनीनाथ प्रणित 'गहिनी-प्रताप' पुस्तक का उल्लेख करते हुए, गुरु की अनिवार्यता का बखान करने वाली हिन्दी पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।³⁶

अखिल भारतीय स्तर पर गोरखनाथ का जो प्रभाव रहा है, प्रायः वही प्रभाव मराठी भाषी क्षेत्र में गहिनीनाथ का है। "यह आभास होता है कि उनके ग्रंथों का उत्तरकालीन साधु-संतों पर गहरा प्रभाव रहा होगा इनके योगविवेचन का 'ज्ञानेश्वरी' के षष्ठम अध्याय के योग-विवेचन से साम्य है तथा साम्प्रदायिक वातावरण में इस ग्रंथ का सतत प्रति-लेखन व अध्ययन होता रहा है।"³⁷ गहिनीनाथ का शिष्य समुदाय भी काफी बड़ा रहा है। उनके द्वारा प्रवर्तित दो परम्पराएँ विकसित हुईं। पहली सर्वज्ञात परम्परा है : गहिनीनाथ-निवृत्तिनाथ-ज्ञानेश्वर तथा इसके आगे। गुरु-शिष्य गहिनीनाथ एवं निवृत्तिनाथ का उल्लेख द्विवेदी जी ने इतिहाससम्मत नाथों की सूची में क्रमशः 'योगि संप्रदाया विष्कृति' एवं 'ज्ञानेश्वर चरित' के आधार पर किया है।³⁸ निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव व मुक्ताबाई इन चार समांगों को 'ज्ञानेश्वर मंडल' नाम देते हुए रा.चिं. ढेरे ने नाथ सम्प्रदाय के इतिहास में सम्मिलित करना अधिक उचित समझा।³⁹ आगे ज्ञाननाथ या ज्ञानेश्वरोत्तर परम्परा का परिचय दिया जाएगा।

गहिनीनाथ की निवृत्तिनाथ के अतिरिक्त अन्य एक स्वतंत्र परम्परा का उल्लेख रा.चिं.ढेरे जी ने इसी परम्परा के अन्तिम रचनाकार आदिनाथ रचित 'नाथलीलामृत' ग्रंथ के आधार पर इस प्रकार किया है : "आदिनाथ-मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथ—गहिनीनाथ-प्रकाशनाथ-चिद्रंजनाथ-उत्पत्तिनाथ-प्रवृत्तिनाथ-हंसनाथ-निरंजनाथ-सिद्धनाथ-भैरवनाथ-आदिनाथ।" इस परम्परा के प्रकाशनाथ को किसी अज्ञात जयजयपुर के राजा सोमराजा का पुत्र कहा है। इस सूची के नामों को हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उपलब्ध कराई गई सूची से मिलान करके देखने पर कई नामों में समानता मिलती है, किन्तु यह केवल नामों की ही समानता है। भैरव, निरंजन, सिद्धपाद नाम किन्हीं अन्य के नाथों के हैं, जिन्हें एक समझना भूल है। अतः उचित सामग्री के अभाव में इस परम्परा के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

गहिनी-शिष्य निवृत्तिनाथ से दो मुख्य शिष्य परम्पराएँ विकसित हुईं। पहली ज्ञानेश्वर परम्परा एवं दूसरी मुक्ताबाई परम्परा। "ज्ञानेश्वर के पश्चात नाथ सम्प्रदाय का वंशविस्तार खूब बढ़ा। ज्ञानेश्वर-शिष्य सत्यामल ने अपने 'नवरत्नमाला' ग्रंथ में ज्ञानेश्वर के निम्नोल्लेखित नौ शिष्यों को चिन्हीत किया है: 1.सोपानदेव, 2.मुक्ताबाई, 3.विसोबा खेचर, 4.विमलानन्द, 5. सत्यानंद (सत्यामलनाथ), 6.स्वरूपानंद, 7. चर्पटनाथ, 8.सच्चिदानंद, 9. रामचन्द्रनृप। इन नौ

शिष्यों से आगे बड़ा परम्परा विस्तार होता गया।⁴⁰ मुक्ताबाई कहीं निवृत्तिनाथ की तो कहीं ज्ञानदेव की शिष्या मानी गई है। जो हो, मुक्ताबाई की परम्परा आगे के समय में खूब दूर तक आगे बढ़ी जिसमें चांगा वटेश्वर जैसे कई महत्वपूर्ण रचनाकार हुए।

ज्ञानेश्वर के इन नौ शिष्यों में से सोपानदेव, विसोबा खेचर के सन्दर्भ अधिकारिक रूप से कहा जा सकता है कि वे ज्ञानेश्वर के शिष्य थे, विसोबा खेचर ने तो सोपानदेव को अपना गुरु होना स्वयं उल्लेख किया तथा उनकी आरती भी रची है।⁴¹ चर्पटनाथ के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वे हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उल्लेखित चर्पट (पृ.33), चरपटनाथ (पृ.35), चर्पटीनाथ (149), या चर्पटनाथ (पृ.155) से भिन्न कोई अन्य चर्पटनाथ है, जिसके सन्दर्भ में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानेश्वर के शिष्यों के सन्दर्भ में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है, केवल उनका सत्यामल के 'नवरत्नमाला' में उल्लेख मात्र मिलता है। इसके अतिरिक्त ज्ञानेश्वरोत्तर नाथों में सोपानदेव, सत्यामलनाथ, प्रकाशनाथ की लम्बी परम्पराएँ मिलती हैं, जो वस्तुतः वारकरी पंथ की भी परम्पराएँ हैं।

अब उन दो परम्पराओं पर बात करते हैं जो मूलतः नाथ परम्पराएँ रही हैं, किन्तु आगे के समय में इनका अन्य मतावलम्बी के रूप में विकास हुआ। मराठी के जेष्ठ शोधकर्ता रा.चिं. ढेरे की पुस्तक 'नाथ संप्रदायाचा इतिहास' (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास) में इनकी चर्चा 'एकनाथ परम्परा' तथा 'मुकुंद परम्परा' नाम से की गई है। वास्तव में एकनाथ परम्परा दत्त सम्प्रदायी परम्परा रही है। नाथों से कुछ इनका शायद ही कोई सम्बन्ध रही होगा। एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी से होते हुए दत्त सम्प्रदाय विकसित होता है। मुकुंदराज परंपरा का आदिपुरुषत्व हरिनाथ नामक किसी व्यक्ति को दिया जाता है, जिन्हें आदिनाथ से सिद्धि प्राप्त होने की बात कही जाती है। वि.ल.भावे ने भी उल्लेखित गुरु परम्परा के आधार पर मुकुंदराज को शिवभक्त एवं नाथ सम्प्रदायी माना है।⁴² किन्तु मुकुंदराज तो स्वयं को मायावादी शंकराचार्य के आधार पर उक्ति कहनेवाला कहते हैं।⁴³ मुकुंदराज परम्परा की तीसरी पीढ़ी में महानुभाव पंथ के संस्थापक श्रीचक्रधर आते हैं। अर्थात् भले ही यह नाथ रही हो आगे इसका पर्यावसान विभिन्न वैचारिक परम्पराओं में हुआ। अर्थात् नाथों की विचारधारा ने वैचारिक लोकतंत्र को पूरा 'स्पेस' दिया था और यह आगे चलकर भक्ति आन्दोलन में व्यक्ति के अधिकारों के संघर्ष के रूप में विकसित हुआ। डहाके जी ने सही लिखा है कि "महाराष्ट्र के महानुभाव, वारकरी आदि सभी सम्प्रदायों के मूल में नाथपंथ है।"⁴⁴

कई स्थानों पर नाथों की तरह नाम के आगे 'नाथ' लगाने की परम्परा महाराष्ट्र में दिखाई देती है, यथा- एकनाथ। इससे इन्हें नाथ संप्रदायी मानना नितान्त भूल होगी। इसके विपरित नाथ सम्प्रदाय से जुड़े ज्ञानेश्वर के नाम के आगे 'नाथ' नहीं लगाया जाता है। आगे के समय में तो वारकरी सम्प्रदाय तथा नाथ सम्प्रदाय की भिन्न परम्परा दिखा पाना लगभग असंभव है। निवृत्तिनाथ के बाद नाथ सम्प्रदाय का इतिहास ही वारकरी सम्प्रदाय का इतिहास बन जाता है। इसलिए वारकरी सम्प्रदाय को 'एक महासमन्वय' कहा जाता है।

महाराष्ट्र के समाज-परम्परा को नाथों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने देशी भाषा या महाराष्ट्री में सबसे पहले रचना कर उसकी परम्परा को पोषित किया। साथ में उन्होंने छूआछूत, स्त्री-पुरुष भेद को अपने अचरण से निरर्थक सिद्ध कर, भक्ति एवं ज्ञान के बल पर मोक्ष प्राप्ति को

संभव बताया। पूर्णतः हठयोग की अपेक्षा राजयोग पर वह दिया। वारकरी से लेकर दत्त सम्प्रदाय तक के सारे सन्तों को नाथ पंथ में भी गिनाया जाता है, उनमें स्पष्ट विभाजन रेखा खींच पाना कठिन कार्य है। इसका सबसे प्रमुख कारण था यहाँ नाथ पंथ एक लोकतांत्रिक विचारधारा के रूप में उभरकर सामने आया। उसने अपने समकालीन सारी विचारधाराओं को समाप्त करने का नहीं उनका अनुकूलन करने का अपरोक्ष प्रयास किया। इस अर्थ में नाथ सम्प्रदाय परवर्ती प्रत्येक सम्प्रदाय में नींव बना और समाज के आचरण धर्म को वह वर्तमान तक प्रभावित कर रहा है।

1.6 ‘ज्ञानापासि प्रेम उत्तम’ : महानुभाव पंथ

हिन्दी पट्टी के भक्ति आन्दोलन के ठीक विपरित अपने आरंभिक रूप में ही मराठी भक्ति आन्दोलन का संघटित-पंथीय रूप उभरकर सामने आया, वह महानुभाव पंथ के रूप में। भक्ति आन्दोलन के अध्येताओं की मान्य धारणा यह रही है कि मराठी भक्ति आन्दोलन का आरंभ ज्ञानेश्वर से होता है किन्तु मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में पहले-पहल भक्ति आन्दोलन के मूल्यों के साथ उसे सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में खड़ा होनेवाला महानुभाव पंथ कई कारणों से या तो अल्पोल्लेखनीय रहा या भक्ति आन्दोलन की पूर्वपीठिका के रूप में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया जाता रहा है। श्रीचक्रधर द्वारा प्रवर्तित इस पंथ को श्रीकृष्ण भक्ति पर विशेष जोर देने के कारण ‘जयश्रीकृष्णीय पंथ’ भी कहा गया। पहली बार “श्रीचक्रधर एवं उसके बाद के महानुभाव पंथ के संवर्धक श्रीनागदेवाचार्य, इन दोनों ने मराठी में ग्रंथरचना करने का विशेष आग्रह किया।”⁴⁵

इस पंथ की विचारधारा को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। ल.रा.पांगाकर, गं.बा.सरदार इन्हें यह पंथ वैदिक तथा भागवत धर्म के समीप का लगता है तो अ.ना.देशपाण्डे के अनुसार ‘अवैदिक विचारधारा का पोषण इस मार्ग ने किया’। डॉ.कोलते के अनुसार महानुभाव तत्त्वज्ञान पूर्णतः द्वैती तत्त्वज्ञान है। इस बिगूचन का कारण है, महानुभाव पंथ अपने आरंभ में कुछ-कुछ निर्गुणिया रहा है। पंथ की रचनाओं में न सिर्फ द्वैतवाद बल्कि चक्रधर का मूल सिद्धान्त ‘ज्ञानापासि प्रेम उत्तम’ (ज्ञान से प्रेम उत्तम) अभिव्यक्त हुआ है। इस पंथ ने श्रीकृष्ण के साथ शिव, दत्तात्रेय का भी समन्वय अपनी आराधना में करने का प्रयास किया, बाद के समय में संभवतः यही महानुभाव बिन्दु वारकरी पंथ एवं तुलसीदास की समन्वय भावना की भावभूमि तथा आधारभूमि बना। चातुर्वर्ण्य समाजव्यवस्था को यह पंथ आरंभ से ही प्रतिरोध करता आया था तथा व्रत, तीर्थ, दानादि को अनुपयोगी माना गया। पंथ में वैराग्य को अनिवार्य माना गया था, लेकिन स्त्रियों के प्रवेश पर पाबन्दी नहीं थी। बहिष्कारमूलक वैदिक मान्यताओं एवं चातुर्वर्ण्य को बहिष्कार करने के कारण यह सम्प्रदाय अवैदिक कहलाया। यह भी मान्यता है कि चक्रधर के समय के वैदिक परम्परानुयायी एवं तद्वर्जित कर्मकाण्डी वर्ग चक्रधर की इन मान्यता से काफी आक्रोश में था और यही कारण उनकी हत्या के लिए भी जिम्मेवार था।⁴⁶ दरअसल, महानुभाव पंथ ने वैदिक-अवैदिक, शैव-वैष्णव, नाथ-दत्त परम्पराओं से मानवतावादी मूल्यों को ग्रहण कर अपनी वैचारिक आधारभूमि बनाई थी। महानुभावियों ने अपने समकालीन नाथों से नारी निन्दा का संस्कार बिल्कुल ग्रहण नहीं किया, जिससे कबीर भी नहीं बच पाए थे। यह सम्प्रदाय के वैचारिक जागरुकता तथा समन्वय का चरमोत्कर्ष था।

इस पंथ के सामाजिक प्रभावों के सन्दर्भ में 'महाराष्ट्र सारस्वत'कार ने लिखा है : “इन महानुभाव पंथियों के तथा अन्य महाराष्ट्र के लोगों के मन एक-दूसरे के सन्दर्भ में अधिक शुद्ध नहीं हैं।” इसके कारणों का जायज़ा लेते हुए आचार्य ने लिखा है : “कदाचित् महानुभाव सन्यासियों का भिन्न आचार, बहिष्कृतों और चाण्डालों से भी अस्पृश्यता का अभाव, उनका पहनावा एवं महाराष्ट्र के हाड़-माँस में घर कर बैठे अनेक परम्पराओं-रूढ़ियों को टालना। यह कारण कई अंशों में द्वेषभाव के लिए रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता है।”⁴⁷ साहित्य इतिहासकार ने उच्च वर्गीय हिन्दू समाज में इस पंथ के प्रति अनादर निर्माण होने के कारण के रूप में महानुभावियों का “चातुर्वर्ण पर किए हुए आक्रमण”⁴⁸ को प्रस्तुत किया हैं। उच्च वर्गीय हिन्दूओं में द्वेषभाव का कारण चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का टूटना रहा होगा किन्तु एकनाथ, तुकाराम, वामन, गिरिधर जैसे सन्त महानुभाव पंथियों के चतुर्वर्ण पर आक्रमण के कारण उनका अनादर नहीं कर रहे थे और न ही इसमें साम्प्रदायिक मतभिन्नता कारण रहा है। वे तो महानुभावीयों की इसलिए आलोचना कर रहे थे कि नागदेवाचार्य के पश्चात् महानुभाव पंथ में महन्त पद के लिए विवाद खड़ा हुआ और पंथ 13 अम्नायों (उपपंथों) में बँट गया। किन्तु इसका विपरित परिणाम यह भी हुआ कि “शके 1275 तक का सम्पूर्ण महानुभाव वाङ्मय साधारण देवनागरी लिपि में है तथा विशेषतः मराठी भाषा का ही उपयोग किया गया है। धर्मग्रंथ मराठी में हो, यह श्रीचक्रधर जी की ईच्छा थी। इसका उल्लेख परशाचार्याकृत ‘श्रीनागदेवचरित्र’ के 47 में आया है। तथापि नागदेवचार्य का समय होते ही परिस्थितियों में परिवर्तन करना पड़ा। संभवतः नाथपंथ इत्यादियों की तरफ से इन महानुभाव पंथियों को उपसर्ग हो रहा होगा या अन्य किन्हीं कारणों से पंथियों को अपनी ब्रह्मविद्या, अपने मत एवं धर्ममत गुप्त रखने की आवश्यकता नागदेवचार्य के पश्चात् केवल 50 वर्षों में महसूस होने लगी”⁴⁹ और प्रत्येक अम्नाय अपना साहित्य सृजन एक प्रकार की गुप्त लिपि में करने लगा। कई बार एक ही अम्नाय की एक से अधिक गुप्त लिपियाँ होने के प्रमाण मिले हैं। इस कारण जहाँ नागदेवाचार्य तक पंथ लोक से संवाद स्थापित करने के लिए, आधिकाधिक लोक से जुड़े रहने के लिए लोकभाषा में ग्रंथरचना या पंथ की भाषा का लोकभाषा से जुड़ा रहना आवश्यकता था, ठीक इसी के विपरित पंथ के रचनाकारों ने गुप्त लिपि को स्वीकार करके भाषा को शुद्धतावादी दृष्टि से देखना आरंभ किया। परिणामतः पंथ में सर्ववर्णीय-सर्ववर्गीय, स्त्री-पुरुष को प्रवेश होने के बावजूद पंथ की वह लोकप्रियता नहीं रही जो चक्रधर से कवि परशुराम तक थी। परवर्ती महानुभाव पंथियों की सूची पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इस पंथ में ब्राह्मणों ने प्रवेश कर इसके तमाम मूल्यों को अपनी विचारधारा के अनुसार मोड़ लिया और पंथ में सगुण भक्ति तथा वैदिक कर्मकाण्डों का प्रवेश होता गया। एक शोधकर्ता ने लिखा है : “पंथ स्थापना के लगभग 300 वर्ष तक यह पंथ विशेषतः ब्राह्मण वर्ग में फैलता रहा व उसके इतर वर्णों का भी समावेश सन्यासी वर्ग में होने लगा।”⁵⁰ वास्तव में आरंभ से ही जन्मना ब्राह्मणों की संख्या पंथ में रही अवश्य है, लेकिन पुरोहिती तत्व उसमें नागदेवाचार्य के एक पीढ़ी बाद दिखने शुरू होते हैं। महानुभाव पंथ की इसी बाद में निर्मित अपभ्रष्ट परम्परा की एकनाथ, तुकाराम, वामन, गिरिधर सन्तों ने कड़ी आलोचना की है, जिसे साहित्येतिहासकार वि.ल.भावे भूल से सम्पूर्ण महानुभाव पंथ की आलोचना मान बैठे।⁵¹ इस सन्दर्भ में चन्द्रकान्त बांदिवडेकर का कहना है कि “कहीं महानुभाव पंथ के प्रति एकनाथ जैसे महान सन्त कवि ने व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग भी किया उदाहरण के

लिए “जालों म्हाणाली मानभव/ अंतरी शुद्ध नाही भाव/ मानभाव बाई / आम्हा भिक्षा वाढा काही/मूळींचाचि मानभाव वस्त्रं केली काळी/ कोरके मागूनि झोळी भरली/ होअनि मानभाव/ अवघा बुडविला ठाव/” – अर्थात् यहाँ ‘महानुभाव’ को ‘मानभाव’ कहा है जो मराठी में दांभिक का पर्याय है। फिर उनकी भिक्षा वृत्ति पर व्यंग्य है। फिर यह भी कहा है कि उन्होंने स्थान को डूबो दिया। अर्थात् एकनाथ जी के प्रचंड ग्रंथ भंडार में इस प्रकार की उक्तियाँ अपवाद रूप में ही मिलती हैं।”⁵² कहने का तात्पर्य कि एकनाथ आदि परवर्ती सन्तों द्वारा की गई महानुभाव पंथ की आलोचना वैमनस्य की भावना से नहीं, अपितु सदसद्विवेकबुद्धि से की गई आलोचना है। इसे सम्पूर्ण महानुभाव पंथ की कटु आलोचना नहीं माना जा सकता, यह तो पंथ में पनप रही अप-प्रवृत्तियों की आलोचना है। यह आलोचना पद्धति भक्ति आन्दोलन में सर्वत्र व्याप्त है।

महानुभाव पंथ में स्त्री रचनाकारों की विशेष परम्परा रही है। पंथ ने कोई स्त्रियों के लिए अलग से नियम नहीं बनाए थे, पंथ में उनका हक और दर्जा समान माना गया। महदंबा, उभांबा, रुपाई “हिरांबा व कमळांबा की तरह अनेक विदुषियों ने अपना शिष्य समुदाय बढ़ाया था। विदुषी कमळांबा तो एक विशिष्ट अम्नाय की प्रवर्तक थी।”⁵³ हिरांबा अनुशासन में अत्यन्त कठोर थी इसलिए “तत्कालीन महानुभावीय सन्यासियों पर इसका खासा दबदबा था।”⁵⁴ इनमें से कई स्त्रियों ने हिन्दी में भी रचनाएँ लिखी हैं। महदंबा न सिर्फ मराठी की पहली कवयित्री हैं, बल्कि मराठी भाषा क्षेत्र की पहली रचनाकार हैं, जिसने मराठी के अलावा हिन्दी में भी रचना की है, जिसका विवेचन आगे किया जाएगा।

चक्रधर ने कोई रचना नहीं की किन्तु उनके वचनों के ‘आचार्य सूत्रों’ को जो जस-का-तस उनके शिष्य महिन्द्रभट ने ग्रंथबद्ध किया, जो ‘सिद्धान्त सूत्रपाठ’ नाम से विख्यात है। महिन्द्रभट ने अपनी गुरु की दिनचर्या-जीवनचर्या को भी लिपिबद्ध किया, जिसे वह ‘लीलाएँ’ कहता है और अपने इस ग्रंथ को ‘लीळाचरित्र’ (सन् 1278)। तत्पश्चात् पंथ के भास्कराचार्य ने दर्जनों ग्रंथों की रचना की, जिनका विषय पंथ के प्रायः प्रत्येक रचनाकार की भाँति श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित है। मराठी की पहली स्त्री-रचनाकार महदंबा भी इसी पंथ से सबद्ध थी। इसके कृष्णकथापरक 149 ‘ढोवळे’ (एक प्रकार की गीतरचना जो लोकगीत के प्रकार की होती है।) तथा दो हिन्दी पद उपलब्ध हैं। महानुभाव पंथीय रचनाकारों की परम्परा 16 वीं शताब्दी तक तथा पंजाब-अफगानीस्तान में भी फैली थी। इस पंथ के कई रचनाकारों ने कई साहित्यिक मानदण्डों को भी अपनी रचनात्मकता से चुनौती दी, जैसे भास्कराचार्य ने मराठी साहित्य में सबसे पहले ‘ईशस्तुति’ में निर्यमक रचना करना प्रारंभ की। महानुभाव पंथीय लोग सात ग्रंथों को पवित्र ग्रंथ मानते हैं जिन्हें ‘साती ग्रंथ’ कहा जाता है। वे ग्रंथ कालानुक्रम इस प्रकार हैं : 1) ‘शिशुपाल वध’ शके 1195, 2) ‘एकादशस्कंद’ शके 1196 दोनों मराठी ओविबद्ध ग्रंथ श्री भास्कर कवीश्वर ऊर्फ भानुभट्ट बोरीकर द्वारा रचित हैं। 3) ‘रुक्मिणी स्वयंवर’ शके 1210 में नरेंद्र कवी ने रामदेवराव यादव के शासन समय में ओविबद्ध किया। 4) ‘वत्सहरण’ ग्रंथ लगभग शके 1200 में दामोदर पंडित द्वारा रचित हैं। 5) ‘ऋद्धपूर वर्णन’ बहाळ नारोव्यास द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। 6) ‘सह्याद्रि वर्णन’ की रचना शके 1254 में रवळो व्यास पाश्रीकर ने की। तथा 7) ‘ज्ञानप्रबोध’ शके 1253 में पंडित विश्वनाथ महानुभाव ओवीबद्ध किया हुआ ग्रंथ है।

चक्रधर शिष्यों ने नाथों की गूढ़ रहस्यात्मक भाषा को त्याज्य मानकर मराठी में ग्रंथरचना का आरंभ किया। मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त रचना करने की आवश्यकता भी इसी पंथ के रचनाकारों ने महसूस की। “कृष्णमुनि ने इस पंथ का प्रचार संवत् 16 के आसपास पंजाब में आरंभ किया और तब से यह पंथ वहाँ तेज़ी से फैला। पंजाबी लोगों की मातृभाषा मराठी नहीं है, केवल वह अपने धर्म की या पंथ की भाषा को पवित्र भाषा मानकर उसका वह अभ्यास करते हैं, और उसके पद्य ग्रंथ धार्मिक श्रद्धा से कंठस्थ करते हैं। पंजाबी महानुभाव लोक कभी-कभार मराठी भाषा में कुछेक ग्रंथरचना भी करते हैं। इस पंजाब में पंथप्रसार का भाषा की दृष्टि से यह परिणाम दृष्टिगोचर हुआ कि, हिन्दी, ब्रज वगैरे अनेक छन्द – जो पंजाबी लोगों के अत्यन्त समीप थे, प्रतिदिन श्रवणीय थे – उन्होंने मराठी रचनाओं में कुछ फेर-बदल के साथ प्रचलित कर दिए। उसी प्रकार उधर की भाषा का ढंग व तद्देशीय कल्पनाओं का भी समावेश सहजता से उनके लेखन में आया। किन्तु पंजाबी महानुभाव पंथ की ग्रंथरचना उतने श्रेष्ठ दर्जे की न होने के कारण यह ढंग और कल्पनापद्धति की परम्परा उनके ग्रंथों के आगे न बढ़ वहीं समाप्त हो गई। महानुभावी ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा प्रयुक्त नानाविध छन्द तत्कालीन अनेक ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में स्वीकार कर लिए।”⁵⁵

संस्कृत के स्थान पर मराठी-हिन्दी को पंथ की पवित्र भाषा के रूप में मान्यता देकर चक्रधर ने न सिर्फ भाषा का बल्कि लोक का भी आदर किया। महानुभावियों को संस्कृत की सत्ता वाली बद्धमूल मानसिकता को चुनौती देने वाली परम्परा में शामिल किया जा सकता है। “विनायक राव भावे ने महानुभावी ग्रंथों की लिपि की ‘कुंजी’ प्रस्तुत की। इसके पश्चात् हरिभाऊ ने, यशवंतराव देशपाण्डे एवं वि.मि. कोलते ने इस पंथ के विचारों और साहित्यिक सौन्दर्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। महानुभाव सम्प्रदाय की विचारधारा का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखे गए ग्रंथों की लिपि के गुप्त संकेत-चिन्हों को अनावृत्त करने से भाषा का जो स्वरूप समक्ष प्रस्तुत हुआ है, वह बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के सन्तों की मराठी भाषा से बहुत भिन्न नहीं है और उसे समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती, यथा ‘हिंसा न करावी’ (हिंसा नहीं करनी चाहिए; सूत्रपाठ, आचार-मालिक 105), ‘उन्मत द्रव्य न सेवा गा’ (उन्माद उत्पन्न करने वाले द्रव्य (मद्य) को नहीं पीना चाहिए; लीला-चरित्र, उत्तरार्द्ध 269) इत्यादी।”⁵⁶

महानुभावों की रचनाएँ अपनी समकालीन समाजनीति-राजनीति को भी स्पर्श करती हैं। एक प्रकार से वारकरी सम्प्रदाय के लिए उचित भावभूमि भी इस पंथ ने परोक्ष-अपरोक्ष रूप से प्रस्तुत की है। इस सम्प्रदाय ने भले ही आगे के समय में सगुण भक्ति को अपना अंग बना लिया किन्तु आज भी इसमें एक प्रकार से निर्गुण भक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है। इस सम्प्रदाय ने वैचारिक भावभूमि बनाने का महत्तकार्य कार्य किया है। इसी कारण मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र भक्ति आन्दोलन के मूल्यों को आगे की पीढ़ी एवं प्रदेश को दाय के रूप में देने की भूमिका का निर्वहन कर पाया।

इस प्रकार भक्ति आन्दोलन एक जनान्दोल के रूप में अपना रूप ग्रहण करता गया। उसका दक्षिण से उत्तर, लोक-सम्पर्क से लोक एवं लोक से शास्त्र बनने का प्रवास काफी संघर्षपूर्ण रहा। इस सामाजिक आन्दोलन का प्रभाव तत्कालीन सभी कलारूपों पर समान रूप से देखा जा सकता है।

जहाँ समाज में कई मानवतावादी मूल्यों की स्थापना इसका साध्य रहा वहीं साधन के रूप में साहित्य में भी इसने कई असाध्य का कर दिखाए। महाराष्ट्र में भी कुछ इन्हीं भावभूमियों की स्थापना भक्ति आन्दोलन ने की जिसका प्रभाव इस प्रदेश के समाज पर वर्तमान समय में भी देखा जा सकता है। मराठी भक्ति आन्दोलन एवं साहित्य का परिचय अगले अध्याय में किया जाएगा।

सन्दर्भ संकेत

1. मुक्तिबोध, ग.मा. : *मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू*.
2. हबीब, इरफान : *मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास*, सिंह गोपेश्वर (सम्पा) : *भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार*, पृ.45-55.
3. “क्या कारण है कि निर्गुण-भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता ? उसका मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करने वाली पूँजीवादी क्रान्तिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं।” मुक्तिबोध, ग.मा. : *मुक्तिबोध, ग.मा. : मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू*, सिंह गोपेश्वर (सम्पा) : *भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार*, पृ.109-118.
4. हबीब, इरफान : *मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास*, सिंह गोपेश्वर (सम्पा) : *भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार*, पृ.45-55.
5. लॉरेंजन, डेविड एन., अनु. सिंह, धीरेन्द्र बहादुर : *निर्गुण संतों के स्वप्न*, पृ.30.
6. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : *हिन्दी साहित्य का आदिकाल*.
7. “It is difficult to say when the institution of slavery originated in the south. Perhaps the conquest of southern India by the Aryans and the consequent fusion between them and the inhabitant of the land could have been the possible cause of the birth of cast system and the institution of slavery which is closely allied with the former.” *फ्रन्टलाइन*, 25 अप्रैल, 2003, में पूर्वोद्धृत.
8. Mani, Braj Ranjan : *Debrahmanising History*, pg.161.
9. जोशी, महादेवशास्त्री : *वचनसाहित्याची थोरवी*, सम्पा. तोरो अ.रा. : *महाराष्ट्र-कर्नाटक सांस्कृतिक अनुबंध*, पृ.84 से उद्धृत तथा अनुवदित.
10. “The boy of the servant in Channayya’s house
And the girl of the maid in Kakkayya’s house –
They both went to the field to gather dung
And they made love
A child was born to them – that was me.
So say the lord of the Meeting Rivers be my witness!”
Ibid, pg.164.द्वारा उद्धृत.
11. साही, विजयदेवनारायण : *जायसी*,
12. कामत, अशोक : *महात्मा बसवेश्वर आणि महाराष्ट्र*, सम्पा. तोरो, अ.ना. : *महाराष्ट्र-कर्नाटक सांस्कृतिक अनुबंध*, पृ.99 पर पूर्वोद्धृत.
13. जोशी, महादेवशास्त्री : *वचनसाहित्याची थोरवी*, वही, पृ.89.
14. गुप्त, जगदीश : *नई कविता : स्वरूप एवं समस्याएँ*, पृ.15.
15. राजपाल, हुकुमचन्द : *आधुनिक काव्य में नवीन जीवन-मूल्य*, पृ.02.
16. गुप्त, ज्ञानचन्द : *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक और ग्रामचेतना*, पृ.90.
17. दिनकर, रामधारी सिंह : *साहित्यामुखी*, पृ.06.
18. अग्रवाल, पुरुषोत्तम : *अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय*, पृ.279.
19. Mani, Braj Ranjan : *Debrahmanising History*, pg.143.
20. Ibid, pg.140.
21. मिश्र, ज्योतीश्वर : *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक मूल्य संक्रमण*, पृ.38.
22. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : *नाथ-सम्प्रदाय*, पृ.1.
23. “नाथ संप्रदायाची उदयभूमी दक्षिणेतील श्रीशैल-कदलीबन ही असून, आंध्र-कर्नाटक-महाराष्ट्र ही नाथ सम्प्रदायाची प्रथम लीलास्थली आहे, हे आपणांस दिसून येईल” : ढेरे, रा.चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पुस्तक से अनुदित, पृ.24.
24. “नाथ संप्रदायाचे आदिसिद्ध मत्स्येंद्रनाथ-गोरक्षनाथ हे उत्तरेतले, त्यामुळे नाथ संप्रदायाची उदयभूमीही उत्तरेतली, असा ग्रह आजपर्यंत रूढ आहे. दारावर येणारे नाथजोगी आणि निरनिराळ्या मठांतून अढळणारे जोगी हिंदी भाषेचा वापर करतांना अढळतात,

त्यामुळे हा समज खरा आहे, असेही वाटू लागते. ज्या पंडितांनी आजवर नाथ संप्रदायावर लेखन केले, ते पंडित दक्षिण भारतातील अभ्यास-साधनांपासून सर्वथा वंचित होते. रूढ समजुतींना गृहित धरून त्यांनी संशोधन सुरू केले आणि मग अनुमानांची कसरत करितच आपल्या संशोधनपूर्ण प्रबंधांचा पसारा त्यांनी मांडला. नेपाळ, पंजाब, उत्तर प्रदेश, आसाम या प्रदेशांना आजवर निरनिराळ्या पंडितांनी नाथ संप्रदायाच्या उदयभूमीचा मान बहाल केला आहे. डॉ. मोहनसिंह, प्रो. ब्रिगज, डॉ. द्विवेदी, डॉ. मलिक या पंडितांच्या जाड्या जाड्या ग्रंथांचे अनुसरण करणारे महाराष्ट्रीय पंडितही आजवर हाच समज खरा असल्याचे मानीत आले.” : ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पुस्तक से अनुदित, पृ.24.

²⁵ द्विवेदी, हजारीप्रसाद : *नाथ-सम्प्रदाय*, पृ.205.

²⁶ रा.चिं.ढेरे द्वारा उद्धृत ‘लीळाचरित्र’ का मूल परिच्छेद इस प्रकार है – “दैवतें निगालीं : जोगला देवि : रिरिय पितळेची निगाली : तितरिया महुवाचा कृष्ण्या निगाला : तें गोसावी सांडउं आदरीली : तवं आउसीं म्हणीतलें : जी जी जी जगन्नाथा : कृष्ण्या नको सांडुं : हा मज वाट दाखवी.” ‘लीळाचरित्र’, भाग-4, पृष्ठ-49. : ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पृ.41.

²⁷ “ ‘भक्ति’ ही नाथ संप्रदायाला केवळ ज्ञानेश्वरांनी दिलेली नवी देणगी नव्हती; तर त्यापूर्वीही नाथ संप्रदायात भक्तिला-कृष्णभक्तिला-स्थान होते.” : ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पुस्तक से अनुदित, पृ.42.

²⁸ “गोरक्षनाथाचा खरा वारसा इतिहासात नाथपंथीय जोग्यांनी सांभाळला नाही. तो वारसा चक्रधर, ज्ञानेश्वर, अल्लमप्रभु, कबीर, दादू सारख्या महापुरुषांनी पत्करला आणि आपल्या स्फूर्तिदात्याच्या उदात्त साधनमूल्यांच्या पायावर त्यांनी मध्ययुगीन भारतीय साधनेचे महत्संगल मंदिर उभारले.” : ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पुस्तक से अनुदित, पृ.43.

²⁹ द्विवेदी, हजारीप्रसाद : *नाथ-सम्प्रदाय*, पृ.32.

³⁰ भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ.32.

³¹ वही, पृ.33.

³² “या ग्रंथाचा समाप्ति-लेख ‘श्रीगोरक्षनाथविरचिते अमरनाथसंवादे आत्मज्ञान कथंति निजविचारे’ असा असल्यामुळे हा ग्रंथ गोरक्ष-विरचित आहे, असे वाटते. परंतु आपला ग्रंथ आदरभावाने गुरुच्या नावावर लिहण्याची प्रथा आहे.” : ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पुस्तक से अनुदित, पृ.112.

³³ द्विवेदी, हजारीप्रसाद : *नाथ-सम्प्रदाय*, पृ.14.

³⁴ वही पृ.100.

³⁵ ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पृ.116.

³⁶ गोरखसुत गहिनी कहे नाथ पंथकी बानी ।

ग्यानी जानत गुरुपुत होत सोहि चढे निरबानी ॥ वही, पृ.116.

³⁷ वही, पृ.116.

³⁸ द्विवेदी, हजारीप्रसाद : *नाथ-सम्प्रदाय*, पृ.32-35, क्रम संख्या – 33 तथा 72 .

³⁹ ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पृ.125.

⁴⁰ “ज्ञानेश्वरानंतर नाथ संप्रदायाचा वंशविस्तार खूपच वाढला. ज्ञानेश्वर-शिष्य सत्यामलनाथ यांनी आपल्या ‘नवरत्नमाला’ या ग्रंथात ज्ञानेश्वरांचे पुढिल नऊ शिष्य नोंदले आहेत.” : ढेरे, रा. चिं. : *नाथ संप्रदायाचा इतिहास (नाथ सम्प्रदाय का इतिहास)*, पुस्तक से अनुदित, पृ.126.

⁴¹ भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ. 130 एवं 143.

⁴² “मुकुंदराजानें दिलेल्या आपल्या गुरुपरंपरेवरून व त्याच्या हकीकतीवरून तो शिवभक्त असून नाथसंप्रदायी असावा, असें दिसते. शके 1100 चें सुमारास नाथ संप्रदाय आपल्या महाराष्ट्रांत पुष्कळ पसरलेला होता.” भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ. 31.

⁴³ ‘श्रीशांकरोक्तीवरी । मी वोलिलों मराठी वैखरी । म्हणूनि येथ धरावी चतुरीं ॥’

अर्थात, ‘मैं मराठी में बात कह रहा हूँ, किन्तु मेरी इस बात के लिए श्रीशंकराचार्य का आधार है ।’ भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ. 30, पर उद्धृत.

⁴⁴ डहाके, वसंत अबाजी : *मराठी वाङ्मय : आरंभापासून शाहीरापर्यंत*, पृ.

⁴⁵ आमुख, पृ.56.

⁴⁶ कोलते : *मराठी सन्तो का सामाजिक कार्य*, पृ.23.

⁴⁷ भावे, विनायक लक्ष्मण : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ.

⁴⁸ वही, पृ.

⁴⁹ देशपांडे, यशवंत खुशाल : *महानुभवीय मराठी वाङ्मय*, पृ.46

⁵⁰ वही पृ.85

⁵¹ वही, पृ.86

⁵² बांदिवडेकर, चन्द्रकान्त : *मराठी साहित्य परिदृश्य*, पृ.26

⁵³ वही, पृ.87

⁵⁴ भावे, विनायक लक्ष्मण : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ.146

⁵⁵ वही, पृ.64-65.

⁵⁶ कोलते : *मराठी सन्तो का सामाजिक कार्य*, पृ.20.

द्वितीय अध्याय

मराठी भक्ति आन्दोलन और साहित्य

भौगोलिक रूप से मराठी भाषा-भाषी प्रदेश दक्षिण-उत्तर के संधिस्थल पर स्थित है, इस कारण यहाँ सांस्कृतिक तथा वैचारिक समन्वय प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से स्वभाविकतः घटित होता आया है। दक्षिण से आती अद्वैतविरोधी दार्शनिक विचारधाराओं, उत्तर से विदेशी आक्रमण का समाज पर पड़ता दूरगामी प्रभाव, नाथादि ईश्वरवादी-निरिश्चरवादी, वैदिक-अवैदिक सम्प्रदायों का यहाँ विकसित होना इसी ओर इंगित करता है। चक्रधर-ज्ञानेश्वर से आरंभ होनेवाले मराठी भक्ति आन्दोलन का इतिहास प्रायः महानुभाव एवं वारकरी सम्प्रदाय का इतिहास रहा है। वारकरी पंथ एक तरफ सीधे नाथपंथ के अन्तिम चरण से जुड़ता है, तो दूसरी तरफ कर्नाटक की विठ्ठल परंपरा से। कई विद्वान इसे नाथपंथ से विकसित मानते हैं, तो अन्य इसका सम्बन्ध मात्र लोक से जोड़ते हुए नाथपंथ का केवल प्रभाव मानते हैं। इस महासमन्वय का चरम रूप वारकरी भक्ति-सम्प्रदाय के अराध्य विठ्ठल की प्रतिमा में देखा जा सकता है। एक ओर जहाँ वारकरियों ने हरिहर ऐक्य को व्यवहृत किया वहीं अपनी रचनाओं में लोक-रूपों को प्राथमिकता देते हुए, अधिकतर उत्तर से आती हुई काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को भी उचित स्थान दिया। दक्षिण की ओर से आती हुई समानतावादी विचारधारा को अधिक मुखर तथा प्रखर बनाकर उसे उत्तर की ओर उचित भावभूमि में रोपने का कार्य कर अपनी समाजिक भूमिका का निर्वहन आरंभिक मराठी सन्त-भक्त कवियों ने किया है। इस रूप में उनकी मध्य में स्थित भूमिका दक्षिण-उत्तर के सेतु के रूप में उल्लेखनीय हो जाती है। इस क्रम में मराठी भक्ति-आन्दोलन एक वैचारिक गोष्ठी संघों के रूप में विकसित होता है, जिसे पंथ के नाम से अभिहित किया जाता है। इन पंथों के माध्यम से मराठी भक्ति आन्दोलन का परिचय, उसका इतिहास जाना जा सकता है।

वारकरी सम्प्रदाय के अभ्युदय से पूर्व महाराष्ट्र में नाथ, महानुभाव, बोद्धों की महायान शाखा आदि कई विचारधाराओं-अचारधाराओं के पंथों का बाहुल्य सामान्य जन के बीच था। पिछले अध्याय में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि किस प्रकार महानुभाव सम्प्रदाय आगे के समय में अपने ही बनाए सैद्धान्तिक ढाँचे में फँसता चला गया और किस प्रकार नाथ सम्प्रदाय अपने सकारात्मक मूल्यों के साथ वारकरी सम्प्रदाय का अंग बनता गया।

“ई.पू. प्रथम शती के लगभग महाराष्ट्र में संकर्षण तथा वासुदेव की पूजा आरंभ हो गई थी। महाराष्ट्रवासियों के वैष्णव धर्म की ओर अधिक झुकाव होने के कारण ही बौद्ध एवं जैनादि निरीश्वरवादी धर्म जन-मानस को अधिक आकर्षित न कर सके।”¹ उल्लेखनीय बात यह है कि यह संकर्षण तथा वासुदेव पूजा की विधि पांचरात्र मत से जुड़ती है, जिसे रामानुजादि आचार्यों ने शंकराचार्य की सैद्धान्तिक मान्यताओं के विरोध में पुनः प्रस्थापित करने का प्रयास किया। यह नहीं कहा जा सकता कि वारकरी सम्प्रदाय या जिसे भागवत सम्प्रदाय कहा जाता है, केवल वैष्णववादी सम्प्रदाय है, किन्तु उसका वैचारिक ढाँचा बहुत हद तक वैष्णव विचार-आचार पद्धति से प्रभावित है। इस “भागवत धर्म अथवा वैष्णव भक्ति के विकास में पांचरात्र संहिताओं का महत्वपूर्ण योगदान है। पांचरात्र का मत प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्युह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव), संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (मन) की उत्पत्ति होती है। शंकर ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि शंकर के युग में पांचरात्र मत से की जाने वाली पूजा-अर्चना का पर्याप्त प्रचलन रहा होगा। परन्तु रामानुज द्वारा पुनः पांचरात्र मत की प्रतिष्ठा के लिए क्रमबद्ध प्रयास हुआ। दक्षिण के मन्दिरों में जहाँ केवल शिव की ही पूजा अधिकतर होती थी, रामानुज ने वहाँ विष्णु की पूजा की प्रधानता स्थापित की।”² डॉ. भाण्डारकर ने पांचरात्र सम्प्रदाय का विकास लगभग तीसरी शताब्दी से माना है।³ इन “पांचरात्र संहिताओं में ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की उपासना का वर्णन मिलता है। पांचरात्र धर्म यह मानता है कि ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है।”⁴ और इस प्रकार के मत को मानने वाले “पांचरात्र के उपासक ही भागवत कहलाए।”⁵ इस प्रकार पांचरात्र सम्प्रदाय से वारकरी सम्प्रदाय का सीधे विकास नहीं माना जाता है, भले ही उनमें सैद्धान्तिक स्तर पर कई जगह साम्य दृष्टिगोचर होता हो। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर वारकरी सम्प्रदाय कई मायनों में इससे काफी भिन्न दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ता है।

सिद्धान्त कथन से पांचरात्र की पुनर्स्थापना करने का प्रयास करने वाले स्वयं “अपने प्रारम्भिक जीवन में रामानुज ने अद्वैत वेदान्त का अध्ययन इस दर्शन के घोर समर्थक आचार्य के पास किया, लेकिन आगे चलकर वे आलवारों द्वारा प्रचारित उस वैष्णव आन्दोलन के प्रभाव में आए, जो तमिल प्रदेश में प्रचलित था; अब उन्होंने प्रयत्न किया ‘शंकर के चरमपन्थी अद्वैत के विरुद्ध एक ऐसे दार्शनिक वाद की स्थापना करने का, जो ईश्वर-भक्ति सम्बन्धी उस सिद्धान्त का दार्शनिक आधार बन सके, जिसने आलवारों के ‘प्रबन्धों’ में कविता की भाषा में अभिव्यक्ति पाई थी – और यह एक ऐसा काम था जिसके लिए अद्वैती

गुरु से पाए हुए अध्ययन ने उन्हें विशेष रूप से अधिकारी बना दिया।⁶ रामानुज ने आलवारों की कविताओं को केवल दर्शन का जामा नहीं पहनाया, बल्कि उनकी इससे बड़ी और महत्वपूर्ण देन कुछ और थी। रामानुज ने शंकर मत के विरुद्ध न सिर्फ व्यवहार और दर्शन का मेल बैठाया बल्कि उसके लिए आलवारों का व्यावहारिक प्रभाव भी ग्रहण किया। शंकर ने भारतीय दर्शन के भाववादियों के समर्थन में “युक्ति दी कि ज्ञान और कर्म एक-दूसरे के नितान्त विरोधी हैं और इसलिए कर्म का ज्ञान से किसी प्रकार का सरोकार रखना तो दूर रहा, उल्टे वह ज्ञान के मार्ग में बाधक है।”⁷ स्पष्टतः शंकर के यहाँ व्यवहार और दर्शन में एक फाँक निर्मित हो गई थी जिसे रामानुज तथा परवर्ती दार्शनिकों ने भरने का प्रयास किया। वैसे पूर्णतः मौलिकता शंकर के पास भी नहीं थी, वस्तुतः मायावाद के प्रथम उद्गाता वे थे भी नहीं, ठीक उसी प्रकार रामानुजादि भी अपनी प्रेरणा आलवारों के काव्यात्मक अभिव्यक्ति से ग्रहण कर रहे थे। इस प्रकार जब कहा जाता है कि “महाराष्ट्र के वारकरी सन्तों पर रामानुज के विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है”⁸, तो वास्तव में वहाँ आलवार सन्तों का प्रभाव माना जाता है, माना जाए। इस प्रकार वारकरी पंथ की वैचारिक पृष्ठभूमि को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आलवारों सन्तों से जोड़ा जा सकता है। आलवारों के इस मत को इस भूमि में स्थान बनाने के लिए बौद्धों, नाथों आदि द्वारा पृष्ठभूमि भी बनाई जा रही थी, उसे अस्विकार नहीं किया जा सकता।

मराठी भक्ति आन्दोलन का आरंभ महानुभाव सम्प्रदाय से होता है। वारकरी सम्प्रदाय का विकास ज्ञानेश्वर-नामदेव के समय से होता है। वारकरी इसे अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय मानते हुए इसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन बताते हैं। इस सम्प्रदाय का आरंभ भक्त पुंडलिक से माना जाता है। “पौराणिक वाङ्मय में पुंडलिक की कथा आती है। ‘पद्मपुराण’ में आयी कथा का सारांश इस प्रकार है : “अपने पूर्वजीवन में पुंडलिक स्त्रीलंपट एवं माता-पिता की अवहेलना करने वाला सामान्य मनुष्य था। आगे कुक्कुट स्वामी से दर्शन से उसके जीवन में क्रान्तिकारक परिवर्तन होकर माता-पिता का भक्त बन गया। लोहदंडक्षेत्र (वर्तमान पंढरपुर) में माता-पिता की सेवा में मग्न था। एक दिन रुक्मिणि श्रीकृष्ण से रुष्ट होकर दिंडीरवन में चली गई। उन्हें ढूँढ़कर वापस जाते समय कृष्ण पुंडलिक के बस्तीस्थान के पास आए। माता-पिता की सेवा में व्यस्त होने के कारण पुंडलिक ने बाएँ हाथ से एक ईंट कृष्ण के पैरों के पास फेंक दी और कृष्ण उस पर खड़े हो गए। सेवाकार्य समाप्त होने के पश्चात् पुंडलिक ने भगवंत को प्रणाम कर वंदना की। भगवंत ने प्रसन्न होकर उसे वर माँगने के लिए कहा, तब पुंडलिक ने कहा ‘भगवंत इसी रूप में यहाँ रहे, अज्ञानी

जीवों का उद्धार करें और यह क्षेत्र मेरे नाम से प्रसिद्ध हों।”⁹ स्कंदपुराण में भी यही कथा आयी है। किन्तु इन दोनों पुराणों का रचनाकाल निश्चित न होने तथा इसमें बाद की भी कई रचनाएँ मिल जाने के कारण पुंडलिक का कालनिश्चय नहीं किया जा सकता। ज्ञानेश्वर पूर्व कुछ प्रमाणों के आधार पर विठ्ठल मंदिर की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। आदिशंकराचार्य के स्रोतों में ‘पांडुरंग स्रोत’ भी प्रसिद्ध है। शंकराचार्य का समय 8 वीं शताब्दी माना जाता है। जिसके आधार पर कहा जा सकता है विठ्ठल क्षेत्र इस समय प्रसिद्ध हो चुका था। “ब्रह्मसूत्र पर श्रीकर-भाष्य नाम का ग्रंथ उपलब्ध है। इस वीर-शैव मत के भाष्य की रचना श्रीपति पंडित ने की थी। ‘डॉ. नंदीमठ ने इस श्रीपति पंडित का समय इ.स.1160 निर्धारित किया है।”¹⁰ श्रीकर-भाष्य में मस्तक पर शिवलिंग धारण करने वाले विठ्ठल का उल्लेख आया है।”¹¹ पंढरपुर के देवस्थान का अस्तित्व दिखाने वाले प्राचीन-से-प्राचीन प्रमाणों में इ.स.516 का लेख माना जाता है।

इस प्रकार 6 ठीं शताब्दी तक विठ्ठल देवता के होने के प्रमाण मिलने के बावजूद विठ्ठलभक्तिपरक रचनाएँ प्राप्त नहीं होती हैं और न ही वारकरी सम्प्रदाय के संगठित होने के कोई प्रमाणिक प्रमाण मिलते हैं। संभव है कि ज्ञानेश्वर-नामदेव ने भी इस प्रकार का साहित्य रचा हो या कई रचनाकारों ने हज़ारों लोकगीतों में अपनी विठ्ठल भक्ति अभिव्यक्त की हो, लेकिन वे रचनाएँ आज अनुपलब्ध हैं। डॉ. अतळेकर ने भी यही मत व्यक्त किया है कि “It is not unlikely that Gyandeva may have had several predecessors, now lost into oblivion, who may have popularized the gospels of bhakti among the masses by vernacular poetry earlier than his time.”¹² यदि यह रचनाएँ उपलब्ध होती तो वारकरी सम्प्रदाय के संगठित रूप का इतिहास अपने प्राचीन रूप में हमें उपलब्ध हो पाता। ऐसा ज्ञात होता है कि 12 वीं शताब्दी के पूर्व विठ्ठल एक लोकदेवता के रूप में अराध्य थे तथा उसके अराधकों में सामान्य जन अधिकतर हुआ करते थे। धर्मक्षेत्रों में वर्जित जनसामान्य के लोक देवता के रूप में विठ्ठलमूर्ति पूजनीय रही होगी। यदि ज्ञानार्जन के अधिकार वाले उच्च वर्गीय-वर्णीय लोगों में विठ्ठल अराध्य के रूप में मान्य होते तो उनकी भक्ति में कोई-न-कोई संस्कृत ग्रंथ अवश्य लिखा जाता। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शती में तो “विभिन्न विषयों पर जितनी अधिक पुस्तकें इस काल में लिखी गई उतनी शायद पहले के काल में नहीं लिखी गई थीं।”¹³ इस समय में संस्कृत में विठ्ठल पर न लिखे जाने से स्पष्ट है कि श्रीविठ्ठल एक लोकदेवता

के रूप में 5 वीं सदी से ही विद्यमान रहे हैं और उनकी भक्ति में कई लोकगीतों की मौखिक रचनाएँ होती रही होंगी, जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

ज्ञानेश्वर से आरंभ होने वाली साहित्यिक परम्परा में भी वारकरी सम्प्रदाय के आरंभ सम्बन्धित पुंडलिक की प्रचलित कथा को शब्दबद्ध किया है, जिसके अनुसार पुंडलिक एक महान भक्त था तथा उसके भक्ति-भावों का आदर करते हुए कृष्ण ईंट पर खड़े रहे। निवृत्तिनाथ के अनुसार “सभी प्राणियों के उद्धार के लिए ब्रह्म ने कृष्णमूर्ति का यह सगुण रूप धारण किया है, वह रूप भीमा नदी के तट पर पांडुरंग का है। पुंडलिक की ईच्छा के कारण अठ्ठाईस युगों से उसकी भक्ति का आदर करते हुए, विश्वजन की ईच्छापूर्ति के लिए वे खड़े हैं।”¹⁴ तो वारकरी सम्प्रदाय के अन्तिम प्रमुख रचनाकार संत तुकोबा के अनुसार “बालक रूपी पांडुरंग गोपाल के गीत गाए और उसके प्रीति में कृष्ण यहाँ (पंढरपुर में) खड़े हैं।”¹⁵ यही पारंपारिक कथा ज्ञानेश्वर, बहेणाबाई, एकनाथ तथा अन्य रचनाकारों ने भी शब्दबद्ध की है। ज्ञानेश्वर के पिता का नाम विठ्ठल था। इन सब तथ्यों से स्पष्ट होता है कि वारकरी सम्प्रदाय कुछ भिन्न रूप में ज्ञानेश्वर -नामदेव से पूर्व भी प्रचलित था और इसके असंख्य भक्त रहे होंगे।

प्रश्न उपस्थित होता है कि परम्परावादियों ने धर्म को आधार बनाकर उत्पीड़न करने के बावजूद इन सन्त कवियों ने विठ्ठल आराधना को ही क्यों अपनी भक्ति का आधार बनाया? क्योंकि दसवीं शताब्दी के बाद श्रीकृष्ण के एक अवतारी रूप में विठ्ठल लोक देवता को न केवल सामान्य जन में बल्कि उच्च वर्णों में मान्यता प्राप्त होती गई थी। साथ ही ज्ञानेश्वर के पूर्वजों का विठ्ठल मूर्ति का कुलदैवत बनना यह जाहिर करता है कि विठ्ठल भक्तों में आरंभ में ब्राह्मणों का भी समावेश था। आगे के समय में जब विठ्ठल भक्त संगठित रूप में वारकरी कहलाए उसमें एक भी ब्राह्मण दिखाई नहीं देता। इस तरह आरंभ में आराधना में ब्राह्मण वर्ग समाविष्ट था। भक्ति के आन्दोलन रूप में वह आरंभ में सहभागी नहीं था, जिसे मुक्तिबोध ने सविस्तार अपने प्रसिद्ध निबंध ‘मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू’ में स्पष्ट किया है। ज्ञानेश्वरादि तत्कालीन सन्त नाथ सम्प्रदाय से परिचित होने के साथ ही उसकी खामियों से भी भली-भाँति परिचित थे। निवृत्तिनाथ ने नाथ सम्प्रदाय में विधिवत दीक्षित होने के बावजूद उसके सारे बाह्याडंबरों, योगादि क्रियाओं में अपने आप को पूर्ववर्तियों की तरह समाविष्ट नहीं किया। इसके बजाए उन्होंने अपेक्षाकृत सरल भक्तिमार्ग एवं नाथ सम्प्रदाय के सामाजिक दर्शन को यथायोग्य मिश्रण के साथ अपनाया। यह विचाराधारा उनके सामने कट्टरपंथी दर्शन के पर्याय के रूप में विकसित हुई। यही कारण है कि

निवृत्तिनाथ के बाद वारकरी सम्प्रदाय सामान्य जन में इतना लोकप्रिय हुआ, क्योंकि उसने एक जनसुलभ पर्याय लोगों के सामने प्रस्तुत किया था।

वारकरी सम्प्रदाय के साहित्य का आरंभ निवृत्ति-ज्ञानदेव के साहित्य से माना जाता है, इनसे पूर्व का लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। जैसाकि पिछले अध्याय में स्पष्ट किया गया इन्हीं बन्धुद्वय ने नाथ सम्प्रदाय में भक्ति का योग कर विठ्ठल भक्ति पंथ को वारकरी पंथ या सम्प्रदाय के रूप में विकसित किया। ज्ञानेश्वर लिखित गीता-टीका 'ज्ञानेश्वरी' ने वारकरी सम्प्रदाय को दार्शनिक आधार प्रदान किया। इस सन्दर्भ में तुकोबा का एक अभंग प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने वारकरी सम्प्रदाय के विकास को इतिहासबद्ध किया है। ठीक ऐसा ही एक अभंग उनकी शिष्या बहेणाबाई ने भी लिखा है परन्तु "वह अभंग तुकोबा का ही है, किन्तु बहेणाबाई ने उसकी अनुवादात्मक पुनर्रचना की है इसलिए वह उनका भी है।"¹⁶ उस अभंग में बहेणाबाई कहती हैं, "संत कृपा के फल से यह भवन खड़ा हुआ है। ज्ञानेश्वर ने इसकी नींव रखी और देवालय की स्थापना की। नामदेव इसके एक किंकर हैं जिन्होंने इसकी अट्टालिका का निर्माण किया है। जनार्दन शिष्य एकनाथ ने भागवत ग्रंथरूपी स्तंभ दिया। तुकोबा इसके शिखर हैं अतः भक्तजनों निश्चित होकर भजन करे। बहेणी कहती है इसकी ध्वजा ऊँचे स्थान पर लहरा रही है।"¹⁷ बहेणाबाई द्वारा गिनाए गए सारे संतों के साथ ही ऐसे कई संत हैं, जिन्होंने अपनी रचनात्मकता से मराठी साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

वारकरी सम्प्रदाय का रचनात्मक समय मध्यकालीन मराठी साहित्य का स्वर्णयुग है। नाथ सम्प्रदाय के भक्ति पंथ में रूपांतरित होने के क्रम में निवृत्तिनाथ-ज्ञानेश्वर ने जो साहित्य लिखा उससे इसका आरंभ होता है। निवृत्तिनाथ के उपलब्ध 374 पदों में शैव-वैष्णव, योग-भक्ति, शास्त्र-लोक का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनके इन पदों में निर्गुणोन्मुखता का आधिक्य होते हुए भी श्रीकृष्ण के सगुण रूप का मधुर वर्णन किया गया है। निवृत्तिनाथ के शिष्य-बन्धु ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्टी, हरिपाठ, नमन एवं स्फुट अभंगों द्वारा वारकरी सम्प्रदाय को दार्शनिक आधारभूमि देने की भूमिका का निर्वहन किया। ग.बा.सरदार के अनुसार ने ज्ञानेश्वरी के सन्दर्भ में लिखा है, "कईयों को लगता है कि सर्वसामान्य को समझने के लिए दार्शनिक बारिकियों को टालते हुए उसमें गीतार्थ को लागलपेटकर उन्होंने उपमा-दृष्टान्तों के आधार पर बता दिया। किन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। भावार्थ अर्थात् उपरी अर्थ नहीं। शब्दार्थ या वाच्यार्थ के परे जाकर गीता का गहराई एवं सम्पन्न आशय का बोध हो वह भावार्थ, यह

ज्ञानेश्वर की कल्पना है। इसलिए 'पाहतया भावज्ञा फावती गुण । चिंतामणिचे ॥' यह उन्होंने निश्चिती दी है....अपना टीकासंबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने भावार्थ, सकलार्थ, फलितार्थ, गूढवर्म, मूलध्वनि, आतुवट, वस्तुविचार जैसे शब्दों की योजना की है। इससे गीता का अर्थ आसान कर बताना, इतना ही ज्ञानेश्वर का उद्देश्य नहीं था, यह सहजता से समाझा जा सकता है।¹⁸ इसी ग्रंथ को वारकरी सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार कहा जाता है और इसके साथ ही साहित्य में इसका स्थान सर्वोच्च ग्रंथों की श्रेणी में है। इस ग्रंथ के साहित्यिक विश्लेषण के लिए स्वतंत्र प्रबंध भी अपूर्ण होगा। 'चांगदेव पासष्टी' 65 ओवियों का छोटा-सा ग्रंथ है, जिसमें चांगदेव नामक हठयोगी को लक्ष्य करते हुए, किसी भी मत की आलोचना किए बगैर सीधे-सीधे अपने दार्शनिक मतों को अभिव्यक्त किया गया है। 'हरिपाठ' में मधुराभक्ति का आधिक्य देखा जा सकता है तो 'नमन' प्रार्थनोन्मुख रचना है। 'संकिर्ण अभंग' 969 जिन अभंगों का संकलन है, वह वास्तविक रूप में वारकरी सम्प्रदाय के दार्शनिक आधार है। इसमें अराधक की व्याकुलता, सगुण-निर्गुण ऐक्य, नामस्मरण, गुरु महात्म्य, प्रेमा भक्ति इत्यादि विषयों-भक्ति-मूल्यों पर अभंग है, जो वारकरी सम्प्रदाय में मान्य भक्ति-मूल्य हैं। यह वह अभंग हैं जिनके आधार पर ज्ञानेश्वर का दार्शनिक, विचारक एवं रचनाकार रूप पूर्णरूपेण उभरकर सामने आता है। संभवतः इन्हीं रचनाओं ने आगे के रचनाकारों को प्रबंध की बजाए मुक्तक अभंग रचनाओं के लिए प्रेरित किया है। सोपानदेव के 52 अभंग उपलब्ध हैं। मुक्ताबाई के 53 में से 11 'ताटीचे अभंग' मराठी जनमानस में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

नामदेव न सिर्फ एक रचनाकार थे बल्कि वे एक लोकप्रदर्शनकार एवं कलाकार भी थे। उन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रदर्शन की परम्परा को जीवित रखने का प्रयास कीर्तनों द्वारा किया। उन्होंने कीर्तन की परम्परा के द्वारा भक्ति आन्दोलन के मूल्यों को जनसामान्य तक पहुँचाने का मार्ग बनाया और उसे संभव कर दिखाया। साहित्य एवं संगीत के मेल से उन्होंने कीर्तन को एक सशक्त माध्यम के रूप में विकसित कर कलाओं के समाजोन्मुखता इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया। नाथ एवं महानुभाव सम्प्रदाय से प्रेरणा ग्रहण करते हुए, ज्ञानेश्वर से स्वभाव भिन्नता रखते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास किया। ज्ञानेश्वर एक तत्त्वचिन्तक दार्शनिक थे, नामदेव दर्शन एवं व्यवहार के मिलनबिन्दु के रूप में उपस्थित हुए। "यदि ज्ञानेश्वर का सत्संग प्राप्त न हुआ होता तो नामदेव की भक्ति पंढरपुर स्थित श्रीविठ्ठल की मूर्ति तक ही मर्यादित रह जाती और नामदेव का लाभ ज्ञानेश्वर को न मिलता, तो उनका दर्शन केवल ग्रंथों में रह जाता। ज्ञान की दृष्टि पाकर भक्ति ने पूरे भारत में नाम कमाया। ज्ञानेश्वर अन्तर्मुख थे, इसलिए

अपने सम्बन्ध में या समाज के कटु व्यवहार के सम्बन्ध में उन्होंने कहीं भी असंतोष प्रकट नहीं किया है, परन्तु नामदेव स्वभाव से बहिर्मुख थे, अतः उनके काव्य में अपनी हीन जाति होने की व्यथा और जन दोषों का निर्देश पाया जाता है। ज्ञानेश्वर के काव्य में शास्त्राध्ययन के संस्कार प्रकट होते हैं, वहीं नामदेव का काव्य उत्कट भावों का स्वाभाविक प्रस्फुटन है जो काव्यशास्त्र नियमों की चिन्ता नहीं करता। ज्ञानेश्वर की अद्भुत प्रतिभा ने ज्ञानेश्वरी-अनुभवामृत जैसे प्रदीर्घ काव्य की सांस्कृतिक संपदा निर्मित की, परन्तु नामदेव ने छोटे-छोटे सहस्रों पदों-अभंगों में उत्कट भावाभिव्यक्ति की है। इसीलिए स्वयं ज्ञानेश्वर ने नामदेव के काव्य के सम्बन्ध में कहा है- ‘नामदेव के अभंग केवल व्यक्तित्व के निर्देशक नहीं हैं, बल्कि वह अद्भुत निरुपम ब्रह्मानंद रस ही हैं’। (नामयाचे बोलणे नव्हे हे कवित्व, हा अद्भुत निरोपमु – ज्ञानेश्वरी) इस कथन से हमें नामदेव के विशाल व्यक्तित्व की झलक मिल जाती है।”¹⁹

नामदेव के कृतित्व में किसी भी सीमा को स्थान नहीं है। कीर्तन के द्वारा मानवतावादी मूल्यों को जीवन-मूल्य बनाने के उद्देश्य से उन्होंने देश की यात्राएँ की। डॉ.मोहनसिंह के अनुसार –“महाराष्ट्र में यदि नामदेव नहीं होते तो वहाँ तुकोबा भी न होते, न उत्तर प्रदेश में कबीर, राजपूताने में दादू और पंजाब में गरीबदास न होते। किसी मध्ययुगीन रहस्यवादी पद में इतनी निर्भयता और मधुरता नहीं पायी जाती है, जितनी पेशे से दर्जी का काम करनेवाले में पायी जाती है। वे प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने यह सिद्ध किया कि गुरु ही ईश्वर हैं और भक्त तथा भगवान एक ही हैं।”²⁰ नामदेव के संबंध में प्रचलित किंवदंतियाँ एवं उनकी रचनाओं में मिश्रित प्रक्षिप्त रचनाओं का मिश्रण उनकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। नामदेव की रचनाओं में प्रक्षिप्त रचनाओं का मिश्रण उन्हीं शतों पर हुआ जिन कारणों से विजयदेव नारायण साही जायसी की रचनाओं में मानते हैं।²¹ कई विद्वानों द्वारा सम्पादित नामदेव गाथाओं में अभंग संख्या की भिन्नता दिखाई देती हैं। मु.श्री.कानडे ने साहित्यिक रूप में शोध-कार्य कर नामदेव गाथा का संपादन किया जिसमें नामदेव रचित 2171 प्रामाणिक अभंग और 237 हिन्दी रचनाएँ संकलित की गई हैं। इन रचनाओं में आत्मचरित्रपरक अभंग, कृष्ण चरित्रपरक अभंग, संत चरित्र, गुरु का महत्व, ज्ञानेश्वर की समाधि, बालक्रीड़ा, नामस्मरण, सामाजिक भेदभाव पर प्रहार, माधुर्य भक्ति, प्रेमा भक्ति आदि का सविस्तार चित्रण मिलता है।

प्र.न.जोशी के अनुसार, “नामदेव अपनी सरस एवं अमृतमधुर वाणी के लिए विख्यात हैं। आर्तता, सगुणदर्शन की उत्कंठा, चित्त की व्याकुलता, विठ्ठलस्वरूप का आकर्षण, सत्संग का लोभ, कीर्तन प्रियता इन

गुणों के लिए नामदेव की वाणी प्रसिद्ध है।”²² किन्तु यह गुण नामदेव की सम्पूर्ण रचनात्मकता के लिए चरितार्थ नहीं होते, यह आवश्यक नामदेव-वाणी की आरंभिक विशेषताएँ कही जा सकती हैं। नामदेव के अभंगों को एक नई दिशा विसोबा खेचर से ज्ञान प्राप्ति के बाद मिली। नाथ पंथी विसोब खेचर ने नामदेव को सच्चे अर्थों में निर्गुण का महत्व सप्रमाण समझाया। जो नामदेव पहले बालक की भाँति मात्र विठ्ठल मूर्ति में ईश्वर दर्शन की मनोकामना करते थे, वहीं सर्वत्र उसके दर्शन करने लगे। इसके साथ ही उनकी कविताओं में एक नई सामाजिक दृष्टि ने स्थान पाया। कई सामाजिक परम्पराओं पर नामदेव ने गुरु मिलन के पश्चात कड़े प्रहार किए। जहाँ पहले अपने निम्न जाति में जन्म लेने का दुःख उन्हें सताया करता था उसके स्थान पर ऊँच-नीच का भेद निर्माण करने वाली सामाजिक रूढ़ियों के प्रति, यह भेद निर्माण करने वालों के प्रति कठोर प्रहार देखे जा सकते हैं। उनकी आरंभिक रचनाओं में जहाँ अधिकतर भावात्मक उद्रेक दिखाई देता है, वहीं बाद की रचनाओं में निर्गुण भक्ति तथा समाजोन्मुखता अधिक प्रखर होती दिखाई देती है।

नामदेव के उत्तर में हो रहे मन्दिरों-देवमूर्तियों के भंजन एवं तोड़फोड़ को देखकर निर्गुण भक्ति को स्वीकार करने का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि आलोचकों-इतिहासकारों ने अधूरी अनुदित जानकारी के आधार पर किया है। “प्रिय ज्ञानेश्वर की समाधि से ऊबकर उनके पंजाब जाने की बात उचित प्रतीत नहीं होती हैं”²³ और न ही उन्होंने उत्तर के ध्वंसों को देखकर निर्गुण भक्ति का स्वीकार किया। नामदेव की उत्तर भारत की यात्रा से पूर्व के कई अभंगों में निर्गुण भक्ति को देखा जा सकता है। अपने अराध्य श्री विठ्ठल के निर्गुण की महिमा का गुणगान करते हुए वे कहते हैं, “निर्गुण का ही वैभव भक्ति के वेश में सगुण विठ्ठल का रूप धारण कर आ गया है और वह नित्य नया रूप धारण करता है। वही रूप मेरे हृदय में प्रस्थापित हो चुका है।”²⁴ इसी प्रकार के भाव को एक अन्य अभंग में व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है, “निर्विकल्प, निराकार, निःशून्य, निराधार, निर्गुण, अपरंपार, चिदानन्द का ही यह सावला रूप विठ्ठल है।”²⁵ अतः स्पष्ट हो जाता है कि पंजाब में जाने से पहले ही नामदेव निर्गुण भक्ति को अपना चुके थे। अतः वारकरी सन्त नामदेव ने इस दर्शन परम्परा को उत्तर भारतीय वातावरण में उचित समय पर, यथायोग्य स्थान एवं स्वीकृति प्रदान करवाने का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण निर्गुण भक्ति आगे के समय एक प्रतिरोधी विचारधारा के रूप में विकसित हो पाई, जिसका आरंभ नामदेव की कविताओं से हो जाता है।

ज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित आराधना की समानता के संदेश को अधिक व्यापक बनाने का कार्य नामदेव ने किया है। इसका आरंभ स्वयं ज्ञानेश्वर ने अपना अघोषित समूह बनाकर कर दिया था। नामदेव इसकी ऐसी अट्टालिका बने जिसने अपने प्रांगण में मानव मात्र के चिन्तन को सर्वोपरि माना। इस प्रकार के किसी समूह का उल्लेख मराठी साहित्य या साहित्येतिहासों में नहीं मिलता है। इसके कई ऐतिहासिक कारण हैं। जिस वर्ग ने ज्ञानेश्वरादि बालकों को उनके माता-पिता के साथ समाजनिष्कासित कर दिया था, उसी वर्ग के साहित्येतिहासकारों ने अपने समाज में उन्हीं को गौरान्वित करने का, या यँ कहे उनके कृतित्व को गौरवान्वित करने का भरसक प्रयास किया। इसी क्रम में उन्होंने इस परिवार के साथ जिस प्रकार चमत्कारिक कथाओं को जोड़ा उसी क्रम में तत्कालीन जिन सबाल्टर्न संतों से उनका सहज सम्बन्ध था उनसे अलग करने का प्रयास किया। इस विलगाव की प्रक्रिया में उन्होंने इन प्रत्येक सबाल्टर्न सन्त को ज्ञानेश्वर से प्रेरित या उनके प्रभाव क्षेत्र मात्र का व्यक्ति-रचनाकार माना। इस प्रकार इतिहास को अगुआ क्रम जारी है और इसी शृंखला में प्र.न.जोशी के साहित्येतिहास 'मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ' को देखा जा सकता है।

यह स्वीकार्य है कि दार्शनिक रूप में वारकरी सम्प्रदाय को ज्ञानेश्वर की रचनाओं ने आधार प्रदान किया प्रायः प्रत्येक सबाल्टर्न सन्त का जीवन दर्शन ज्ञानेश्वर की अपेक्षा नामदेव के अधिक समीप है। ज्ञानेश्वर-नामदेव के व्यक्तित्व-कृतित्व में वही अन्तर है जो गोरखनाथ-कबीर में है। इस बात का अनुभव संभवतः ज्ञानेश्वर भी किया करते थे, इसलिए उन्होंने लिखा है - "नामदेव के अभंग केवल व्यक्तित्व के निर्देशक नहीं हैं, बल्कि वह अद्भुत ब्रह्मानन्द रस ही हैं।"²⁶ नामदेव के जीवन दर्शन को समकालीन तथा बाद के सभी सन्तों ने समान रूप से स्वीकार किया है। निःसंदेह उसमें उन सन्तों का अपना जीवानुभव भी सक्रिय रहा है। उनकी रचनाओं में जीवानुभव स्वानुभूति के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। यह सारे सन्त जीवन-व्यवहार के साथ अपने-अपने क्षेत्रों में समाज के लिए कर्तव्यपालन का कार्य किया करते थे। उन्होंने एकान्त साधना की अपेक्षा सामाजिक जीवन को अपना कार्यक्षेत्र चुना, जिसे वारकरी सम्प्रदाय के मुख्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया।

वारकरी सम्प्रदाय में सन्त भी अराध्य के समकक्ष माने गए हैं। इसी सामूहिक एकता के मूल्य ने वारकरी सम्प्रदाय में कई नए मूल्यों को जन्म दिया। एकता के लिए समानता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है, अतः किसी भी प्रकार के भेदभाव को वारकरियों ने अपने सम्प्रदाय से स्थानापन्न कर दिया।

समानता के साथ साथी का होना आवश्यक माना गया अर्थात् एक-दूसरे का संग । इसलिए एक दूसरे के साथ समादर वारकरियों ने स्वीकार किया, इसी को सत्संग कहा गया । इतना ही नहीं किसी की आयु भी इस समानता में गिनी नहीं जाती और वारकरी एक-दूसरे के चरणस्पर्श किसी भेदभाव के बगैर करते हैं । यहाँ प्रत्येक वारकरी अन्य के लिए पूजनीय होता है । वारकरी सम्प्रदाय में सन्त, भगवंत और भक्त का स्थान प्रायः समान माना गया है । यह चरणस्पर्श व्यक्ति पूजा नहीं बल्कि प्रवृत्तिपूजा थी ।

नामदेव के गुरु विसोबा खेचर सराफा होने के कारण तत्कालीन व्यापारियों की सांकेतिक भाषा में अपनी रचनाएँ लिखी हैं । ये शैव थे । इनका शैववाद कुछ इस प्रकार का था । जब नामदेव इनसे शिष्यत्व ग्रहण करने इनके निवास स्थान औंढा गए तब ये शिवलिंग पर पैर रखे सो रहे थे । नामदेव आचंभित हुए और विचार करने लगे कि मुझे किस अज्ञानी के पास भेज दिया गया ! उन्होंने खेचर के पाँव लिंग पर हटाने का प्रयास किया किन्तु पैरों के साथ शिवलिंग भी साथ हो लेता । जागने पर नामदेव ने खेचर के इस कृत सम्बन्ध में प्रश्न किया तो खेचर का उत्तर था ‘जेथ नाहीं देव । तेथ पाय ठेव ।’ इस प्रकार नामदेव को ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा उसके गुण से परे होने का बोध हुआ, न कि उत्तर के टूटते पूजास्थलों को देखकर । खेचर ने एक दार्शनिक ग्रंथ “षट्स्थल” के अतिरिक्त कुछ फुटकल पद भी लिखे हैं । इनके पदों में नाथ सम्प्रदाय की सम्पूर्ण सामग्री मिल जाती है । इन्होंने उस समय प्रचलित सभी आराधना पद्धतियों की आलोचना की है, नाथों की भी । इनके एक अभंग से पता चलता है कि इनके समय तक जोगी, सन्यासी, कापालिक, पिशाच, वैदिक, ब्राह्मण, जैन, गृहस्थ, शैव, वैष्णव इनकी स्वतंत्र अस्मिताएँ मान्य हो चुकी थी । इन्होंने इस अभंग में प्रत्येक का स्वतंत्र उल्लेख एक साधना पद्धति के रूप में किया है ।²⁷ वारकरियों को वैष्णव के रूप में पहचाना जाता था न कि शैवों के और वारकरी भी स्वयं को वैष्णवों का समूह कहते थे ।

हठयोगी चांगदेव के कोरे पत्र के उत्तर में ज्ञानेश्वर ने ‘चांगदेव पासष्टी’ लिखी थी । इसके बाद कठोर साधना के मार्ग को तिलांजलि देकर इन्होंने मुक्ताबाई का शिष्यत्व ग्रहण किया । इन्होंने कई कूट पदों और ‘तत्वसार’ नामक ग्रंथ की रचना की । सिद्धी के बल पर चमत्कार दिखाने वाले चांगदेव साधारण किन्तु अनुभवगम्य भक्ति मार्ग में सम्मेलित हुए । इनके सन्दर्भ में कई चमत्कारिक कथाओं के अतिरिक्त कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते । इसी कोटि में जोगा परमानन्द भी आते हैं । इनके विठ्ठलभक्ति में रचित कुछ पद प्राप्त होते हैं ।

परिसा भागवत को अपने विद्या का दंभ था किन्तु आगे वे नामदेव के प्रथम शिष्य बने। परिसा भागवत लिखित अभंग अत्यल्प हैं, जिनमें संतों की आरती विशेष प्रसिद्ध है। जनाबाई भी नामदेव के शिष्यों में विशेष प्रसिद्ध हुई जिसके मधुर गीतों ने वारकरी सम्प्रदाय को एक नई दिशा दी। जनाबाई मराठी साहित्य में महदंबा के बाद प्रेमा भक्ति की प्रथम गायिका मानी जा सकती है। उन्होंने आराध्य विठ्ठल की माता, संतान, प्रेमी आदि विभिन्न रूपों में कल्पना करते हुए अभंग-रचना की है। डॉ. शिवाजीराव मोहिते ने जनाबाई के रचनात्मक प्रवास को सटिक शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार, “नामदेव के प्रपंच ने उसके स्त्री मन को मोह लिया था। उससे भी अधिक उसके मन को विठ्ठल ने मोह लिया था। उसने विठ्ठल की विभिन्न रूपों में कल्पना की। स्त्री को जिन सम्बन्धों की आवश्यकता होती है, उन्हें उसने विठ्ठल को केन्द्र में रखकर अपनी रचनात्मकता में पूर्ण की। विठ्ठल के प्रेम के लिए तो वह लोकलज्जा, जगनिंदा सब कुछ त्याग देती है। भरे बाजार में बिना रोक-टोक जाने की बात करती है। विठ्ठल से कामिनी संबंध जोड़ती है। यह हिम्मत, खुलापन अन्य किसी भी संत कवयित्री में नहीं है। अपनी भक्ति से उसने विठ्ठल को दास बना लिया था। ‘झाडलोट करी जनी। केर भरी चक्रपानी।’, ‘देव खाते देव पिते। देवावरी मी निजते।’ इतना सख्यत्व उसका विठ्ठल से हो गया था।....जनाबाई सगुण भक्ति की अगली सीढ़ी ‘मधुरा भक्ति’ को प्राप्त करती है। मधुरा भक्ति से स्त्री मन में चारों दिशाओं से बहार आ जाए, वसन्त आ जाए, कुछ इस प्रकार का अनुभव जनाबाई स्वयंनिर्मित कल्पनासृष्टि के माध्यम से लेती है। उपेक्षित जनाबाई को विठ्ठल के रूप में सुख का भंडार प्राप्त होता है।”²⁸ उसने भक्ति के सारे बन्धन तोड़ते हुए विठ्ठल को अपने दास के रूप में भी कल्पित किया है जहाँ वो उसके सारे काम किया करते हैं।

स्त्रीसुलभ कारुण्यता के क्रम में जनाबाई अपनी स्थिति को भूलती नहीं है। उसकी कविताओं में तीव्र प्रश्नाकुलता और तीखे प्रहार अपने अपने पूर्ण ताप के साथ बने रहते हैं। ऐसे कई प्रश्न समाज के साथ-साथ उन्होंने अपने अराध्य विठ्ठल से पूछे हैं। इन सारे प्रश्नों ने जहाँ समाज के एक बड़े तबके को प्रभावित किया वहीं समाज में जनाबाई से द्वेष करने वालों को भी बढ़ा दिया। आराध्य से इस प्रकार के सम्बन्ध और प्रश्नों का तत्कालीन रूढ़िवादी पुरोहित बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने जनाबाई पर विठ्ठल मन्दिर में चोरी का आरोप लगाकर सूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया। जनाबाई ने विठ्ठल की शपथ लेकर कहाँ कि उसने चोरी नहीं की। इस प्रसंग को जनाबाई ने अपने एक अभंग में बड़े नाटकीय ढंग एवं चमत्कारिक कथा के

रूप में शब्दबद्ध किया है, जिसके अनुसार “उन पर चोरी का आरोप ब्राह्मणों ने लगाया था और स्वयं विठ्ठल ने उन्हें सूली पर चढ़ाए जाने से रोका था।”²⁹

जनाबाई के जन्म और मृत्यु दोनों की कई चमत्कारिक कथाएँ प्रचलित होने के कारण किसी भी ठोस प्रमाण के अभाव में अनुमानों से ही काम चलाना पड़ता है। कई विद्वानों के अनुसार जनाबाई ने नामदेव को अपने बाहों में झुलाया था। इस आधार पर वह नामदेव से आयु में बड़ी सिद्ध होती है। सन्तों एवं आलोचकों में प्रचलित मान्यताओं के अनुसार उनका समय इ.स.1260-1350 माना जाता है। उसने बालक्रीडा, हरिश्चन्द्र अख्यान, थाळीपाक व दशावतार विषयों के अतिरिक्त सन्तों के चरित्र पर आधारित रचनाएँ लिखी, जिसमें ज्ञानेश्वर, नामदेव, कबीर, रैदास, कमाल आदि का बड़े सम्मान के साथ स्मरण करती हैं। इससे ज्ञात होता है वह बहुश्रुत थी। उसके अनुसार उसने सद्गुरु के पास आकर लिखना सीखा (‘बाई मी लिहणें शिकलें सद्गुरुयापासीं’), अर्थात् वारकरी सम्प्रदाय अपनी परम्परा में साक्षरता का आठ सौ वर्षों से प्रचार-प्रसार कर रहा था; जिसने वारकरी सम्प्रदाय को समाजोन्मुखी लेखन दिया।

अपने रोजमर्रा के कामों को पूर्ववत् निभाते हुए भी भक्ति एवं रचना कर्म करना वारकरी सम्प्रदाय की, तो सर्वसमावेशकता सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन की विचारधारा का प्रमुख अंग था। ऐसे ही वारकरी सन्तों में गोरा कुंभार, नरहरी सोना, सावता माळी, सेना न्हावी विशेष हैं। ये सन्त अन्यो की भाँति अपने पारम्परिक व्यवसाय को आदर की दृष्टि से देखते थे, इनके अनुसार कोई कार्य ऊँच-नीच नहीं होता। इसके भी आगे बढ़कर सावता माळी ने अपने वर्ण से ऊपर होने की उद्घोषणा करते हुए कहा है, “अच्छा ही हुआ कि मुझे हीन जाति में जन्म दिया और महानता नहीं बढ़ाई। यदि मैं ब्राह्मण होता तो कर्मों की आवश्यकता पड़ जाती। अच्छा हुआ कि जाति, कुल से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। सावता कहता है, हे श्रीपति इस हीन जाति पर कृपा कीजिए।”³⁰ यहाँ सावता माळी अपने धर्म मुक्त होने, उससे परे होने पर गर्व महसूस कर रहे हैं। इन्होंने कई भारतीय सन्तों का हवाला देकर उनके भक्ति की महीमा गायी है जिनमें कबीर, रैदास, नामदेव, नरहरी सोनार, आदि सम्मेलित हैं। “क्या गोरा कुंभार या क्या सावता माळी, इनके जीवन से जुड़े चमत्कारों से उनके अभंगों में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना और भक्ति की तीव्रताओं का अधिक मूल्य मानना पड़ता है।”³¹ नामदेव के सबसे घनिष्ठ मित्र गोरा कुंभार वारकरियों में सबसे वयोवृद्ध। काका के नाम से परिचित थे। नरहरी सोनार शिवभक्त थे किन्तु आगे वारकरी के रूप में प्रसिद्ध हुए।

गोरा कुंभार, सावता माळी, नरहरी सोनार की तरह ही सेना न्हावी की भी बहुत कम रचनाएँ प्राप्त होती है। रामानंद के शिष्य कहे जानेवाले ये वही सेना नाई हैं, जिनकी दो सौ से कुछ अधिक मराठी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन सभी सन्तों की कविताओं पर उनके सम्बन्धित व्यवसाय का स्वाभाविक प्रभाव देखा जा सकता है। सभी ने अपनी जाति का अपनी अस्मिता के रूप में उल्लेख किया है और अपने पेशे को सादर देखा है। इन सभी के व्यवसाय में विठ्ठल इनकी मदद करने आवश्य आते हैं। इनकी कविताओं में अभिव्यक्त आत्मविश्वास लघु घरेलु उत्पादकों की बेहतर आर्थिक स्थिति को सूचित करता है।

वारकरी सम्प्रदाय की लोकतांत्रिक विचारधारा में इन्होंने अपने वर्णभेद मुक्त विचारों का सम्मान पाया, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता महसूस की, इसलिए वे इस सम्प्रदाय से इतनी बड़ी तादाद में जुड़े। इन सन्तों में चोखा महार का सम्पूर्ण परिवार सम्मिलित हुआ। उनकी पत्नी सोयराबाई, बहन निर्मळा, पुत्री भागूबाई, पुत्र कर्ममेळा और बहनोई बंका महार ने भी न सिर्फ भक्ति सम्प्रदाय में अपना योगदान दिया बल्कि अपनी स्वानुभूति को काव्यबद्ध कर सही मायने में तत्कालीन सामाजिक इतिहास भी लिखा। इस परिवार के वारकरी सम्प्रदाय में आने से पूर्व के जीवन सन्दर्भ में की जानकारी उपलब्ध नहीं है और न इन्होंने अपनी कविताओं में उस ओर कोई इंगित मात्र भी नहीं किया। इस परिवार के सभी रचनाकारों के अभंगों में अन्य सन्तों की सारी विशेषता होते हुए भी वे ईच्छाएँ-आकांक्षाएँ अधिक मात्रा में उपलब्ध हुई है जो एक महार होकर तत्कालीन समाज में कर पाना में असंभव था। इनकी अभिव्यक्ति में चमत्कारिक कथाओं का प्रवेश उन्हीं कारणों से हुआ है जो जादुई यथार्थवाद के लिए आवश्यक होती हैं। जादुई यथार्थवाद से इनमें अन्तर यही है कि जादुई यथार्थवादी रचनाकार अपने ही द्वारा निर्मित स्थितियों में फँसने के बाद इसका प्रयोग करता है, वहीं बंका महार आदि रचनाकार समाज द्वारा लादे गए बन्धनों से अपनी कविताओं में मुक्ति पाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। जादुई यथार्थवाद प्रायः बौद्धिक कसरत होता है, किन्तु इसके यहाँ भक्ति द्वारा इसे भावनात्मक आधार भी प्रदान किया गया है। आवश्यकता है इन चमत्कारिक कथाओं को एक पाठ की भाँति पढ़कर इसमें से तत्कालीन हाशियाकृत समाज का इतिहास निकाला जाए।

ऐसी कथाओं में सोयराबाई के घर विठ्ठल द्वारा ब्राह्मण रूप धारण कर अन्न ग्रहण करना, विठ्ठल द्वारा चोखोबा परिवार को मन्दिर में प्रवेश के लिए चमत्कार दिखाना, प्रसव-पीड़ा से सोयराबाई को मुक्ति दिलाना, भागूबाई को अपने कंधों पर बिठाकर मन्दिर में ले जाना आदि प्रसंगों का उल्लेख इस परिवार के

अभंगों में दिखाई देता है। इस परिवार के अभंगों में सोयराबाई के 62, निर्मळा के 24, भागूबाई के पाँच हैं, किन्तु इसमें इतनी शक्ति है कि इन्होंने तत्कालीन अनेक कुप्रथाओं, सामाजिक रूढ़ियों आदि का उल्लेख किया है। जिस जातिव्यवस्था का दंश यह परिवार भुगत रहा था उससे तीव्र असहमति इस परिवार की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। सोयराबाई ने एक कविता में लिखा है, “सभी इस देह को अशुद्ध और आत्मा को शुद्ध कहते हैं। ये देह यदि अशुद्ध है तो जन्म तो देह के कारण ही है तो कौनसा धर्म शुद्ध रह जाता है। (क्योंकि धर्म और कर्म का पालन तो इसी देह के कारण संभव होता है)। तो ऐसे अशुद्ध देह के अतिरिक्त उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, इस देह के बगैर कोई देह निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए चोखोबा की महारी कहती है, इसी अशुद्ध देह की महती गाती है क्योंकि इसमें विठ्ठल बसते हैं और आपने इसी देह को अशुद्ध करार दे दिया!”³² ध्यातव्य है कि इन कवियों को यह तर्क पद्धति चार्वाकों के अधिक करीब ला देती है, भाववादियों के विपरित। इन कवियों ने सच्चे अर्थों में ज्ञानेश्वर की उक्ति “म्हणौनि भक्ति गा एथ सरे। जाति अप्रमाण।” (ज्ञानेश्वरी, अध्याय 9, 448) को न चरितार्थ किया किन्तु उस परम्परा को अपने विचारों से पोषित भी किया।

इसी समय कान्होपात्रा नामक रचनाकार हुई जिसने अपने 23 अभंगों में अपनी आत्मा के कृंदन, कारुण्य को प्रवाहता एवं नाटकीयता के साथ अभिव्यक्त किया। कान्होपात्रा गणिका पुत्री थी और समाज उसे भी उसकी माँ की तरह ही देखने का इच्छुक था। रूपवान होने के कारण उसके कष्ट और भी बढ़ गए। कई दरबारों के बुलावों को उसने ठुकरा दिया। उस पर बल प्रयोग किए गए। वह बचती बचाती पंढरपुर पहुँची और आगे का समय उसने वारकरियों की छत्र छाया में व्यतीत किया। एक अभंग में तत्कालीन स्त्रियों के यौन शोषण का खुलकर चित्रण किया है। उसके अभंगों में ज्ञानेश्वर के लिए ईश्वरत्व है तो विठ्ठल के लिए मित्रत्व। उसका प्रत्येक अभंग आत्मवृत्तान्त है।

मुक्तिबोध के अनुसार उच्चवर्णीयों ने भक्ति आन्दोलन एवं उसकी रचनात्मक उर्जा को अपने विरोध में पाकर उसको “हायजैक” कर लिया था। मुक्तिबोध बगैर प्रक्रिया बताए सीधे निष्कर्ष प्रस्तुत कर देते हैं, संघर्ष के बगैर सफलता का वर्णन कर देते हैं। जबकि बंका महार, नरहरी सोनार, सावता माळी, सेना न्हावी आदि अनेकानेक रचनाकार सन्तों को देखकर अचानक उच्चवर्ण नहीं जागता है बल्कि उसकी स्थिति पर खतरा आने के पश्चात् इस प्रक्रिया का आरंभ होता है। उन्होंने आन्दोलन में रातोंरात जगह बनाते हुए इसका अपहरण नहीं किया, बल्कि एक लम्बी प्रक्रिया तहत ऐसा किया गया। क्योंकि अपने दोनों खेमों में

उन्हें पराजित होने पर मजबूर होने पड़ रहा था, यादवों का राज्य समाप्त होने के कारण राजदरबार की सत्ता हाथ से गई और सन्तों के जागृति कार्य के कारण सामाजिक सत्ता हाथों से जा रही थी। अतः इन दोनों युद्धभूमियों में उन्हें एक साथ उतरना पड़ा। महाराष्ट्र का इतिहास इस बात की साक्ष्य देता है कि उच्चवर्णीयों ने सत्ता के लिए किसी के भी पैर धोए हैं। वे आधी सदी तक लड़ते रहे। ज्ञानेश्वर 1293 ई. में समाधिस्थ हुए। ये दो बिन्दु हैं जहाँ से भक्ति आन्दोलन ने अपने उत्कर्ष बिन्दु प्राप्त किए। नामदेव इसके बाद भी पूर्ण उर्जा के साथ कार्यरत रहे। किन्तु जब से नामदेव एवं बंका महार परिवार जैसे कई परिवार वारकरी सम्प्रदाय के समाजोन्मुखी आन्दोलन से जुड़कर धर्म का सही स्वरूप जानने लगे तभी से उच्चवर्णीयों ने अपनी कूटनीति की चालें चलना आरंभ कर दिया था। वारकरियों ने परम्परा से स्वाभाविक रूप से लोक में होते आ रहे वैष्णववाद और शैववाद के यथोचित मिश्रण को प्रश्रय देते हुए उसकी नई और सही परिभाषा प्रस्तुत की, जिससे वर्णाश्रम व्यवस्था में अमूलचूल परिवर्तन आए। वारकरियों ने वस्तुतः वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्णतः विरोध नहीं किया किन्तु उन्होंने इसकी सच्चाई लोगों के सामने प्रस्तुत कर दी। तथाकथित निम्नवर्णीयों में विश्वास एवं साहस की कमी की जगह अस्तित्व बोध जगाया। प्रत्येक मराठी सन्त-भक्त कवि अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति सचेत दिखाई देता है। किसी भी कवि ने अपनी जाति, अपने व्यवसाय, अपने परिवार का इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया था जैसे नामदेव एवं उनके बाद के कवियों ने किया है। वारकरी सम्प्रदाय ने न केवल धर्म और व्यवहार का मेल किया बल्कि कर्म की नई व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके अनुसार कोई भी व्यवसाय कमतर नहीं होता। इसके लिए उन्होंने कई बार विठ्ठल को अपने नियत कार्यों में सहभागी कर किंवदंतियों की एक शृंखला प्रायः प्रत्येक सन्त-भक्त ने रची; जहाँ विठ्ठल गोरा कुंभार को मटके-ईंटें बनाने में, जनाबाई को घरेलू काम करने में, कान्होपात्रा को बिदर के बादशाह की कुदृष्टि से बचाकर उसे वेश्या बनाने से बचाते हैं।

इस प्रकार वे प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था में हस्तक्षेप कर रहे थे। इस सामाजिक संघर्ष में आर्थिक पक्ष भी सम्मिलित था। प्रत्येक कारीगर अपने व्यवसाय को धर्म का पालन करते हुए निभाने के कारण उसकी मानसिकता पूर्णतः कार्य के प्रति समर्पित हो जाती और वह अपना आर्थिक विकास कम-से-कम इतना तो कर पाता कि अपने परिवार का भरण-पोषण कर ले। वारकरी सम्प्रदाय के इस महत्कार्य को कि किस प्रकार तथाकथित निम्न जातियाँ अपने इस आन्दोलन के माध्यम से अपने अस्तित्व एवं अस्मिता को समझती हैं और इसी से अपना आत्मविश्वास पुनःप्राप्त कर आर्थिक विकास संभव करती हैं। इस पूरी

प्रक्रिया को समझे बगैर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए ग.बा.सरदार ने कहा है, “भौतिक दुरावस्था और मानसिक गुलामी के कारण सामान्य जनता जड़मूढ़ एवं अगतिक बन गई थी। इस दयनीय स्थिति से मुक्त करने के लिए सन्त आन्दोलन का जन्म हुआ। इस आन्दोलन का कार्यक्षेत्र बहुतांशी धार्मिक व सांस्कृतिक था। सामाजिक जीवन के मूलभूत प्रश्नों को उसने हाथ नहीं लगाया। यूरोप की तरह आर्थिक संघर्ष का उसे साथ नहीं मिल पाया। शास्त्रप्रामाण्यता एवं जातिव्यवस्था को धक्का न लगाते हुए वारकरी पंथ ने स्त्री-शूद्रों आदि को आत्मविकास का मार्ग खुला कर दिया।”³³ जिस प्रक्रिया को समझ न पाने के कारण कई बार मराठी आलोचक सन्त साहित्य को वर्णाश्रम के सन्दर्भ में यथास्थितिवादी कहते हैं ठीक उसी प्रकार भक्ति आन्दोलन की “हायजैक” प्रक्रिया भी की जाती है, जिसके निष्कर्ष एवं फलतिर्थ मुक्तिबोध ने प्रस्तुत किए थे। मुक्तिबोध का कहना था कि “कट्टरपंथी शोषक तत्वों में यह भावना पैदा हो गई थी कि निम्नजातीय सन्तों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मण-शक्तियाँ स्वयं उन्हीं सन्तों का कीर्तन-गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन-गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करती जा रही थीं।”³⁴ वास्तव में यह प्रक्रिया बहुत लम्बे समय से चली आ रही थी और और उसने निम्न वर्णीय सन्तों के कीर्तन-गायन से अपनी यात्रा आरंभ कर अपनी विचारधारा को उसमें धीमी गति से पिरोने का कार्य किया जिसके तहत कई प्रकार की किंवदंतियाँ रचना, उस प्रकार से साहित्य की व्याख्या करना, ज्ञानेश्वरी के समान गीता व्याख्याएँ करना आदि इसी का हिस्सा था। अन्ततः इस आन्दोलन की वैचारिकता को खारिज कर अपनी वैचारिक मान्यताओं द्वारा भक्ति आन्दोलन को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया गया।

वैचारिक रूप में आन्दोलन पर अपना कब्जा करने के साथ ही उच्चवर्णीयों ने नए राजनीतिक गुटों से भी हाथ मिलाए। यादवों की सत्ता समाप्ति के पश्चात मुसलमानों की सत्ता में उन्होंने अपने-आप को मिलाना आरंभ कर दिया। देवगिरी पर विजय पाकर भी अलाउद्दीन के हाथों में यादवों का सम्पूर्ण साम्राज्य नहीं आया था। यादवों के कई मातहत मौका पाकर उसकी अधिनस्तता अस्वीकार कर देते। ऐसे में मुसलमान शासकों को यहाँ के किसी खास वर्ग को अपने साथ मिलाना आवश्यक हो गया जो उनके राज्य की इन आन्तरिक विद्रोहों से सुरक्षा करे और सामान्य जन समुदाय भी उनके शासन के आगे अपनी मानसिक परायजय स्वीकार कर ले। इन्हीं परिस्थितियों ने पुनः इतिहास के सबसे भयावह गठबंधन को जन्म दिया, धार्मिक कट्टरवाद राज्य व्यवस्था। सन 1318 तक मुसलमानों ने यादवों का राज्य भले ही खत्म

कर दिया हो किन्तु महाराष्ट्र की वास्तविक सत्ता अभी भी उनके हाथों में पूर्णतः नहीं थी, कहीं-न-कहीं अप्रस्तुत रूप से यही उच्चवर्णीय समाज उन्हें मार्गदर्शन कर रहा था।

सन 1316 ई. में अल्लाउद्दीन की मृत्यु हो गई और उसकी साम्राज्य धीरे-धीरे टूटता गया। इसके साम्राज्य के टूटने से पाँच राज्यों का जन्म हुआ जिन्हें दक्खन के इतिहास में पाँच शाह नाम से जाना जाता है। “जाफ़रखाने दौलताबाद में सन 1347 में स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर स्वयं के अलाउद्दीन बहामनी पद की घोषणा की। यह जाफ़र इससे पूर्व गंगू नामक ब्राह्मण के घर गुलाम था।...हसन गंगू बहामनी अपने राज्य को ब्राह्मणी अर्थात् बहामनी राज्य की स्थापना कहता है।”³⁵ एकनाथ के गुरु जनार्दनस्वामी इसी राज्य में किसी अधिकारी पद पर आसीन थे। महाराष्ट्र के तमाम सम्प्रदायों में सबसे कट्टर माना जानेवाले दत्त सम्प्रदाय का इसी बहामनी सत्ता के समय में उद्भव एवं विकास हुआ। इसी प्रकार “गाविलड का सुभेदार फत्तेउल्ला मुलतः विजयनगर का ब्राह्मण था। इसने इमाद-उल-मुल्क की पदवी धारण कर सन 1484 में वर्हाड के इमादशाही की स्थापना की।”³⁶ सन 1490 में अहमदनगर की निजामशाही की स्थापना करनेवाले का पिता निजामुलमुल्क भी मुलतः ब्राह्मण ही था, जिसका पूर्वनाम तिमप्पा बहिरव था। इसी क्रम में 1489 ई. में युसुफ आदिलशाह ने बिजापुर में आदिलशाही की और सन 1512 ई. में कुली कुतुबशाह ने गोलकोंडा में कुतुबशाही की स्थापना की। अर्थात् पाँच में से तीन शाह मुलतः सीधे ब्राह्मण संस्कारों से युक्त थे और इस समय तक राजकीय गलियारों में ब्राह्मणों संस्कारों ने अपना वर्चस्व कायम कर लिया था। कई ब्राह्मण मुसलमान राज्यकर्ताओं की दासता तक करने के लिए प्रतिबद्ध थे। शिंगणापूर में महालिंग नामक एक शिवभक्त रहा करते थे। “इन्होंने सन 1564 के आसपास ‘विक्रमवत्तिशी’ नामक ग्रंथ लिखकर म्लेंच्छों की सेवा करने वाले ब्राह्मणों का निषेध किया है।”³⁷ इससे जाहिर होता है कि किसी प्रकार का गठबंधन उस समय की राजनीति एवं सांस्कृतिक मिलन क्षेत्रों में हो रहा था।

इसी के साथ निम्न वर्गीयों-वर्णीयों में से भी कुछ सामंत आवश्य सामने आए होंगे और जिन्होंने सामंतों से अपना गठबंधन कायम कर लिया होगा तथा वैचारिक-मानसिक रूप में जिनका अनुकूलन हो गया था। इस प्रकार नए राजनीतिज्ञ, नए सामंत और उनको सामंती-कट्टरवादी वैचारिक उर्जा प्रदान करने वाले मुल्ला-पंडितों ने भक्ति आन्दोलन के सम्पूर्ण वैचारिकता पर कुठाराघात किया तथा राजकीय शक्तियों को अपने हाथों में शनैः शनैः केन्द्रित कर लिया। भक्ति आन्दोलन के इसी वैचारिक और सामाजिक-राजनीतिक अपहरण को मुक्तिबोध ने ‘पुराने और नए सामंतवादों का गठबंधन’ कहा है। उनके अनुसार,

“भक्ति आन्दोलन के प्रधान संदेश से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे थे। रामदास, एक प्रकार से, ब्राह्मणों में से आए हुए अन्तिम सन्त हैं, इसके पहले एकनाथ हो चुके थे। कहने का सारांश यह कि नवीन परिस्थिति में यद्यपि युद्ध-सत्ता (राजसत्ता) शोषित और गरीब तबकों से आए सेनाध्यक्षों के पास थी, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में पुराने सामान्तवादियों और नए सामन्तवादियों में समझौता हो गया था। नए सामन्तवादियों कुणबियों, धनगरों, मराठों और अन्य गरीब जातियों से आए हुए सेनाध्यक्ष थे। इस समझौते का फल यह हुआ कि पेशवा ब्राह्मण हुए, किन्तु युद्ध-सत्ता नवीन सामन्तवादियों के हाथ में रही। उधर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में निम्नवर्गीय भक्तिमार्ग के जनवादी संदेश के दाँत उखाड़ लिए गए। उन सन्तों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके संदेश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया, और जातिवादी पुराणधर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।”³⁸ जैसे प्रतिरोध की धारा अन्याय और शोषण के साथ ही विकसित होनी प्रारंभ हो जाती है तथा उसे सफलता या अपने सही रूप में पहचान एक लम्बे संघर्ष बाद मिलती है, चक्रिय क्रम से पुराणपंथी या कट्टरवादी धारा भी अपने पराजय के साथ ही विकसित होने आरंभ हो जाती है। भक्तिकालीन जनचेतना के विरोध में कट्टरपंथ अपना कार्य लम्बे समय तक करता आया और उसे 15 शताब्दी के उत्तरार्ध में आकर पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से साहित्यिक क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। एकनाथ का समय 1533 से 1599 ई. है और मराठी साहित्य में इसके पूर्व के डेढ़ सौ वर्षों को साहित्यिक नायकविहीन माना जाता है। प्र.न.जोशी के अनुसार, “ज्ञानेश्वर-नामदेव के बाद नाम लेने जैसा बड़ा सत्पुरुष एवं ग्रंथकार एकनाथ था। एकनाथ का समय सन 1532 से 1599 तक का है। अर्थात् ज्ञानेश्वर-नामदेव के बाद लगभग दो शतकों तक साहित्यिक दृष्टि से कोई भी बड़ा सत्पुरुष नहीं हुआ।”³⁹ यहाँ नामदेव के बाद हुए तमाम सन्त कवियों की अवहेलना स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। सन 1350 ई. में नामदेव की मृत्यु हुई और उनके साथी रचनाकारों के साथ ही मराठी साहित्य का प्रथम और सबसे उर्जावान युग समाप्त हो गया। “इ.स. 1350 के आसपास ही महाराष्ट्र को अकाल की मार सहनी पड़ी। यह अकाल लगातार बारह वर्षों तक जारी रहा। इस समय कई लोगों ने स्थलांतर किया। विभिन्न लौकिक संकटों से तत्कालीन प्रजा परेशान हो गई थी। परकीय सत्ता में सत्तासंघर्ष आर्थिक दुरावस्था और धार्मिक आदि बातों से सामान्यजनों का त्रस्त हो जाना स्वाभाविक है।”⁴⁰ अर्थात् नामदेव की मृत्यु के बाद से एकनाथ के कार्यरत होने तक के समय को महाराष्ट्र के सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में तमोयुग माना जाता है। इस बात को प्रायः प्रत्येक

मराठी साहित्य के इतिहास में बार-बार दोहराया गया है। वास्तव में इस समय भी कई रचनाकार हुए जिन्होंने वैचारिक अनुकूलन एवं भक्ति आन्दोलन के अपहरण में अपना योग देकर उसे निष्क्रिय करने की पृष्ठभूमि बनाई। ज्ञानेश्वर के बाद श्रीमद्भवद्गीता पर भाष्य या टीका लिखने का क्रम खंडित हो गया किन्तु 1350-60 ई. के बाद दर्जनों टीकाएँ या भाष्य लिखे गए, संस्कृत में बड़ी मात्रा में ग्रंथ एवं टीकाएँ लिखने की परिपाटी पुनः आरंभ हो गई। अब तक के कवि जहाँ अभंगादी मुक्तक रचनात्मक साहित्य लिखा करते थे, वहीं इसी समय से मराठी में प्रबंध ग्रंथ लिखने की परम्परा का पुनः आरंभ हुआ। नामदेव के सभी साथियों ने मुक्तक रचनाएँ कर अपने स्वतंत्र विचार अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किए, किन्तु इस समय से कई प्राचीन कथाओं का सहारा लेकर प्रबंध ग्रंथ लिखे जाने लगे। इसी काल से मराठी साहित्य में रीतिवाद के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। यहाँ तक जहाँ लोकाभिव्यक्ति महत्वपूर्ण रही, अब वहाँ मराठी साहित्य की धारा शास्त्रीयता की ओर मुड़ने लगी जिसने आगे के समय में शृंगारपरक एवं शाहिरी कविता का पथ प्रशस्त किया।

राघव चैतन्य के 'ब्रह्मस्वरूप', 'मायाविचार', 'योगनिद्रा', 'सनातनधर्मविचार', 'इन्द्रियदमन' संस्कृत ग्रंथ बताए जाते हैं। ये दत्त सम्प्रदायी थे, जिनकी शिष्य परम्परा तुकोबा से जाकर मिलती है। बहामनी एवं गुलबर्गा के राजदरबार में इनका आना-जाना लगा रहता। राघव चैतन्य लाडले शरीफ नाम से, बाबाजी चैतन्य हजरत शेख शहाबुद्दीन नाम से भी प्रसिद्ध हुए। यही बाबाजी चैतन्य तुकोबा के गुरु कहे जाते हैं। अज्ञानसिद्ध ने वेदान्तपरक ग्रंथ 'सिद्धान्तरहस्य', 'तत्त्वबोध', 'जीवब्रह्माभेदलक्षण', 'पृच्छापत्र', 'काळज्ञान', 'संकटहरणी' तथा 'वरदनागेश' नामक ग्रंथ लिखे। बहिरा जातवेध ने भागवत के दशम स्कंध पर मराठी में प्रथमतः सम्पूर्ण टीका प्रस्तुत की जिसे 'भैरवी टीका' कहा जाता है। "द.ग.कोपरकर के अनुसार इसकी रचना 1465 में की गई है।"⁴¹ नामा पाठक ने 'नामरत्नमाला', 'भरतभेट', 'अश्वमेध' नामक रचनाएँ की। किसी महाराष्ट्रकवि नामक व्यक्ति ने इसी समय पंचतंत्र को मराठी ओवियों में 'पंचोपाख्यान' नाम से प्रस्तुत किया। सरस्वती गंगाधर ने शके 1480 में दत्त सम्प्रदाय का पूजनीय ग्रंथ 'गुरुचरित्र' लिखा। इस ग्रंथ के 52 अध्यायों में वर्णाश्रमधर्म, सतीधर्म, व्रत व तीर्थ महिमा आदि विषय मुख्य हैं। दत्त सम्प्रदाय के संस्थापक नृसिंहसरस्वती स्वयं दत्त के अवतार माने जाते हैं। "नृसिंहसरस्वती ने कुछ संस्कृत ग्रंथों की रचना की है।"⁴² इस प्रकार संस्कृत ग्रंथों एवं प्राचीन संस्कृत साहित्य पर टीकाएँ इस

समय में प्रचुर मात्रा में लिखी गई। इनके विषयों पर दृष्टिपात मात्र करने से उपरोल्लेखित बातें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं।

एकनाथ के समय तक मुस्लिम शासक दक्षिण में अपना वर्चस्व स्थापित करने की जद्दोजहद में कई बार आक्रमण कर चुके थे। पाँच शाहों के बीच आपसी संघर्ष के साथ ही कई सामंतों ने भी इनके विरुद्ध विद्रोह करना आरंभ कर दिया था। कहा जाता है कि इन राजकीय एवं तदजनित सामाजिक परिस्थितियों के कारण लोग सच्चे धर्म का स्वरूप भूलते जा रहे थे और 'ज्ञानेश्वरी' जैसा ग्रंथ लोक में विस्मृत हो गया था। एकनाथ के चार महत्वपूर्ण कार्यों में से सबसे बड़ा कार्य यह है कि उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' की खोज कर उसे जनता के समक्ष पुनः प्रस्तुत किया। आळंदी जाकर उन्होंने ज्ञानेश्वर समाधि का जिर्णोद्धार किया और ज्ञानेश्वरी की तत्कालीन प्रतियाँ इकट्ठा की एवं उनके शुद्धाशुद्धता की चिकित्सा कर ज्ञानेश्वरी की एक प्रत लोगों के समक्ष प्रस्तुत की। मूल 'ज्ञानेश्वरी' अब अनुपलब्ध है एवं वर्तमान 'ज्ञानेश्वरी' की सभी प्रतियाँ एकनाथ द्वारा खोजी गई प्रति के आधार पर ही संपादित हैं। उनके अनुसार उन्होंने यह कार्य ज्ञानेश्वर की प्रेरणा से किया है।⁴³ 'ज्ञानेश्वरी' जैसा वारकरी सम्प्रदाय का आधार माना जानेवाला ग्रंथ ही लोक से कैसे विस्मृत हो गया था? नामदेव, जनाबाई, बंका महार आदि कई सन्तों की रचनाएँ कैसे इस ऐतिहासिक अंधकारमय समय में बची रही होगी? ऐसा इसलिए संभव हो सका क्योंकि इन सन्तों की रचनाओं में लोक में बसे रहने की अदम्य जीजिविषा थी, जो इसके रचनाबंध में ही अनुस्यूत थी। नामदेव ने एक ऐसा रचनाबंध, एक ऐसी लय इन रचनाओं में भर दी थी जिसका सविस्तार विवेचन अगले अध्यायों में किया जाएगा। इसके अतिरिक्त इन सन्तों की रचनाएँ किसी दार्शनिक लाग लपेट के उस अध्यात्म की बात करती है, जो न केवल मध्यकालीन जनता की आध्यात्मिकता को शान्त करती थी बल्कि वर्तमान समय में भी उतनी ही कारगर हैं। वह जनता की भाषा में जनता के स्वरो को मुखरता से बयान करती थी। यह कारण है कि वह जन में बची रही और ज्ञानेश्वरी में कई पाठों के घुसपैठ कर जाना, उस हायजैक का हिस्सा था जो उपर उल्लेखित किया गया है। इसके तहत ज्ञानेश्वरी के पाठ को अपनी विचारधारा के अनुसार मोड़ने के प्रयास किए गए जिसे एकनाथ ने पुनः संपादित कर एक पाठ सुनिश्चित किया।

दत्त सम्प्रदायी गुरु होने के बावजूद एकनाथ का वारकरी सम्प्रदाय की विचाधारा एवं दर्शन को अपने कृतित्व में स्थान देना, एकनाथ का दूसरा उल्लेखनीय कार्य था। विपुल ग्रंथ रचना उनके द्वारा दूसरा महत्वपूर्ण कार्य माना जा सकता है। 'चतुःश्लोकी भागवत', 'भावार्थ रामायण' और 'रुक्मिणीस्वयंवर'

उनके प्रबंध ग्रंथ हैं। 'चतुःश्लोकी भागवत' श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंद के नौवें अध्याय पर लिखा गया टीकात्मक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का तत्कालीन पंडितों ने विरोध किया और उन्हें ग्रंथलेखन से रोक दिया, एकनाथ ने काशी जाकर वहाँ के पंडितों से अपने ग्रंथ को मूल ग्रंथ से समानता होने की प्रशस्ती प्राप्त कर ग्रंथ वहीं पूर्ण किया। मुख्यतः 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर एकनाथ ने भावार्थरामायण की रचना भले ही की हो किन्तु उसमें उन्होंने तुलसीदास के भाँति अपनी स्वतंत्र दृष्टि भी दर्शायी है। महदंबा से चली आती हुई परम्परा को अपनाते हुए एकनाथ ने भी 'रुक्मिणीस्वयंवर' ग्रंथ की रचना की है। "एकनाथ ने विभिन्न रसों से युक्त रूप उसे दिया है। आगे के समय में श्रीधर, सामराज, विठ्ठल, वीरेश्वर, काशी कवि, मोरोपंत इत्यादि कवियों ने रुक्मिणीस्वयंवर की कथा गायी है, फिर भी एकनाथ के स्वयंवर का मूल्य कायम है।"⁴⁴

एकनाथ द्वारा अभंग रचना के तीसरे महत्वपूर्ण कार्य ने उन्हें वारकरी सम्प्रदाय में स्वीकृति प्रदान की। नामदेव ने अभंग नामक एक नवीन छन्द का सूत्रपात किया जिसे आगे आनेवाले प्रायः प्रत्येक वारकरी सम्प्रदाय के सन्त-भक्त ने अपनी रचनात्मकता का माध्यम बनाया है। एकनाथ के अभंग वारकरी सम्प्रदाय के अतिरिक्त दत्त सम्प्रदाय में भी सम्प्रदाय के विषयानुकूल लिखने के कारण बड़ी मात्रा में स्वीकृत किए गए हैं। वारकरी सम्प्रदाय के अभंग छन्द को एकनाथ ने दत्त सम्प्रदाय की रचनात्मकता के लिए उपयोग किया। उनके पूर्ववर्ती सन्तों की अपेक्षा उनके अभंग लोकात्मकता की अपेक्षा कलात्मकता को लिए हुए हैं। उनके अभंगों से एकनाथ के दत्त सम्प्रदाय से वारकरी सम्प्रदाय की ओर किसी प्रकार वैचारिक रूप में स्वीकृति को भी देखा जा सकता है। "पूर्वार्द्ध में एकनाथ ने दत्त की भी आराधना की जो अपनत्व उन्हें आगे जाकर विठ्ठल के लिए निर्माण हुआ, वह दत्त के सन्दर्भ में अभिव्यक्त हुआ था।"⁴⁵

भारूड महाराष्ट्र की लोकप्रिय गीत पद्धति है, जिसकी रचना ज्ञानेश्वर के समय से होती है और इससे पूर्व यह मौखिक रूप में भी प्रचलित रहा होगा। साधारणतः जो बहुरूढ होता है उसे भारूड कहा जाता है। "भारूड अर्थात् उपदेशपरक रूपक ! यह कहा जा सकता है कि, एक ही समय पर मनोरंजन और समाज सुधार को साधने वाला लोकप्रिय काव्यरूप अर्थात् भारूड। संत ज्ञानेश्वर ने भारूडों की रचना की है किन्तु भारूड कहते ही एकनाथ महाराज का नाम ही प्रथमतः लेना पड़ेगा। ...भारूड लोकगीत का प्रकार होने के कारण उसमें नृत्य, नाट्य, संगीत यह विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु मुलतः लोकशैली का स्पर्ष होने के कारण उसकी नाट्यगीत से समानता तीव्रता से महसूस होती है।"⁴⁶ एकनाथ के भारूड उनकी सबसे लोकप्रिय रचनाएँ हैं। यही वह रचनाएँ हैं जो सबसे अधिक लोक तक उन्हें पहुँचाती हैं और उन्हें एक

भक्तिकालीन कवि के रूप में प्रस्थापित करती हैं। इन रचनाओं के द्वारा एकनाथ ने शास्त्र और लोक का मेल कराने का सफल प्रयास किया है। इन लोकगीतों पर अगले अध्यायों में उनके हिन्दी भारूडों पर विचार करते समय सविस्तार दृष्टिक्षेप किया जाएगा।

एकनाथ के साथ दासोपंत, जनीजनार्दन, रामाजनार्दन और विठारेणुकानंदन इन दत्त सम्प्रदायी पाँच कवियों को 'एकनाथ पंचक' कहा जाता है। दासोपंत का ग्रंथ 'गीतार्णव' रामदास के दासबोध का पूर्वातार माना जाता है। जनीजनार्दन ने 'निर्विकल्प ग्रंथ' एवं 'ज्ञानकीस्वयंवर' ग्रंथों की रचना की। रामाजनार्दन की ज्ञानदेव की आरती ('आरती ज्ञानराजा') लोकप्रिय होने का कारण उसका वारकरी सम्प्रदाय में निःसंकोच स्वीकार है। विठारेणुकानंदन ने भी 'सीतास्वयंवर' नामक ग्रंथ की रचना की है। इसी प्रकार एकनाथ से पहले आरंभ हुई टीकाओं, भाष्य ग्रंथों की परम्परा उनके समकालीनों ने भी जारी रखी। शिवकल्याण ने ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभाव' की टीका 'नित्यानंदैक्यदीपिका', रमावल्लभदास ने गीता टीका की 'चमत्कारी टीका', रंगनाथ मोरेकर ने 'चित्सदानंदलहरी' तथा शंकराचार्य के सोपानपंचक पर लिखी गई टीका आदि उल्लेखनीय हैं। एकनाथ के नाती मुक्तेश्वर ने 'संक्षेप रामायण' एवं 'महाभारत' नामक ग्रंथों की रचना की। फादर स्टीफन्स (1549-1619 ई.) ने 'ख्रिस्तपुराण' नामक ग्रंथ की रचना मराठी भाषा, किन्तु रोमन लिपि में की। इसी स्टीफन्स ने मराठी-कोंकणी भाषा का प्रथम व्याकरण लिखा है।

दत्त सम्प्रदाय एवं सूफीयों को सबसे बड़ा मिलनक्षेत्र बने शहा मुंतोजी ब्रह्मणी भी इसी समय हुए। वे बिदर के शहा थे और इनका सम्बन्ध सूफीयों के कादरी सम्प्रदाय से बताया जाता है। वारकरियों में मृत्युंजय, लिंगायतों में ज्ञानसागर अय्या नाम से इन्हें बड़ा सम्मान प्राप्त है। ये अपने समय के सच्चे ब्राह्मण माने जाते थे। 'प्रकाशदीप' पर "विवेकसिंधु" का इतना प्रभाव है कि मृत्युंजय का यह ग्रंथ मुकुंदराज के विवेकसिंधु की संक्षिप्त अवृत्ति कही जा सकती है।⁴⁷ वि.ल.भावे ने इनके 8 ग्रंथों के नाम देकर "इसके अतिरिक्त कुछ पद, अभंग आदि फुटकल रचनाएँ भी उपलब्ध"⁴⁸ होने का उल्लेख किया है। रा.चिं.ढेरे ने 'महाराष्ट्र सारस्वत'कार एवं गो.का.चांदोरकर द्वारा 'महाराष्ट्रीय संत-कवि-काव्य-सूची' में दिए गए 9 ग्रंथों की सविस्तार विवेचना की तथा एक नवीन ग्रंथ का शोध लगाकर 9 ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है। इन्होंने एक संस्कृत-फारसी कोश का भी निर्माण किया था। इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को "उत्तरकालीन सन्तों ने इन्हें 'महायोगी' कहकर गौरवान्वित किया है।"⁴⁹

एकनाथ के समय तक भले ही उच्च वर्णीय तबका भक्ति आन्दोलन पर आपनी पकड़ बनाने का लगातार प्रयास कर रहा था किन्तु जनसामान्य में उसे वह मान्यता नहीं मिल पायी थी जो वारकरियों ने प्राप्त की थी। इसका श्रेय नामदेव से आरंभ हुई और प्रायः प्रत्येक वारकरी द्वारा स्वीकृत कीर्तन की परम्परा को जाता है। कीर्तन रचनात्मकता का वह चरमोत्कर्ष था जहाँ समाजसुधारणा, समाज शिक्षा, भक्ति एवं दर्शन को व्यावहारिक रूप में एक साथ साधा जाता था। इस कारण वारकरियों का कवित्व संगीतात्मक अभिव्यक्ति को लिए हुए है। कीर्तन की इस स्वस्थ परम्परा को विकसित करने का श्रेय नामदेव को है, जिन्होंने कीर्तन के लिए सर्वाधिक अनुकूल अभंग छन्द की योजना की। साथ ही कीर्तन को संत चरित्र के साथ जोड़ते हुए अप्रस्तुत रूप में प्रत्येक सन्त के प्रदर्शक-कलाकार होने की परम्परा को भी अनिवार्य कर दिया। कीर्तन नुक्कड़ नाटक एवं संगीत नाटक का ऐसा मिश्रण होता था जो श्रोता पर सीधे अपना प्रभाव अविलंब जमा लेता था। इसी कीर्तन ने भक्ति आन्दोलन की विचारधारा को तीव्रता से जनमानस में पैठ जमाने में मदद की। परिणामस्वरूप इस कीर्तन-परम्परा ने महाराष्ट्र में आन्दोलन का रूप ग्रहण किया, जिसने सामन्तवादी विचाराधारा की जड़े हिला दी। एकनाथ के समय तक तो कीर्तन करने पर प्रायः किसी भी सन्त को उतना विरोध सहना नहीं पड़ा, जितना तुकोबा के हिस्से आया। क्या कारण है कि नामदेव तथा एकनाथ दोनों तथाकथित शूद्र होते हुए भी उभय सन्तों में से केवल तुकोबा को इतना तीव्र विरोध हुआ कि उनकी रचनाएँ नदी में बहा देने का फतवा तत्कालीन कट्टरपंथी पुरोहितों ने दिया? क्योंकि इन कीर्तनकारों ने न केवल कवित्व इनके प्रतिरोध में लिखा बल्कि वह संगीतात्मकता के साथ इन कट्टरपंथियों के वितंडावाद और पाखण्ड के विरुद्ध; स्वयं लोगों की बोली में अशिक्षितों को भी सुलभ किया और उसका लोकाभिग्रहण बड़ी मात्रा में हो रहा था। अर्थात् 'वह' जान गए थे कि कविता की संगीतात्मक सर्वाभिव्यक्ति यानि कीर्तन का समाज पर तीव्र और उनके एकाधिकारशाही के विरुद्ध प्रभाव पड़ रहा है।

तुकोबा ने अपने समकालीन टीकाओं-भाष्यों की परम्परा को नकारते हुए नामदेव-बंका महार की अधिक रचनात्मक अभंग-कीर्तन परम्परा को स्वीकार किया। उन्होंने सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में आ रही या लायी जा रही फाँक को दूर करते हुए प्रयत्न को सर्वोपरि माना। उन्होंने अपनी उपदेशपरक कविताओं में ब्राह्मण एवं जाति की अवधारणाओं को गुणवाक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया। तुकोबा को शूद्र कहकर काव्य रचना एवं कीर्तन करने से वंचित करने का प्रयास रामेश्वर भट्ट द्वारा करना तथा गाँव के मुखिया (पाटिल) को कहकर गाँव निकाला या अपनी कविताओं को इंद्रायणी नदी के पानी में

डुबोने का विकल्प देना कई बातों की ओर इंगित करता है, यथा : उस समय तक भी ब्राह्मणेत्तर सारे जातीय लोग शूद्र ही माने जाते थे, तुकोबा अपनी कविताओं में जन की बात कर रहे थे और सामान्य जन को उनकी कविताओं-कीर्तनों में अभिव्यक्त विचार अपने से लग रहे थे जिसके चलते वे खासे लोकप्रिय बन गए थे और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सवर्ण समाज को उनकी कविताएँ अपने विरोध में जान पड़ रही थी। नामदेव-तुकोबा की ही भाँति एक साथ में कीर्तनकार और अपने समय के बौद्धिक भी थे। उनमें पूर्ववर्ती सारे सन्तों की अपेक्षा कई अधिक आक्रोश देखा जा सकता है, जिसके चलते उनकी कविताओं में कई बार तथाकथित अभद्र शब्दों का प्रयोग भी स्वाभाविक प्रयोग देखा जा सकता है।

तुकोबा ने 'विश्व मिथ्या' को अस्वीकार करते हुए 'विश्व ब्रह्म' को स्वीकार किया है। इस कारण वे पक्षी और लताओं को भी मनुष्य के परिजन मानते हैं एवं इस कारण उनका जीवन दर्शन अधिक व्यावहारिक बनकर सर्वजन ग्राह्य हुआ है। उनकी वाणी में जितना सर्वजन अंतर्वेशन है, उतना रूढ़ियों के प्रति अपवर्जन है और इसलिए वे प्रतिरोध के कलाकार हैं। उन्हें वारकरी सम्प्रदाय का चरमोत्कर्ष कहा गया है। क्योंकि पूर्ववर्ती तमाम सन्तों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व की प्रवृत्तियाँ उनमें एक साथ दृष्टिगोचर होती है। तुकोबा को वारकरी सम्प्रदाय का चरमोत्कर्ष अथवा शिखर पुरुष कहा जाना ही सिद्ध करता है कि वारकरी सम्प्रदाय एक प्रतिरोध की संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया के तहत सामने आया था और मानो तुकोबा तक के विकास ने उसने अपनी पूर्ण प्रगति कर ली थी। उसने जन मानस तक अपनी पहुँच का प्रमाण तुकोबा एवं अन्य वारकरी सन्तों को मिली अपूर्व स्वीकृति के माध्यम से दिया। जहाँ सम्पूर्ण विश्व का तादात्म्य स्थापित होता है। मनुष्यता की व्याख्या में सारी सृष्टि समाविष्ट हो जाती है और दर्शन बौद्धिक कसरतों का आखाड़ा मात्र न रहकर उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाता है। प्रत्येक वारकरी 'जय जय राम कृष्ण हरि' का उद्घोष करता है, तो वास्तव में वह वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास और दर्शन को आत्मसात करने का साक्षी बन जाता है।

वारकरी सम्प्रदाय में 'नामयाचा तुक्या' की अवधारणा प्रचलित है जिसके ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय कारण हैं। दो सौ से अधिक वर्षों तक वारकरी सम्प्रदाय नायकविहीन था। लोक में तो उसकी पैठ नामदेव के बाद बनती गई किन्तु उपरोल्लेखित नव-सामंतवादी समाज के कारण बदली सामाजिक परिस्थितियों में परिनिष्ठित वारकरी दार्शनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किसी बड़े व्यक्तित्व की अपेक्षा थी, जिसे बखूबी समझकर तुकोबा ने पूर्ण किया। दत्त सम्प्रदायिकों के वारकरियों से

मुठभेड़ के कोई प्रमाण तो नहीं मिलते किन्तु दत्त सम्प्रदाय वास्तव में वारकरी सम्प्रदाय की आचारमार्गों से असह्यत आवश्य रहा होगा । तुकोबा अपने पैतृक व्यवसाय के कारण श्रमजीवि वर्ग से जुड़े हुए थे और इसलिए वे बदलती हुई आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से अवगत भी थे । परिवार में वारकरी संस्कार आयु के साथ आत्मसात होने के कारण वे पूर्वप्रचलित वारकरी दर्शन को अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान करने में सक्षम हो पाए । जहाँ पूर्ववर्ती कई वारकरी सन्त मुख्यधारा की दार्शनिक मान्यताओं से अनुकूलन की स्थिति में थे वहीं तुकोबा सामान्यजन की दृष्टि से उसकी पुनर्व्याख्या कर उन्हें अंतर्वेशन या अपवर्जन करते हैं । अर्थात् एक प्रकार से वारकरियों में सत्सद्विवेक बुद्धि का चरम विकास तुकोबा के यहाँ देखा जा सकता है । ‘सन्तत्व’ को मात्र धार्मिक अनुष्ठानों से उपर उठाते हुए उसे पुनर्परिभाषित करते हुए कहा है कि “जो शोषित-पीड़ितों को अपनाता है, वह साधु कहलाता है और ऐसे ही स्थान पर ईश्वर बसते हैं ।”⁵⁰ उन्होंने व्यावहारिक और धार्मिक दोनों प्रकार के पाखण्डों को अपर्जित करने की वकालत अपनी वाणी में की है ।

एक मराठी कहावत के अनुसार यदि आप में मानवता नहीं है तो आपकी सारी प्रतिभाएँ व्यर्थ हैं । तुकोबा के समय में अकाल ने भुखमरी के रूप में अपना विकराल रूप दिखाया । तुकोबा का पैतृक व्यवसाय बनिया का होने के कारण उनके पुरखों के कोठार में अनाज की कुछ बोरियाँ थी और उन्होंने ने अपनी सबसे बेहतरीन प्रतिभा को उजागर करते हुए सारी बाँट दी । ऐसा कर उन्होंने नामदेव से आती हुई मानवीय परम्परा को व्यावहारिक रूप प्रदान किया । इस संकट के समय में उन्होंने अपने कई आसजन भी अन्न के अभाव में खोए एवं उनका मानवीय रूप सोने की भाँति भट्टी में तपकर निकल रहा था । उन्होंने अपने कीर्तनों के माध्यम से न केवल प्रतिरोध की संस्कृति को विकसित करने का प्रयास किया अपितु अकाल के दुर्दिनों में मानवीय विश्वास को बनाए रखने का भी कार्य किया । इन मायनों में उनकी रचनात्मकता अपने समकालीन समाज की तमाम चुनौतियों से लड़ते हुए सामान्य जन की बात प्रस्तुत करती है । महाराष्ट्र के गाँव-गाँव में तुकोबा की वाणी आज भी भोर से गाई जाती है क्योंकि वह आज के भी किसानों की आवाज़ हैं, उसमें मानवीय स्वाभाविकता है, नैसर्गिक उपमाएँ हैं, भाषा की सरलता है और सबसे ऊपर एक आन्तरिक लय है जो श्रम में विश्राम देती रहती है, अपनत्व की गर्मी देती रहती है ।

जिस अनुवाद ने महाराष्ट्र में दलित आन्दोलन को वैचारिक प्रथमाधार प्रदान किया उस ‘वज्रसूची’ का पहले-पहल अनुवाद बहेणाबाई ने तुकोबा के कहने पर किया था । इसके अतिरिक्त इस तुकोबा शिष्या

के 719 अभंग उपलब्ध हैं। उनकी कविताओं में दार्शनिक एवं परमार्थिक स्फुट रचनाओं का आधिक्य देखते हुए शालीनी जावडेकर ने उन्हें 'तत्त्वज्ञ संत कवयित्री'⁵¹ (दार्शनिक सन्त कवयित्री) कहा है। तुकोबा काव्य की अधिकांश विशेषताएँ इनकी कविताओं में मिल जाती हैं। "तुकोबा की ही भाँति उन्होंने अपने विचार स्पष्टतः, निडरता एवं कठोर शब्दों में प्रस्तुत किए हैं। इसलिए प्रसंगतः उनके भारूडों में अशिष्ट शब्दरचनाएँ भी आ जाती हैं।"⁵² पारम्परिक कथाओं में स्त्री दृष्टि का सामावेश इनकी रचनाओं का स्वाभाविक गुण है जहाँ गोपियों पर लगाए गए लांछनों को वह भक्ति की दृष्टि से देखने का प्रयास करती हैं।

तुकोबा के 25 वर्षों बाद हुए निळोबाराय ने तुकोबा को अपना गुरु माना है। उनके अनुसार 'स्वप्न में आकर तुकोबा ने उन्हें गुरदीक्षा प्रदान की थी'। इन्होंने कई अभंगों के अतिरिक्त चांगदेव-ज्ञानेश्वर का चरित्र कथन करनेवाली लम्बी कविताएँ भी लिखी हैं।

मराठी साहित्येतिहासकार विनायक भावे ने अपने पूर्वनिर्धारित निष्कर्षों को सिद्ध करने के लिए तुकोबा एवं रामदास के कृतित्व की तुलना अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में की। उनके अनुसार, "तुकोबा परिवार में उलझे रहे जबकि रामदास इससे अलिप्त रहे, तुकोबा अपने आए संकटों का वर्णन सार्वजनिक रूप से करते हैं, किन्तु रामदास नहीं करते, तुकोबा को अपने परिजनों की चिन्ता थी जबकि रामदास को सम्पूर्ण महाराष्ट्र की चिन्ता थी, रामदास विद्याचार्य थे उन्हें ज्ञान एवं विद्या की महत्ता महसूस होती थी और तुकोबा का ज्ञान मात्र श्रमण द्वारा अर्जित था, देश और राजनीति की चिन्ता तुकोबा को कभी नहीं हुई जबकि रामदास अजन्म इसका हिस्सा रहे, रामदास मात्र लंगोट में सुखी थे जबकि तुकोबा का कहना था महंत को गरीबी के गधे की सवारी करनी चाहिए, रामदास ने ग्यारह सौ मठों की स्थापना की जबकि तुकोबा ने एक भी नहीं, तुकोबा भाग्यवादी एवं दैवी चमत्कारों पर विश्वास करने वाले थे तथा रामदास प्रयत्नवादी, तुकोबा लकीर के फकीर थे जबकि रामदास ने नई-नई परम्पराओं का आरंभ किया, तुकोबा के शिष्य बेकाबू थे और रामदास के शिष्य उनसे शिक्षा पाने के डर से उनके काबू में रहा करते, तुकोबा दुनिया को उपदेश देते घूमते जबकि रामदास महाराष्ट्र को और उन्हें महाराष्ट्र के आगे दुनिया छोटी नज़र आती।"⁵³

यदि तुकोबा परिवार में उलझे हुए सन्त होते तो अकाल में अपना मालिकाना अनाज का गोदाम सबके लिए खुला न कर देते। उन्हें पता था कि ऐसा करने से उनके अपने मृत्यु के मुख में चले जाएँगे। तुकोबा को अपने परिजनों की मात्र चिन्ता नहीं थी बल्कि मनुष्य मात्र की चिन्ता थी जो उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। इसलिए वे अपनी आत्मकथा नहीं लिखते बल्कि सामाजिक चिन्ताओं, मनुष्य जाति

की समस्याओं को अभिव्यक्त करते हैं, न कि अपने पारिवारिक या निजी दुःखों का। तुकोबा को राजनीति से अधिक चिन्ता इस बात की थी कि उनका समाज स्वयं की खुद का दुश्मन बन बैठा था, अपनी ही रूढ़ियों के जाल में फँसता चला जा रहा था। इसके साथ ही राजनीति से तो उच्च वर्ग का सम्बन्ध था जिस वर्ग से रामदास आते हैं, तुकोबा तो अधिक सामाजिक सन्त थे, जो श्रमिक वर्ग से सीधे जुड़े थे और यही तुकोबा की ऊर्जा का स्रोत है। जिन्होंने परमार्थ और पुरुषार्थ को एक साथ साधा था और वारकरियों के उच्च जीवनादर्श को अपनाते हुए दोनों में सफलता हासिल की थी।

तुकोबा यदि लोक परम्परा को अपनाने के, वारकरियों की स्वस्थ लोकसम्पर्क की परम्परा अपनाते रहने के कारण लकीर के फकीर थे तो जर्जर सामाजिक शोषण पर खड़ी राजनीतिक गलियारों में ले जाने वाली विचारधारा को अपनाने वाले रामदास क्या हैं? मठों की स्थापना करना सन्तत्व का लक्षण है तो ज्ञानेश्वर, नामदेव, कबीरदास, तुलसीदास आदि कई सन्तों को भी सन्तत्व के पद से हटाना पड़ेगा। तुकोबा ने किसी मठ की स्थापना नहीं की। हाँ, उनके शिष्य उनसे बेकाबू थे क्योंकि वे अधिक लोकतांत्रिक वातावरण में रहते थे, जहाँ गुरु-शिष्य की विचारधारा एक ही होना अत्यावश्यक नहीं था, बल्कि शिष्य आदर के साथ गुरु की विचारधारा से सहमत या असहमत हो सकता था। रामदास के मठों में गुरु का शब्द अन्तिम होता था। शिष्यत्व आदर की नींव पर खड़ा होता है न कि डर के। अपने शिष्यों को बेकाबू बनाकर तुकोबा ने सामंतवादी गुरु-शिष्य की परम्परा को अधिक लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया, बल्कि वास्तविक रूप में उसे पुनःपरिभाषित किया। इसी प्रकार तुकोबा सीधे ज्ञानेश्वर की परम्परा से जुड़ते हुए ज्ञानेश्वर के ‘पसायदान’ को वास्तविक रूप में चरितार्थ कर रहे थे। तुकोबा एवं रामदास की इस प्रकार की तुलना दोनों सन्तों के कृतित्व को ठीक से न समझने के कारण आचार्य ने की है। दोनों सन्तों का कार्यक्षेत्र भिन्न होते ही दोनों के कार्य का स्वरूप बदल गया। एक राजनीति मात्र को स्वतंत्रता का पर्याय समझता है तो तुकोबा जन जागृति के माध्यम से सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के परतंत्रता से मुक्ति की कामना करते हुए प्रयास करते हैं। इसी प्रकार का विभाजन आधुनिक युग में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध लड़ते समय देखने को मिलता है।

तुकोबा तक के प्रायः प्रत्येक सन्त ने सज्जन प्रशंसा एवं दुर्जन निन्दा की है किन्तु रामदास के ‘दासबोध’ की अधिकांश ऊर्जा मात्र इसी कार्य में खर्च हुई है। स्वाभाविकतः इस पर उनके राजनीतिक विचारों एवं सामाजिक परिस्थितियों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। ग्रंथ का अधिकांश उपदेशात्मक,

परमार्थविवेचन, पंथियों की शिक्षा को समर्पित है। इसमें रामदास ने मराठी भाषा, भीक्षावृत्ति एवं सन्यासवृत्ति का जोरदार समर्थन किया है। गुरु-शिष्य लक्षणों के माध्यम से अपने द्वारा स्थापित मठों को अधिक संगठित रूप उन्होंने दिया है। अपने सम्प्रदाय के लोगों के लिए काव्यशास्त्रीय नियम भी उन्होंने निरूपित किए हैं। उनके अनुसार कवित्व निर्मल, सरस, अहंभावरहित, अर्थगौरवयुक्त, हरिकीर्तन युक्त, रम्य, मधुर, सोपे (आसान), अल्परूप, कोमल, कौशल्यपूर्ण, भक्तिभावयुक्त, होना चाहिए।⁵⁴ स्वयं रामदास का कवित्व इन गुणों से युक्त है। वाल्मीकि ऋषी को अपना आदर्श मानते हुए कवित्व में किन गुणों का प्रवेश निषिद्ध है, इसका भी निरूपण भी उन्होंने किया है।

उन्होंने देशभर में भ्रमण कर कई मठों एवं हनुमान मन्दिरों की स्थापना की। सम्प्रदाय के नियमों एवं वेष को भी उन्होंने निश्चित कर मठाधिपतियों का चुनाव किया। इन मठों में कई रचनाकार उभरकर सामने आए। रामीरामदास ('भक्तिरहस्य', 'सुगमोपाय'); दिनकर गोसावी (स्वानुभव-दिनकर); वेणाबाई ('सीतास्वयंवर'); अंबाबाई, प्रेमाबाई, बयाबाई, गिरिधर (श्रीसमर्थप्रताप); बाळकराम, उद्धवस्वामी (समर्थचरित्र) आदि कई रचनाकार हुए। इनमें रामदास के अतिरिक्त अन्य चार रचनाकारों को मिलाकर 'दास पंचायत' कहा जाता है।

'दास पंचायत' के पहले आधारस्तंभ जयरामस्वामी ने शंकराचार्य के 'अपरोक्षानुभव' ग्रंथ पर इसी शीर्षक से टीकाग्रंथ लिखी। रंगनाथस्वामी ने 'ज्ञानदीपिक' एवं 'अमृतानुभवटीक' के अतिरिक्त योगवसिष्ठ ग्रंथ पर भी टीका लिखी। केशवस्वामी ने 'एकादशचरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की। आनंदमूर्ती के नाम 'करुणामृत' के अतिरिक्त कुछ स्फुट पद हैं। इन चार कवियों को समर्थ सम्प्रदाय के प्रचार एवं पालनकर्ता होने के कारण रामदास के साथ मिलाकर 'दास पंचायत' कहा जाता है। यह सत्य होते हुए भी कि भक्ति आन्दोलन को एक मोड़ देते हुए भी रामदास एवं उनके शिष्य परिवार ने विषम परिस्थितियों में राजकीय विचारों के माध्यम से जागृति बनाए रखने का कार्य किया।

रामदास के बाद या तुकोबा के बाद मराठी साहित्य का एक वैभवशाली युग समाप्त हो गया। भक्ति आन्दोलन के समाजोन्मुख रचनात्मकता के बाद 'पंडिती कविता' नामक रूपवादी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ लिया। रामदास के बाद या उनके समय में ही एक नई परम्परा मराठी साहित्य के इतिहास में निर्माण हुई। वास्तविक रूप में इसका विकास एकनाथ के समय से ही आरंभ हो गया था। महानुभावियों की सरस कृष्ण कथाएँ, एकनाथ का लयकारी युक्त रामायण, चोंभा कवि के 'उषाहरण' की रम्यात्मक कथा शैली, मुक्तेश्वर

के रामायण, महाभारत आधारित अख्यानकाव्यों की प्रवृत्ति आदि में इसका आरंभ मात्र देखा जा सकता है। किन्तु केवल रूपवाद को केन्द्र में रखकर जिस प्रकार हिन्दी में टीकाएँ, संस्कृत काव्यशास्त्र को आधार बनाकर अलंकारादि सामग्री को संपादित कर, चमत्काराधारित रीतिकाल आया उसी प्रकार कुछेक अन्तरो के साथ मराठी में पंडित कवियों का उदय हुआ। इस परम्परा ने प्रबंधात्मकता को प्राथमिकता देते हुए पूर्वप्रचलित कई कथाओं को अपने काव्य का आधार बनाया। एकनाथ के समय से आरंभ हुई टीका परम्परा को पोषित किया।

इस युग में हुई 'शाहिरी कविता' मुख्यतः वीराख्यान काव्य-रूप है। पोवाडा शाहिरी कविता का मुख्य रूप है जिसमें तत्कालीन कई वीरों के कर्म का उत्तेजनापूर्ण वर्णन किया जाता था। लावणी श्रृंगारिक गीत प्रकार है जिसका आधार गोपियाँ होती है। लावणियों में 'गीतगोविन्द' प्रकार की शैली का उपयोग किया जाता है जिसमें अध्यात्म-श्रृंगार का मिश्रण होता है।

इस प्रकार लोक-रूपों की रचनात्मक परम्परा पृष्ठभूमि में जाकर रूपवादी रुझान का आधिक्य मंच पर आसीन हो गया। किन्तु ध्यातव्य है कि मात्र आधिक्य ही हुआ लोक-रचना रूपों एवं समाजोन्मुखता की जो प्रवृत्ति भक्ति साहित्य ने आरंभ की थी वह पूर्णतः समाप्त नहीं हुई, वह आगे के समय में भी वारकरियों के माध्यम से जारी रही। अभंग रचना रूप आधुनिक मराठी साहित्य में भी विभिन्न प्रयोजन के लिए रचना जाता रहा। महात्मा फुले, नारायण वामन टिळक, बाळ सीताराम मर्ढेकर, अरुण कोलाटकर आदि कई आधुनिक रचनाकारों ने अभंगों की रचना कर इसके संवेदना में बढ़ोतरी की। 'अभंग' रचनाबंध का सविस्तार अध्ययन अगले अध्याय में किया जाएगा।

सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में घटित इस भक्ति आन्दोलन और तदनुसार रचित साहित्य ने समाज पर अभूतपूर्व प्रभाव कायम किया। उसने सामाजिक-साहित्यिक मूल्यों को आन्दोलित कर नए प्रतिमान स्थापित किए। समाज के एक बड़े तबके ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इस आन्दोलन को बनाया। अपनी सीमाओं से परे जाकर अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त भी रचनात्मकता कर अपनी मानवतादी दृष्टि का परिचय दिया। मराठी सन्तों ने हिन्दी में भी रचनाएँ कर इसी असीमित दृष्टि को प्रोत्साहन दिया। इन मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का विविधांगी अध्ययन अगले अध्यायों में किया जाना है।

सन्दर्भ संकेत- द्वितीय अध्याय

- ¹सेठ, रमेश : तुकोबा एवं कबीर : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ.97.
- ²द्विवेदी, हजारीप्रसाद : मध्यकालीन धर्म साधना, पृ.40.
- ³भाण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ.44.
- ⁴उपाध्याय, बलदेव : भागवत धर्म, पृ.122.
- ⁵द्विवेदी, हजारीप्रसाद : मध्यकालीन धर्म साधना, पृ.38.
- ⁶चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद : भारतीय दर्शन : सरल परिचय, पृ.79-80., उद्धृत अंश A.B. Keith in Encyclopedia of Religion and Ethics, vol.X, pg.572 से है।
- ⁷चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद : भारतीय दर्शन : सरल परिचय, पृ.99-100.
- ⁸सेठ, रमेश : तुकोबा एवं कबीर : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ.93.
- ⁹“इति स्तुत्वा ततो देवं प्राहगद्गदया गिरा ।
अनेनेव स्वरूपेण त्वया स्थेयं ममंतिक ॥58॥
ज्ञानविज्ञानहीनानां मूढानां पापिनामपि ।
दर्शनात्ते भवेन्मोक्षः प्रार्थयामि पुनः पुन ॥
मन्नाम्ना भव विख्यातः पुरमेतत्तथैव च ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं सर्वान् सर्वसिद्ध्यर्थदायकम् ॥
तीर्थमेतत्तु सर्वेषां तीर्थानां मस्तके मणिः ।
तथा ते मूर्तिं देवेश क्षेत्रं चापि पुर्नवेत् ॥” यह श्लोक पद्मपुराण से बहिरट, भा.पं. एवं भालेराव, प.ज्ञा. : वारकरी संप्रदाय-उदय व विकास, पृ.11, पर पूर्वोद्धृत.
- ¹⁰Nandimath, S.C. : A Handbobook Virshaivism, pg.26. से बहिरट, भा.पं. एवं भालेराव, प.ज्ञा. : वारकरी संप्रदाय-उदय व विकास, पृ.13, पर पूर्वोद्धृत.
- ¹¹बहिरट, भा.पं. एवं भालेराव, प.ज्ञा. : वारकरी संप्रदाय-उदय व विकास, पृ.13.
- ¹²Dr. Atlekar : The Rashhrakutas and their times, pg.299.
- ¹³चन्द्र, सतीश : मध्यकालीन भारत-राजनीति, समाज और संस्कृति (8 वीं से 17 वीं सदी तक), पृ.190.
- ¹⁴“प्राणिया उद्धार सर्व हा श्रीधर ।
ब्रह्म हैं साचार कृष्णमूर्ति ॥
ते रूप भीवरे पांडुरंग खरे ।
पुंडलिक-निधिरिं उभे असे ॥
युगे अट्ठाविस उभा हृषिकेश ।
पुंडलिक सौरस पुरवित ॥
निवत्तिचे गुज पांडुरंग बीज ।
विश्वजन काज पुरे कोडे ॥” सकल सन्त गाथा, अभाग क्र.2020.
- ¹⁵“पांडुरंग बाळ मूर्ती । गाई गोपाळ सांगाती ।
येउनिया प्रीती । उभे समची राहिले ॥” – संत तुकोबा, सार्थ तुकारामाची गाथा, सम्पा.विष्णुबुवा जोग, पृ.104
- ¹⁶जावडेकर, शालिनी (सम्पा.) : संत बहेणाबाईंचा गाथा, प्रस्तावना, पृ.77.
- ¹⁷“संतकृपा झाली । इमारत फळा आली ॥
ज्ञानदेवे घातला पाया । उभारिले देवालय ॥
नामा त्याचा किंकर । तेणे रचिले आवार ॥
जनार्दन एकनाथ । खांबा दिलहा भागवत ॥
तुका झालासे कळस । भजन करा सावकाश ॥
बहेणे म्हणे भडकति ध्वजा । निरुपण केले वोजा ॥” जावडेकर, शालिनी (सम्पा.) : संत बहेणाबाईंचा गाथा, प्रस्तावना, पृ.58
- ¹⁸बहिरट, भा.पं. एवं भालेराव, प.ज्ञा. : वारकरी संप्रदाय-उदय व विकास, पृ.162 पर सरदार, गं.बा. : ज्ञानेश्वरांची जीवननिष्ठा, पृ.13 से पूर्वोद्धृत
- ¹⁹पंडित, प्रभाकर सदाशिव : महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य, पृ.49
- ²⁰पंडित, प्रभाकर सदाशिव : महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य, पृ.पर डॉ.मोहनसिंह : भक्त शिरोमणि नामदेव की नई जीवनी-नई पदावली, पृ.से उद्धृत.
- ²¹साही, विजयदेव नारायण, जायसी, पृ.46-89.
- ²²जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.248.
- ²³शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.68
- ²⁴“निर्गुणिचे वैभव आले भक्तिमिखे, ते हे विठ्ठल वेपे ठसावले ।
बरबिया बरवे पाहता नित्य नवे, हृदयो ध्याता निवे त्रिविध ताप ।” नामदेव : संत नामदेवांचा सार्थ चिकित्सक गाथा, सम्पा.मु.श्री.कानडे एवं रा.शं.नगरकर, पृ.
- ²⁵“निर्विकल्प, निराकार । निःशून्य निराधार । निर्गुण अपरंपार । चिदानन्द सावळे ।” नामदेव : संत नामदेवांचा सार्थ चिकित्सक गाथा, सम्पा. मु.श्री.कानडे एवं रा.शं.नगरकर, पृ.149
- ²⁶“नामयाचे बोलणे नव्हे हे कवित्व, हा अद्भुत निरोपसु” ज्ञानेश्वरी
- ²⁷“संन्यासी म्हणो तरी नाहीं स्नान मुंडन । तपियां म्हणो तरी दमन न करी देहा ॥
योगी म्हणो तरी नाहीं विभूति कथा । कापडी म्हणो तरी तीर्था न वचे कांहीं ॥

- म्हणो ब्राह्मण ब्राह्मचारी न दिसे गृहचारी पाहतां निर्धारी नेम नाही ॥
 गृहस्थ म्हणो तरी नाही यज्ञाचार षट्कर्म पारुषला ॥
 दिगंबर म्हणो तरी दिव्यावरें नेसे । पिशाच्च म्हणो तरी न बळ काहीं ॥
 नष्ट म्हणो तरी चित्त परमेश्वरीं । असोनी चराचरीं अलिप्त कैसा ॥
 वैष्णव म्हणो तरी कीर्तन न करी । नाम न म्हणे घरीं दर्शन एक ॥
 ऐसा तो ब्राह्मण-तयासी नाही वर्णावर्ण । वर्ण सांग पा कवण निरुता कानीं ॥
 न कळे याचा पंथपंथविरहीत । ऐक आत्मसिद्धांत वांचूनिया ॥
 अवघाचि होय परी कळो नेदी सोय । जेवि गगनमार्ग होय पक्षीयाचा ॥
 अनुभव जाने अनुभवियाचें मर्म । जया परब्रह्म बिंबलेसें ॥
 जीवन्मुक्त पर्दी खेचर विसा । उदकीं मानु जैसा विचरत ॥”- विसोबा खेचर, जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.267 पर पूर्वोद्धृत.
28. यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.72 पर पूर्वोद्धृत.
29. श्री नामदेव गाथा, संग्राहक नाना महाराज साखरे, पृ.729.
30. “भली केली हीन याती । नाही वाढली महंती ॥1॥
 जरी ब्राह्मण सता जन्म । तरी हे अंगी लागते कर्म ॥2॥
 स्नान नाही संध्या । यति कुळ संबंध नाही ॥3॥
 सावता म्हणे हीन याती । कृपा करावी श्रीपती ॥4॥” दीक्षीत, अनील, संत सावता माळी महाराज, पृ.202 पर पूर्वोद्धृत.
31. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.269.
32. यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.100 पर पूर्वोद्धृत.
33. सरदार, गं.बा. : संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुती, पृ.9.
34. मुक्तिबोध, गजानन माधव : मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू, सम्पा.सिंह गोपेश्वर : भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, पृ.109-118.
35. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.284.
36. वही, पृ.284.
37. वही, पृ.297.
38. मुक्तिबोध, गजानन माधव : मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू, सम्पा.सिंह, गोपेश्वर : भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, पृ.109-118.
39. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.298.
40. वही, पृ.297.
41. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.305.
42. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.312.
43. “श्री ज्ञानदेवें येऊनी स्वप्रांत । सांगितली मात मजलागीं ।”
44. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.322.
45. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास : प्राचीन काळ, पृ.322.
46. कुलकर्णी, आरती : भारूड आणि नाट्यगीत : एक अनुबंध, प्राचीन अर्वाचीनसाहित्यानुबंध, पृ.94.
47. ढेरे, रा.चिं. : मुसलमान संत कवि, पृ.25.
48. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.249.
49. ढेरे, रा.चिं. : मुसलमान संत कवि, पृ.41.
50. “जे का रंजले गांजले । त्यासी म्हणे जो आपुले ॥
 तोचि साधु ओळखावा । देव तेथेचि जाणावा ॥”
51. जावडेकर, शालिनी : संत बहेणाबाईंचा गाथा, प्रस्तावना, पृ.98-139.
52. यादव, मा.के. : मराठी संत कवयित्री, पृ.119.
53. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.310-311
54. रामदास, दासबोध, 14.3, पृ.36-40.

तृतीय अध्याय

मराठी सन्त-भक्त हिन्दी कवि : समय, समाज एवं साहित्य

प्रस्तावना

यदि राजनीति एवं सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का सम्बन्ध हमेशा सुस्पष्ट और सीधा होता तो किसी भी समय के सामाजिक जीवन के रहस्यों का पता लगा लेना गणित की कोई पहेली हल करने जैसा होता। जब राजनीति अपने कर्तव्यों से पलायन करने लगती है और यही लम्बे समय तक चलता है तो राजनीति का जनता द्वारा पतन अवश्यंभावी हो जाता है, किन्तु मध्ययुगीन तानाशाही समय में लोक के बिखराव के कारण यह असंभव था। ऐसे में दूसरी तानाशाही व्यवस्था अपनी ही कु-प्रवृत्तियों के चलते जर्जर हुई सत्ता को सत्ताच्युत कर देती थी, ठीक यही स्थिति 9 वीं से 13वीं शताब्दी तक महाराष्ट्र की अधिकांश भूमि पर शासन करनेवाले यादव राजघराने की हुई।

महाराष्ट्र के राजकीय इतिहास में यादव राजाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मराठी साहित्य का 'आदिकाल' कहा जा सकता है। तथाकथित देववाणी को दरकिनार करते हुए लोकवाणी ने मौखिक परम्परा से आगे दस्तावेज़ी रचनात्मकता में प्रवेश किया। प्रदेश के इस राजकीय वैभव का आरंभ पहले राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज शुभतुंग से हुआ, जिसने 8 वीं शताब्दी में कलापूर्ण कैलाश गुफाओं का निर्माण करवाया, जिसका राजकीय चरमोत्कर्ष यादव राजा रामदेव के समय तक देखा जा सकता है। इस वैभव का अन्दाज़ा उस सम्पत्ति की सूची से लगाया जा सकता है जो सन 1294 में रामदेव को पराजित करने के बाद अल्लाउद्दीन खिलजी को मिली थी, जिससे यादवों की अमाप सधनता का पता लगता है। कई स्मारक-शिल्पों का निर्माण यादवों के समय में किया गया, कई मन्दिरों का निर्माण यादव राजाओं ने करवाया। रामदेव ने काशी में विष्णु का स्वर्णमन्दिर बनवाया, तो उसके प्रधानमंत्री हेमाडपंत ने हज़ारों वैष्णव-शैव मन्दिरों का निर्माण राज्य में करवाया। उसने 'हेमाडपंती मन्दिर' नाम से मन्दिर निर्माण की एक विशिष्ट शैली ही ईजाद कर ली थी। "इसी हेमाडपंत ने 'चतुर्वर्ण्य चिंतामणी' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें पुण्यप्राप्ति की 1300 विधियाँ बताई गई हैं।"¹ राजा कृष्णदेवराव ने कई यज्ञ करवाए थे। यादव राजघराना वैदिक संस्कृति एवं विद्या का पुरस्कर्ता अन्त तक रहा।

"रामदेवराव कोई शूर-लड़ाकू पुरुष नहीं था। सातारा के शाहूराजा की तरह सुखोपभोगी एवं मृदु आदमी था। हरिदास की कथाएँ, शास्त्रों की संभावनाएँ, महानुभावों के संवाद, हेमाद्री के व्रत-उपवास इत्यादि परमार्थिक बातों में अपना समय बर्बाद करता था और राज्य एवं सैन्य की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता था। राज्यकर्ता के लिए सर्वथा अयोग्य ऐसे दुष्परिणाम युक्त वर्तन की गलतियाँ कईयों ने की थी। किन्तु उसे दृश्य पर हावी होने के लिए सन 1294 का अल्लाउद्दीन का आक्रमण कारण बना। अल्लाउद्दीन के हमले से पूर्व कर्नाटक, कोंकण इत्यादी प्रान्तों के अधिकांश मातहत राजा बे-लगाम हो गए थे और सम्राट सत्ता नाम के लिए रह गई थी।"² इससे स्पष्ट होता है कि यादव राजाओं के पतन के लिए उनकी भोगवृत्ति और धर्म के प्रति एकांगी दृष्टि कारण बनी। किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सचमुच अल्लाउद्दीन का आक्रमण परधर्मी संकट था, जैसा कि अधिकांश इतिहासकार-साहित्यकार बताते हैं, तो जनता ने सामने आकर इस संकट का सामना क्यों नहीं किया या यादव ने ऐसी राजाज्ञा क्यों नहीं दी या गुहार क्यों नहीं लगाई? यादव सधन थे तो क्या उनका तत्कालीन समाज भी वैसा ही सुखी था? 'परधर्मी आक्रमण' पद अनैतिहासिक चिन्तन का नतीजा है। मध्यकालीन राजनीति में कोई भी आक्रमणकर्ता आक्रामक होता था, न किसी विशेष धर्म का, वहाँ राज्य की रक्षा महत्वपूर्ण होती थी,

न की आक्रमणकर्ता का धर्म देखकर राजनीति तय होती थी। यह पद यादव राजाओं, विशेषतः रामदेवराव की कमज़ोरियों को छिपाने के लिए यहाँ प्रयुक्त किया जाता रहा है। रामदेवराव एक अयोग्य, भोगलिप्सित राजा था, इसके साक्ष्य तत्कालीन साहित्य में भी मिलते हैं, भले ही उसका कोष अमाप सम्पत्ति से भरा था। अर्थात्, यह कोष किसी एक राजा ने नहीं भरा था, न अपनी मेहनत से। “महानुभावों के ‘लीळाचरित्र’ में भी उल्लेख मिलता है कि ‘महादेओ राजा राज्यधर्म जाणे : कान्हरदेवो आस्तिक : रामदेवो निपरवस’ (लीळाचरित्र, भाग 2 रा पृ.46) दिल्ली की सुलतानशाही के आगे रामदेव ने जो लाचारी व पराधीनता दिखाई उससे इस मत की पुष्टि होती है। अल्लाउद्दीन की पहली लूट का विवरण पढ़ने पर इस राजघराने के अमाप ऐश्वर्य के प्रमाण मिलते हैं। यादवों के मातहतों और अधिकारियों के जो दानपत्र प्राप्त होते हैं, उसके आधार पर उनकी सम्पन्नता में शंका नहीं रह जाती है। परन्तु पाँच-पचास मुठ्ठीभर शहरी सत्ताधारियों की सुस्थिति से सर्वसाधारण जनता के जीवनक्रम की कोई कल्पना नहीं की जा सकती है।”³ निश्चित तौर पर सामान्य जनता विशेषतः किसानों के कारण यादव घराना आर्थिक रूप से काफी समृद्ध था, किन्तु राज्यकर्ताओं के रूप में रामदेवराव निशस्त्र एवं जड़ था और अलाउद्दीन का आक्रमण उसके पतन के लिए एक कारण बना।

यह सही है कि किसी राज्यकर्ता के कोष के आधार पर जनता की खुशहाली का पता बिल्कुल भी नहीं लगाया जा सकता। यादवों के कोष के ठीक विपरित स्थिति तत्कालीन आम जन की थी। बड़े-बड़े राजनीतिक परिवर्तन हुए किन्तु आम जनता की भौतिक परिस्थिति और ग्रामसंस्था की संरचना में बहुत बड़ा अन्तर इसलिए नहीं हुआ, प्रायः प्रत्येक राजा ने फ्युडलिस्ट पद्धति की राजकीय-आर्थिक संरचना को ही प्रश्रय दे रखा था। किन्तु जब हरबंस मुखिया अधोरेखित करते हैं कि “भारत में फ्युडलिज़्म के विकास के लिए दासप्रथा या भूदासता जिम्मेदार नहीं है, या भारतीय किसान परतंत्र नहीं था और न ही वह लॉर्ड जैसे किसी परशक्ति पर आश्रित रहा है, जैसा कि पश्चिमी योरोप का किसान”⁴ तो उनकी यह बात कुछ अटपटी लगती है। किन्तु हरबंस मुखिया, आर.एस.शर्मा व बी.एन.यादव की जिन मान्यताओं के विपरित ‘योरोपीय फ्युडलिज़्म’ के तत्कालीन अंगों ‘भूदासता’ या ‘परतंत्रता’, ‘श्रीमंत क्षेत्र’, ‘विदेशी आक्रमण’ तथा ‘आत्मनिर्भर आर्थिक इकाईयाँ’, के सन्दर्भ में यह मत देते हैं। उन्हें भी जस-का-तस भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता, कम-से-कम महाराष्ट्र के सन्दर्भ में तो नहीं। “प्रोफ़ेसर शर्मा तथा प्रोफ़ेसर यादव की दृष्टि में, भारतीय फ्युडलिज़्म के इन तमाम तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व यह था कि राज्य द्वारा भूस्वामी मध्यवर्ती लोगों को दान देने के लिए अधिकाधिक अधिकार दिए जाने के फलस्वरूप इन लोगों पर किसानों की आश्रितता लगातार बढ़ती चली गई। किसानों की इस पराश्रितता का मूर्त रूप यह था कि उनकी गतिशीलता पर अधिकाधिक पाबन्दियाँ लगती गई और उन्हें बाधित श्रम के लिए ज्यादा से ज्यादा मजबूर किया जाने लगा।”⁵

इतिहासकारों की मान्यताएँ दो अतिवादी छोरों पर स्थित हैं, अयथार्थ हैं, इसलिए यहाँ अस्विकार्य हैं। चूँकि मराठी भाषी क्षेत्र में ये दोनों परिस्थितियाँ नहीं थी, बल्कि इससे भिन्न एक मिश्र प्रकार की पद्धति वहाँ स्वीकार की गई थी, जिसके अवशेष आज के भी कृषी समाज में देखे जा सकते हैं। वह पद्धति ‘सालगड़ी’ कहलाती थी। यह उपरोल्लेखित इतिहासकारों की संकल्पनाओं का मिश्रित रूप थी। यह उस प्रकार पराश्रित नहीं होता जैसे भूदास। सालगड़ी अपनी मर्जी से अपना मालिक एक साल के लिए चुना करता था, तथा बीच में परिस्थितियों के चलते उसे बदल भी सकता था। इसके बदले उसे वर्षभर का पूरे परिवार के लिए अनाज, कपड़े तथा कुछ नगद भी मिल जाया करता था। इतना ही नहीं निश्चित समय में मालिक के खेतों के काम पूरे करने के बाद, मालिक के खेती-बाड़ी के औज़ारों एवं जानवरों के सहारे अपनी खेती भी (जो नगण्य हुआ करती थी) वह जोत लिया करता था। यह बात केवल कृषी में ही नहीं अन्य प्रकार के श्रमाधारित कामों, जैसे भवन-किलों का निर्माण, घरेलू

काम करनेवाले आदि, के सन्दर्भ में भी सही थी। 'बाधित श्रम' का रूप कुछ शिथिल इस मायने में था। यह सही है कि "महाराष्ट्र का किसान अधिकांशतः स्वयं ही जमीन का मालिक हुआ करता था।"⁶

बड़े भूमि के पट्टे यहाँ के किसानों के कब्जे में प्रायः नहीं के बराबर रहे हैं और साथ ही "मुख्य रूप से उसका युद्ध निसर्ग के विरुद्ध था। जमीन की अल्प उत्पादन शक्ति उस समय के सामाजिक दुरावस्था का प्रबल कारण था। इसके अतिरिक्त वर्षा के अभाव में पुनः पुनः आनेवाले अकालों ने दुःस्थिति को और बल प्रदान किया। यह बिल्कुल नहीं कि यूरोप की तरह यहाँ किसानों का शोषण नहीं हुआ करता, किन्तु वह अप्रत्यक्ष व व्यक्ति निरपेक्ष हुआ करता था। भले ही यहाँ का किसान परम्पराओं एवं रूढ़ियों का दास था, लेकिन किसी व्यक्ति का नौकर नहीं था। राजसंस्था, वतनसंस्था, ग्रामसंस्था, जातिसंस्था, धर्मसंस्था इत्यादी संस्थाओं द्वारा उसके आय का बहुतांश भाग हथिया लिया जाता था। इन सभी संस्थाओं को ईश्वरीय अधिष्ठान प्राप्त था इसलिए उसकी गुलामी को धार्मिकता का आकर्षक रूप प्राप्त हुआ था।"⁷

इसलिए हमेशा यह सही नहीं होता है, जैसाकि हरबंस मुखिया को लगता है, "जब इतिहासकार किसान को कृषिदास या 'कृषिदासवत' कहते हैं तो मुख्यतः उसकी गतिशीलता पर लगी कानूनी पाबंदियों, भूमि के हस्तांतरण के निर्बाध अधिकार के अभाव और उसकी बाधित श्रम करने की मजबूरी के आधार पर ही ऐसा करते हैं।"⁸ भारत और विशेषतः महाराष्ट्र के सन्दर्भ में 'बाधित श्रम' की चर्चा ऊपर हो चुकी है। रही बात किसान के 'गतिशीलता पर पाबन्दी' एवं 'भूमि हस्तांतरण अधिकारों' की, तो दोनों में कोई अधिक अन्तर नहीं है। दोनों परस्पराश्रित धारणाएँ हैं। जहाँ 'भूमि हस्तांतरण अधिकार' दिए जाते हैं, वहाँ विशेष परिस्थितियों में स्वतः किसान की 'गतिशीलता पर पाबन्दी' ढीली हो जाती है। किन्तु एक बात उल्लेखनीय है कि भारत में और विशेषतः महाराष्ट्र में प्रबन्धात्मक ढंग से ऐसे कानून के निर्माण के साक्ष्य संभवतः नहीं मिलते हैं जहाँ किसानों पर, उल्लेखनीय रूप से छोटे किसानों पर उनकी भूमि हस्तांतरण को लेकर निर्बाधित किया गया हो। दूसरी बात यह है कि भूमि हस्तांतरण के लिए भूमि के बाज़ार का होना अनिवार्य होता है। इसके अतिरिक्त कई छोटे किसानों की भूमि ऋण के कारण सामंतों द्वारा हथिया ली जाती थी। इस प्रकार भूमि हस्तांतरण का अधिकार किसान को रहा या न रहा हो उनकी ज़मीन हस्तांतरित हुआ करती थी और इस प्रकार उन्हें गतिशीलता यानि एक स्थान से छोड़कर दूसरे स्थान पर किसानी करने का अधिकार प्राप्त रहा होगा।

किसान या इस प्रकार के मज़दूरों की इन परिस्थितियों के लिए फ्युडलिज़्म और सामंती व्यवस्था⁹ उत्तरदायी रही है, जो भारत में मुख्य रूप से पुरोहिती वर्ग को पोषित करती रही हैं और हमारे सामाजिक इतिहास कई कारणों में पुरोहित ब्राह्मण ही रहे हैं। दरअसल पुरोहिती व्यवस्था, फ्युडलिज़्म और सामंती व्यवस्था ने बड़े रोचक ढंग से 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इस धर्माज्ञा का कुछ निराले अर्थों में किन्तु विशुद्ध रूप से पालन किया। सामान्य जनता पर आर्थिक एवं मानसिक गुलामी बनाए रखने के लिए इन तीनों व्यवस्थाओं ने एक-दूसरे का हाथ बटाया और एक दूजे की सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखी। पुरोहिती व्यवस्था ने फ्युडलिज़्म और सामंती व्यवस्था का दैवी अधिष्ठान कायम रखने में अपने अस्तित्व को देखा, अपने हाथों में प्रत्यक्ष भौतिक सत्ता लिए बगैर। इस पुरोहिती सत्ता की तुलना यूरोप के पोपशाही से की जाती है जो कि एक मायने में गलत है। पोपशाही या चर्च ने भी पुरोहिती व्यवस्था की तरह धर्म का व्यापार आरंभ कर दिया था और उसने भी प्रत्यक्ष राजव्यवस्था को अपना गुलाम बना रखा था किन्तु उसने समाज के अधिसंख्य जनता को साक्षरता से वंचित नहीं किया, उसने सामाजिक स्तरीकरण, भेदभाव को राजकीय आधार प्राप्त कराने में अपना हाथ नहीं लगाया था। दोनों अपने स्तर पर स्वार्थी व्यवस्थाएँ थी, किन्तु 'इनलाइटमेंट' के समय में चर्च ने कई लोगों को शिक्षित करने का काम किया है। इसके ठीक विपरित पुरोहिती व्यवस्था ने धर्म को अपने कब्जे में लेकर उसे एक खास वर्ग के हाथों में केन्द्रित कर दिया था। समाज की बहुसंख्य

जनता को ज्ञानाधिकार से न केवल वंचित किया बल्कि उसे धार्मिक एवं राजकीय आधार भी प्रदान करने में अपनी भूमिका निभाई थी। पुरोहिती व्यवस्था, फ्युडलिज़्म और सामंतवाद के इसी गठबन्धन से मध्यकालीन समाज की सारी संकुचितताओं को जन्म लेते देखा जा सकता है, चाहे वह हाशियकृत समाज के सन्दर्भ में हो या स्त्री के। इसी पृष्ठभूमि में मराठी साहित्य ने अपना लिखित रूप ग्रहण करना आरंभ किया, जो आज हमारे सामने मराठी साहित्येतिहास के रूप में उपस्थित है।

3.1 मराठी सन्त-भक्त हिन्दी कवि : समय, समाज एवं जीवन संघर्ष

3.1.1 आदिकवि मुकुंदराज

कई विवादों के पश्चात यह लगभग मान्य हो चुका है कि सन 1188 ई. में मुकुंदराज द्वारा लिखित 'विवेकसिंधु' मराठी का पहला लिखित ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त ग्रंथकार के स्थान के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनका जीवन भी प्रायः अज्ञात ही है। उनकी मराठी कविता पर आगे चर्चा की जाएगी। इनकी एक हिन्दी कविता होने का उल्लेख किया जाता है, इसी कारण इनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। इनकी हिन्दी कविता के सन्दर्भ में अगले अध्याय के पाठ-परम्परा सम्बन्धी बिन्दु में सविस्तार चर्चा की जाएगी।

3.1.2 चक्रधर

चक्रधर महानुभाव सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उनका मूल नाम हरपाळ (हरपाल) था और उनका जन्म सन 1194 में गुजरात में हुआ था। उनके जन्म-जीवन के सम्बन्ध में कई कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि यादवराज सिंघण ने भड़ोच पर आक्रमण किया, तब वे 27 वर्ष के थे, जिसमें हरपाळ की मृत्यु हो गई थी तथा फलटण के किसी चांगदेव राऊळ ने उनके मृत शरीर में प्रवेश किया और वे जीवित हो गए। आगे उन्हें द्युतक्रीडा की लत लग गई और इसी कारण एक दिन पत्नी कमलादेवी ने उन्हें भला-बुरा कह दिया। इस कारण वे ऋद्धिपुर की यात्रा करने के बहाने घर से निकल गए। यहाँ उनकी भेंट गोविन्दप्रभु से हुई। उन्होंने हरपाळ को दीक्षित किया और 'चक्रधर' नाम दिया। बारह वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात वे आन्ध्र में स्थित वरंगल में पहुँचे। यहाँ उन्होंने हंसांबा नामक कन्या से विवाह किया, किन्तु कुछ ही समय बाद फिर वैराग्य धारण कर गृहत्याग कर दिया। कहा जाता है कि इसके पश्चात श्री दत्तात्रय के दर्शन हुए और उन्होंने विधिवत सन्यास दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने बैरागियों का जीवन आरंभ कर दिया, जिस दौरान कई शिष्य बनाए, जो सम्प्रदाय के आधार बने। उन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा है, किन्तु अपने शिष्यों को जो वचन कहते थे, उन्हें म्हाइंभट्ट नामक शिष्य ने जस-का-तस लिपिबद्ध कर लिया। इसे एक प्रकार से चक्रधर की जीवनी भी कहा जा सकता है। यह ग्रंथ महानुभाव सम्प्रदायियों के लिए गुरुवचन के समान है, जिसमें सम्प्रदाय का सम्पूर्ण आचारधर्म शब्दबद्ध हुआ है। चक्रधर की एक हिन्दी कविता कही जाती है, जिसका उल्लेख आगे होगा। उनकी मृत्यु सन 1272 में कही जाती है। कई मान्यताओं के अनुसार वे हिमालय की ओर चले गए थे, इस कारण यह वर्ष अधिक प्रामाणिक नहीं मानी जाती है। चक्रधर ने भले की कोई रचना नहीं लिखी हो, किन्तु कई रचनाकारों को सम्प्रदायबद्ध कर उन्होंने रचनात्मकता को प्रेरित किया और उन रचनाओं की मठीय परम्परा में सुरक्षा निश्चित की।

3.1.3 महानुभाव पंथ की रचनाकार के रूप में स्त्री जीवन : महदंबा

‘चक्रधर के पाँच सौ शिष्यों में से तेरह स्त्री अनुयायियों का उल्लेख मिलता है।’¹⁰ जिनमें में महदंबा, कमलाइसा और उमांबा इन तीन स्त्रियों से ही आज हम रचनाकार के रूप में परिचित हैं। इनमें से महदंबा को महदाइसा, रूपाई या रूपाबाई के नाम से और उमांबा को उभांबा या उमाइसा के नाम से भी जाना जाता है। जैसाकि अधिकांश सन्तों के विषय में कहा जा सकता है, इनके महानुभाव पंथ में प्रवेश से पूर्व जीवन के सन्दर्भ में अधिक जानकारी नहीं मिलती है। महानुभाव सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ ‘लीळाचरित्र’, ‘ऋद्धिपुर लीळा’, ‘स्मृतिस्थळ’ आदि ग्रंथों में जो प्रसंग उपलब्ध होते हैं, एक वे तो उत्तरजीवन से सम्बन्धित हैं और दूसरे उनका स्वरूप साम्प्रदायिक अधिक है, अर्थात् वहाँ व्यक्ति से अधिक साम्प्रदायिक मूल्यों या नियमों को प्रेषित करने की मंशा प्रमुखता से दिखाई देती है। किन्तु ऐसे में भी इन कवयित्रियों के जीवन-सन्दर्भ को जानने के लिए आज हमें इन्हीं ग्रंथों पर आश्रित रहना पड़ता है। रचनाकार पंथ की मुख्य स्त्री व्यवस्थापक एवं अम्नाय की आचार्य होने के कारण महदंबा जीवन-सन्दर्भ में अप्रस्तुत रूप से कुछेक बातों का पता चलता है और महदंबा की चचेरी बहन होने के कारण उमांबा का भी उल्लेख साथ में एक-दो स्थानों पर मिल जाता है।

“वामनाचार्य व पहली महदाइसा दम्पति की सन्तति के रूप में महेश्वर पंडित का जन्म हुआ। उसके दो पुत्र थे, माधवभट तथा वायेनायेक। रावसगाँव (वर्तमान रामसगाँव, जि.औरंगाबाद) में रहनेवाले इस वायेनायेक को कामइसा से आद्य कवयित्री महदाइसा का जन्म हुआ। महदाइसा महानुभाव पंथ के आद्याचार्य नागदेव की चचेरी बहन थी। वायेनायेक ने अपने तीन पुत्रों एवं महदाइसा व उमाइसा (भाई की पुत्री) का अल्पायु में ही विवाह कर दिया। महदाइसा व उमाइसा को अल्पसयम में ही वैधव्य का सामना करना पड़ा। रावसगाँव में रहते समय से ही रामदेव ऊर्फ दादोस वडणेकर नामक चक्रधर शिष्य इन स्त्रियों को ज्ञानदान दिया करते थे। इसी दादोस के कारण इन सबको चक्रधर के सन्दर्भ में ज्ञान होकर चक्रधर के दर्शन की अभिलाषा उत्पन्न हुई। महदाइसा को वैधव्य का उत्तरायुष्य मुख्यतः सत्पुरुषों की सेवा व तीर्थयात्राओं में व्यतीत हुआ। दादोस के अतिरिक्त उसे चक्रधर तथा उनके गुरु गोविन्दप्रभु का भी साथ मिला। ...उसे चक्रधर के प्रथम दर्शन सिन्नर, जिला नासिक में हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि, आगे चक्रधर के मृत्यु या कहीं चले जाने के पूर्व कुछ समय तक उसने उनका अनुसरण किया था। ‘आप गुजरात के प्रधान के पुत्र हैं और आपके मृत देह में द्वारावतीकार चांगदेव ने प्रवेश किया है।’ इस आत्मवृत्तपरक वृत्तान्त का बखान चक्रधर ने महदाइसा की इच्छा से ही किया था। ब्रह्मानुभूति, आत्मदान, कलिधर्म जैसे गहन प्रश्नों पर चर्चा भी चक्रधर ने उससे की थी। इसीलिए चक्रधर ने उसकी ‘म्हातारी जिज्ञासक : म्हातारी चर्चक : म्हातारी एक काही पुसतचि असे :’ कहकर स्तुति की। चक्रधर की विद्यमानता में उन्हीं की अनुज्ञा से कुछ समय वह ऋद्धिपुर (जि.अमरावती) में गोविंदप्रभु के छत्र-छाया में रही। चक्रधर के पश्चात भी उसे गोविंदप्रभु का सेवादास्य प्राप्त हुआ। ऋद्धिपुर के वास्तव्य में ही उसने सुप्रसिद्ध ‘धवळे’ की रचना की। महदाइसा व उमाइसा की जीवन घटनाओं की समानता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वास्तव में यह दो स्त्रियाँ नहीं, अपितु एक स्त्री थी। इन्हें भिन्न मानने के कारण ही महदंबा द्वारा रचित एकमात्र हिन्दी पद कहीं महदंबा के नाम पर तो कहीं उमाइसा के नाम पर भूल से दिया गया है। वैसे भी उमाइसा के बारे में जो भी जानकारी महानुभावीय ग्रंथों में प्राप्त नहीं होती है।

चक्रधर व गोविन्दप्रभु के पश्चात उसका अधिकांश समय नागदेवाचार्य के साथ व्यतीत हुआ। इस भाई-बहन में अत्यन्त लगाव था। “महदाइसा के पति के नाम एवं गाँव के सन्दर्भ में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। लगभग 70 वर्ष की आयु तक वह जीवित थी। अंततः बीमारी के कारण उसकी गवगाँव में मृत्यु हो गयी। महदाइसा का समय साधारणतः इ.स. 1242 से 1312 माना जाता है।”¹¹ श्रीराम शर्मा के अनुसार – “महानुभाव पंथ से सम्बन्धित कवयित्री महदायिसा की मृत्यु 1203 (शक)

(1308 ई.) से पहले हुई।¹² आधिकारिक रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि महदंबा या महदायिसा तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में वर्तमान थी।

इसके अतिरिक्त जो भी उसके जीवन के सन्दर्भ में ज्ञात है, उसमें जीवन कथाओं को गढ़कर कहीं-न-कहीं महानुभावीय पंथ के मूल्यों को प्रेषित करने का प्रयास दिखाई देता है। जिसमें पंथ में व्यक्ति का, विशेषतः स्त्री का आचरण कैसा होना चाहिए? पंथ के नियमों का व्यावहारिक जीवन में क्या मूल्य है और उनको किस प्रकार व्यवहार में लाया जाना चाहिए अथवा लाया जा सकता है? आदि बातों का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ, “महानुभाव लोग ‘पंचकृष्ण’ के अतिरिक्त अन्य देव-देवता को मोक्षदायक नहीं मानते। एक बार अपने भाई ‘आपलो’ के यहाँ महदइसा गई थी, किन्तु उसके यहाँ रखे देवी-देवता देखकर वह तुरन्त वापस आ गई। आगे आपलो ने वह सारी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ नदी में डुबो दी।”¹³

किंवदन्तियाँ प्रायः प्रत्येक युग में पंथ की हस्तियों के सन्दर्भ में चलाई गई। इनका उद्देश्य उनके जीवन के सन्दर्भ में विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध करवाना भले ही न रहा हो, किन्तु वह उनके व्यक्तित्व के बारे में कोई-न-कोई बात आवश्य उपलब्ध करा देती हैं। इस प्रकार के कई प्रसंग महदइसा के बारे में भी प्रचलित किए गए हैं। महदइसा का चक्रधर को काशी यात्रा से पूर्व श्वेत पदार्थों का भोज कराना, ऋद्धिपुर में उसका रंगोली बनाकर मठों को सजाना उसके पाककला निपुण होना तथा उसने संभवतः काशी यात्रा किए जाने की ओर की संकेत किया है। किन्तु महानुभावों के काशी यात्रा करने को अप्रमाणिक माना जाता है। क्योंकि जो स्त्री पंचकृष्ण के अतिरिक्त देवी-देवता देखकर अपने भाई के घर से तुरन्त लौट जाती है, उसका काशी यात्रा करना असंभव या पंथविरोधी लग सकता है। अतः काशीयात्रा की बात, महानुभाव पंथ में यात्रा के सन्दर्भ में ‘काशी’ जोड़कर बाद के समय में प्रचलित कर दी गई होगी। चक्रधर ने महदंबा के सन्दर्भ में जो कुछ कहा है,¹⁴ उससे उसकी तीक्ष्ण बुद्धिमता, वाद-विवाद-संवाद प्रियता, प्रश्नाकुलता एवं जिज्ञासू वृत्ति का परिचय मिलता है।

इन सामाजिक परिस्थितियों में महदंबा और उमांबा ने वैधव्य के पश्चात् भी सती न जाते हुए महानुभाव पंथ में प्रवेश किया तथा अपने पूर्वजीवन में अर्जित अल्पज्ञान को तत्कालीन ज्ञान पद्धतियों के अनुसार उसमें श्रीवृद्धि की। निःसंदेह उनके पारिवारिक साहस के साथ इसमें महानुभाव पंथ का स्त्रियों के प्रति उदार दृष्टि दृष्टिगोचर होती है। ध्यान रहे कि यह दोनों स्त्रियाँ ब्राह्मण वर्ण से थी। इससे स्पष्ट होता है कि इन्हें पुनर्विवाह की अनुमति मिली नहीं होगी, किन्तु उन्हें सतीत्व के लिए बाध्य संभवतः नहीं किया गया। अपितु इसके विपरीत ज्ञानार्जन के लिए मुक्त कर दिया गया, चाहे वह ज्ञान पंथीय ही हो। ऐसी कई विधवा स्त्रियों के उल्लेख महानुभाव पंथ की पोथियों में मिलते हैं, जिनमें नागदेवाचार्य की नाती नागांबा, ‘सह्याद्रीवर्णन’ ग्रंथ के रचनाकार की गुरु हिरांबा और उसकी गुरु कमळांबा के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें ‘बा’ आदरवाची एवं वर्तमान मराठी के ‘बाई’ का पूर्वरूप जान पड़ता है। इनकी किसी भी रचना का उल्लेख नहीं मिलता है।

3.1.4 दामोदर पण्डित

महानुभाव पंथ में प्रवेश से पूर्व के इनके जीवन के सन्दर्भ में कोई आधिकारिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। चूँकि दामोदर किसी अग्राय के आचार्य नहीं थे, इसलिए इनके जीवन सन्दर्भ में अधिक कथाएँ या कोई रचना भी प्राप्त नहीं होती है, जिससे पण्डित के जीवन के सन्दर्भ में जानना और अधिक दूभर हो जाता है। दामोदर महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रंथकर्ता माने जाते हैं। उनकी रचना ‘वद्धाहरण’ पंथ के प्रमुख ग्रंथों ‘साती ग्रंथ’ में सम्मिलित है, जिसकी रचना दामोदर ने सन 1316 ई. में की थी।

आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार, “शक 1209 (सन 1287) में नादवेचार्य रिद्धपुर से लौटकर गोदावरी तट स्थित निंवा नामक स्थान में रहने लगे। संभवतः वहीं इनकी दामोदर पण्डित से भेंट हुई। कहा जाता है कि शक 1194 (सन 1272 ई.) में इन्होंने सपत्नीक महानुभाव मार्ग में दीक्षा ली।”¹⁵ किन्तु पति-पत्नी दोनों ने एक साथ पंथ में प्रवेश किया था, दीक्षा दामोदर ने बाद में ली। दामोदर पंडित के सन्दर्भ में यह भी प्रसिद्ध है कि वे पहले नाथपंथी थे और पीछे महानुभाव पंथ में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। यह निष्कर्ष उनकी हिन्दी कविताओं में आए उनके स्वर को देखकर निकाला गया है। पंडित ने अपनी कविताओं में नाथ पंथ के आचार-विचार का विरोध किया है। वे तत्कालीन पद्धतियों के अनुसार अपना अध्ययन पूर्ण कर संसार में व्यस्त व्यक्ति थे।

शं.गो. तुळपुळे के अनुसार-“महानुभाव पंथ में दामोदर पंडित एक अधिकारी व्यक्ति हुआ। वे और उनकी पत्नी हिराइसा या हिरांबा दोनों ने नागदेवाचार्य से ‘श्रवण’ अर्थात् उपदेश लिया था, किन्तु सर्वसंगपरित्याग कर पंथ की दीक्षा लेने का प्रथम निश्चय हिराइसा ने किया और अपने पति को भी इसकी सूचना दी। दामोदर पंडित ने उसे व्यावहारिक उत्तर दिया, उसने कहा ‘तुम आगे चलो, मैं पुत्र का विवाह कर पीछे आया’ (तू पुढे हो, मी मुलाचे लग्न करून मागाहून येतो)। पुत्र का विवाह होने के पश्चात् भी पंडित को संसार में ही डूबा पाकर उसने नागदेवाचार्य के मठ से ही संदेसा भेजा- ‘जिस चूल्हे पर बनी खीर खाई है, अब क्या उसकी राख खाओगे?’ (जिये चुलीची खीर खादली तिये चुलीची काइ राख खाल?)। यह संदेसा सुन पंडित को बात समझ गई कि ‘अब वह गुस्सा हो गई’ और उन्होंने सीधे नागदेवाचार्य से पास जाकर सन्यास दीक्षा ले ली (स्मृ.58)। आगे का सारा जीवन उन्होंने ईश्वर भक्ति में बिताया।”¹⁶ यशवंत खुशाल देशपांडे ने भी दामोदर के अपने पत्नी के पश्चात् पंथ में दीक्षा लेने की बात को स्वीकार किया है। उनके अनुसार, “पंडित दामोदर व्यास की पत्नी हिराउसा के शके 1194 (सन 1272 ई.) में नागदेवाचार्य से सन्यास दीक्षा लेने के पश्चात् पंडित ने भी शक 1196 (सन 1274 ई.) में सन्यास दीक्षा व उपदेश नागदेवचार्य से ग्रहण की।”¹⁷ इतिहासकार्य वि.ल.भावे¹⁸ ने भी इस बात को माना है।

महानुभाव सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ ‘स्मृतिस्थल’ में आयी इस कथा पर विश्वास रखकर कहा जा सकता है कि, हमारे सामाजिक इतिहास का एक चरण ऐसा भी था जहाँ समाज में स्त्रियों को भी अपने पति को संसार में एकेला छोड़कर संसारिक बंधनों से मुक्त होने की छूट थी। भले ही यह आज्ञादी उसे धार्मिक अथवा पंथीय बन्धनों में ले जाकर छोड़ती हो। दामोदर पंडित एक विद्वान रचनाकार थे। जिनका संस्कृत एवं मराठी भाषाओं पर पूर्ण प्रभुत्व था। “नागदेवाचार्य के सान्निध्य में रहकर उन्होंने पंथीय तत्वज्ञान के सिद्धान्तों का इतना संपूर्ण एवं सर्वांगिन अध्ययन किया था कि, प्रत्यक्ष आचार्य के मुख से ‘मेरा शास्त्र... पंडित-केसोबा से चर्चा करते हुए निखरता है’ (‘माझें शास्त्र....पंडितां केसोदेयांसि चर्चा करितां उजळे’ – स्मृ.68) जैसे संतोषपूर्ण वचन निकले हैं। इसी कारण नागदेवाचार्य ने केसोबा की तरह पंडित को भी अपनी ‘आँखें’ कहा था।”¹⁹

3.1.5 त्रिलोचन

त्रिलोचन के सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार इनका जन्म महाराष्ट्र में हुआ था, तो दूसरा मत इन्हें उत्तर प्रदेश का मानता है। महाराष्ट्र में इनके जन्मस्थान के रूप में दो स्थानों का नाम दिया जाता है। पहले के अनुसार पंढरपुर के निकट जन्म होने का तो दूसरे मत के अनुसार इनका जन्म वर्तमान सोलापुर जिले के बारसी (बार्शी) कस्बे में हुआ था। ये अपने समय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सन्त-भक्त रचनाकार थे, इसी कारण सन्त रैदास ने इनका नाम नामदेव, कबीर आदि सन्तों के साथ आदरपूर्वक लेते हुए लिखा है - ‘नामदेव कबीर तिलोचन सधना सैनु तरै’। मराठी साहित्येतिहासों में प्रायः इनका नाम नहीं के बराबर आता है। इनकी किसी मराठी रचना का भी

उल्लेख नहीं मिलता है। बलदेव वंशी²⁰ ने भी इन्हें ‘उत्तर भारत की सन्त परम्परा’ के अन्तर्गत ‘श्री गुरु ग्रंथ साहिब में समायोजित सन्तों’ के अन्तर्गत ही रखा है, किन्तु आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इन्हें हिन्दी में लिखनेवाले मराठी सन्त-भक्त कवियों के अन्तर्गत विवेचित किया है। बलदेव वंशी ने उनके तीनों जन्मस्थानों की चर्चा की और कोई भी निष्कर्ष प्रस्तुत न करते हुए, विवाद बिन्दु को वैसा ही छोड़ दिया है। उन्होंने त्रिलोचन के जन्म वर्ष सम्बन्धी भी दो मतों को प्रस्तुत करते हुए लिखा है, “मैकालिफ के अनुसार सन 1267 में इनका जन्म स्वीकार किया जाता है, जबकि अन्य विद्वान सन 1268 ई. मानते हैं।”²¹

डॉ. महीप सिंह ने भी मैकालिफ की तिथि एवं महाराष्ट्र में जन्म को मान्यता प्रदान करते हुए लिखा है, “इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ माना जाता है। कुछ लोग इनका जन्म वैश्य परिवार में हुआ मानते हैं। इतना निश्चित है कि वे सन्त नामदेव के समकालीन थे।”²² डॉ. सिंह ने आगे भाई गुरुदास द्वारा उल्लेखित उस प्रसंग का जिक्र किया, जिसमें नामदेव एवं त्रिलोचन के आपसी सम्बन्ध एवं संवाद की चर्चा है।²³ अर्थात् ये नामदेव, रैदास, कबीर के उत्तर भारतीय साथी रहे होंगे। कबीर ने भी आदिग्रंथ में संग्रहित अपनी एक कविता में इनका उल्लेख किया है।

3.1.6 ‘ज्ञानदेवे रचियला पाया’ : ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई

वारकरी सम्प्रदाय के साहित्य का आरंभ निवृत्ति-ज्ञानदेव के साहित्य से माना जाता है, क्योंकि इनसे पूर्व का लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। जैसाकि पीछले अध्याय में स्पष्ट किया गया इन्हीं बन्धुद्वय ने नाथ सम्प्रदाय में भक्ति का योग कर विठ्ठल भक्ति पंथ को वारकरी पंथ या सम्प्रदाय के रूप में विकसित किया। ज्ञानेश्वर अपने तीन भाइयों में सबसे छोटे सोपानदेव से बड़े थे और उनसे भी आयु में सबसे छोटी उनकी बहन मुक्ताबाई थी। ज्ञानेश्वर का जन्म सन 1275 ई. में और मुक्ताबाई का जन्म सन 1279 ई. में हुआ। उनके समय धर्म किस कट्टरवादी ताकतों के हाथों फँसकर रह गया था, यह उनकी जीवन घटनाओं से ही पता चल जाता है। उनके पिता विठ्ठलपंत ने पत्नी रुक्मिणी की अनुमति से विवाह के कुछ ही समय बाद सन्यास ग्रहण किया। जब गुरु श्रीपादयत को इस बात का पता चला कि उनका शिष्य विवाहित है, तो उन्होंने उसे फिर से गृहस्थाश्रम में वापस जाने का आदेश दिया। इसके बाद निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ताबाई का जन्म हुआ। इसके बाद तत्कालीन धर्म-पुरोहितों ने सन्यासी के बच्चे कहकर इन बच्चों का कोई भी संस्कार करने से मनाही कर दी। इसके लिए बाद में शर्त रखी गई कि यदि माता-पिता जलमाधि ग्रहण करते हैं, तो उनके आपत्त्यों को समाजस्वीकृति मिल सकती है। विठ्ठलपंत एवं रुक्माई ने वैसा ही किया, किन्तु बात नहीं बनी और इन बच्चों को अपनी खेलने-कूदने की आयु में दर-दर की ठोंकरे खानी पड़ी। संभवतः इसी दौरान वे नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव में आकर उनसे दीक्षित हुए और अध्ययनरत भी हुए। 15 वर्ष की आयु में ज्ञानेश्वर ने ‘ज्ञानेश्वरी’ की रचना कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। निवृत्ति ने योग और भक्ति का मेल कर इतिहास में असाधारण कार्य कर दिखाया। इतना होकर भी इन्हें समाज मान्यता नहीं मिल पायी। सन 1296 में ज्ञानेश्वर ने समाधि ली और 1297 में बहेणाबाई ने। इतना ही नहीं उनके दोनों बन्धुओं निवृत्तिनाथ एवं सोपानदेव ने भी इसी वर्ष समाधि ग्रहण की। इक्कीस वर्ष की अल्पायु में ही ज्ञानेश्वर एवं उससे भी कम आयु में बहेणाबाई ने जो साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्य कर दिखाया, वह न केवल अविस्मरणीय है, अपितु लाखों लोगों को वर्तमान समय तक प्रभावित कर रहा है।

3.1.7 ‘नामा तयाचा किंकर’ - नामदेव का जीवन एवं समय

नामदेव एक वारकरी थे। सन्त-भक्त थे, आचार्य अथवा मठाधीश नहीं थे। ‘सन्तमेळा’ में रहकर उन्होंने भक्ति के सामाजिक पक्ष को सीखा-सिखाया। वे जीवनानुभवों से सीखनेवाले कबीर के साथी थे। उन्होंने निवृत्ति को अपनी समझ से ग्रहण किया और उसे विकसित किया। भक्ति से सम्बन्धित

शब्दावली को पुनर्परिभाषित किया। वैष्णव धर्म की जड़ों को निवृत्तिनाथ-ज्ञानेश्वर आदि की सहायता से धक्का देते हुए उसे वारकरी सम्प्रदाय के रूप में अधिक लोकतांत्रिक रूप में विकसित किया। भक्ति आन्दोलन के जीवनवादी मूल्यों एवं चिन्तन को कबीर, रैदास, नानक आदि कवियों तक सम्प्रेषित किया। उनका एक साथ सगुण-निर्गुण होना, किन्तु किसी को अस्वीकार न करना, उनके लोकचेतना का प्रमाण है, न कि गुरु के प्रभाव में आकर अपनी भक्ति पद्धति को बदल देना है, जैसा कि आचार्य शुक्ल²⁴ को लगा था। नामदेव मात्र एक कवि नहीं थे, अपितु लोक संगितज्ञ, लोक-गायक और एक सम्पूर्ण कलाकार (Performer) थे।

नामदेव का जन्म सन 1270 में वारकरियों का भक्ति केन्द्र पंढरपुर में हुआ। बाल मन पर मध्यकालीन एवं पारिवारिक भक्तिमय वातावरण का प्रभाव पड़कर वे ईश्वर प्रेम में उन्मुख हुए। भक्ति और उसके सामाजिक सन्दर्भों की समझ 'संतमेळा' तथा गुरु से जुड़कर मिले चिन्तन परम्परास्वरूप विकसित हुई। पूर्व प्राप्त अधूरी समझ के कारण ही वे निवृत्ति को ही भक्ति का एकमात्र मार्ग मान बैठे थे और उनका मन पारिवारिक एवं सांसारिक जीवन-कार्यों में नहीं लगता था। माता तथा पत्नी के कई प्रयासों के बावजूद वे विरक्त जीवन की ओर ही आकर्षित हो रहे थे। इसके अतिरिक्त बचपन में नामदेव द्वारा श्रीविठ्ठल की मूर्ति का दुग्ध प्राशन करना एक बड़ी घटना थी। इस कारण वे स्वयं को श्रेष्ठ भक्त मानकर उनमें स्वयं के भक्ति के प्रति अहंभाव ने स्थान बना लिया था, इसी घटना के चलते उन्होंने पारिवारिक तथा सांसारिक जीवन में निरसता दिखाना आरंभ कर दिया। आश्चर्य यह है कि प्रायः दास्य भक्ति को श्रेयस्कर-श्रेष्ठ भक्ति माननेवाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नामदेव की इस भक्ति को स्वाभाविक भक्ति मानते हैं और जहाँ बाद के समय में अहं का त्याग करने के बावजूद केवल निर्गुण भक्ति को अधिक महत्व देने के कारण उन्होंने उनकी भक्ति के सन्दर्भ में कहा, "नामदेव सीधे साधे सगुण भक्ति मार्ग पर चले जा रहे थे, पर पीछे उस नाथपंथ के प्रभाव के भीतर भी लाए गए, जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था। लानेवाले थे ज्ञानदेव।"²⁵

नामदेव को नाथपंथ में लाने के प्रयासों वाली स्थापना को सिद्ध करने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नामदेव के जीवन को 'पद्मावत' की कथा की भाँति आधे इतिहास और अधूरी फंतासी के रंग में रँगकर प्रस्तुत किया। उन्होंने पहली घटना के रूप में लिखा, "एक बार ज्ञानदेव इन्हें साथ लेकर तीर्थयात्रा को निकले। मार्ग में ये अपने प्रिय विठोबा (भगवान) के वियोग में व्याकुल रहा करते थे। ज्ञानदेव इन्हें बराबर समझाते जाते थे कि भगवान क्या एक ही जगह है, वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की अनुभूति तुम्हें न होगी, तब तक तुम पक्के न होंगे। ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के कहने पर एक दिन 'संतपरीक्षा' हुई। जिस गाँव में यह मंडली उतरी थी, उसमें एक कुम्हार रहता था। मंडली के सब सन्त चुपचाप बैठ गए। कुम्हार घड़ा पीटने का पिटना लेकर सब के सिर पर जमाने लगा। चोट पर चोट खाकर भी कोई विचलित न हुआ। पर जब नामदेव की ओर बढ़ा तब वे बिगड़ खड़े हुए। इस पर वह कुम्हार बोला 'नामदेव को छोड़ और सब घड़े पक्के हैं।' बेचारे नामदेव कच्चे घड़े ठहराए गए। इस कथा से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि नामदेव को नाथपंथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिए ज्ञानदेव की ओर से तरह-तरह के प्रयत्न हो रहे थे।"²⁶

इस सन्दर्भ में सबसे पहली बात तो यह है कि ज्ञानदेव और नामदेव के साथ में तीर्थयात्रा करने की बात इतिहास सम्मत नहीं है। इस दिशा में विचार करते समय पहले यह कल्पना की गई थी कि इन दो सन्त-भक्तों ने साथ में उत्तर-दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा की थी, किन्तु बाद के शोधों से पता चला कि ऐसी कोई यात्रा इन दो सन्त-भक्तों ने साथ में नहीं की। इस सन्दर्भ में आरंभ में चार मत प्रचलित थे - 1) "ज्ञानदेव-नामदेव की तीर्थयात्रा एक कल्पित कथा हो सकती है (यह मत एखाद विद्वान ने प्रस्तुत किया) 2) नामदेव अकेले ही तीर्थयात्रा को गए थे। 3) ज्ञानदेव एवं नामदेव दोनों ने

मिलकर तीर्थयात्रा की थी। 4) इन दो सन्तों की तीर्थयात्रा में अनेक समकालीन सन्त शामिल हो गए थे।²⁷ कई विद्वानों ने इस प्रश्न पर शोध पूर्वक विचार-चिन्तन किया है, जिनमें से एक डॉ.मु.श्री.कानडे भी हैं। श्रीमान कानडे ने इन चारों संभावित बिन्दुओं पर शोधपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने इस प्रश्न को इस अर्थ में भी लिया कि “क्षणभर के लिए यह भी मान लिया जाए कि ज्ञानदेव-नामदेव ने यह तीर्थयात्रा की थी फिर भी यह प्रश्न शेष रह जाते हैं कि यह यात्रा उन्होंने कब की थी और उसका उद्देश्य क्या था? बहुसंख्य प्राचीन एवं आर्वाचीन संतचरित्रकारों के मतानुसार ‘ज्ञानेश्वरी’ के लेखन के पश्चात (अर्थात् शके 1212 के बाद) यह तीर्थयात्रा होती दिखाई देती है।”²⁸

श्रीमान कानडे के अनुसार इस तीर्थयात्रा के उद्देश्यों के सन्दर्भ में कई विद्वानों ने कई मतों को प्रस्तुत किया है। यदि तीर्थयात्रा का यह प्रसंग घटित हुआ था, तो उसके उद्देश्य संबंधी पहला मत दिया गया कि “नामदेव जैसे श्रेष्ठ भक्तराज के साथ का सुख लेने की ईच्छा ज्ञानदेव के मन में निर्माण होने के कारण उन्होंने आगे आकर तीर्थयात्रा की योजना बनाई।”²⁹ दूसरे उद्देश्य के रूप में उन्होंने प्रा.र.न.फाटक के दो मत उद्धृत किये हैं, जो यह मानकर चलते हैं इन दो सन्त-भक्त कवियों ने तीर्थयात्रा की थी। उनके अनुसार - “एक यह चमत्कार भी दर्ज किया गया कि तीर्थयात्रा के समय इन दोनों को प्यास लगी, इस समय ज्ञानदेव ने योगबल का तो नामदेव ने भक्ति बल का उपयोग करते हुए जल का प्रवाह अपनी तरफ मोड़ लिया। प्रा.फाटक के मतानुसार योगमार्ग कठीण एवं कदाचित ही किसी के काम आनेवाला...तो भक्ति मार्ग लबालब भरे हुए कुँए की तरह सर्वसुलभ होता है। वह हर किसी के लिए उपयोगी है, अपितु बाल-वृद्ध मनुष्यों को ही क्या वह पशु-पक्षियों के लिए भी उपयोगी है, यही संकेत इस चमत्कार में निहित है।”³⁰ प्रा.फाटक ने लिखा है, “उत्तर की ओर की तीर्थयात्रा से इस्लामी परचक्रा के आतंक की प्रत्यक्ष जानकारी नामदेव को करवायी गई। इस आतंक से महाराष्ट्रीय जनता के स्वधर्माभिमान की ज्ञानेश्वर की शिक्षाओं के आधार पर नामदेव ने आगे के समय में रक्षा की। इस तीर्थयात्रा से नामदेव के कृतित्व में एक नई दिशा मिली।”³¹

ज्ञानदेव-नामदेव तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में दिए गए ऊपर्युक्त सभी उद्देश्यों-तर्कों को नकारते हुए श्री कानडे ने अपना मत व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा - “प्रा.र.न. फाटक के अतिशय विश्वास के साथ प्रस्तुत किए गए इस सिद्धान्त को नामदेव के वाङ्मय में एक पंक्ति का भी आधार प्राप्त नहीं होता है।”³² इतना ही नहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस यात्रा में ‘संतपरीक्षा’ के प्रसंग की कहानी निर्मित की है, उसकी इतिहास मान्यता और इस यात्रा में नामदेव की विचारधारा एवं भक्ति पद्धति में नहीं अपितु ज्ञानेश्वर की भक्ति पद्धति में नामदेव के प्रभाव से परिवर्द्धन हुए थे, इस पूर्णतः विपरीत तथ्य के आधार पर आचार्य शुक्ल का मत अपने-आप धाराशायी होता दिखाई देता है। “डॉ.वि.भि.कोलते ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से इस तीर्थयात्रा प्रसंग का भिन्नार्थ निकाला है। उनके अनुसार ‘जब ज्ञानदेव नामदेव की भेंट के लिए आए तब उनका मत था, ‘जीवनमुक्त झाली जरी जाले पावन। तरि देवता तीर्थभजन न संदिती’, किन्तु तीर्थाटन के दौरान नामदेव के साथ हुए विचार विनियम और अनुभवों के बाद उन्होंने मान्य किया कि ‘तीर्थयात्रे जाणे। काही न लागे करणे।’ ज्ञानदेव के विचारों में बदलाव लाने का कार्य नामदेव ने किया।”³³ यदि मान लिया जाए कि यह तीर्थयात्रा उभय सन्त-भक्तों ने अपने जीवन में कभी की थी तो ज्ञानेश्वर की विचारधारा से नामदेव नहीं अपितु नामदेव की विचारधारा एवं भक्ति पद्धति से ज्ञानेश्वर उदारमना बनकर सहमत होते हुए दिखाई देते हैं, अर्थात् इस प्रसंग को लेकर आचार्य शुक्ल के मत के ठीक विपरीत मत हमें मराठी आलोचना में दृष्टिगोचर होते हैं।

रही बात उभय सन्त-भक्तों द्वारा एक साथ तीर्थयात्रा किए जाने की, तो इसे डॉ.मु.श्री.कानडे ने साधार सिद्ध किया है कि न इन सन्त-भक्तों ने साथ में कोई तीर्थयात्रा की थी और न इनके साहित्य में ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जिन ‘तीर्थावळी के अभंगों’ में नामदेव ने अपनी तीर्थयात्रा का वर्णन किया है, उनमें वे अपने अकेले के ही तीर्थस्थानों पर जाने का उल्लेख करते हैं। क्या यह संभव है कि

ज्ञानेश्वर उनके साथ हो और वे उनका उल्लेख भी अपनी कविता में न करते? इसके अतिरिक्त उभय सन्त-भक्तों के समकालीन सन्तों में केवल परिसा भागवत ने केवल एक स्थान पर, जनाबाई ने अपने 350 अभंगों में से चार अभंगों में और नामदेव के पुत्र विठा ने एक पंक्ति में तीर्थयात्रा का उल्लेख किया है। इन कविताओं में तीर्थयात्रा करनेवाले नामदेव का ही उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, नामदेव के परिवार के सन्त-भक्त कवियों ने उनके जीवन के कई चमत्कारिक घटनाओं के उल्लेख किये हैं, किन्तु ज्ञानेश्वर के साथ की गई इस कल्पित तीर्थयात्रा का कोई उल्लेख नहीं किया है। श्रीमान कानडे ने ज्ञानेश्वर एवं नामदेव के साहित्य में से ऐसी कई पंक्तियाँ ढूँढ़ निकाली हैं, जिनमें उन्होंने अपने देह, आत्मा या अधिक-से-अधिक पंढरपुर को ही एकमात्र तीर्थ मानते हुए अन्य तीर्थयात्राओं एवं तीर्थों को अनावश्यक घोषित किया है। उनके अनुसार “नामदेव की दृष्टि में पंढरपुर ही एकमात्र महाक्षेत्र है। पंढरपुर का महिमा तो वे गाते ही हैं, पंढरपुर की तुलना में अन्य क्षेत्रों को भी वे गौण स्थान देते हुए दिखाई देते हैं। इससे भी बढ़कर नामदेव के विचार में एक विलक्षण विचार यह है कि तीर्थयात्रा से बढ़कर उन्होंने नामा भक्ति एवं आन्तरिक शुद्धता को सर्वोच्च स्थान दिया है।”³⁴

ज्ञानेश्वर की कविताओं को उद्धृत करते हुए इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा - “तीर्थयात्रा करने की बजाए नामस्मरण और अंतकरण में भक्ति भाव का श्रेष्ठत्व ज्ञानदेव ने अपने अभंगों में प्रतिपादित किया है।”³⁵ इस चर्चा के सार को प्रस्तुत करते हुए श्रीमान कानडे के शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है कि “तीर्थावळी” प्रकरण की अविश्वसनीयता, स्वयं के तथा समकालीन अन्य सन्तों के साहित्य में तीर्थयात्रा का नाममात्र उल्लेख और तीर्थयात्रा करने संबंधी नामदेव-ज्ञानदेव की प्रतिकूल दृष्टि आदि का निराग्रही भूमिका से विचार किया जाए तो ज्ञानदेव-नामदेव की तीर्थयात्रा एक उत्तरकालीन कल्पित कथा लगती है।”³⁶ इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किसी तीर्थयात्रा के दौरान की गई ‘संतपरीक्षा’ की कथा कल्पित लगती है। यह सही है कि ऐसी ‘संतपरीक्षा’ हुई थी, किन्तु किसी यात्रा के दौरान नहीं, अपितु ज्ञानदेव आदि के ही बसेरे में। जिस कुम्हार का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया है, वह गोरोबा कुम्हार थे, आयु में सबसे श्रेष्ठ होने के कारण जिन्हें सभी ‘काका’ संबोधित करते थे। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विसोबा खेचर को गुरु के रूप में स्वीकार करने की सलाह ज्ञानेश्वर ने नहीं अपितु निवृत्तिनाथ ने दी थी। कई स्थानों पर उनकी बहन का भी नाम मिलता है।

तीर्थयात्रा को लेकर जो विवाद हैं, उसमें कहीं भी तीर्थयात्रा के दौरान ‘संतपरीक्षा’ का उल्लेख नहीं मिलता है। आचार्य शुक्ल ने अपनी कल्पना की समाहार शक्ति के माध्यम से दो भिन्न प्रसंगों को आपस में मिला दिया है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार उन्होंने नामदेव के निर्गुण होने में गुरु की भूमिका और नामदेव को सप्रयास गुरु के पास भेजने के प्रसंग को मिला दिया है। उन्होंने लिखा - “नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुए थे, अपने हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव बराबर उन्हें ‘बिनु गुरु होइ न ज्ञान’ समझाते आते थे। संतों के बीच निर्गुण ब्रह्म के संबंध में जो कुछ कहा सुना जाता है और ईश्वर प्राप्ति की जो साधना बताई जाती है, वह किसी गुरु की सिखाई हुई होती है। परमात्मा के शुद्ध निर्गुणस्वरूप के ज्ञान के लिए ज्ञानदेव का आग्रह बराबर बढ़ता गया। गुरु के अभाव के कारण किस प्रकार नामदेव में परमात्मा की सर्वव्यापकता का उदार भाव नहीं जम पाया था और भेदभाव बना था, इस पर भी एक कथा चली आती है। कहते हैं कि एक दिन स्वयं विठोबा (भगवान) एक मुसलमान फकीर का रूप धरकर नामदेव के सामने आए। नामदेव ने उन्हें नहीं पहचाना। तब उनसे कहा गया कि वे तो परब्रह्म भगवान ही थे। अंत में बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर विसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपंथी कनफटे से दीक्षा ली।”³⁷

सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल ने जिस कथा का उल्लेख किया है, उसका उल्लेख किसी भी प्राचीन ग्रंथ में नहीं मिलता है। वास्तव में यह कथा एकनाथ के साथ घटित

हुई थी, जहाँ उन्हें श्रीदत्त मलंग या सूफी फकीर के वेश में मिले थे और वे उन्हें नहीं पहचान पाए थे। जिस नामदेव को संतमंडली ने कच्चा घड़ा सिद्ध किया वह नामदेव 'बेचारे' न होकर स्वयं को भक्त श्रेष्ठ समझनेवाले अहंकारी नामदेव थे। इस घटना से वे भी आहत हुए थे, क्योंकि उनके अहंकार को चोट पहुँची थी। सन्तों के जीवन की घटनाओं को देखते-परखते हुए हमें भक्त बनने से बचना होगा। यही भक्त बुद्धि हमें आरंभ में नामदेव के अहंकारी होने की घटना को मानने से रोकती है। उन्होंने अपने मर्यादावादी अहंकार के कारण आहत हुए दुःख को अपने अराध्य श्रीविठ्ठल को अपनी कविताओं के माध्यम से कह सुनाया। पंढरपुर आकर अपनी आहत वेदनाओं को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा - 'ज्ञानदेवे मज पाठविलें कोरें। जुनाट म्हातारा जाळों आला। मुक्ताकबाईने तेथें माजविली कळी। ही संतमंडळी कपटी तुझी। नामा म्हणे देवा आणिली पूर्वदैवें। गेलों असतो जीवें सकळाची ॥' निवृत्तिनाथ आदि द्वारा सुझाए जाने पर वे औंढा नागनाथ की ओर गुरु विसोबा खेचर की खोज में निकल पड़े। यहाँ घटित चमत्कार का वर्णन जिसका उल्लेख 'भक्तमाल' एवं स्वयं नामदेव की हिन्दी कविताओं में भी मिलता है। आचार्य शुक्ल ने नामदेव के जीवन की कुछ चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में किया है, किन्तु इस परिवर्तनवादी घटना का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

नामदेव के व्यक्तित्व पर गुरु का प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना अपने ही जीवनानुभवों, दार्शनिक मान्यताओं के प्रति स्वानुभूतियों, समय-समाज का निरीक्षण एवं ज्ञानेश्वर मंडल के सन्तों आदि का हुआ। वे अपनी हिन्दी-मराठी कविताओं में विसोबा खेचर को गुरु आवश्यक मानते हैं, किन्तु वे उनकी भाँति शैव विचारधारा तक अपने-आप को सीमित न रख सके, क्योंकि ऐसी उनके चिन्तन एवं समय की माँग थी। भक्ति के समन्वयवादी मूल्य नामदेव में पूर्ण रूप से विकसित होते हुए दिखाई देते हैं। गुरु विसोबा खेचर से उन्होंने ईश्वर की सर्वव्यापकता के अतिरिक्त भक्ति में लोकतांत्रिक दृष्टि का भी ज्ञान पाया। निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव आदि के विवाद में न पड़ते हुए उन्होंने चिन्तन एवं जीवनानुभवों से भक्त की श्रद्धानुसार ईश्वर के रूप को ग्रहण करने की सलाह दी। इसी कारण उनके तमाम साहित्य में पांडित्य के स्थान पर अनुभूति का आग्रह और ईश्वर-भक्त के बीच सीधा संवाद है। जैसे "अलवारों की लोकप्रियता का रहस्य उनकी सहज भावनामयता है, जिसे उनकी भक्ति रचनाओं, गेय पदों में देखा जा सकता है।"³⁸ ठीक उसी प्रकार नामदेव की कविताओं में भी दार्शनिक आग्रह के स्थान पर भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति ने उन्हें सन्तश्रेष्ठों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है।

नामदेव ने देश के दूरस्थ भागों में अपनी यात्राएँ की और जन-जीवन का अनुभव ग्रहण किया। अनुभव को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ दर्जा अपनी कविताओं में दिया। महाराष्ट्र में चोखामेळा, कर्ममेळा, जनाबाई, बंका महार आदि सन्तों को गुरु रूप में मार्गदर्शन कर अपने चिन्तन को आगे बढ़ाने में सहायता की तो पंजाब में लब्धा और जल्ला को अपनी परम्परा का धनि बनाया। इन दो शिष्यों के साथ उन्होंने तत्कालीन पंजाब की यात्रा भी की थी। वे अनुभव से ग्रहण करनेवाले व्यक्ति थे और उन्होंने इस यात्रा में व्यापक जन-समूह के जीवन को समीप से देखने के प्रयास के रूप में यह यात्राएँ की। इसका कितना प्रभाव उनकी मराठी-हिन्दी रचनात्मकता पर हुआ। उन्होंने एक भावुक भक्त से लेकर संतमेळा तक और अपने महाराष्ट्र के शिष्य समुदाय से लेकर पंजाब के व्यापक जन-समुदाय तक के जीवन को देखा-परखा, नापा-तौला और उसके निष्कर्ष स्वरूप अपनी सामाजिक दृष्टि एवं भक्ति पद्धति का निर्धारण किया। इसमें कई मध्यकालीन मूल्य आ जाए तो कोई अचरज का विषय नहीं, क्योंकि उसी समय में जीते हुए व्यक्ति-रचनाकार का अपने समकालीन मूल्यों से जुड़ना, तत्कालीन दृष्टि को स्वीकारना सामान्य घटना है। आज के समय में खड़े होकर हम उन्हें सही-गलत की दृष्टि से देख सकते हैं और 'हर कविता समकालीन कविता की तरह पढ़ी जानी चाहिए' के अतिरिक्त आग्रह के चलते उन्हें मात्र 'मध्यकालीन मूल्य और विचारधारा' के रूप में अस्वीकार भी कर सकते हैं, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वह हमारा कई बार अधिकार भी बनता है, किन्तु उस पर राय देने से पहले इस बात को भी समझना

भी आवश्यक है कि हम अपने समय के दबाव के चलते ऐसा कर रहे हैं और नामदेव जैसे सन्त-भक्त भी अपने समय के दबाव से मुक्त नहीं थे।

3.1.8 भानुदास

नामदेव के समय एक और रचनाकर हुए जिन्होंने मराठी-हिन्दी दोनों भाषाओं में अपना रचनात्मक उत्कर्ष किया। भानुदास एकनाथ के प्रतिपितामह: कहे जाते हैं, जिन्होंने मराठी में सरस रचनाओं द्वारा इतिहास में अपना स्थान बनाया। इनके समय में बहामनी राज्य ने पंढरपुर पर आक्रमण किया था। इसी समय की एक और घटना का उल्लेख मिलता है, जिसमें कहा गया है कि किसी राजा ने विठ्ठल भक्ति के मोह में विठ्ठलमूर्ति विजयनगर को ले गया था और भानुदास पर विठ्ठलमूर्ति वापस लाने का कार्य सौंपा गया था। इसका अर्थ ये प्रतिष्ठित पुरोहित अथवा बडवे रहे होंगे। कथा में आगे कहा जाता है कि उनकी विठ्ठलभक्ति, सरस पदरचना एवं पदरचना से प्रभावित होकर विजयनगर के राजा ने मूर्ति वापस ले जाने की अनुमति दे दी थी। “जयांचीं पदबंधे पाहतां। विठ्ठलमूर्ती घरां आली” कहकर एकनाथ ने इस घटना को याद किया है। तुकोबा, विष्णुदास नामा, महीपती आदि कवियों ने भी भानुदास के इस कार्य का उल्लेख किया है। इधर म.रा.जोशी ने विठ्ठलमूर्ति के स्थलांतर संबंधी एक लेख लिखकर निष्कर्ष निकाला है कि ‘मूर्ति ले जानेवाला राजा कृष्णदेवराय नहीं अपितु रामराजा था। उन्होंने मूर्ति शके 1428 के कार्तिक मास में पंढरपुर लायी थी’। इसे आज भी पंढरपुर में पर्व के रूप में मनाया जाता है।”³⁹

3.1.9 गोंदा

गोंदा का व्यक्तित्व एवं कृतित्व तत्कालीन सन्तों और विशेषतः अपने पिता नामदेव की जीवन घटनाओं एवं कृतित्व के कारण कम ही चर्चा में रहे हैं। उनके साहित्येत्तर कृतित्व के सन्दर्भ में भी हमें कोई जानकारी नहीं मिलती है। इतना ही नहीं किंवदन्तियों का सहारा लेकर उनके साहित्य को भी नामदेव के साहित्य का सहायक या परिशिष्ट बनाकर प्रस्तुत किया जाता रहा है। नामदेव के सन्दर्भ में जिस इतिहासनुमा किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है, जिसमें उन्होंने ‘वाल्मीकि ने जिस प्रकार सौ करोड़ कविताओं वाला ग्रंथ लिखा, मैं भी उसी प्रकार शतकोटी अभंग रचना करूँगा, अन्यथा अपनी जिह्वा काट लूँगा’ कहा है, उसी में सहायक रूप में गोंदा एवं नामदेव के अन्य परिवार वालों के साहित्य को सहायक बनने के रूप में देखा गया है। इसलिए अक्सर ‘नामदेव परिवार का काव्य’ शीर्षक के अन्तर्गत ही इस परिवार के काव्य का मूल्यांकन किया जाता है। नामदेव के परिवार के सदस्यों ने भी अपना काव्यत्व नामदेव के नाम कर दिया था। उनके पुत्रों ने अपना लगभग सम्पूर्ण काव्य नामदेव के जीवन की घटनाओं का चित्रण करने में खर्च किया है, जिनमें से अधिकांश चमत्कारिक कथाओं से लैस हैं। यह कुछ कारण है कि गोंदा आदि नामदेव के परिवार के सदस्यों के जीवन सन्दर्भ में अधिक जानकारी नहीं मिलती है।

3.1.10 सेनानाई

सेनानाई की जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में कोई अधिकारिक जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। ‘भक्तमाल’ में दी हुई कथा, कथा ही है। प्रायः इन्हें उत्तर भारतीय ही माना जाता है, जिस सन्दर्भ में हिन्दी-मराठी दोनों साहित्येतिहासकार सहमत हैं। बलदेव वंशी⁴⁰ ने सेना का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, उन्होंने सेना को उत्तर भारतीय-हिन्दी भाषी मानते हुए उनका काव्यत्व एवं जीवन का परिचय ‘दक्षिण भारत की सन्त परम्परा’ में ‘महाराष्ट्र के सन्त’ में दिया है। इनका समय प्रायः तेरहवीं शताब्दी माना जा सकता है, क्योंकि इन्होंने संतमेळा के नामदेव, ज्ञानेश्वर, बहेणाबाई, जनी आदि कवियों का समकालीन सन्त-भक्तों की तरह वर्णन किया है और इनके साहित्य पर नामदेव का अत्यन्त

प्रभाव देखा जा सकता है। प्र.न.जोशी के अनुसार, “ये उत्तर की ओर रहनेवाले हिंदी भाषी सन्तकवि पंढरी के विठोबा प्रेम में विभोर होकर मराठी में उत्तर प्रकार की अभंग रचना करते हुए दिखाई देते हैं। वे जबलपूर के समीप बांधोगड राजा की सेवा-चाकरी में थे। डॉ.महीप सिंह के अनुसार “ये बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त, सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे।”⁴¹ मातृभाषा हिन्दी होने के बावजूद नित्य पंढरी की वारी करने के कारण इन्हें मराठी भाषा अन्य साधुसंतों के संगत से अवगत हो गई थी।”⁴² सेना ने मराठी में दो सौ से अधिक अभंगों के साथ मराठी में भी काव्य लिखा है।

3.1.11 ‘वे’ दो सौ से अधिक वर्ष और एकनाथ कालीन भक्ति आन्दोलन एवं समाज

एकनाथ (सन 1533-1599) के समय तक मराठी भाषा-भाषी प्रदेश के साथ देश के दक्षिणी भाग में अनेक राजकीय उथल-पुथल हो रहे थे। फिर भी पहले की अपेक्षा अब यह प्रदेश सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से स्थिर हो चला था। छोटी-मोटी राजनीतिक घटनाओं का प्रभाव सामान्य जन के जीवन पर सीधे पड़ने से पहले ही समाप्त हो जाता है। सन 1316 ई. में अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात कई मातहत स्वतंत्र हो चुके थे तो कई उसके लिए प्रयास कर रहे थे। 1318 तक देवगिरी राज्य पर भी पूर्णतः अधिकार नहीं हो पाया था। दिल्ली से सत्ता की बागडोर अपने हाथ में लेने के पश्चात 1325 ई. में तुघलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरी लाने का अव्यावहारिक निर्णय लिया। सम्पूर्ण दिल्ली को स्थलांतरित करने का उसका निर्णय देवगिरी को दौलताबाद बनाकर भी सफल नहीं हो पाया। उसने पुनः अपनी राजधानी दिल्ली ले जाने का निर्णय लिया और इसी के चलते सभी को आदेश दिया कि पुनः दिल्ली लौट चलो। सभी वापस दिल्ली लौटकर नहीं गए, बहुत से लोग यहीं बस गए और कुछ अपना प्रभाव छोड़कर वापस लौट गए। बस जानेवालों में अधिकतर निम्न वर्गीय लोग रहे होंगे एवं लौट जानेवालों में उच्चवर्गीय। वे लोग लौटना भी चाह रहे होंगे जिनके लिए लौटने पर कुछ प्राप्ति होगी तथा जिनके लिए लौटना और रहना समान है, वे यहीं बस गए होंगे। जो कुछ घटित हुआ उसका हिन्दी-मराठी समाज, साहित्य एवं संस्कृति पर दूरगामी परिणाम हुए।

सामान्यतः मध्यकालीन इतिहास ग्रंथों में और विशेषतः साहित्य इतिहास ग्रंथों में एकनाथ के समय को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भक्तिकाल को प्रायः ‘धार्मिक संकट का समय’ के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दी इतिहास ग्रंथों में रामानन्द एवं तुलसीदास के ‘कलीकाल वर्णन’ की पंक्तियों से इसे पुष्ट किया जाता रहा है। रामानन्द की पंक्तियों पर हम प्रथम अध्याय में पर्याप्त चर्चा कर चुके हैं एवं इस पर विस्तार से पुरुषोत्तम अग्रवाल⁴³ ने भी लिखा है। रही बात तुलसीदास की तो इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रायः गोस्वामी जी के मानस की ही पंक्तियों को ही उद्धृत किया जाता है, ‘कवितावली’ के कलीकाल वर्णन को नहीं। कहने का तात्पर्य कि व्यवस्थित एवं लिखित सामाजिक इतिहास के अभाव के कारण अथवा उसके अपूर्ण ज्ञान के कारण अक्सर राजनीतिक स्थितियों का सीधा प्रभाव सामाजिक जीवन पर मानकर इतिहास की गलत व्याख्या प्रस्तुत की जाती रही है। सामाजिक एवं राजकीय इतिहास किसी भी समाज में एक साथ नहीं चलते, चल ही नहीं सकते। इनका एक-दूसरे पर प्रभाव तो पड़ता है किन्तु दोनों के सम्बन्धों को निर्धारणवादी दृष्टि से, कम-से-कम भारतीय इतिहास में तो, नहीं देखा जाना चाहिए। यह प्रभाव बहुत दूर जाकर दिखाई देता है और संभव है कभी-कभी क्रिया की प्रतिक्रिया की अपेक्षा ठीक उसके उल्टे हो रहा हो, या ध्वंसात्मकता की अपेक्षा रचनात्मक परिणाम निकल रहे हों।

मुहम्मद तुघलक के राजधानी स्थलान्तरित करने का सीधा प्रभाव राजनीति पर यह हुआ कि पहले से विद्रोह कर रहे मातहत स्वतंत्र होने के लिए अधिक उद्यत हुए। परिणामतः 1347 में हसन गंगू बहामनी ने इस क्षेत्र में अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी। हसन एक धर्मान्तरित ब्राह्मण था। आगे चलकर आन्तरिक कलह एवं मातहतों के विभिन्न विद्रोहों के कारण शीघ्र ही इस राज्य के भी पाँच टुकड़े हो गए। हमेशा के लिए इस मराठी भाषी क्षेत्र के साथ बहुत-सा दक्षिण का भाग उच्चवर्णियों के हाथ में चला गया। तुघलक की राजधानी स्थलान्तर का परिणाम ही था कि उच्चवर्णीय सत्ता के माध्यम से यहाँ की सामाजिक संरचना की शताब्दियों तक जैसी-की-तैसी रखने में सत्ताधारी वर्ग को सफलता मिली। ध्यातव्य है कि अहमदनगर राज्य का संस्थापक बहिरंगभट्ट ब्राह्मण था, बिजापुर की आदिलशाही का संस्थापक युसूफ आदिलशाह बहामनी विचारधारा का पोषक था, हैदराबाद का निज़ाम एक उच्चवर्णीय सुन्नी मुसलमान था। भले ही शासनकर्ताओं का धर्म जो भी रहा हो, किन्तु उनके तमाम कार्यों के लिए उनका धर्म नहीं उनकी राजनीति और विचारधारा जिम्मेवार रही है। क्या कारण है कि स्वयं एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी दौलताबाद के न मात्र मुख्याधिकारी थे बल्कि दरबार में एक प्रभावी व्यक्ति के रूप में कार्यरत थे। कहा जाता है कि उनके प्रभाव के कारण ही राजकीय छुट्टी का दिन शुक्रवार नहीं बल्कि दत्त सम्प्रदाय के अनुसार पवित्र मानेजाने वाला गुरुवार तय किया गया था। इस सन्दर्भ में और एक उदाहरण दृष्टव्य है - “बुरहान निजामशाह को कुँवरसेन नामक ब्राह्मण को प्रधान मंत्री के रूप में नियुक्त करना पड़ा क्योंकि मुस्लिम शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए स्थानीय जनता की सहायता लेना अनिवार्य बन गया था, अन्यथा असंतोष का ज्वालामुखी किसी भी समय प्रस्फुटित हो सकता था।”⁴⁴ अर्थात् सत्ताधारियों का धर्म चाहे जो रहा हो, उन्होंने अपना शासन पुरोहिती मूल्यों के माध्यम से ही किया है। क्या कारण है कि व्यक्तिगत जीवन में धर्म का इतना पाबंद व्यक्ति औरंगज़ेब भारतीय इतिहास में खलनायक की तरह याद किया जाता है, क्या कारण है कि उसी धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला अकबर एक उदार व्यक्ति के रूप में स्मरण किया जाता है, क्या कारण है कि मुहम्मद तुघलक जैसे कई राजा क्रूरता के लिए याद किए जाते हैं? क्या कारण है कि कृष्णराज यादव राजा ने अपनी व्यक्तिगत भक्ति के लिए वारकरियों के अराध्य विठ्ठल की मूर्ति मन्दिर से मँगवाकर अपने दरबार में स्थापित कर दी? जिन्हें एकनाथ के पनजोबा (पितामः) ने अपनी भक्ति के दम पर वापस ला दिया। क्या यह कृत्य सामान्य जन की भक्ति के अधिकार छीनने के प्रयास के रूप में व्याख्यायित किये जाने चाहिए या नहीं? कहने का तात्पर्य यह कि बहामनी राज्य भले ही विभाजित हो गया था, किन्तु बहामनी राज्य अपनी विचारधारा के माध्यम से सदा जीवित रहा। उसे पूर्व की ही भाँति पुरोहिती मूल्य चलाते रहे। पुरोहिती का कोई धर्म नहीं होता। पुरोहिती स्वयं धर्म का अपने हित के लिए व्यापार होती है। इस्लाम में भी पुरोहिती की पूर्ण प्रवृत्तियाँ मौजूद थी या हैं, जिससे तत्कालीन राजाओं ने अपनी सत्ता, भारतीय सामाजिक पुरोहितों के हितों को साध्य करके, बनाए रखने में सफलता प्राप्त की।

यह एक मिथ है कि शासनकर्ता समानधर्मा होने के कारण सामान्य जन की स्थिति भी सुदृढ़ होती है। यदि ऐसा होता तो यादव राजाओं के राज्य में सर्वत्र खुशहाली होती एवं महानुभाव पंथ के संस्थापक चक्रधर यादवों की सत्ता समाप्त होने पर क्षुब्ध हो जाते। उन्होंने मात्र एक साधारण घटना मानकर इसका उल्लेख किया। यही कारण है कि अधिकांश मराठी सन्त-भक्त कवियों की कविताओं में

तत्कालीन राजनीति के प्रायः कोई सन्दर्भ या राजनीतिक घटनाओं के उल्लेख नहीं मिलते हैं। अर्थात् राज्यकर्ता का धर्म चाहे जो रहा हो, सामान्य जन की स्थिति में बहुत अधिक अन्तर नहीं हुआ करते थे या नहीं होते हैं। शासनकर्ताओं का जनता की ओर अपने शासन मूल्यों के अतिरिक्त ध्यान न देने का एक कारण यह भी था कि “आरंभिक समय में महाराष्ट्र में सुन्नी मुसलमान शासनकर्ता भले ही रहे हो, किन्तु सामान्य जन में शियाओं की संख्या अधिक थी।”⁴⁵ इन शियाओं के व्यापारी एवं सेवाप्रदाताओं के वर्ग में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता था। इतना ही नहीं बल्कि यह वर्ग रामस्वरूप चतुर्वेदी⁴⁶ की सेक्युलर की व्याख्या में भी बिल्कुल फिट बैठता था। इन शियाओं ने बड़े पैमाने पर हिन्दुओं से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए थे। यह तो तय था कि यह रोटी-बेटी सम्बन्ध यहाँ के निम्न-वर्गीयों से रहे होंगे। क्योंकि उच्च-वर्गीयों की साँठ-गाँठ तो पहले ही से सुन्नी शासनकर्ताओं से हो चुकी थी।

पारम्परिक वैदिक धर्म, सनातन धर्म, हिन्दू धर्म, शैव-वैष्णव विवाद, बौद्ध-जैन की साधना का विकृत रूप आदि के कारण एवं सत्ताधारी वर्ग एवं उनके गूरों के वर्णाश्रम धर्म के बन्धनों के कारण यहाँ के तथाकथित निम्नजातीय वर्गों (बहुत सी जातियों के गुच्छ के अर्थ में वर्ग का प्रयोग आगे भी किया जाएगा) ने इस्लाम में धर्मान्तरण कर रहे थे। इसे यह न माना जाए कि वह इस्लाम से वे पूर्णतः प्रभावित होकर ऐसा कर रहे थे, क्योंकि प्रभावित होने के लिए उसके सन्दर्भ में ज्ञान की आवश्यकता होती है। यदि वे एकेश्वरवाद से प्रभावित हो रहे थे तो भी इसका ज्ञान होना आवश्यक था। इस समय निम्न वर्ग में हुए धर्मान्तरणों को ‘प्रतीकात्मक विद्रोह’ के रूप में देखा जाना चाहिए, न की प्रभाव एवं शासनकर्ता के धर्म में जाने की ललक के रूप में। तत्कालीन धर्मान्तरण दरअसल निम्न-वर्गीयों का विद्रोह था, यदि आप हमें नहीं स्वीकार करते तो, हम भी आपका त्याग करते हैं। अफ्रिकी, अमरिकी तथा योरोपीय देशों में अश्वेतों द्वारा समकालीन समय में हो रहा इसाियत से इस्लाम में धर्मान्तरण इसी प्रतीकात्मक विद्रोह का एक रूप है। इनके विचार से इसाईयत में श्वेत लोगों का अधिपत्य है, जो अश्वेतों से भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं। भारतीय आदिवासियों और दलित समुदायों में आज हो रहे इसाईयत में धर्मान्तरण को इस दृष्टि से देखा जाना चाहिए। मध्यकालीन भारतीय निम्न वर्गों द्वारा किया गया एवं तत्कालीन अश्वेतों द्वारा हो रहा धर्मान्तरण इस्लाम की विशेषता किसी भी अर्थ में नहीं है, बल्कि वह एक प्रतीकात्मक विद्रोह का हिस्सा है। इसी प्रकार प्रतीकात्मक विद्रोह करते हुए भारत में एक खास इस्लाम धर्मान्तरित वर्ग का उदय हुआ। इसके विद्रोह को कुछ विफलता ने तब ग्रसित कर लिया जब उसके धर्मान्तरण के पश्चात भी उसकी सामाजिक स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। धर्मान्तरण के कई पीढ़ियों के बाद भी यह वर्ग अपने हिस्से की समानता और धर्म अध्यात्म का सच खोज ही रहा है। तथाकथित निम्न जातियों से धर्मान्तरित लोगों की वही स्थिति हुई जो रामानन्द के समय में निम्न जातियों की हिन्दू धर्म के अन्तर्गत रहते हुए हुई थी। इन्हें धार्मिक पूजा-विधि और अर्चना के स्थान पर तो कुछ समानताएँ बहाल की गई, किन्तु सामाजिक स्तर में सुधार करने का मौका भूल से भी नहीं दिया गया। इस रूप में वर्तमान उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शवादी दृष्टिकोण से मध्यकाल में उपस्थित किसी भी धर्म या पंथ में चारित्रिक रूप से कोई अन्तर नहीं था। इस धर्मान्तरित वर्ग का सत्ताधारी वर्ग से शायद ही कोई सम्बन्ध रहा होगा। इसकी स्थिति पहले की तरह सामाजिक एवं

आर्थिक स्तर पर बनी रही। संभवतः धार्मिक परिवर्तन के कारण यह कुछ पीढ़ियों के पश्चात सांस्कृतिक रूप से परिवर्तित हुआ होगा।

भारतीय जन-मानस का इस्लाम से परिचय राजाओं से अथवा सूफी सन्तों से अधिक सामान्य-जन के माध्यम से हुआ। अल्लाउद्दीन खिलजी, बाद में बड़े पैमाने पर तुघलक के साथ आए खिलजी और अन्य राजाओं के साथ आनेवाला सैनिकों या अन्य सेवाएँ उपलब्ध करवाने वाले काश्तकारों, कारिगरोँ आदि सेवाप्रदाताओं का वर्ग था। व्यापार के लिए हिन्दुस्तान आनेवाले अरबी, तुर्की व्यापारी अपने साथ सेवक, दास भी लाया करते थे। जब राजकीय रूप में हमले वहाँ के राजाओं द्वारा किए जाने लगे, तब सैनिक तथा अन्य सेवा प्रदाताओं का वर्ग भारत में आने लगा। यह सेवाप्रदाताओं का वर्ग उसी स्थिति से गुजर रहा था जिससे महाराष्ट्र में और प्रकारान्तर से भारत में तत्कालीन तथाकथित निम्न वर्ग धर्मान्तरण के मोहभंग से। यह आगत सेवाप्रदाताओं का वर्ग ही भारत के निम्न वर्ग एवं सामान्य जनता के सम्पर्क में सबसे अधिक प्रभावशाली रूप में आया। यह सबसे अधिक बड़े पैमाने पर अल्लाउद्दीन के समय में आकर दक्षिण के विभिन्न भागों में बस गया था। अतः इस सेवाप्रदाताओं एवं सैनिकों और भारत के निम्न वर्ग के नवधर्मान्तरित वर्ग की स्थिति में बहुत अधिक अन्तर नहीं था। प्रार्थना मात्र के लिए दोनों की स्वीकृति धर्म करता था, किन्तु धर्म ही इनके सामाजिक अपवर्जन (exclusion) का सबसे बड़ा कारण था। प्रार्थना के लिए समावेशन (inclusion) इनके सामाजिक स्तर में रत्ती भर भी अन्तर शायद ही लाने में प्रयासरत रहा हो।

विशेषतः भारतीय धर्मान्तरित वर्ग धर्म से तो मुसलमान बन गया किन्तु उसकी बहुत सी मान्यताएँ प्रायोगिक (practical) तौर पर पुरानी ही रही। वह एक साथ हिन्दू और इस्लाम धर्म की अस्मिताएँ धार्मिक एवं कभी-कभी राजनैतिक रूप से, धारण किए हुए था। ‘परम्पराओं और रूढ़ियों का भूत आसानी से पीछा नहीं छोड़ता’ के अनुसार वह कई प्रकार के द्वैतों में था। इसी प्रकार आगत सेवाप्रदाताओं का वर्ग एक तरफ अपनी आर्थिक स्थिति के लिए तो दूसरी तरफ अपनी धार्मिक मान्यताओं में राजनैतिक सत्ता संघर्ष के कारण उठे विवाद के बीच द्वैत की स्थिति में था। यह दोनों प्रकार के निम्न वर्गीय धर्मान्तरित मुसलमान इस्लाम की कट्टरवादी राजनैतिक व्याख्याओं से आतंकित हो चुके थे। ऐसे में उन्हें सूफी भावधारा आकर्षित भी कर रही थी और इस्लाम छोड़ भी नहीं रहा था। ग़ालिब की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस अर्थ में भी पढ़ी जा सकती है कि उनके समय तक भी यही स्थिति इस वर्ग की रही होगी। उन्होंने इस स्थिति को व्यंग्य में ‘तमाशा’ कहा है और दुनिया को ‘बाज़ीचा-ए-अत्फ़ाल’ (बच्चों के खेलने का मैदान) कहते हुए बख़ूबी अभिव्यक्त किया है –

“इमाँ मुझे रोके है के खैचे है मुझे कूफ़र, काबा मेरे पीछे है, क़लीसा मेरे आगे

बाज़ीचा-ए-अत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे, होता है शबो रोज़ तमाशा मेरे आगे।”

निम्न वर्ग में जो धर्मान्तरण हुआ उनमें अस्मिताओं के बीच संघर्ष की बात ऊपर की गई है। हमारे लिए यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि “धार्मिक अस्मिताएँ अक्सर धार्मिक सीमाएँ भी होती हैं। हम क्या हैं, के बजाए हम क्या नहीं हैं, अक्सर हमारी धार्मिक अस्मिता को परिभाषित करने का आधार बन जाता है। यदि हम हिन्दू हैं तो बहुत कुछ नहीं हैं। ... आमतौर पर धार्मिक सीमाएँ बहुत स्पष्ट नहीं होती हैं। खासकर नीचले तबकों में तो लोग, उन पड़ोसियों के पर्व त्यौहारों में हिस्सा लेते हैं जो उनके धर्म के नहीं हैं। ... कुछ मामलों में लोग, कई धार्मिक अस्मिताएँ ग्रहण करते हैं। धर्मान्तरण के

बाद आदिवासियों में इस स्थिति को देखा जा सकता है। जहाँ यह इस्लाम और ईसाइयत जैसे एकांतिक धर्मों के अनुयायियों के लिए कम संभव है, वहीं अधिकतर धर्मान्तरित आदिवासी परम्पराओं के रूप में अपनी पूर्वास्मिताओं पर कायम रहते हैं। ...एक व्यक्ति एक साथ कई अस्मिताएँ धारण कर सकता है, किन्तु वह अस्मिताएँ परस्पर विरोधी अनिवार्यतः नहीं होनी चाहिए।”⁴⁷

हम पहले अध्याय में दिखा चुके हैं कि किस प्रकार हमारे यहाँ हिन्दू, योगी, मुसलमान, काजी आदि स्वतंत्र अस्मिताओं का विकास हो रहा था। ऐसे में भारतीय धर्मान्तरित वर्ग न तो हिन्दू ही रह गया था और न ही वह मुसलमानों में स्वीकृत हो रहा था। विदेशों से आया सेवाप्रदाताओं का वर्ग भी अपनी स्थिति को लेकर असंजस में था। उसकी भी धार्मिक अस्मिता के रूप में अस्पष्टता थी। न तो वह अपने आप को सत्ताधारी वर्ग से जुड़ पा रहा था और न ही यहाँ के निम्न वर्ग या सर्वसाधारण जनता से जुड़ पा रहा था। इसमें अवश्य उसका सत्ताधारी वर्ग से समानधर्मा होने का धर्म कभी-कभार आड़े आता होगा, किन्तु ऐसा कम, और बहुत थोड़े लोगों के साथ होता होगा। इस वर्ग के साथ यह भी समस्या थी कि “भाषा, धर्म, राष्ट्रीयता की अस्मिताएँ बदली जा सकती हैं किन्तु परिवर्तन के बाद भी व्यक्ति अपने नए धर्म, भाषा या राष्ट्रीयता में उतना सहज नहीं हो पाता, जितना कि वह अपने मूल धर्म, भाषा या राष्ट्रीयता में होता है।”⁴⁸ अर्थात् अधिकतर समाज का धर्मान्तरित वर्ग असंजस की स्थिति में था। किन्तु एक ऐसा भी धर्मान्तरित वर्ग था जो उच्च वर्गों से इस्लाम को या तो सत्ता, पद स्वार्थ के लिए धर्मान्तरित हो रहा था या शासनकर्ताओं के दबाव में आकर। यह वर्ग प्रायः अपनी स्थिति को लेकर साफ था, क्योंकि इसने पहले से पारम्पारिक ज्ञान एवं सम्पत्ति पर अपना एकाधिकार कर रखा था। ज्ञान के सहारे वह इस्लाम और अपने पूर्वधर्म के बीच अन्तर कर सकता था। दूसरे सत्ताधारियों को इनके सहारे के बगैर शासन करना असंभव होने के कारण इन्होंने सत्ता में अपनी पैठ जमा ली थी, वैसे भी सत्ता मूल्य तो उच्च वर्ग के अनुसार ही थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस वर्ग को पहले ही से समाज में प्रतिष्ठित माना जाता था। इसलिए भी इसे धर्म या अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर संघर्ष कभी नहीं करना पड़ा।

अस्मिताओं पर चर्चा करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्मान्तरण ने अस्मिताओं के क्षेत्र में भारतीय वर्णव्यवस्था के चिन्तन को कम अधिक मात्रा में धक्का अवश्य दिया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी⁴⁹ की ‘चार आना’ वाली बाद को यहाँ चरितार्थ होते देखा जा सकता है। जहाँ निम्न वर्ग के व्यक्ति को अपने पारम्पारिक व्यवसाय को ही करना पड़ता था, वह अनिवार्यता धर्मान्तरण के कारण कुछ शिथिल अवश्य पड़ गई। संभवतः इसलिए भी सदियों से अनिवार्यता के रूप में चली आ रही वर्णव्यवस्था टूटन के कगार पर थी, और तुलसीदास की ‘रामचरितमानस’ में यह चिन्ता का विषय बना। इस प्रकार कई व्यक्ति अपना व्यवसाय धर्मान्तरण के बाद बदल सकते थे। इस समय हम एक नई प्रकार की समाज व्यवस्था को उभरता हुआ देख सकते हैं। किन्तु इससे यह कहीं भी सिद्ध नहीं होता कि वर्णव्यवस्था पूर्णतः टूट गई थी या पूर्णतः समाप्ति के कगार पर थी। पूर्वसंस्कारों के कारण और चूँकि सत्ताधारी वर्गों के साथ यहाँ के उच्च वर्गों के सम्बन्धों के कारण वह टिकी रहने में सफल हुई।

कई विवादों के बाद प्रायः सभी विद्वानों ने मान लिया है कि एकनाथ का जीवनकाल सन 1533 से 1599 ई. के मध्य था। इसके पश्चात् एकनाथ की जन्मभूमि को लेकर भी निश्चित जानकारी नहीं मिलती। उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न स्थानों पर कई यात्राएँ की किन्तु उनका कर्मक्षेत्र मूल

रूप से पैठण रहा। आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार “यह प्रदेश भगवत भक्ति के लिए प्रसिद्ध था।”⁵⁰ इसके अतिरिक्त मध्यकाल से होते हुए प्राचीन समय से आज तक पैठण की भौगोलिक विशेषता थी कि वह कई प्रदेशों के मध्य पड़ता था और सेतु का कार्य करता आ रहा है। इस प्रकार मध्य में स्थित अन्य शहरों-नगरों की तरह ही इसका भी विकास एक व्यापारिक शहर के रूप में हुआ था। कई शताब्दियों से पैठण में कड़ाई-बुनाई के काम के साथ-साथ कई हस्तकला के काम भी हुआ करते थे। किन्तु शहर की विशेषता वहाँ होनेवाली सौदागरी भी थी। बुनकरों की आबादी की सघनता के साथ-साथ वहाँ का समुचित विकास हो चुका था। आज की तरह बुनकर शोभा या काँपेरिट के हाथों की कटपुतली बनने के लिए अभिशप्त नहीं थे। कारीगर और हस्तकलाकार अपने उत्पादन का विक्रेता खुद हुआ करता था। ऐसे में पैठण का बाजार काफी विकसित हो चुका होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सन 1599 में एकनाथ ने अपने दीर्घप्रभावी कार्यों के साथ इस संसार से शरीर को त्याग दिया।

3.1.12 ‘तुका झालासे कळस’ - तुकोबा का जीवन-संघर्ष एवं सामाजिक जीवन

तुकोबा की कविताएँ जितना उस समय के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को हम तक पहुँचाती हैं, उतना ही उनके उपलब्ध जीवन-संघर्ष तक। उनके 45 वर्षों जीवन का पूर्वार्द्ध ठीक बीच में नहीं होता है, बल्कि वह वैयक्तिक संघर्ष के साथ सामाजिक संघर्ष के जुड़ने के साथ आरंभ होता है, जिसका कई घटनाओं के माध्यम से पटल पर प्रवेश होता है। उनके इस प्रवास के साथ उनकी कविता भी आगे बढ़ती है, जिसे उनके जीवन-संघर्ष से अलगाया नहीं जा सकता है। ऐसा नहीं है कि उन्होंने अपना आत्मवृत्त कविताओं में लिखा है, किन्तु प्रायः प्रत्येक सामाजिक मुद्दे को अपनी कविता में तरजीह देने के कारण उनकी कविताएँ उनकी ओर देखने के लिए पर्याप्त स्थान दिया है। जिन्हें क्रमशः देखना योग्य होगा।

तुकोबा ने अपनी कविताओं में ‘तुका’ या ‘तुक्या’ की नाममुद्रा धारण की है। शब्दकोष के अनुसार देखा जाए तो इन दोनों शब्दों का कोई अर्थ देखने नहीं मिलता है। यदि यह तुकोबा की नाममुद्रा नहीं होती, तो संभवतः इस शब्द का अस्तित्व ही नहीं होता। यदि तुकोबा वह नहीं करते, जो उन्होंने किया, तो सच में इस पद का कोई अर्थ नहीं होता। इस संज्ञा को लेकर जो कहा गया है, जितना लिखा गया है, शोध किया गया है, वह भी नहीं होता। “इतिहासाचार्य राजवाडे ने अपने ‘नामादिशब्दव्युत्पत्तिकोश’ में तुकोबा नाम की व्युत्पत्ति बतलाई है। उसे अधिकृत माना जा सकता है। ‘यह कईयों का मानना है कि तुकोबा शब्द तुकणे = तोलणे इस धातु के तुका एवं राम इन दो पदों का बना होगा। किन्तु इस शब्द का तुका एवं राम इस प्रकार के दो पद बनाना उचित नहीं है, क्योंकि तुका पद का कोई अर्थ नहीं बताया नहीं जा सकता है। मूल शब्द तोषाराम (तोष+आराम) का प्राकृत तोखाराम, उसका अपभ्रंश तोकाराम, उससे तुकोबा। आत्मन+आराम= आत्माराम। शांत+आराम= शांताराम। कृपा+आराम= कृपाराम। दया + राम = दयाराम।’ राजवाडे के अनुसार तोखा-तोका-तुका के क्रम से अपभ्रंश की प्रक्रिया रही होगी। राजवाडे ने ‘तुकोबा’ शब्द को विशिष्ट अर्थ प्रदान किया है। तुकोबा शब्द का उन्होंने आत्माराम एक पर्याय दिया है। तुका शब्द का अर्थ आत्मा का होना अधिक विश्वसनीय लगता है। वा.सी.बेन्द्रे ने भी तुका शब्द का अर्थ आत्मा ही दिया है। तुकोबा ने भी अपने

जीवन में आत्मज्ञान प्राप्त कर नाम को सार्थकता प्रदान की है। तुकोबा ने अपने नाम को राम दिया है। इसलिए तुकोबा तुकोबा हैं।”⁵¹

तुकोबा के नाम की कई व्याख्याएँ की गईं। उसे उनके पेशे या व्यवसायों के साथ जोड़ा गया। उसे देहू की तुकाई देवी से जोड़कर देखा गया। राजनीति द्वारा उसका अनुकूलन करने का प्रयास करते हुए उनके नाम को रामदास द्वारा दिया बतलाया गया। शं.गो.तुळपुळे का मत है कि “तुकोबा का व्यापार-उद्योग का पेशा उनके तुका नाम के लिए कारणीभूत होने की संभावना है। तुकणे अर्थात् तौलना, वजन करना और जो तुकता है वह तुक्या या तुका।”⁵² इसे राजवाडे एवं बाद में डॉ.किशोर सानप ने साधारण गलत सिद्ध किया है। उसी प्रकार पु.म.लाड के तुका को देहू की तुकाई देवी से जोड़ने के प्रयास को भी अनैतिहासिक मानते हुए, “लाड की तुलना में इतिहासाचार्य राजवाडे की व्युत्पत्ति को तोड़ नहीं है। पूर्ण नाम तुकोबा ही उनके माता-पिता ने रखा होगा, यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है”⁵³ कहा गया है। जिस परिवार में कई पीढ़ियों से श्रीविठ्ठल भक्ति का उल्लेख स्वयं तुकोबा करते हैं, वहाँ किसी ग्रामीण देवी-देवता के नाम पर क्योंकि उनकी माता तुकोबा का नाम रखेगी। वैसे भी वे अपने भाईयों में दूसरे क्रमांक के आपत्य थे। आमतौर पर पहले आपत्य की देरी होने पर मन्नौती माँगी जाती है और उसका नाम सम्बन्धित देवी-देवता के नाम पर रखा जाता है। तुकोबा के माता-पिता को आपत्य ठीक समय पर हुए और वे दूसरे आपत्य होने के कारण किसी देवी-देवता के नाम पर उनका नाम होना संभव नहीं लगता है।

‘तुका’ को इतिहास की निजी व्याख्याओं से भी व्याख्यायित करने का प्रयास कर उसे रामदास द्वारा दिया बताया गया। इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि यदि रामदास ने तुकोबा को यह नाम दिया, तो वे ऐसा निरर्थक शब्द राम के साथ जोड़कर क्योंकि किसी को नाम देते, जबकि स्वयं वे इतने बड़े ज्ञानी थे। ऐसे में यह भी कहा जा सकता है कि तुकोबा का साक्षर एवं सुसंस्कृत परिवार उनके नाम के निरर्थक तुका के साथ राम कैसे जोड़ता, जबकि पूर्ण परिवार की कई पीढ़ियों से परम्परा वारकरी रही है। वास्तव में उनके माता-पिता ने उनका नाम तुकोबा रखा होगा, जो प्रेम से तुका और मित्रों में तुक्या रहा होगा। उनकी प्रसिद्धि के साथ वह आदरार्थी तुकोबा के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसमें राम कैसे और कब जुड़ा, यह प्रश्न तुकोबा की कई जीवन घटनाओं की तरह निरुत्तर ही रह जाता है। ऐतिहासिक रूप में इतना तो सही है कि तुकोबा ने अपने अतुलनीय कार्यों द्वारा इस निरर्थक संज्ञा पद को वह अर्थ प्रदान किया, जिसकी तुलना इतिहास में मिलना दुभर है। यही कारण है कि इस निरर्थक नाम को कई माता-पिता अपने बच्चों के नाम के रूप में रखना भूषण मानते हैं, ताकि उनकी संतति सदा अपनी जड़ों, अपने पूर्वज तुकोबा से जुड़ी रहे। वह समाज को ममत्व और पितृत्व देते रहे, जो गलतियों को क्षमा करे, समय आने पर खीजकर उन्हें खरी-खोटी सुनाए, जो तुकोबा ने आजीवन किया। अपने प्रिय की तरह उनका पाठक-श्रोता वर्ग उन्हें तुकोबा कहकर अपने प्रेम को अभिव्यक्त कर उन्हें स्वीकार करता है। हम भी यहाँ आदरार्थी एवं प्रेमवाचक तुकोबा का ही प्रयोग करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के सन 1608 से 1650 के बीच अपने जीवन 45 वर्षों में तुकोबा ने सन्त-भक्त, कवि, सुधारक, धर्मसुधारक, आदि ऐतिहासिक भूमिकाओं का निर्वहन किया। 1645 में उन्हें अपनी कविताओं की हस्तलिखित प्रति को इन्द्रायणी नदी में डुबोने के लिए विवश किया गया। इसके बाद की

रचित उनकी कोई लिखित कविता नहीं मिलती। इस बीच उनके माता-पिता और पत्नी की मृत्यु हो गई। उनके आस-पास अकाल के कारण भूख से कई लोगों की मृत्यु हो रही थी। कई प्रकार के सामाजिक-राजनैतिक शोषण हो रहे थे। यह सब हो रहा था सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में। इधर बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में एक विवाद उठा। इस विवाद के केन्द्र में तुकोबा के बहाने महाराष्ट्र का सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास, उसकी प्रगतिशील परम्पराएँ, जीवन मूल्य केन्द्र में थे। यह विवाद 'मोरे-चित्रे-साळुंखे वाद' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें अन्य आलोचकों-विचारकों ने भी हिस्सा लिया। तुकोबा से सम्बन्धित की विवादित बिन्दुओं पर इसमें वाद-विवाद-संवाद के साथ-साथ उन पर हुई राजनीतियों का भी पर्दाफाश किया गया। उन विवादित बिन्दुओं में तुकोबा की जन्म तिथि, उनकी जाति, तुकोबा की 81 वर्ष में जन्मी सन्तान, उनके पूर्वज, उनके माता-पिता एवं पत्नी की मृत्यु, तुकोबा की कामुकता, उनकी परम्परा, कविताओं की भावधारा एवं विचारधारा, तुकोबा की कविताओं को नदी में डुबोने के बाद भी उनका चमत्कारिक रूप से तरना आना आदि आदि कई मुद्दों के साथ सबसे अधिक चर्चा तुकोबा की मृत्यु हुई थी या हत्या या फिर वे किसी विमान में बैठकर बैकुंठ चले गए थे। इस चर्चा के माध्यम से सामाजिक इतिहास के कई मुद्दे खुलकर सामने आए। इसके माध्यम से इतिहास के साथ की गई राजनीतियों पर भी खूब चर्चाएँ हुई, जिसने इतिहास एवं अपने समकालीन समाज को देखने के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तनकारी भूमिका का निर्वहन किया। यहाँ हम तुकोबा के जीवन को लेकर जो विवाद हैं, उनके फेर में न पड़ते हुए, जिन बिन्दुओं पर अधिकांश विद्वान सहमत हैं, उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

तुकोबा का जन्म पुणे जिले देहू नामक ग्राम के एक सम्पन्न परिवार में सन 1608 में हुआ। तुकोबा के परिवार में वारकरी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक परम्परा कई पीढ़ियों से चली आ रही थी। तुकोबा के आठ पीढ़ियों की जानकारी मिलती है। उनके आठवें पूर्वपुरुष विश्वंभर ज्ञानेश्वर-नामदेव के समकालीन थे। संभवतः उनका सम्बन्ध संतमेळा से भी रहा होगा। तुकोबा की माता कनकाई और पिता बोल्होबा, दोनों वारकरी भक्त थे और वारी की नामदेवकालीन परम्परा का भी पूर्णतः पालन किया करते थे। "सोलहवीं शताब्दी में इस परिवार को पंद्रह बीघे जमीन ईनाम में मिली थी। तुकोबा के पिताजी बोल्होबा देहू के सधन व्यापारी और किसान थे। वंशपरम्परा से उनके पास देहू की बनियागिरी भी थी।"⁵⁴ बोल्होबा अंबिले एक किसान होने के साथ-साथ बनिया का भी कारोबार किया करते थे। एक प्रकार से वे किसानों से उनकी उपज भी खरीदकर नगरीय बाज़ारों में भी बेचने का कार्य किया करते थे और उन्हें किसानों के लिए धन की आपूर्ति भी किया करते थे। अर्थात् वे किसान और वैश्य एक साथ थे। वे रूढ़ अर्थ में सूदखोर बनिया नहीं थे, क्योंकि उन्होंने आजीवन वारकरी सम्प्रदाय के मूल्यों का पालन किया, जो उनके पूर्वजों की परम्पराओं से चला आ रहा था। तुकोबा से भी पूर्व बोल्होबा अंबिले के जीवन को देखकर कहा जा सकता है कि वारकरी सम्प्रदाय ने सामान्य जन में जितने मानवतावदी मूल्यों को रचाया-बसाया था, उनसे सामाजिक जीवन में एक नियमबद्धता आयी थी, ईमानदारी आयी थी, मानवतावाद को बढ़ावा मिला था।

कनकाई और बोल्होबा अंबिले के तीन पुत्र थे – सावजी, तुकोबा और कान्होबा। तुकोबा को दो बहने थीं। इनमें से बहनों का अधिक उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। तुका के बड़े भाई सावजी किन्हीं अज्ञात कारणों से सन्यास ले लिया। अज्ञात इसलिए कि ऐसा उल्लेख उनके परिवार के वंशजों में कहीं

नहीं मिलता है। इस कारण उनके परिवार का सम्बन्ध गोसावी सम्प्रदाय से जोड़ने के भी प्रयास किए गए हैं। इतना ही कहा जा सकता है कि लड़कपन से ही सावजी की वृत्ति निवृत्तिवादी रही है और अन्त में उन्होंने हमेशा के लिए गृहत्याह कर दिया। इसके बाद उनका कहीं न तो उल्लेख मिलता है और न पता। सन 1621-22 में जब तुकोबा की आयु केवल तेरह वर्ष की थी, तब उनका पहला विवाह आठ वर्ष की रुखमाई से हुआ। मात-पिता के जीवित रहते ही रुखमाई-तुकोबा को संतोबा नामक का पुत्र प्राप्त हुआ। इसके बाद रुखमाबाई का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता गया और विवाह के आठ-नौ वर्षों बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। इसके बाद पुत्र संतोबा भी तुकोबा को छोड़कर परलोक चला गया। सन 1629-30 के आसपास महाराष्ट्र में भयंकर अकाल होने के कई उल्लेख तुकोबा की कविताओं में भी मिलते हैं। तुकोबा की रुखमाबाई, संतोबा, बोल्होबा और कनकाई की मृत्यु इसी समय हुई थी, किन्तु यह मृत्यु भूख के कारण नहीं हुई थी, जैसाकि अधिकांश विद्वान मानते हैं। “डॉ.आ.ह.साळुंखे के अनुसार रुखमा की मृत्यु बिमारी के कारण हुई होगी और तुकोबा की सांपत्तिक स्थिति इतनी बिकट नहीं थी भूखमरी हो जाए। साळुंखे से पूर्व बेन्द्रे ने भी अपनी पुस्तक ‘तुकोबा चरित्र’ में इसी मत को स्पष्ट किया था। उनका मत है कि तुकोबा की सांपत्तिक स्थिति अन्त तक बेहतर थी और अकाल की लपटें उनके परिवार तक कभी पहुँची ही नहीं थी।”⁵⁵

वृद्धत्व के कारण माता-पिता, दमे के कारण पत्नी और पुत्र संतोबा की बालमृत्यु के पश्चात् तुकोबा का दूसरा विवाह इस अकाल के ठीक बाद 1631 के आस-पास जिजाबाई से हुआ। तुकोबा की कविताओं में कई रूपों में आनेवाली पत्नी जिजाबाई ही है। उनकी दोनों पत्नियों की कभी भेंट नहीं हुई थी, जैसाकि कई लोगों को लगता है। पहली की मृत्यु के बाद दूसरी से विवाह हुआ था। जिजाबाई जितनी झगडालू थी उतनी ही व्यवहारनिष्ठ। तुकोबा ने अपने काव्य में पति-पत्नी में हुए वादविवादों को भी पंक्तिबद्ध किया है, जो समिश्र स्वरूप की प्रतिक्रिया कही जा सकती है। वह जंगल-वनों में जाकर बैठनेवाले तुकोबा को व्यापार-उद्योग में लाने का भरसक प्रयास करती और साथ ही उन्हें वहाँ जाकर खाना भी खिलाती। “जिजाबाई अज्ञानी, गँवार नहीं थी। जिजाबाई का परमार्थिक अधिकार उच्च कोटी का था, इसे सदानंद मोरे ने कहा ही है और साथ ही बेन्द्रे ने भी जिजाबाई का परमार्थिक अधिकार मान्य किया है।”⁵⁶ तुकोबा संसार विरक्त कभी नहीं हुए थे। उन्होंने कभी संसार और उसके कर्मों का त्याग नहीं किया। इतना आवश्यक हुआ होगा कि वे अब केवल अपने परिवार के अतिरिक्त सम्पूर्ण समाज के सन्दर्भ में अधिक विचार करने लगे होंगे। इसका प्रभाव उनके व्यापार-किसानी आदि पर होना स्वाभाविक था।

बड़े भाई के घर-द्वारा छोड़कर चले जाने के कारण सम्पूर्ण परिवार एवं व्यापार आदि व्यवहार की जिम्मेदारी तुकोबा पर आ गई थी, जिसे वे ठीक से नहीं निबाह रहे थे। इसी बीच तुकोबा के मन-मस्तिष्क के व्यापकत्व का विकास हो रहा था। वारकरी मूल्यों को उन्होंने अधिक व्यवहारनिष्ठ एवं अधिकाधिक मानवतावादी किस प्रकार बनाया जा सकता है, इस सन्दर्भ में जो कार्य उन्होंने अपने अन्तिम क्षणों तक किया, वह इसी व्यापारिक बर्बादी के दिनों में किए हुए चिन्तन का परिणाम था। “रा.द.रानडे ने तुकोबा की दो अवस्थाएँ बताई हैं। साधक अवस्था और सिद्धावस्था। साधक अवस्था में तुकोबा ने प्रचंड मानसिक और शारीरिक संघर्ष किया। अनेक दुःखों के आघात उन्हें सहने पड़े। तो सिद्धावस्था में उन्हें चराचर में समत्व का ज्ञान हुआ। तुकोबा ने संसार का त्याग कर केवल भक्ति को ही

अपना ध्येय माना था। तुकोबा बैरागी थे। साधू थे। संत थे। निवृत्तिसाधक थे। आदि बातें सही होंगी किन्तु उन्होंने संसार का पूर्णतः त्याग कर दिया था, यह बात उतनी माननेलायक सही नहीं है। संसार और परमार्थ का आदर्श समतोल का अर्थ ही तुकोबा है।”⁵⁷ अर्थात् तुकोबा ने न अपना व्यापार पूर्णतः छोड़ा था और न संसार, किन्तु उसकी तरफ कम ध्यान आवश्यक देना आरंभ कर दिया था।

तुकोबा निश्चित तौर से रेतीली भूमि में उदित हुआ वह पौधा था, जिसकी जड़ें इतिहास में गहरी जाकर अपना पोषण कर रही थी। साथ ही उनके समकालीन उन लोगों ने भी उन्हें सूर्य सी ऊर्जा देने का काम किया है, जो या तो उनके सामने चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहे थे या फिर उनकी सहायता कर रहे थे। तुकोबा की दूसरी पत्नी जिजाबाई को उनकी सबसे बड़ी आध्यात्मिक मार्ग की शत्रु के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। उसे गँवार, लड़ाकू, दुष्ट, मुँहफट, कर्कशा आदि कई रूपों में प्रस्तुत कर उसे दुष्ट स्त्री सिद्ध करने का प्रयास किया गया और इसके लिए तुकोबा की कविताओं से उदाहरण काट-छाँटकर प्रस्तुत किए गए। जिजाबाई तुकोबा को संसारिक कार्यों में लाने का जितना प्रयास करती, वे उतना ही उनसे बचने का प्रयास करते। तुकोबा ने पत्नी के साथ हुए कई विवादों को अपनी कविताओं का हिस्सा बनाया है। कई बार उन्होंने एक-दूसरे पर शाब्दिक प्रहार भी किए हैं। कई बार उन्होंने पत्नी को काव्य के माध्यम से उपदेश देने का भी प्रयास किया है। कई बार जिजाबाई ने तुकोबा को जली-कटी भी सुनाई है। तुकोबा संसार में न रहकर भी पूर्णतः संसार में व्यस्त थे, सम्पूर्ण जग की चिन्ता में व्यस्त थे। ऐसे में उन्होंने जिजाबाई की सारी शिकायतों को बड़े ध्यान से सुनकर उन्हें काव्यबद्ध किया और उसका पूरा सम्मान करते हुए संसार का कभी भी पूर्णतः त्याग नहीं किया। जब कभी वैयक्तिक और सामाजिक जिम्मेदारियों में विरोध निर्माण होता, ऐसे समयों पर उन्होंने सामाजिक जिम्मेदारियों को प्राथमिकता दी।

तुकोबा ने अपने जीवन में कई चीज़ों को डुबोया है। अकाल में लोगों के हो रहे हाल तुकोबा को देखे नहीं गए। मूलतः करुणहृदय और ऊपर से उनके चिन्तन ने उन्हें गाँववालों को मदत करने की भावना जागृत होना स्वाभाविक है। सबसे पहले उन्होंने बनिया परम्परा के स्वार्थी मूल्यां को डुबोते हुए अपने मालगोदाम में जमा सारा अनाज गाँववालों में बाँट दिया। इसी दौरान उन्होंने यह भी महसूस किया कि कर्जदार किसान अपना जीवन आगे नहीं बढ़ा सकता है, इसलिए उन्होंने इस अच्छे काम का आरंभ घर से किया, और अकाल से पीड़ित किसानों के बही-खातों को नदी में डुबो दिया, उन्हीं बही-खातों को जिनमें किसानों-मजदूरों द्वारा लिए गए कर्जों का विवरण लिखा था। उन्हीं खातों को जिनमें कई किसानों-मजदूरों की जमीन या अन्य कुछ चीज़ें रेहन रखी गई थी। यह घटना उस काल के बाद की हो सकती है, किन्तु ऐसे में उनके छोटे बन्धु द्वारा सारी सम्पत्ति में आधा हिस्सा माँगा जाना किसी भी व्यावहारिक व्यक्ति के अनुसार गलत नहीं कह जाएगा। अपने पैतृक सम्पत्ति पर कान्होबा का तुकोबा जितना ही अधिकार था। इसे तुकोबा भी समझते थे और उन्होंने कान्होबा को अपना हिस्सा भी दिया होगा। इतना ही नहीं कान्होबा जिजाबाई के बाद दूसरे व्यक्ति हैं, जिन्होंने अकाल के बाद तुकोबा परमार्थ की ओर जाते हुए व्यवहार की ओर, पूर्णतः न सही, ध्यान न देनेवाले तुकोबा के व्यापार-घर को संभाला और उन्हें अपने चिन्तन एवं आध्यात्मिक प्रवास को परिवार के पोषण के भय से मुक्त होकर आगे बढ़ाने में सहायता की। इन्होंने ‘तुकाबन्धु’ नाम से मराठी में कविताएँ भी लिखी, जो तुकोबा के

जीवन एवं उनके अचानक गायब हो जाने के दुःखों को मार्मिकता से अभिव्यक्त करती है। इनकी मराठी और एकमात्र हिन्दी कविता का अध्ययन तुकोबा के बाद प्रस्तुत किया जाएगा।

तुकोबा के जीवन पर अधिकारिक रूप से उनके जीवन सन्दर्भ की घटनाओं को लिखनेवाली बहेणाबाई ने बाबाजी चैतन्य को उनका गुरु मानती है, जिसे अधिकांश विद्वानों ने साधारण स्वीकार किया है। “कुछ विद्वानों के अनुसार बाबाजी ने तुकोबा को स्वप्न या तुर्यावस्था में गुरुपदेश दिया तो कुछ के अनुसार ओतूर में रहते हुए बाबाजी चैतन्य ने साक्षात् तुकोबा के माथे पर हाथ रखकर गंगा (किसी भी नदी के लिए प्रयुक्त) के किनारे स्थापित केशवचैतन्य मठ में अनुग्रह दिया।....तुकोबा को बाबाजी ने जो गुरुपदेश दिया, वह रूढ़ आचरण से भिन्न और पराविद्या की परम्परा एवं मठ-गुरु के बाजारीकरण के विरुद्ध प्रतिरोधी था।”⁵⁸ कुछ विद्वानों ने तुकोबा का जीवन एवं उनके साहित्य को देखते हुए यह मान्यता भी प्रस्तुत की कि तुकोबा ने मठीय एवं गुरु के व्यापारीकरण की प्रवृत्ति के विरुद्ध विरोध दर्ज करने के लिए किसी को गुरु नहीं बनाया, अपितु साक्षात् विठ्ठल को ही अपना गुरु माना था।

इस सन्दर्भ में यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि तुकोबा का आध्यात्मिक गुरु कौन था, इस सन्दर्भ में वाद-विवादों को बगल में रखकर यही माना जा सकता है कि तुकोबा के आध्यात्मिक गुरु भले ही एक बाबाजी हो या अन्य कोई, किन्तु उन्होंने नामदेव से लेकर एकनाथ तक की सारी परम्पराओं का जो चिन्तन मनन किया है, उसके फलस्वरूप उनकी समाजिक दृष्टि का विकास हुआ है। उनका समाज के प्रति चिन्तन एवं संवेदनशीलता देखकर उनके इस दिशा में गुरु की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, अपितु तुकोबा का गुरु स्वयं तुकोबा को ही मानना, उनके चिन्तन को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। तुकोबा ने अपनी परम्परा का गहन अध्ययन मनन किया था। अपने अभंगों में उन्होंने क्रमशः (जो ऐतिहासिक क्रम में वास्तविक रूप में सही है) नामदेव, ज्ञानेश्वर, कबीर, एकनाथ को बार-बार याद किया है। विशेषतः नामदेव एवं कबीर का तुकोबा पर जबरदस्त प्रभाव उनकी हिन्दी-मराठी कविताओं पर देखा जा सकता है। तुकोबा के सामाजिक चिन्तन में उनकी सामाजिक संवेदनशीलता एवं चिन्तन को नकारते हुए, किसी गुरु के दृष्टि की देन मानना ठीक वैसे ही है, जैसे उनके समकालीन रामदास को उनका गुरु सिद्ध करने का बचकाना प्रयास करना।

तुकोबा के सन्दर्भ में यह भी एक मान्यता है कि वे कभी देहू ग्राम के बाहर गए ही नहीं या फिर गए भी तो अधिक-से-अधिक अपने ननिहाल लोहगाँव तक। इस सन्दर्भ में विचार करते समय तुकोबा के व्यापारी जीवन को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। उन्होंने व्यापार करते समय अनेक स्थानों की यात्राएँ की और जब उन्होंने धर्म और कीर्तन के व्यापारीकरण के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने कीर्तन करते हुए पुणे जिले के आस-पास के परिसर में लोकजागृति का कार्य किया। वास्तविकता यह है कि रामदास का श्रेष्ठत्व दिखाने के लिए तुकोबा के विरुद्ध यह एक बिन्दु के रूप में उपयोग में लाया गया कि तुकोबा ने तो दुनिया देखी नहीं, अतः उनका अनुभव संसार सीमित था। इतिहासकार वि.ल.भावे ने तो यह भी बिन्दु प्रस्तुत कर दिया कि रामदास ने कई मठों की स्थापना की और देश के कई हिस्सों में भ्रमण एवं तीर्थाटन किये हैं, इसलिए वे अधिक अनुभवी सन्त-भक्त थे।

इस प्रचार के माध्यम से तुकोबा का मज़ाक बनाने का प्रयास किया गया, किन्तु “तुकोबा के भ्रमण उनके मज़ाक बनाए जाने का बिन्दु नहीं सिद्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में सदानन्द मोरे ने ‘तुकोबादर्शन’ पुस्तक में तुकोबा के भ्रमण सन्दर्भ में उत्तम विवेचन किया है। ‘तुकोबा देहू छोड़कर

बाहर गए ही नहीं। अधिक-से-अधिक पंढरपुर तक जाते होंगे, यह अज्ञानी समझ महाराष्ट्र में प्रचलित है। श्रेष्ठ-कनिष्ठत्व की कसौटी के रूप में देशाटन को कितना महत्व दिया जाना चाहिए, इस बात पर विवाद हो सकता है। तुकोबा ने प्रवासवर्णन नहीं लिखे, इसका अर्थ यह नहीं होता है कि उन्होंने प्रवास नहीं किया था। मोरे को लगता है कि तुकोबा ने वाराणसी, गया और द्वारका के प्रवास किए थे और इतना प्रवास व्यक्ति को अनुभवसम्पन्न बनाने के लिए काफी होता है।...तुकोबा ने वाराणसी, द्वारका, गया का तीर्थाटन किया था, किन्तु तीर्थाटन में उन्हें धर्म के ठेकेदारों और कर्मकाण्ड को महत्व देनेवाले कर्मठ पढ़ाकू पंडितों का अहंकार नज़र आया। इसलिए तीर्थाटन से देवदर्शन एवं पुण्य की प्राप्ति नहीं होती है। कर्मकाण्डों से भक्ति का सुख नहीं मिलता है। सारे तीर्थों को जाने के बाद उनकी नज़र में पंढरी जैसा कोई भी श्रेष्ठ तीर्थ नहीं मिला। केवल पंढरी ही एक ऐसा तीर्थ है, जहाँ जातिभेद और ज्ञान के सारे अहंकारों का अपने आप शमन हो जाता है एवं भक्त एक-दूसरे की पगधूली लेते हैं।⁵⁹

सर्वाधिक विश्वसनीय स्रोतों से मिली जानकारी के अनुसार सन 1645 के आसप-पास तुकोबा को उनकी तब तक की सारी कविताओं की पाण्डुलिपियों को इन्द्रायणी नदी में डुबोने पर विवश किया गया। भोली-भाली वारकरी सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार सोलह दिनों बाद तुकोबा की पाण्डुलिपियाँ तरकर ऊपर आयी थी। सबसे पहला प्रश्न यह है कि ऐसा क्या तुकोबा ने अपनी कविताओं में लिखा, जिसके बदले उन्हें अपनी कविताएँ नदी में बहाना पड़ा? क्या इन्द्रायणी का जलप्रवाह रुका हुआ था, जिससे तुकोबा की कविताएँ न बहकर, वहीं से तरकर ऊपर आयी? वास्तव में तुकोबा के समय ही कर्मठता के मठ स्थापित होने लगे थे, जो धर्म को अपनी बपौती बनाने पर तुले थे और तुकोबा की कविताएँ और तुकोबा दोनों इस सत्ता के विरुद्ध एक ऐसी लड़ाई लड़ रहे थे, जिससे इन रूढ़िवादियों के विशेष अधिकारों को धक्का लग रहा था। तुकोबा ने अपनी लड़ाई सबसे मुखर रूप में अंधश्रद्धाओं के विरुद्ध लड़ी और यही अंधश्रद्धाएँ धर्म के व्यापार एवं एक खास वर्ग के अधिकारों को सुरक्षित करने के काम आते थे। ऐसे में स्वाभाविक था कि अपनी अगली पीढ़ियों को सुरक्षित करने के लिए उन्होंने न सिर्फ तुकोबा को अपना काम करने से रोका, बल्कि लिखित दस्तावेज़ों को भी नष्ट करना अनिवार्य माना, यह उनके दृष्टिकोण से सही भी था।

इस प्रसंग से रामेश्वर भट का नाम जोड़ा जाता है, जिन्होंने तुकोबा को उनकी कविताएँ डुबोने के लिए विवश किया। “तुकोबा की कविताओं की पाण्डुलिपियाँ डुबवाने में रामेश्वर भट का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसे वा.सी.बेन्द्रे अपनी पुस्तक ‘सन्त तुकोबा’ में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्हें लगता है तुकोबा के कविताओं की पाण्डुलिपियाँ डुबोने की कार्यवाही कचहरी में हुई थी। किन्तु गोपाळबुआ ने इससन्दर्भ में एक अलग ही वृत्तान्त दिया है। तुकोबा आळंदी में कीर्तन कर रहे थे, रामेश्वर भट ने उनका कीर्तन सुना। रामेश्वर भट ने कहा, ‘हे गीताचि की मूर्तिमंत। की नेणो श्री भागवत। श्रुतिशास्त्राचे मथित। महावाक्यफळार्थ कविता तुझी ॥’ और यह भी कहा कि तुकोबा शूद्र होने के कारण उन्हें कवित्व का अधिकार नहीं है। हे योग्यता अति उत्तम। होती ज्ञानदेवापाशी परम। यावस्तव चारी वेद सुगम। रेड्यामुखे वर्म वदवू जाणे ॥ ऐसी हे तुझ्या ठायी काही। योग्यता नसोनि अणुमात्रही। आणि कविता करिसी तेही। संताहूनि आगळिक ॥’⁶⁰ अर्थात् तुकोबा को एक प्रकार से उनकी जाति और कवित्व का मेल कराने के कारण या तो अपने आप को सिद्ध करने के लिए कहा गया या कवित्व छोड़ने के लिए। लेकिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्योंकि ऐसा नामदेव, चोखामेळा, बंका महार,

जनीदासी आदि आदि कवियों को कहा गया, ऐसा क्यों नहीं ज्ञानदेव को कहा गया, तो तकनीकी रूप से अब्राह्मण ही थे? संतमेळा के तमाम कवियों को न कवित्व करने से रोका गया, न अपने-आप को सिद्ध करने के लिए कहा और न तो उनकी कृतियों किसी जाँच-पड़ताल करवाकर किसी से आज्ञा लेने की आवश्यकता ही महसूस हुई। तो ऐसी आवश्यकता एकनाथ को क्यों महसूस हुई? क्यों तुकोबा को ही काव्यत्व से रोका गया? वस्तुतः यह बदलाव उन्हीं ढाई-तीन सौ वर्षों में हुए, जिन्हें मराठी साहित्य के इतिहास में 'अंधकार युग' या 'नाकर्तेपणा' का युग कहा जाता है। इसी दौरान लोकभाषा मराठी के काव्यत्व का भी अधिकार विशिष्ट लोगों तक सीमित करने में इस वर्ग को सफलता मिली और तुकोबा को इसी विशेष अधिकार वालों ने कवित्व करने से मनाही की थी।

नदी में से कविताओं के तरने की कथा बाद में प्रचलित की गई है। कविताएँ नदी में डुबोयीं आवश्यक गई होंगी। तुकोबा को अपने आप को सिद्ध करने और सज्ञा के रूप में ऐसा करना अनिवार्य माना गया था। वैसे तुकोबा को कहा गया था कि यदि तुम कवित्व का अधिकार रखते हो तो तुम्हारी कविताएँ तीन दिनों में तरकर आनी चाहिए और कथाओं के अनुसार तुकोबा ने इन तीन दिनों तक उपवास भी रखा, लेकिन कविताएँ तरकर बाहर नहीं आयी। तुकोबा ठहरे जिद्दी, उन्होंने आगे भी अपना उपवास जारी रखा और उसके तेरह दिनों बाद कविताएँ नदी से ऊपर तैरने लगी। यह चमत्कारिक कथा इतनी प्रचलित हो गई कि इसमें इतिहास कहीं गुम हो गया या किया गया। इस सन्दर्भ में इतना ही सही है तुकोबा की कविताएँ इतनी लोक में रच-बस गई थी कि उन्हें फिर से लिख लिया गया होगा, वे लोगों के हृदय में साँस ले रही थी, उन्हें कैसे नदी में डुबोया जा सकता था?

इस घटना के बाद तुकोबा रुके नहीं। उन्होंने अपना कीर्तन, कवित्व और अपना समाजप्रबोधन जारी रखा। ऐसे में कट्टरपंथियों को कैसे चैन आ सकता था। वे विभिन्न प्रकार से तुकोबा को परेशान करते रहे। दूसरी घटना इसी दौरान एक यह भी हुई कि बहेणाबाई ने तुकोबा को अपना गुरु मानकर उनके घर में सपति रहने आ गई। एक शूद्र कैसे एक ब्राह्मण का गुरु हो सकता था! इससे धर्मपंडितों और शिक्षा के व्यापारियों को विशेष हानि हो रही थी। वे भी कैसे चुप बैठते? संभवतः यही कारण है कि एक दिन अपने गाँव देहू से तुकोबा अचानक गायब हो गए। किसी ने कहा कि वे विमान में बैठकर सदेह बैकुंठ चले गए, किसी ने कहा उनकी हत्या हुई। कुछ लोगों ने कुछ नहीं कहा। तुकोबा की वाणी मौन नहीं हुई। उनकी कविताएँ अभी भी हमारे वातावरण में गूँज रही हैं। यह गूँज अभी कई मठों, गढ़ों और किलों पर हावी है। तुकोबा के नाम से कोई स्कूल नहीं चला, क्योंकि तुकोबा कई बार तुकोबा के भी विरुद्ध जाते थे। वे मूलतः रूढ़ीवाद के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने शिष्य तो बनाए, लेकिन मठ नहीं, उन्होंने गढ़ों को चुनौती तो दी लेकिन गढ़ स्थापित नहीं किए, उन्होंने हथियार उठाए बगैर कईयों को लड़ना सीखाया। वह जन के लिए प्रेम के पात्र हैं, लड़ने का सहारा है, उनके लिए वह तुका भी हैं और तुक्या भी।

3.1.13 तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन एवं रामदास

तुकोबा एवं रामदास के जन्म वर्ष एक ही है, किन्तु जिस समय रामदास अपनी व्यक्तिगत साधना में लीन थे, उसी समय तुकोबा अपने अभंगों एवं कीर्तनों के माध्यम से निजी के साथ-साथ और उससे अधिक सामाजिक कुरीतियों से डूँटकर लड़ रहे थे। इसीलिए हम रामदास के कृतित्व को तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन का हिस्सा मानते हैं। किन्तु हम मूल्यदृष्टि की व्यापक समानता के

कारण बहेणाबाई के काव्य को तुकोबा के बाद कविता कहने के बजाए उनकी समकालीन रचनाकार इसलिए मानते हैं, क्योंकि तुकोबा और बहेणाबाई की कविताओं में मूल्य एवं लक्ष्य के अतिरिक्त उसे पाने की प्रक्रिया में भी समानता दिखाई देती है। वास्तव में बहेणाबाई की कविता वही नहीं है जो तुकोबा की कविता है, इसमें सूक्ष्म तौर पर अन्तर है, कारण चाहे जो हो। इस कारण बहेणाबाई को पूर्णतः तुकोबा की समानधर्मा रचनाकार भी नहीं माना जा सकता। इसके कारण हम पीछे बहेणाबाई की हिन्दी-मराठी कविताओं के विवेचन में देख आए हैं। यहाँ इतना ही कहना अभिष्ट है कि बहेणाबाई की कविता न तो तुकोबा में भाव-विचारों से पूर्णतः मेल खाती है और न तुकोबा के बाद कवियों से। वह इन दोनों के बीच की कविता है, जिसे अन्तर्विरोधों की कविता कहा जा सकता है। तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन और कविता में कुछ अभूतपूर्व परिवर्तन आए, जिनमें से कुछेक का विवेचन यहाँ रामदास की कविता के साथ किया जाना अनिवार्य हो जाता है।

भक्ति आन्दोलन को एक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन माना जाए तो तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन की अन्तिम सशक्त अभिव्यक्ति के रूप में बहेणाबाई के काव्य को देखा जा सकता है। उन्होंने अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण भाग यात्राओं-यायावरी में बिताया, किन्तु यह यायावरी दो प्रकार से सीमित थी - एक तो पारिवारिक बन्धनों में स्त्री के रूप में वे सदैव अपने परिवारजनों के भार तले दबी रही और दूसरी सीमा यह थी कि यह यात्राएँ मराठी प्रदेश के भी एक विशिष्ट भाग तक ही सीमित थी। चक्रधर से आरंभ होनेवाले मराठी भक्ति आन्दोलन ने वर्तमान तेलंगाना से लेकर बहुत बड़े मराठी भाषी प्रदेश को अपने में समाहित कर लिया था। महाराष्ट्र कन्नड प्रदेश में वारकरियों ने अपनी सामाजिक भूमिका के चलते अमाप लोकप्रियता अर्जित की थी। अपने ऊर्जावान रूप में मराठी भक्ति आन्दोलन के सभी सम्प्रदायों को भाषायी प्रादेशिक सीमाओं में सीमित करके नहीं देखा जा सकता है। तुकोबा इसके कलश रूप में इसलिए भी स्थापित होते हैं कि उनके बाद मराठी भक्ति आन्दोलन के मूल्य प्रायः अपनी दिशा कई मायनों में बदल लेते हैं या उसके मूल्य ही बदल दिए जाते हैं। एक प्रकार से तुकोबा की कविता चक्रधर से लेकर एकनाथ तक के भक्ति आन्दोलन के मूल्यों की समन्वयवादी एवं जोरदार अन्तिम अभिव्यक्ति है। यों तुकोबा के रूप में भक्ति आन्दोलन ने अपनी विदाई का सामान तैयार कर लिया था। तुकोबा के बाद भी वारकरी सम्प्रदाय की रचनात्मकता थमी नहीं, किन्तु उसे भक्ति आन्दोलन के अवशेषों के रूप में ही देखा जा सकता है। बहेणाबाई भी इसी क्रम की रचनाकार हैं। तुकोबा के बाद मराठी कविता उन मूल्यों के समाप्त होने की घोषणा भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप से करती दिखाई देती है, जिनके सहारे यह आन्दोलन खड़ा हुआ था। कहन शैली, कहना, कथन आदि सभी स्तरों पर उनमें विरोधों से समझौता करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। तुकोबा के बाद मराठी कविता का स्वर तुकोबा से उतना ही भिन्न है, जितना हिन्दी की आधुनिक साहित्य में छायावाद और प्रगतिवाद का है।

तुकोबा तक का भक्ति आन्दोलन और तदजनित मराठी कविता के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार उनके बाद राजनीति के स्वाधीन होकर पूर्णतः उन्हीं के सहारे व्याख्यायित करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास को प्रभावित करने के पश्चात् कविता का राजकीय वातावरण पर प्रभाव डालने का यह प्रयास कई प्रश्नों को जन्म देता है। क्या भक्ति आन्दोलन की सामाजिक भूमिका को पूर्णत्व तुकोबा के साथ ही प्राप्त हो जाता है? भक्ति आन्दोलन ने धर्म और राजनीति को इतना अलग दिया था कि उसने भी एक रीतिवाद को जन्म दिया था, जिस कारण बाद के समय में भक्ति आन्दोलन को पूर्णतः राजधर्म से जोड़ा जाना अनिवार्य हो गया था? क्या भक्ति आन्दोलन ने धर्म को इतनी निजी वस्तु बना दी थी कि रामदासी सम्प्रदाय ने मठों द्वारा उसे फिर से सामुहिक बन्धन में बाँधना अनिवार्य समझा? विशेषतः रामदासी सम्प्रदायियों द्वारा भक्ति को राजभक्ति की छाया में व्याख्यायित करना नवीन दृष्टि का परिचायक था? महानुभाव सम्प्रदायी, वारकरी सम्प्रदायी या दत्त सम्प्रदायियों ने ईश्वर की राजा के रूप में परिकल्पना बहुत ही कम स्थानों

पर की है। महानुभावों के पंचकृष्ण प्रायः निर्गुण ही रहे हैं। वारकरियों के विठ्ठल विष्णु का एक रूप बालकृष्ण होते हुए भी उनके हीनतर समझे जाने वाले कार्यों में सहयोगी बनते थे। दत्त सम्प्रदायियों के दत्तात्रेय मलंग थे। यहाँ तक अराध्य का न प्रेमी रूप स्वीकृत था, न भरतार रूप। वे मात्र भक्ति के आधार थे, त्राणकर्ता थे, सहयोगी थे किन्तु राजाधिराज बहुत ही कम बार चित्रित किए गए थे।

तुकोबा के बाद भक्ति कविता में और विशेष तौर पर रामदास के सम्प्रदाय में ईश्वर राजा है और राजा कई बार ईश्वरत्व प्राप्त करता है। कई बार तो राजा को ईश्वर का रूप और कई स्थानों पर प्रेषित तथा इसी कारण कई जगहों पर विशेष भक्त या कृपापात्र के रूप में भी दिखाया गया है। जहाँ तुकोबा तक का मराठी भक्ति आन्दोलन सूक्ष्म रूप में अपने शत्रु पर विजय पाने की बात करता है, वहीं तुकोबा के बाद मराठी कविता ने इसे पूर्णतः खड्डग के सहारे खड़ा करने का प्रयास किया है। ऐसा नहीं है कि तुकोबा के बाद वारकरियों में श्रेष्ठ कवि नहीं हुए हैं, किन्तु उनकी रचनात्मकता वह लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर पाती है जो तुकोबा तक के कई कवियों को प्राप्त हुई थी। इस प्रकार यहाँ से भक्ति आन्दोलन की दो शाखाएँ साफ दिखाई देती हैं। एक दृष्टि प्रत्येक प्रकार की गुलामी से मुक्ति को स्वातंत्र्य मानती है तो दूसरी केवल राजनीतिक मुक्ति को ही स्वातंत्र्य मानती है। आधुनिक समय में पहली दृष्टि अम्बेडकर को जन्म देती है तो दूसरी तिलक, सावरकर को। यह फाँक भारतीय समाज की एक अनिवार्य प्रवृत्ति बन गई है।

एक और अमूलचूल परिवर्तन तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन में आया है, जिसने उसके दोहरे चरित्र के निर्माण में निर्णायक भूमिका का निर्वहन किया, वह था मठों का उदय। इसे समझने के लिए वारकरियों एवं रामदासी सम्प्रदाय के भक्ति के स्वरूप, उनकी भक्ति की अवधारणा, सम्प्रदाय की संरचना आदि के साथ-साथ उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक एवं सम्पूर्ण राजनीतिक भूमिका को समझना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि तुकोबा के बाद मराठी भक्ति आन्दोलन की दिशाओं में उल्लेखनीय परिवर्तन आए थे, जिन्हें मुक्तिबोध ने ब्राह्मणों द्वारा भक्ति आन्दोलन पर कब्जा कर लेने के क्रम में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

अ) रामदास का जीवन परिचय

रामदास एक सन्त-भक्त कवि के साथ-साथ मठ और मठाधीश परम्परा को पुनर्जीवित करनेवाले, अपनी समकालीन राजनीति को सीधे समाज से जोड़कर देखनेवाले, अपनी समकालीन राजनैतिक परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षणकर्ता एवं उसे साहित्य अभिव्यक्त करनेवाले, मठों की परम्पराओं द्वारा समाज में मूल्यों तथा सामाजिक शिक्षा को प्रसारित करने का प्रयास करनेवाले नेता भी थे। रामदास के जीवन की घटनाओं के सन्दर्भ में जानने के लिए सामग्री की कोई कमी इसलिए नहीं है, क्योंकि उनके शिष्यों ने उनके सन्दर्भ में जितना लिख रखा है, उतना संभवतः किसी और सन्त-भक्त की जीवन-घटनाओं के विषय में नहीं लिखा होगा।

रामदास का जन्म सन 1608 में एक भरे पूरे परिवार में हुआ। पिता का नाम सूर्याजीपंत, माता का राणूबाई और बचपन का नाम नारायण था। बचपन में गाँव के दोस्तों के साथ खेलते-कूदते नारायण ने कई असंभव कार्य कर दिखाए। पूत के पाँव पालने में दिखते हैं को उन्होंने लड़पन में ही चरितार्थ कर दिखाया। आयु के पाँच वर्ष में उनके पारिवारिक परम्परा के अनुसार द्विज संस्कार हुआ। नटखट, शरारती लेकिन उतना ही व्यवहारकुशल नारायण बारह वर्ष की आयु में घर छोड़कर निकल गया। “बारह वर्ष की आयु कुछ अधिक नहीं होती है। इतनी कम आयु में घर छोड़कर चले जाने की प्रेरणा नारायण को क्यों हुई होगी? ऐसा क्या घटित हुआ होगा कि साथियों के साथ नदी में डुबकियाँ लगानेवाला, पेड़ों पर धुमाचौकड़ी मचानेवाला, जंगल-झाड़ियों में घूमनेवाला यह मासूम बच्चा अपने प्रेमी परिवार और साथियों को पीछे छोड़कर क्यों चला गया? इस पर इतिहास स्पष्ट रूप में कोई प्रकाश नहीं डाल सकता, यह बड़े दुख की बात है।”⁶¹ इस बात पर कोई आधिकारिक जानकारी नहीं मिलती है

कि 1620 से 1644 तक किन परिस्थितियों में रहे। इतना ही कहा जाता है कि उन्होंने कई तीर्थों की यात्राएँ की और साधनारत रहे। उन्होंने लोकस्थिति का समग्र दर्शन किया और समाज की विभिन्न परिस्थितियों को समझने का प्रयास करते रहे। इसी बीच उन्होंने अपना अध्ययन भी पूर्ण किया। इस सन्दर्भ में रामदास के शिष्यों ने कई कथाएँ आवश्यक प्रचलित कर दी हैं, जिनका यहाँ उल्लेख आवश्यक नहीं है।

कहा जाता है कि रामदास ने पंचवटी, अयोध्या, गया, गोकुल, वृन्दावन, काशी की यात्राएँ की। काशी में हनुमंत घाट पर उन्होंने मारुति के मूर्ति की स्थापना की। इससे पूर्व उनके द्वारा अपने शिष्य उद्धव के लिए स्थापित गोबर की हनुमान मूर्ति उनके द्वारा स्थापित प्रथम हनुमान की मूर्ति मानी जाती है। इसी उत्तर भारत की यात्रा के दौरान उनकी काश्मीर में गुरु नानक से भेट की भी बात करनेवालों के ऐतिहासिक ज्ञान पर दया आती है। ऐसी बात सोचने से पहले इस बात का वर्णन करनेवाले प्राचीन चरित्र ग्रंथों को इतिहास के रूप में विश्वास करनेवालों को कोई इतिहास पढ़ा ही नहीं सकता है।

नारायण घर वापस आया, किन्तु उसी रूप में नहीं। वह अब समर्थ रामदास बन गया था, एक ज्ञानी, अनुभवी और 36 वर्षों के युवा के रूप में। प्राप्त वर्णनों के अनुसार घर के आँगन में आकर उन्होंने भीक्षा के लिए गुहार लगाते हुए 'जयजय रघुवीर समर्थ' की घोषणा की। सबको लगा कि रोज की तरह कोई बैरागी आया है, किन्तु सामने समर्थ को देखकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उस माँ की खुशी का हम अन्दाजा नहीं लगा सकते, जिसने अपने पुत्र को इतने सालों बाद देखा। क्या वो उसे पहचान पायी होगी? माँ के इस बात का पता चल गया था कि अपना पुत्र एक ज्ञानी-विद्यावन्त बन गया है। कितनी सारी बातें, गपशप हुई होगी, भाइयों, माता-पिता से। कहा जाता है कि "वात्सल्य से माता ने पूछा, 'लगता है तुझे कोई भूत प्रसन्न हो गया है'। रामदास ने माता को उत्तर दिया 'हाँ, यह सारी प्रभू रामचन्द्र की कृपा है। जो मुझे प्रसन्न हुआ है, वह यही भूत है।' 'तेंचि भूत गे माय' शीर्षक एक उनका पद भी है।"⁶² कुछ दिनों बाद उन्होंने अपने परिवार एवं गाँव के साथियों से विदा ले ली और अपने कार्यक्षेत्र को आगे बढ़ाने के लिए फिर से गृहत्याग कर दिया। इसके बाद का उनका सारा जीवन मठों की स्थापना करना, शिष्यों को दीक्षा देकर उन पर संस्कार करना, विभिन्न स्थानों पर भटकना, तीर्थयात्राएँ करना, भीक्षावृत्ति पर अपना जीवन यापन करना, मठों की व्यवस्था करना आदि कार्यों में व्यतीत हुआ। इन्हीं अनुभवों को उन्होंने अपने साहित्य में अनुस्यूत किया और इसी उद्देश्य ने रामदास के विशाल साहित्य को जन्म दिया।

उनके द्वारा कई हनुमान (मारुति) की मूर्तियों की स्थापना करने के कारण उन्हें वैराग्यमूर्ति और हनुमान का अवातर भी माना गया। मठों की स्थापना एवं उसकी व्यवस्था को उन्होंने अजीवन अपना कार्य बनाया। उनके जीतना बड़ा शिष्य समुदाय किसी भी मराठी सन्त-भक्त कवि का नहीं रहा। उन्होंने विशाल साहित्य की निर्मिति भी है। उन्होंने अपने समकालीन सन्त-भक्त तुकोबा से भेट की थी। कईयों के अनुसार वे छत्रपति शिवाजी महाराज के भी गुरु थे। वे मराठी क्षेत्र में हो रहे भक्ति आन्दोलन में अपने किस्म के पहले और इस आन्दोलन के अन्तिम सन्त-भक्त कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने अपने मठों में जो व्यवस्था एवं शिक्षा प्रदान की है, उसके सहारे उनके रहते ही समर्थ सम्प्रदाय खड़ा हो गया था। इसके साथ उनके विशाल शिष्य समुदाय को रामदास के सबसे बड़े कार्य के रूप में वि.ल.भावे ने रेखांकित किया है, जिस पर द्वितीय अध्याय में काफी चर्चा हो चुकी है। हमारा लक्ष्य यहाँ रामदास के साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करना है।

3.1.14 बहेणाबाई का जीवन-वृत्त

बहेणाबाई उन विरल सन्त-भक्त कवियों में से एक हैं, जिन्होंने अपने जीवन की कई घटनाओं के सन्दर्भ में अपनी कविताओं में अन्तर्साक्ष्य उपलब्ध कराए हैं। उनके जीवन को लेकर जो चमत्कारिक

कथाएँ प्रचलित हैं, उनका स्रोत भी अधिकांश स्वयं बहेणाबाई की कविता ही है। उन्होंने अपनी कविताओं में अपने जन्मस्थान, अपने जीवनानुभवों-संघर्षों, गुरु से पहले स्वप्न में दर्शन और काव्यप्रेरणा तद्नंतर उपदेश, गाय-बछड़े की अद्भुत कथा, यायावरी जीवन आदि कई अनुभवों के सन्दर्भ में लिखा है। यही कारण है कि उनके जीवन को लेकर स्पष्टता है। जो कुछ अनाश्यक विवाद खड़े किए गए, उन सभी के उत्तर बहेणाबाई की कविता ने दे दिए हैं। सौ.शालिनी जावडेकर ने विस्तृत अध्ययन कर बहेणाबाई की प्रामाणिक एवं सम्पूर्ण जीवनी लिखी है। यहाँ संक्षेप में बहेणाबाई का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है, जो गागर में सागर भरने जैसा है, क्योंकि उनका जीवन उन सारे कष्टों से युक्त है, जो किसी भी पुरुष वर्चस्व से युक्त मध्यकालीन साधारण परिवार में हमारे इतिहास में रहा है।

बहेणाबाई का जन्म भाद्रपद वद्य त्रयोदशी शके 1550 को एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ। उन्हीं की कविता में आए उल्लेख के अनुसार उनका जन्मस्थान देवगाँव था। यह गाँव वर्तमान औरंगाबाद जिले के कन्नड तहसील में है। इसी कविता में आए उल्लेख के अनुसार इस गाँव की पूर्व दिशा में विश्व प्रसिद्ध एल्लोरा की गुफाएँ हैं। इस गाँव के सन्दर्भ में प्रचलित अगस्त्य ऋषी की कथा का भी उल्लेख इसी अभंग में किया गया है।⁶³ बहेणाबाई का परिवार पारम्परिक पुरोहित परिवार न था, अपितु एक मध्यवर्गीय परिवार था। इतिहास में ऐसे ब्राह्मण परिवार भी थे, जिन्हें आर्थिक कठनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हीं में से एक बहेणाबाई का परिवार था। तत्कालीन रूढ़ि के अनुसार तेरह वर्ष की आयु में बहेणाबाई का विवाह किया गया। इस विवाह के साथ दो त्रासदीय परिस्थितियाँ जुड़ी हुई हैं। एक तो यह अनमेल विवाह था और दूसरे अपनी परिस्थिति के चलते पिता आऊदेव कुलकर्णी ने कर्ज निकालकर यह विवाह किया था। इन दो गलतियों की सज़ा बहेणाबाई ही नहीं, उनके सारे परिवार को ने लम्बे समय तक भुगतने पर विवश होना पड़ा। इस एक घटना ने सारे परिवार के जीवन में परिवर्तन ला दिया। हुआ कुछ यूँ कि, पिता ने पुत्री के विवाह के लिए साहों से उधार ले लिया जिसे वे चुका न सके। पण्डित थे इस कारण होरी की तरह अपनी गर्दन किसी के पैरों तले दबी हो तब भी सहलाने जितनी कुशलता नहीं दिखा सके। बेदखली आने से पहले ही जमाता से इस विषय में बात की कि साहों की मुश्किलों का वे सामना नहीं कर सकते। जमाता के सुझाव के अनुसार यह पूरा परिवार रातोंरात गाँव छोड़कर अनजान लक्ष्य की ओर निकल पड़ा। दो जून का भोजन जुटाते-जुटाते, कई स्थान घूमते-घूमते यह परिवार पंढरपुर में आकर ठहरा। अपनी एक कविता में बहेणाबाई ने पंढरपुर और विठ्ठल के पहली बार दर्शन से अभिभूत होने का उल्लेख किया है।⁶⁴

कुछ ही दिनों बाद पंढरपुर के धार्मिक वातावरण को छोड़कर यह परिवार ने कोल्हापुर में एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय पाया। यहाँ बहेणाबाई को शास्त्रीय अध्ययन करते विद्यार्थियों से अपरोक्ष रूप में बहुत कुछ सीखने मिला होगा। अपने यायावरी जीवन में उन्होंने कई तीर्थों के दर्शन किए थे, कई सामाजिक सच्चाईयों से उनका सामना हो चुका था। यहाँ अनुभवों और भक्ति को ज्ञान आधार का मिल रहा था। जिस बहिरंग भट्ट के यहाँ यह परिवार आश्रय लिए हुए था, वे अध्यापक भी थे, जिनके यहाँ कई विद्यार्थी वेदाध्ययन किया करते थे। यहाँ के वातावरण में आत्मविद्या, धर्म एवं दर्शन पर चर्चाएँ-परिचर्चाएँ हुआ करती थी। बहेणाबाई ने भले ही उसमें भाग न लिया होगा, किन्तु उसे समीप से अवश्य सुना-देखा और समझने का प्रयास किया होगा। इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण घटना यहीं

के वास्तव्य में बहेणाबाई के साथ घटित हुई, जिसने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया। अनुभव एवं ज्ञान के साथ इस घटना ने उनके जीवन में करुणा के महत्व को प्रस्थापित कर दिया।

बहिरंग भट्ट ने अपनी यजमानी में मिले गाय-बछड़े बहेणाबाई को भेंटस्वरूप प्रदान किए। कुछ ही समय बाद उस गाय के बछड़े से बहेणाबाई को इतना लगाव हो गया जितना स्वयं उस गाय को भी न रहा होगा। बछड़ा भी बहेणा का साथ एक क्षणमात्र भी न छोड़ता। गाँव में यह प्रेमकथा आश्चर्य से सुनी-सुनाई जा रही थी, जिससे उनके पति को क्रोध आ गया। इस क्रोध का ज्वालामुखी तब फट गया जब जयरामस्वामी की कथा में स्थानाभाव के कारण बछड़े को बाहर रखा गया और बहेणा कथा सुनने लगी तो माता के विरह में पुत्र जोर-जोर से चिल्लाने लगा। ऐसे में कथा में विघ्न आता जा रहा था। अन्त में जयरामस्वामी ने पूछा तो पता चला कि यह वही माता-पुत्र हैं, जिनकी कथा वे सुन चुके थे। उन्होंने बछड़े को भीतर लाने का आदेश दिया और बछड़े ने भी आगे की कथा सुनी। बहेणा के पति को बहुत बुरा लगा। घर आते ही उन्होंने पत्नी के पीटना शुरू कर दिया। जब पीटने से मन भर गया तो उन्होंने उनके हाथ-पैर बाँधकर गाय-बछड़े के पास ले जाकर पटक दिया। पीटनेवाली अधिकतर स्त्रियों की भाँति बहेणा को भी पता न चला कि उन्हें किस अपराध का दण्ड मिल रहा था। इस पूरे प्रसंग को देखकर पशुओं का भी मन उद्विग्न हो गया था। तीनों ने अन्न-जल त्याग दिया था और इसी क्रम में बछड़े की मृत्यु हो गई। बहेणा की एक कविता के अनुसार वह बछड़ा फिर से जीवित हो उठा था।⁶⁵ अर्थात् उन्होंने अपने जीवन में आए इस पुत्र को अपनी कविताओं में फिर से जीवित कर दिया था। इस प्रसंग के बाद वे चार दिनों तक बेसुध रही। और जब सुध आयी तो सभी दिशाओं में विठोबा (श्री विठ्ठल) के ही दर्शन होने लगे और मात्र तुकोबा (तुकोबा) के अभंग सुनाई देने लगे। उन्होंने लिखा है कि तुकोबा से मिलकर उनसे गुरु दीक्षा पाना ही उनके जीवन का ध्येय रह गया था, जिन्हें उन्होंने अपना गुरु मान लिया था।⁶⁶ यहाँ आकर बहेणाबाई के जीवन का अर्धवृत्त पूर्ण होता दिखाई देता है, जहाँ से उनका अपना स्वतंत्र लक्ष्य स्थापित होता है।

अपनी विभिन्न मानसिक दशाओं का वर्णन बहेणाबाई ने अपनी कविताओं में किया है। इसके बाद उन्हें दो बार तुकोबा के मनोमय दर्शन हुए। इसी बात के चलते वे अपने परिसर में प्रसिद्ध हो गई और लोग उनके दर्शन के लिए भीड़ लगाने लगे। यह बात उनके पति को बिल्कुल न भाति थी और वे लोगों को हिकारत की नज़र से देखा करते थे। एक तो उन्हें सन्तान प्राप्ति हुई थी और उस पर यह परिस्थितियाँ जहाँ पत्नी साध्वि बनी जा रही थी ऐसे में उन्होंने सन्यास लेकर वनगमन करने का निर्णय लिया। यह बात उन्होंने बहेणा के माता-पिता को कह सुनाई।⁶⁷ “बहेणाबाई इसी बात से आनन्दित थी कि स्वप्न में ही सही सद्गुरु ने उनका स्वीकार किया और वे परमार्थ के मार्ग पर चल पड़ी थी। पति को समझाने का भी प्रयास वह लगातार प्रयास करती थी। पतिदेव उन्हीं का त्याग करने पर उतारू थे। परित्यक्ता का जीवन अपनाया जाए या परमार्थ-स्वहित का मार्ग छोड़ा जाए, यह यक्षप्रश्न उनके सामने खड़ा था। यह उन्हें पता था कि क्रोधी, जिद्दी पति अपना निर्णय किसी भी कीमत पर नहीं बदलेंगे। माता-पिता पास तो थे, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर न दे सकते थे।”⁶⁸

इस स्थिति में उन्हें अपने स्त्री होने पर क्रोध आना स्वाभाविक था, जिसे उन्होंने अपने अभंगों में अभिव्यक्त भी किया। मध्यकालीन स्त्री को निर्णय लेने के कितने अवसर मिला करते होंगे, उन अवसरों में कितने विकल्प हुआ करते होंगे। उन्हें भी अपने पति को ही चुनना था और उन्होंने चुना। भ्रतार

स्वयमेव परब्रह्म, ब्रह्म सनातन स्वामी माझा जैसे उद्गारों से उन्होंने बाद के समय में अपनी कविताओं में गौरान्वित भी किया है। कामायनी की गर्भवती स्त्री छोड़कर ईडा के भौतिक सुखों के पीछे दौड़नेवाले मनु को भी आखिरकार श्रद्धा ही बचाने आती है। जिस समाज में स्त्री का अनुकूलन पुरुषवादी मानसिकता के अनुसार कर दिया गया हो ऐसे में कोई स्त्री भी पुरुष के अनुसार ही निर्णय ले तो उसमें किम् आश्चर्यम्। बहेणाबाई के इस निर्णय का उनके पति पर बहुत गहरा असर हुआ। उनमें भी परिवर्तन आया और उन्होंने तुकोबा के दर्शनार्थ पत्नी को देहु ले जाने का निर्णय लिया। इस परिवर्तनवादी प्रसंग को स्वयं बहेणाबाई ने कई चमत्कारिक कथाओं द्वारा भी अभिव्यक्त किया है, जिनमें उनके पति को कई वेदनाओं से स्वयं तुकोबा ने निजाद दिलाई और इस कारण उनका हृदय परिवर्तन हुआ था।⁶⁹ कारण जो भी रहा हो, यह परिवार देहु की ओर निकल पड़ा।

देहु में आकर बहेणाबाई और उनका परिवार तुकोबा के पड़ोस में रहने लगा। विद्रोही तुकोबा के कई शत्रु पहले से ही थे, जिसमें से मंबाजी को इस बात का दुःख होने लगा कि एक ब्राह्मण परिवार इस शूद्र तुकोबा का शिष्यत्व स्वीकार करने जा रहा है। उसने कई प्रकार से बहेणाबाई के पति को भड़काने का प्रयास किया। परिवार को देहु गाँव भगाने के कई प्रयास किए। उसने तत्कालीन पंडित श्रेष्ठों से इस बात की शिकायत की, किन्तु वहाँ से थंडी प्रतिक्रिया पाकर वे अत्यन्त क्रोधित हो गया और चिढ़कर उसने बहेणाबाई की गाय चुरा ली। गाय को तीन दिनों तक बिना सानी-पानी दिए वह पीटता रहा। जब गाय पीटी जा रही थी तभी उसके जख्म तुकोबा के पीठ पर दिखाई दे रहे थे। इसी बीच मंबाजी के घर में आग लग गई। जब आग बूझाने लोग पहुँचे तो उन्हें वहाँ गाय मिली। इस घटना को कई चमत्कारिक कथाओं द्वारा बहेणाबाई ने अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है।

इसी बीच उन्हें कन्यारत्न प्राप्त हुआ, जिसका नाम काशी रखा गया। उनके अनुसार यह वही बछड़ा था जो उन्हें छोड़कर चला गया था।⁷⁰ तुकोबा ने भी उन्हें न केवल गुरुत्व प्रदान किया अपितु कवित्व का भी वरदान दिया। अब उनका आध्यात्मिक एवं दाम्पत्य जीवन सुख से भरपूर होने लगा था। यही वह समय था जब उन्हें सब कुछ प्राप्त हो चुका था और देहु जैसे गाँव में अब उनका आर्थिक रूप से गुजारा भी संभव नहीं रहा। कितने दिनों तक दूसरों के घर रहा जा सकता है। चौदह वर्षों की यायावरी के बाद सपरिवार वे अपनी ससुराल शिऊर को वापस अपने घर आ गई। माता-पिता-भाई अपने घर चले गए। कैसा महसूस हुआ होगा जब अपना घर उन्होंने देखा होगा इतने सारे अपने और दुनिया के दुःखों को देखकर। इतना बड़ा घर होने के बावजूद बेघर बनना सबसे बड़ी त्रासदी थी, जो आज समाप्त हो रही थी। यहाँ आने के बाद उन्हें कुछ दिन बाद वैधव्य प्राप्त हुआ तथा इसके बाद वे अपने पुत्र एवं पुत्रवधु के साथ सुखपूर्वक रहने लगी थी। कुछ शोधकर्ताओं द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि पति की मृत्यु के बाद बहेणाबाई रामदास के मठ में रहने चली गई थी। बहेणाबाई के जीवन एवं काव्य पर आधिकारिक रूप से शोध करनेवाली शालिनी जावडेकर एवं अन्य कई आलोचकों ने इसे निराधार बताया है। उनका कहना है कि “जब यह परिवार शिऊर आया तो गंगाधर पंत की आयु पचास के आस-पास रही होगी। यदि माना जाए कि इस अवस्था में भी उनकी मृत्यु हो गई होगी अपने दो सन्तानों और इतना बड़ा घर छोड़कर वे क्योंकर चली जाएंगी?”⁷¹

वास्तव में एक विवाद खड़ा करने के लिए कुतर्कों के सहारे बहेणाबाई को रामदास शिष्या सिद्ध करने का प्रयास कई वर्षों तक किया जाता रहा है। अपनी उत्तर-आयु में बहेणाबाई ने अपने परिवार

की जिम्मेदारी सँभाली रही। साथ ही सामाजिक दायित्व निर्वाह के तौर पर उन्होंने कीर्तन भी आरंभ कर दिया था। गाँव की स्त्रियों में जागरूकता के लिए भी वे कार्य करती रही। उन्होंने इन स्त्रियों के लिए उनकी मनःस्थिति को समाज के सामने रखने के लिए कई गीतों की रचना की है, जो आज तक स्त्रियों की जुबान पर चढ़े हुए हैं।

बहेणाबाई की मृत्यु अश्विन शुद्ध प्रतिपदा शके 1622 को शिऊर में हुई। आज भी उनके वंशज यहीं रहते हैं। उनके दो शिष्यों का उल्लेख मिलता है एक दीन कवि और दूसरा उन्हीं का सुपुत्र विठ्ठल। विठ्ठल उनकी अधिकांश कविताओं का लिपिकार रहा है। अपनी कविताओं में उन्होंने तुकोबा शिष्या होने का तथा एक मध्यकालीन स्त्री का धर्म एक साथ निभाया है। साधारणीकरण करते हुए उनकी तमाम कविताओं को एक मध्यकालीन स्त्री की काव्यात्मक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। अपने ही जीवन को चमत्कारिक कथाओं में बुनने का कार्य उन्होंने किया। इसमें से उनकी वेदनाओं को छानकर निकालना अधिक कठिन कार्य नहीं है। एक यायावरी जीवन जीते हुए अपने काव्यत्व के माध्यम से घर को बचाने का प्रयास उन्होंने सदैव किया है और इसकी सफलता के पीछे उनकी सद्‌ईच्छा ही कार्य कर रही थी।

3.2 मराठी कविताएँ : अन्तर्वस्तु एवं रूप विवेचन

3.2.1 मुकुंदराज का 'विवेकसिंधू'

मुकुंदराज ने अपने ग्रंथ 'विवेकसिंधू' में स्वीकार किया है कि उनका ग्रंथ उपनिषदों के मंथन से निकला हुआ है, जिसके मूल में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का आधार है।⁷² उन्होंने अपने लेखन का हेतु स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ब्रह्मविद्या सर्वमान्य तक पहुँचाना उनका लक्ष्य है। यह ग्रंथ गुरु-शिष्य संवाद के रूप में लिखा गया है, जो उन्हें नाथ सम्प्रदाय की लेखन पद्धति से जोड़ता है। इस ग्रंथ को अधिकांश इतिहासकार-आलोचकों ने दार्शनिक ग्रंथ अधिक मानते हुए इससे काव्यसौन्दर्य की अधिक अपेक्षा नहीं की है। फिर भी अपनी बातों को समझाने के लिए रचनाकार ने उपमा, दृष्टान्त आदि का आधार लिया है। इनका दूसरा ग्रंथ 'परमामृत' उनके पहले ग्रंथ का ही संक्षेपण है। इनका एक हिन्दी पद कहा जाता है, जिसका उल्लेख अगले अध्याय में होगा।

3.2.2 चर्चक महतारी : महदंबा का मराठी काव्यत्व

मराठी साहित्यिक परिदृश्य के वस्तु और रूप दोनों क्षेत्रों में कई नई प्रवृत्तियों को आरंभ करने का श्रेय महदंबा को दिया जाता है।

मराठी साहित्याचार्य वि.ल.भावे ने महदंबा के रचनात्मकता के प्रेरणास्रोत की जानकारी देते हुए लिखा है-महदंबा ने चक्रधर से दीक्षा प्राप्त की थी और अपने प्रौढ़ावस्था में उनके सानिध्य में रहकर उसकी सेवा-चाकरी बड़े मनोभाव से किया करती थी। एक बार ऋद्धपुरकर गोविंदप्रभू ने 'श्रीकृष्णविवाहमहोत्सव' का आयोजन किया था। इस समय श्रीकृष्ण को वर मानकर, जो विवाह के लिए श्रृंगार कर तैयार हैं और स्वयं को रुक्मिणी की सखी मानकर गीत गाने के लिए गोविन्दप्रभु ने महदंबा से कहा। इस विनती की रक्षा करते हुए महदंबा ने अत्यन्त मनोरम गीत गाए। इन गीतों में उन्होंने सम्पूर्ण कृष्ण-कथा पिरोयी है। इन गीतों को 'ढोवळे' कहा जाता है। "इन ढोवळों की कुल संख्या 149 है। यह मराठी में उपलब्ध प्रथम कृष्ण-प्रेमपरक रचना है।"⁷³

इतिहासकार वि.ल.भावे ने जिसे 'धवळे' कहा है, उसे वास्तव में 'धवळे' कहा जाता है, जो धवळ का बहुवचन है। मराठी साहित्य में रुक्मिणी स्वयंवर कथा-प्रसंग को आधार बनाकर महदंबा से आरंभ होनेवाली इस परम्परा में एकनाथ और उनके बाद के समय तक कई काव्य-कृतियाँ लिखी गई। इन सारी रचनाओं में आरंभकर्ता के रूप में महानुभाव पंथ के रचनाकारों का और उनमें भी महदंबा की कविताओं का विशेष स्थान है। इस विवाह अथवा स्वयंवर कथा पर आधारित स्त्री रचनाकारों की कृतियों में पुरुष रचनाकारों से निःसंदेह स्वाभाविक रूप में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। एकनाथ जैसे रचनाकारों ने अपनी पंथीय मान्यताएँ एवं अपनी विचारधारा को इस कथा में सम्मिलित किया है। प्रायः प्रत्येक कवि की कथा में युगानुरूपता की विशेषता देखी जा सकती है, भले ही इनमें काव्य की दृष्टि से सभी महत्त्वपूर्ण न हो। "श्रीकृष्ण चक्रवर्ती महानुभाव पंथ के मुख्य दैवत होने के कारण उनकी विवाह कथा इस पंथ के कवियों का प्रिय विषय बन गया है। यह कविताएँ अख्यान काव्य का ही एक प्रकार है, किन्तु उनकी संख्या और उच्चस्तर को ध्यान में रखते हुए उन पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करना योग्य है। जिस प्रकार महानुभाव चरित्रकारों का विषय 'पंचकृष्ण', उसी प्रकार महानुभाव अख्यान कवियों का एकमात्र विषय श्रीकृष्ण चरित्र, और उसमें भी विशेषतः श्रीकृष्ण विवाह कथा बन गया है। इसीलिए महानुभावीय अख्यान-काव्य से तात्पर्य श्रीकृष्ण विवाह कथा माना जा सकता है।"⁷⁴

महदंबा रचित धवळे दो भागों में विभाजित हैं, जिनके रचनाकाल में 15-20 वर्षों का अन्तर है। ऊपर महदंबा के धवळे की रचना करने के पीछे श्री गोविन्दप्रभु के प्रेरणा की कथा बतलायी गई है, वास्तव में वह धवळों के पूर्वार्द्ध के रचना की प्रेरणा कथा है। वि.ल.भावे से भिन्न कथा अधिकारिक रूप से महानुभाव पंथ के साहित्य पर शोध-कार्य करने वाले शं.गो.तुळपुळे ने दी है। उनके अनुसार- "महदंबा ने इ.स.1287 से पूर्व किसी समय यह धवळे लिखे होंगे। एक दिन भिक्षा के लिए जाते समय उसे बाशिंग ले जाती हुई तेलन दिखाई दी। महदंबा ने उससे गोविन्दप्रभु के लिए एक बाशिंग माँगकर 'गोसावियांचीया श्रीमुगुटी बांधले' (गोसाई के श्रीमुकुट पर बाँधा) कंगन बांधा, तुरा बजाया। विवाह प्रवृत्त होकर गोविन्दप्रभु ने महदंबा से कहा - 'आओ मेली जाए गाए म्हणे...कृष्ण रुक्मिणी गाय म्हणे, तुरयाथाट गाय म्हणे' (अजी गाओ, गाओ, कृष्ण-रुक्मिणी कहे गाओ, विवाह के गीत गाओ) और वह गाने लगी। इस समय केवल पूर्वार्द्ध ही लिखा गया, जिसमें 83 धवळे हैं।"⁷⁵ शं.गो.तुळपुळे ने भी माना कि धवळों के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध "इन दो भागों के रचनाकाल में लगभग पन्द्रह वर्षों का अन्तर होगा।"⁷⁶ उत्तरार्द्ध में धवळों की संख्या 63 है।

जैसाकि पहले संकेत किया जा चुका है, धवळे के पूर्वार्द्ध में रुक्मिणी हरण की कथा गाई गई है और उत्तरार्द्ध में रुक्मिणीस्वयंवर का प्रसंग चित्रित किया गया है। इस कविता के सन्दर्भ में भी अधिकांश पंथीय साहित्य की तरह पावित्र्य को जोड़ते हुए महदंबा ने लिखा है- "जो भी रुक्मिणीहरण का अद्भुत गायन करेगा और उस श्रीकृष्ण की कथा भक्तिभाव से श्रवण करेगा उस परमगति प्राप्त होगी।"⁷⁷

श्रीमद्भागत के दशम स्कंध के 24 से 52 अध्यायों में रुक्मिणीस्वयंवर की कथा सविस्तार आयी है। महदंबा ने अपनी कल्पना सृष्टि के माध्यम से इस कथा को ग्रहण-त्याग करते हुए भावविस्तार दिया है। इस कथा काव्य के प्रसंग चित्रण (पृ.23), व्यक्ति चित्रण, शब्दों की मितव्ययता, कल्पना वैभव (पृ.25), सूक्ष्म निरीक्षण, भक्ति रस का प्राधान्य (पृ.26) आदि विशेषताओं का विस्तार विवेचन प्रो.मा.के.यादव ने अपनी पुस्तक 'मराठी सन्त कवयित्री' में किया है। महदंबा की कविताओं का इन्हीं आधारों पर विवेचन-विक्षेपण शैला गावंडे⁷⁸ ने भी किया है। कथा काव्य के उत्तरार्द्ध में कृष्ण-रुक्मी युद्ध, रुक्मि पर कृष्ण द्वारा किए गए व्यंग्य आदि के माध्यम से विनोद निर्मिती का प्रयास किया गया है। कथा प्रवाह में विवाह, द्वारकागमन, नगर प्रवेश इत्यादि प्रसंगों का वर्णन सुन्दरता से किया गया है। "तेरहवीं शताब्दी की विवाह पद्धतियों की जानकारी धवळे में मिलती है। स्वाभाविकता, गतिमानता, सहजसुन्दरता और स्त्री सुलभता धवळे की स्पष्ट विशेषताएँ हैं।"⁷⁹

मराठी भक्ति आन्दोलन एवं भारतीय भक्ति आन्दोलन में लिखे गए साहित्य-प्रवाह की ऐतिहासिक प्रक्रिया में देखने पर महदंबा के साहित्य की कुछ विशेषताओं के साथ कमियाँ भी स्पष्ट होती हैं, उसका एक स्त्री के रूप समाज को देखने का नज़रिया खुलकर सामने आता है। “एक स्त्री साहित्यकार के रूप में भी महदंबा विवाह विधियों का कुछ ऐसा सविस्तार वर्णन करती है कि जो स्त्री द्वारा ही संभव था। स्वतः विवाह से वंचित थी, किन्तु रुक्मिणी के मन में कृष्णविषयक प्रेमभावना निर्माण होने के पश्चात् उसके भाव विश्व में मची खलबली, उसकी विरहावस्था एवं मिलनावस्था के क्षण महदंबा ने बड़ी सहृदयता से चित्रित किए हैं। रुक्मिणी सखा कृष्ण के रूप का वर्णन करते हुए जो भूमिका वह स्पष्ट करती है, उसमें भी स्त्री स्वभाव के विविधांगों को पहचानने में भी महदंबा की मार्मिकता का पता चलता है। इस प्रकार एक स्त्री द्वारा लिखित काव्य के रूप में भी इस काव्य को वैशिष्ट्य प्राप्त होता है।”⁸⁰

महदंबा द्वारा किया गया प्रेम का वर्णन सूफियों की कोटी का नहीं है और न ही उनकी पद्धति का। विवाह के लिए संघर्ष है, विवाह जिसका फल है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ‘काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था’ की धारणा को फलितार्थ होते देखा जा सकता है। साधनावस्था के साथ उसके फल विवाह का भी चित्रण महदंबा ने पूर्ण बिम्बात्मकता के साथ किया है। किन्तु सूफियों की भाँति यहाँ केवल नायक (कृष्ण) ही साधनावस्था के पथिक नहीं हैं अपितु रुक्मिणी भी एक भक्तश्रेष्ठ के रूप में चित्रित की गई है। महदंबा द्वारा चित्रित प्रेम एकान्तिक नहीं है। उसका प्रेमी नायक कभी भी अपने अलौकिक रूप को खोता नहीं है। तुलसीदास की भाँति वह सदैव स्मरण दिलाती रहती है कि यह कथा किसी सामान्य नायक की नहीं है, बल्कि वह श्रीकृष्ण भगवान की कथा गा रही है। ऐसा कहा जा सकता है कि वे अपनी सारी भावनाएँ महदंबा रुक्मिणी के माध्यम से कहती हैं, स्वयं कभी अपने आप को अपनी कविता का विषय या पात्र नहीं बनाती है। महदंबा की भक्ति कहीं भी मधुरा भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करती, वह दास्य भक्ति ही रहती है। महदंबा द्वारा चित्रित रुक्मिणी का विरह वर्णन किसी भी अंग से वैयक्तिक पीड़ा नहीं लगता है और न ही उनकी कविता में स्वयं मिलन की उत्सुकता।

इसी प्रकार मीराँ और कबीर के काव्य सी मिलन की उत्कटता और भावविभोरता उनके काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होती है। यहाँ कथा का गायन मात्र उनका उद्देश्य प्रतीत होता है। कृष्ण कथा और उसमें भी विशेषतः विवाह कथा में श्रृंगार के लिए विशेष गुंजाइश होती है। प्रायः प्रत्येक कृष्ण कथा पर काव्य लिखने वाले कवि की कृतियों में श्रृंगार का पूट दृष्टिगोचर होता है। किन्तु “महदंबा की करामात यह है कि उसने श्रृंगार को इस कथा के आस-पास भी भटकने नहीं दिया और फिर भी इस कथा की रमणीयता का रंग थोड़ा भी फीका नहीं पड़ा।”⁸¹ ऐसा इसलिए संभव हो पाया क्योंकि यह एक प्रेमकथा नहीं है, बल्कि रुक्मिणी की उत्कट भक्ति भावना की रचना है। महदंबा ने श्रीकृष्ण को इस रचना का केन्द्र बनाया है। इस

“धवळ अथवा धवळा यह चार चरणी छन्द है, जिसकी रचना बहुत ही ढीली होने के कारण महदंबा की काव्य-प्रवृत्ति के लिए पोषक सिद्ध हुई है। उसकी भाषा साधी किन्तु मधुर है। उसकी कहन शैली में स्त्री स्वभाव का सहज मार्दव है। इस कारण उसके यह धवळे वाचकों को मोहित कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप ‘पूर्वार्द्ध’ की निम्नलिखित रचना देखे-

शिशुपाळ वरू ऐसें आइकिलें बाळाः

भु पातली निःहां जाली व्याकुळाः

स्मरिले कृष्णराओ, ‘देवा, संकष्टी पडिलीयें थोरीः

तूं एकु वांचौनियां आनु नाहीं अवधारीं’ ॥७॥

हृदां धाक, तिये लागली चिंताः

‘भक्तबंधु छेदुनि’, म्हणे, ‘राखै अनंताः

आरतां दानी कृपा करा देवा मासि देयावें उधारणः

शिशुपाळ-बंदिसाळ चुकवा, दाखवा आपुले श्रीचरण' ॥८१॥⁸²

इस प्रकार महदंबा ने अपने रचनात्मक उत्कर्ष से इस कथा-काव्य को रूप प्रदान किया है। इस रूप में महदंबा किसी भी अर्थ में चक्रधर के बाद मराठी सन्त-भक्त रचनाकारों में हिन्दी में लिखनेवाली प्रथम कवयित्री है। आगे महदंबा की हिन्दी कविता पर अध्ययन उनकी मराठी कविताएँ, मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ एवं सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन की ऐतिहासिक प्रक्रिया में अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

3.2.3 करुणा के गायक दामोदर पण्डित की मराठी रचनात्मकता

दामोदर पण्डित के नाम पर 'वच्छाहरण' नामक मराठी रचना मिलती है, जिसकी गणना महानुभाव सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख सात ग्रंथों में सादर की जाती है। सन 1316 में रचित इस 503 ओवियों की काव्यकृति का आधार भागवत के दशम स्कंध के 12, 13 एवं 14 वें अध्याय हैं। इसकी कथा-काव्य का मूलाधार अधासूर वध की कथा है, जिसमें वत्सहरण एवं ब्रह्मदेवकृत श्रीकृष्ण स्तुति के प्रसंगों का भी समावेश किया गया है। हिन्दुस्थान की कई पारंपारिक कथाओं अथवा मिथकीय पात्रों का आधार लेते हुए भी कई कवियों अपनी स्वतंत्र रचनाएँ की हैं, उसी प्रकार एक प्रतिभावान कवि प्रणित काव्य की विशेषताएँ दामोदर की काव्य रचनाओं में हैं। तुळपुळे ने वत्साहरण के "वर्णन कौशल", "कथा संक्षेपण एवं भाव विस्तारण" तथा "निसर्ग प्रेम"⁸³ से युक्त पंक्तियाँ आदि विशेषताओं की ओर अपनी प्रभावी आलोचनात्मक दृष्टि से ध्यानाकर्षण करवाया है। यह सब दामोदर की रचनाओं के गौण हेतु हैं, मुख्य हेतु तो तुलसीदास की भाँति भक्तिमय भावों की अभिव्यक्ति है। "अपने अन्तःकरण में व्याप्त भक्ति की सरिता को उसमें उँडेलते हुए, ज्ञान, भक्ति और काव्य का त्रिवेणी संगम करने के लिए, वे इस कथा की ओर मुड़े होंगे।"⁸⁴ दामोदर संभवतः काव्य को भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम अधिक मानते थे इसलिए श्रृंगारिक कवियों की उन्होंने भृत्सना की है। ऐसे कवियों के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है-"भक्तिरसीं नाही आदरू: जेयां कवी पढिये श्रृंगारू: तेहीं तऱ्ही सौंदराचा सौंदरू : राओ मुरारीचा वानावा।" इसी तरह उन्होंने भक्तिप्रधानता के कारण इस रचना के साथ पवित्रता की भावना भी जोड़ दी है। अपनी "यह नित्यनूतन कथा सभी के प्राणों को निचोड़ देगी और कामनाओं को पूर्ण करेगी। इसका उन्हें विश्वास है। यह कृष्णकथा चमत्करैल चित्त संतजनांचे (संतजनों के चित्त को शान्ति देगी) इसका वे अपने पाठकों को विश्वास दिलाते हैं।"⁸⁵ इसी कारण "डॉ कोलते ने उन्हें पंडित कवि न कहते हुए संत कवि कहा है।"⁸⁶

महानुभाव पंथ के प्रमुख सात ग्रंथों में सम्मिलित होना रचना में पंथीय दृष्टिकोण एवं विचारधारा का सफलतापूर्वक वहन होने का परिचायक है, किन्तु उसी रचना में साहित्यिक मूल्यों का होना अन्य बात है। यह कारण है महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रंथकारों में शुमार होते हुए भी दामोदर महानुभावीय अन्य कवि, विशेषतः नरेन्द्र और भास्कर जैसे, ऊँचे स्तर के साहित्यकार नहीं माने गए हैं। यह दृष्टिभेद मात्र हो सकता है, "किन्तु उसी के साथ दामोदर पण्डित के काव्य में नरेन्द्र-भास्कर जैसी साहित्यिकता, कल्पनावैभव एवं रसपूर्णता भी नहीं है।"⁸⁷ दामोदर की रचनाओं में साहित्यिक मूल्यवहन का दूसरा पक्ष यह भी है कि "वच्छाहरण में आया कृष्णवर्णन या यमुनावर्णन पढ़ने पर प्रतिभा या पाण्डित्य के पूँजी की पंडित के पास कमी है यह ह.श्री.शेणोलीकर का आक्षेप पूर्णतः स्वीकार करना कठीन है। यह कवि प्रतिभावंत है तथा इसका दृष्टिकोण भी मूलतः भिन्न है। निवृत्ति एवं श्रीकृष्ण पर उसके प्रेम के आगे उसे काव्यानंद से अधिक प्रिय ब्रम्हानंद लगे तो इसमें कीम् आश्चर्यम्। काव्यानन्द की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ स्थान देनेवाला मार्ग ही दामोदर पण्डित का मार्ग था, यही बात अ.ना.देशपांडे ने

भी कही है। नरेन्द्र और भास्करभट बोरीकर को महानुभाव सम्प्रदाय के पंडित कवि कहा जाए तो दामोदर पण्डित को महानुभाव सम्प्रदाय का सन्त कवि कहने में कोई हर्ज नहीं है।⁸⁸

अतः भक्ति का अबाध गायन उनकी कविता का उद्देश्य था। “वे उपमाश्लेषादि अलंकारों की योजना कर अपने काव्य में कल्पना सौन्दर्य लाते हैं, नागरी बोली का आश्रय लेकर रसपूर्णता को साधते हैं, किन्तु उन्होंने साहित्य का उपयोग कृष्णभक्ति, इस एक ही ध्येय से प्रेरित होकर किया है।”⁸⁹ डा.कोलते ने दामोदर के काव्यसामर्थ्य एवं उसकी मर्यादाओं का समुचित मूल्यांकन करते हुए लिखा है, “दामोदर पण्डित के इस भावनोत्कट अन्तःकरण के अविष्कार को एक प्रकार की गांभीर्यता है और इसकी प्रतीति सम्पूर्ण काव्य को पढ़ते हुए लगातार होती है। यहीं भी भावनाओं का शोर नहीं, अवश्यकता से अधिक ऊंचाई नहीं, प्रदर्शन का प्रयास नहीं। इसी कारण ऐसा लगता है कि इस काव्य का परिणाम अन्तःकरण पर संयत स्वरूप में हुआ है। शान्तरस निर्मिती के यश का यही रहस्य है...श्रृंगार, करुण, हास्यादि रसों से...अन्तःकरण के शक्ति की ऊंचाई बढ़ जाती है। शान्त रस के कारण यह शक्ति की ऊंचाई बढ़कर भी अन्तःकरण को एक प्रकार की समाहितता प्राप्त होती है। मन के पार्थिव से अपार्थिव रूप में जाने के कारण सर्वत्र शान्तता का अनुभव होता है। दामोदर पण्डित के वद्धाहरण के पठन से यही अनुभव आता है। यह उसके काव्यप्रयोजनों की यशस्विता का द्योतक है।”⁹⁰ इसके अतिरिक्त दामोदर पण्डित के हिन्दी पद भी प्राप्त होते हैं, जिसका अध्ययन आगे होना है।

3.2.4 दयनीय महानता : ज्ञानेश्वर एवं बहन मुक्ताबाई

निवृत्तिनाथ के शिष्य-बन्धु ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्टी, हरिपाठ, नमन एवं स्फुट अभंगों द्वारा वारकरी सम्प्रदाय को दार्शनिक आधारभूमि देने की भूमिका का निर्वहन किया। ग.बा.सरदार के अनुसार ने ज्ञानेश्वरी के सन्दर्भ में लिखा है, “सर्वसामान्य को समझने के लिए दार्शनिक बारिकियों को टालते हुए उसमें गीतार्थ को लागलपेटकर उन्होंने उपमा-दृष्टान्तों के आधार पर बता दिया, यह कईयों की समझ है। किन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। भावार्थ अर्थात् उपरी अर्थ नहीं। शब्दार्थ या वाच्यार्थ के परे जाकर गीता का गहरा एवं संपन्न आशय का बोध हो वह भावार्थ, यह ज्ञानेश्वर की कल्पना है। इसलिए ‘पाहतया भावज्ञा फावती गुण। चिंतामणिचे ॥’ यह उन्होंने निश्चिती दी है....अपना टीकासंबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने भावार्थ, सकलार्थ, फलितार्थ, गूढवर्म, मूलध्वनि, आतुवट, वस्तुविचार जैसे शब्दों की योजना की है। इससे गीता का अर्थ आसान कर बताना, इतना ही ज्ञानेश्वर का उद्देश्य नहीं था, यह सहजता से समाझा जा सकता है।”⁹¹ इसी ग्रंथ को वारकरी सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार कहा जाता है और इसके साथही साहित्य में इसका स्थान सर्वोच्च ग्रंथों की श्रेणी में है। इस ग्रंथ के साहित्यिक विश्लेषण के लिए स्वतंत्र प्रबंध अपूर्ण होगा।

‘चांगदेव पासष्टी’ 65 ओवियों का छोटा-सा ग्रंथ है, जिसमें चांगदेव नामक हठयोगी को लक्ष्य करते हुए, किसी भी मत की आलोचना किए बगैर सीधे-सीधे अपने दार्शनिक मतों को अभिव्यक्त किया गया है। ‘हरिपाठ’ में मधुराभक्ति का आधिक्य देखा जा सकता है तो ‘नमन’ प्रार्थनोन्मुख रचना है। ‘संकिर्ण अभंग’ 969 जिन अभंगों का संकलन है वह वास्तविक रूप में वारकरी सम्प्रदाय के दार्शनिक आधार है। इसमें अराधक की व्याकुलता, सगुण-निर्गुण ऐक्य, नामस्मरण, गुरु महात्म्य, प्रेमा भक्ति इत्यादि उन विषयों-भक्ति-मूल्यों पर अभंग है, जो वारकरी सम्प्रदाय में मान्य भक्ति-मूल्य हैं। यह वह अभंग हैं जिनके आधार पर ज्ञानेश्वर का दार्शनिक, विचारक एवं रचनाकार रूप पूर्णरूपेण उभरकर सामने आया है। संभवतः इन्हीं रचनाओं ने आगे के रचनाकारों को प्रबंध की बजाए मुक्तक अभंग

रचनाओं के लिए प्रेरित किया है। सोपानदेव के 52 अंश उपलब्ध हैं। मुक्ताबाई के 53 अंशों में से 11 'ताटीचे अंश' मराठी जनमानस में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस भाई-बहन की एक-एक हिन्दी कविता कही जाती है, जिसका अध्ययन अगले अध्याय में किया जाएगा।

3.2.5 आदि अंशकार नामदेव का मराठी काव्य

नामदेव के काव्य की लोकप्रियता का रहस्य भी है कि वह देवमंदिरों से जुड़कर मौखिक परम्पराओं का एक अविभाज्य अंग बन गयी। श्रव्य-दृश्य का अद्भुत समागम उसकी क्षमता है और जनता में उसे व्यापक स्वीकृति मिली। उनकी कविता की महत्वपूर्ण भूमिका यह थी कि उसमें भक्ति को सहज सामान्य भूमि पर लाकर प्रस्तुत करने का सक्षम प्रयास किया गया है। उन्होंने मराठी भक्तिधारा को नई सर्जनात्मक दिशा देने में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वहन अपने काव्य एवं कीर्तन के माध्यम से किया। नामदेव ने अधिक-से-अधिक लोकतांत्रिक मूल्यों को भक्ति आन्दोलन में प्रस्थापित करने का प्रयास अपनी लोकवादी दृष्टि से किया। उन्होंने नामा भक्ति के माध्यम से भक्ति को ऐसी सहजता प्रदान की, जिस कारण भक्ति पद्धतियों पर युगों-युगों से व्याप्त विशेष अधिकारों को खत्म करने में विशेष सहायता मिली। उनकी नामा भक्ति में महल-झोंपड़ी, निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, निवृत्ति-प्रवृत्ति आदि विचारधाराओं का टकराव नहीं, न उनका विशिष्ट समन्वय है, अपितु उसमें इन सिद्धान्तों-व्यवहारों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। अपने जागृत व्यक्तित्व से उन्होंने सभी मतों का प्रतिनिधित्व किया।

नामदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में कई परम्पराओं का शान्तिपूर्ण समाहार होता दिखाई देता है। यही कारण है कि वे एकसाथ भक्तिकालीन कई प्रवृत्तियों का उपसंहार भी करते हैं और कई प्रवृत्तियों की भूमिका भी बाँधते दिखाई देते हैं। एक ओर उन्होंने विठ्ठल भक्ति को अपना आधार बनाया तो दूसरी ओर वे केवल विठ्ठल भक्ति तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने सगुण भक्ति को आगे बढ़ाया तो महानुभावों द्वारा भी स्वीकृत निर्गुण भक्ति को अपनाया। नाथ परम्परा से जुड़कर हर की भक्ति में अपने को लीन कर लिया और वारकरी सम्प्रदाय को आधार प्रदान कर हरी से नाता जोड़ लिया। भक्ति को सामाजिकता प्रदान करते हुए कथा-कीर्तन के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों पर कटाक्ष किया, वहीं अद्वैत दर्शन से जुड़कर दार्शनिक चिन्तन को भी गति प्रदान की। एक ओर निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव एवं विसोबा खेचर जैसे नाथ सम्प्रदायी तथा शास्त्रीय ज्ञानियों से सम्बन्ध स्थापित किया, तो दूसरी ओर अपनी शिष्य परम्परा बंका महार, जनी दासी, चोखामेळा आदि शूद्र मानी जानेवाली जातियों में आगे बढ़ाई। वारकरी सम्प्रदाय में नींव का काम करते हुए उन्होंने उत्तर भारत में राजपुताना, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त से होते हुए पंजाब तक अपना योगदान दिया। नामदेव का प्रवेश भक्ति आन्दोलन के पटल पर आँधी की तरह नहीं, अपितु शितल पवन की भाँति शान्त गति से होता गया, जो कई क्षेत्रों में शान्ति से प्रवेश करते हुए तम वातावरण को अपने अनुकूल बनाने का कार्य अन्तिम अवस्था तक करता गया। ऐतिहासिक क्रम में देखा जाए तो कई अर्थों में नामदेव का जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व 'विरोधों का सामजस्य'⁹² बनकर प्रस्तुत होता है। वे उन विरल कवियों में से हैं, जिनका केवल न शिष्य समुदाय दो भिन्न संस्कृतियों में फैला है, बल्कि जिनके द्वारा रचित पाठ दो भिन्न समुदायों में 'पवित्र पाठ' के सिंहासन पर आसीन है।

नामदेव के जीवन की कई प्रसिद्ध घटनाओं में से यह भी कही जाती है कि उन्होंने शतकोटी काव्य रचना का प्रण लिया था। नामदेव की जन्मपत्रिका बनानेवाले बाबाजी ब्राह्मण ने भविष्यवाणी की थी कि यह शतकोटी अभंगों की रचना करेगा। इस आधार पर नामदेव की शतकोटी कविताएँ होने की उम्मीद बहुत वर्षों तक की जाती रही। इसी आधार पर नामदेव की उपलब्ध कविताओं को हमेशा अपूर्ण माना जाता रहा। नामदेव के सन्दर्भ में प्रचलित कई चमत्कारिक घटनाओं की तरह यह भी एक किंबदन्ती के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शं.दा.पेंडसे ने नामदेव की कविताओं का उनके भक्ति की दशाओं के अनुसार अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने श्रीमद्भागवत गीता में उल्लेखित आर्त, जिज्ञासू, अर्थार्थी और ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों की अवस्थाओं के अनुसार नामदेव की कविताओं को क्रम में सजाते हुए, किस अवस्था में नामदेव की कविताएँ किस मनोदशा, भावदशाओं एवं विचारधारा से गुज़र रही थी, इसका सोदाहरण अध्ययन प्रस्तुत किया है।⁹³

नामदेव के जीवन की आरंभिक अवस्था में उनके द्वारा विठ्ठलमूर्ति के दूध पीने जैसी चमत्कारिक घटनाएँ घटित हो चुकी थी, जिस कारण नामदेव को भक्तश्रेष्ठ होने का अहंकार हो गया था। इसके साथ ही उनमें भक्ति के रूप में वह स्थिति थी, जो सूरदास की थी। नामदेव की इस दौरान लिखी गई कविताओं में नीरी भावात्मकता एवं ईश्वर को किसी मूर्ति तक ही करके देखने का आग्रह उपस्थित है। “नामदेव आरंभ में आर्त भक्त थे। विठ्ठल दर्शन की छटपटाहट उन्हें लगी रहती। इस अवस्था में उनके द्वारा लिखे गए अभंग उत्कट भक्तिभाव की पराकाष्ठा से युक्त हैं। पंढरपुर आने से पूर्व उन्होंने इन अभंगों की रचना की होगी। नामदेव के साधकावस्था में ईश्वर दर्शन की उत्कट ईच्छा के कारण लिखे अभंगों में सादगी है और वह भावपूर्ण भी हैं।”⁹⁴ उनके इस समय के पद केवल विठ्ठल महिमा और उनकी आर्त पुकार से सम्बन्धित ही थे और इस कारण वे पद स्वाभाविक रूप में कृष्ण भक्ति से भी सम्बन्धित थे। काव्य सृजन भी उनकी भक्ति का ही एक अंग था, वैयक्तिक भक्ति और मुक्ति साधना के रूप में वे काव्य साधना किया करते थे। “इसी से नामदेव के ईश्वर दर्शन के आर्तता की कल्पना हो जाती है। उनके ईश्वर प्रेम से भरपूर अभंग, भाविक भक्तों को उनकी भावनात्मकता समरस करा कर कभी रुलाती है तो कभी अमाप सुख प्रदान करती है।”⁹⁵ इसी समय तक उनका काव्यत्व भी लोकप्रिय होने लगा था, एक भक्त कवि के रूप में।

जब नामदेव निवृत्तिनाथ के कहने पर विसोबा खेचर को गुरु बनाने औंढा पहुँचे, तब उन्हें शिवलिंग पर पैर रखकर सोते हुए विसोबा को देखकर आश्चर्य हुआ। नामदेव को ईश्वर की सर्वव्यापकता को समझाने के लिए जान बूझकर विसोबा ने यह अजीब प्रकार का स्वांग रचाया होगा। जब नामदेव ने पैर उठाने के लिए कहा, तब विसोबा ने कहा, ‘देवाविणा ठाव रिता कोठें आहे। विचारोनि पाहे नामदेवा। जेथें देव नसे तेथें माझे पाय। ठेवी पां अन्वय विचारोनि।’ विसोबा ने सर्वप्रथम नामदेव को ‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’ या ‘वासुदेवः सर्वम्’ के ईश्वर की विश्वव्यापकता की अन्वयता का ज्ञान देकर उस पर गंभीरता पूर्वक विचार करने का सुझाव दिया। इसी के साथ ‘नामा पाहे अवघा जिकडे तिकडे देव। कोठे रिता ठाव न देखेचि॥’⁹⁶ जैसा अनुभव करने लगे और उन्होंने विसोबा के चरणों में स्वयं को समर्पित कर दिया।

इसके अतिरिक्त 'संतमेळा' में बिताए अपने समय और सत्संग के कारण भी उनके बहुत सारे पूर्वाग्रह दूर होते गए। उनकी भक्ति पद्धति के साथ कविता में समाज दृष्टि का प्रवेश होता गया। उन्होंने काव्यकर्म को कीर्तनकर्म से जोड़कर इसे पूर्णत्व लाने का प्रयास किया, जिसे व्यापक स्तर पर सफलता मिली। इसके बाद नामदेव ने अपना सम्पूर्ण जीवन एवं कृतित्व लोक मुक्ति के लिए समर्पित कर दिया। सबसे पहले उन्होंने कविता को छन्द के बन्ध से मुक्त करते हुए अभंग छन्द की योजना की। कविता को साक्षरता-निरक्षरता की सीमाओं से मुक्त करते हुए, उसे व्यापक लोक-जन तक पहुँचाने के लिए कीर्तन के लोकप्रिय माध्यम का प्रयोग कर उसे और भी लोकप्रिय बनाया। इस दौरान वे न केवल अपने द्वारा रचित अभंगों-कविताओं को गाया करते थे, अपितु अन्य समकालीन एवं परवर्ती रचनाकारों की भी कविताओं को प्रस्तुत किया करते थे। इसके साथ और एक बात ध्यान देने लायक है कि जिस प्रकार कीर्तन द्वारा काव्य के पाठक क्षेत्र में व्यापकता आयी और काव्य साक्षर-निरक्षरता के बन्धनों से मुक्त हो गया, ठीक उसी प्रकार वह वर्ण-वर्ग के भेद से भी ऊपर हो गया।

इसके बाद नामदेव ने विठ्ठलस्वरूप, नाम महिमा, कृष्ण कथा, तीर्थावली आदि कई विषयों के साथ-साथ कई सन्तों के चरित्रों का भी कथन अपनी कविताओं में किया है। नामदेव विद्वान-शास्त्रीय परम्परा वाले निवृत्ति-ज्ञानेश्वर की परम्परा से और बंका-चाखो-जनी आदि की निरक्षरता कही जानेवाली परम्परा की बीच की कड़ी के रूप में कार्य करते दिखाई देते हैं। उन्होंने इन दोनों परम्पराओं के कवियों की जीवन झलकियों को अपनी कविताओं में लिपिबद्ध किया है। नामदेव ने ज्ञानेश्वर, चोखामेळा, जनाबाई, बंका महार आदि कवियों के जीवन की प्रमुख घटनाओं को चमत्कारिक रूप में प्रस्तुत किया है। इनमें स्वाभाविक रूप से उन चमत्कारिक कथाओं को स्थान दिया गया है, जो लोक में प्रचलित थी। चोखामेळा के घर विठ्ठल का ब्राह्मण रूप में आकर विभिन्न रूपों में मदत करना, उनके घर भोजन ग्रहण करना, उनके पत्नी का बंका की पत्नी के रूप में आकर मदत करना, जनाबाई को फाँसी से बचाना, चोखामेळा को मार से बचाना आदि कई चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है। "संत साहित्य में नीची जाति के कई भक्तों को उनके रोजमर्रा के कामों में उनके अराध्य द्वारा सहायता करने की किंबदन्तियों प्रचलित हैं। फलौ व्यवसाय श्रेष्ठ और फलौ व्यवसाय हीन आदि मानवनिर्मित भेदभाव ईश्वर को मान्य नहीं होता है, प्रत्येक लोकोपयोगी व्यवसाय पवित्र ही होता है, कर्तव्य परायणता से किए गए किसी भी काम से मनुष्य अपवित्र नहीं होता है, यही इन किंबदन्तियों का तात्पर्य है।"⁹⁷ ऐसी चमत्कारिक घटनाएँ नामदेव के जीवन के सन्दर्भ में भी रची गई हैं।

नामदेव ने अपनी मराठी कविताओं में बालकृष्ण और विठ्ठल में कोई अन्तर नहीं किया है। उन्होंने अपनी कविताओं में कृष्ण की बाललीलाओं का भी वर्णन किया है। "यह अभंग भागवत के इस स्कंध के किन-किन अध्यायों के आधार पर लिखे गए हैं, इसे सविस्तार श्री सुबन्ध द्वारा संपादित सार्थ गाथा के पहले भाग में दिखाया है। नामदेव के बालक्रिडा के अभंगों में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस वध तक का जीवन-चित्रण किया गया है।"⁹⁸ नामदेव के यह अभंग भागवत के दशम स्कंध पर आधारित हैं। यह अभंग उनके आरंभिक अभंगों की तरह उत्फुर्ण नहीं है, अपितु 'विश्वात्मा जो हरि त्याची वर्णीन कीर्ति' इस भूमिका में इन अभंगों की रचना हुई है।

श्री विठ्ठल और बालकृष्ण को एक ही अराध्य रूप मानकर बालकृष्ण की लीलाओं का वर्णन कर नामदेव ने महानुभावों से चली आती हुई परम्परा का पालन किया, तो 'राधाविलास' और गोपी-कृष्ण

प्रसंग का चित्रण कर, लगभग नई परम्परा का सूत्रपात किया। मराठी सन्त-भक्त कवियों ने बालकृष्ण से आगे के रूप का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने अपने अराध्य के रूप में बालकृष्ण का लीलाधारी रूप ही चुना कुटनीतिज्ञ, गोपियों से लीला करनेवाले रूप का बहुत की विरल मात्रा में चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के प्रेमी रूप को न अपनाते हुए गृहस्थ रूप का भी स्वीकार महानुभावीय कवियों के समय से ही रहा है और बाद के समय भी था, यही कारण है कि 'रुक्मिणीस्वयंवर' की कथा को मराठी में कई ग्रंथों ने अपनी-अपनी दृष्टि से रचने का प्रयास किया है। इस कारण नामदेवपूर्व मराठी कविता में राधा का उल्लेख नाममात्र को ही मिलता है। निवृत्तिनाथ एवं ज्ञानेश्वर ने भी 'राधाविलास' का एखाद दो कविताओं में उल्लेख मात्र किया है। कृष्ण ने वृन्दावन में गोपियों के साथ किए हुए क्रीडाओं का वर्णन भी नामदेव ने किया है, किन्तु वहाँ गोपियों का वर्णन करते हुए उन्होंने अपना ध्यान इस बात पर भी केन्द्रित रखा कि गोपियाँ अर्थात् इन्द्रियवृत्तियों पर रचा गया रूपक है। अर्थात् इस चित्रण को ठीक उसी अर्थ में नहीं समझना चाहिए, जिसे केवल 'राधा सुमिरन को बहानो' नहीं कहा जा सकता है। यह भक्ति भावना से पूर्ण ही रचनाएँ हैं।

इसी क्रम में नामदेव ने अपनी रचनाओं में 'विठ्ठल महिमा' का गान भी जारी रखा। जिस कृष्णस्वरूप विठ्ठल की भक्ति का बीज उनके बालमन पर अंकुरित हुआ था, उसका भावोद्रेक उनकी कविताओं में भी देखा जा सकता है। उन्होंने इसी विठ्ठलमूर्ति में निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को पा लिया था। उनकी आरंभिक कविताओं में मूर्ति के दर्शन के प्रति व्याकुलता देखी जा सकती है, किन्तु बाद की कविताओं में वे स्वयं कहते हैं, 'तुज सगुण म्हणो की निर्गुण रे। सगुण निर्गुण एकु गोविंदु रे' (तुझे निर्गुण कहूँ या सगुण हे गोविन्द)। ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं सर्वग्राह्यता उनकी बाद की कविताओं में बार-बार दर्शनीय है। यही कारण है कि पहले जहाँ हमेशा उन्होंने विठ्ठलमूर्ति दर्शन के मोह की अभिव्यक्ति की है, वहीं बाद की कविताओं में वे उसे सर्वत्र पाने का उल्लेख करते हैं। इसी विश्वास के साथ की कि ईश्वर हर जगह व्याप्त है और इसकी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में होते हुए देखी जा सकती है।

जो स्थिति कबीर के सन्दर्भ में पैदा की गई थी कि वे अपढ़, अज्ञानी एवं शास्त्रसम्मत बात नहीं करते, ठीक यही बात मराठी साहित्य में सबसे पहले नामदेव के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई थी और उसके बाद तुकोबा के बारे यही बात फैलाई गई थी। यह मान लिया गया कि इनके साहित्य का भारतीय दर्शन एवं ज्ञान परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं। इसके प्रतिवाद में कई अध्येताओं ने नामदेव के साहित्य में कई दार्शनिक आधार ढूँढकर उनके उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिए हैं। ऐसे अध्ययन ठीक उसी प्रकार के होते हैं, जैसे आचार्य शुक्ल द्वारा की गई कबीर की व्याख्या के प्रतिवाद में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की कविताओं को नाथ पारिभाषिकी से समझाते हुए उसका नाथीकरण कर दिया था। ठीक उसी प्रकार नामदेव के कविताओं की दार्शनिक व्याख्याओं ने उनकी कविताओं को अद्वैतवाद एवं सर्वदेववाद, निर्गुण-सगुण आदि दार्शनिक मतों में व्याख्यायित करने का प्रयास करते हुए उन्हें दुरुहता के अंधकार में ढकेलने का प्रयास किया।

नामदेव ने अपने लगभग सम्पूर्ण जीवन में एक प्रकार की भक्ति को कभी स्थान नहीं दिया। उनकी परिवर्धता के साथ भक्ति पद्धतियों में भी अन्तर आता गया, किन्तु उन्होंने एक प्रकार की भक्ति का दामन हमेशा थाम रखा, वह है नामाधारित नामा भक्ति। भक्त की भूमिका में अपने कीर्तन को

उपस्थित होकर उसे पूरी तन्मयता से सुननेवाले व्यापक जन समूह को नामदेव ने भक्ति का उपदेश दिया वह मुख्यतः नामसंकीर्तन भक्ति का ही था। शास्त्रसम्मत नवधा भक्ति का उल्लेख उनके अलग-अलग अभंगों में आता है, किन्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम् । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' इनमें से ईश्वर का नाम वाणी अथवा मन से अखंड जपने के अतिरिक्त सर्वसुलभ भक्ति सामान्य जनों के लिए स्वीकार करने के लिए नामदेव ने कहा है। ईश्वर का नाम कोई भी कभी भी और किसी भी स्थिति में ले सकता है, इसमें किसी भी प्रकार के बन्धन एवं अनावश्यक अनुष्ठानों को स्थान न होना इसकी सर्वप्रमुख विशेषताएँ हैं, इसलिए वह सर्वसुलभ है। इस सन्दर्भ में नामदेव ने लिखा है -

“काळवेळ नसे नामसंकीर्तनीं । उंच नीच योनी हेंही नसे ।

धरा नाम कंठीं सदा सर्वकाळ । मग तो गोपाळ संभाळील ॥

नामा म्हणे फार सोपें हें साधन । वाचे घेणें नाम इतुकेंचि ॥”⁹⁹ 687 ॥

ईश्वर के कई नाम और रूप हैं। वह किसी विशिष्ट एक ही ईश्वर के होने के कारण किसी विशिष्ट नाम का उच्चारण किया जाए, इसका आग्रह नामदेव ने कभी नहीं किया। विठ्ठल, राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, केशव, माधव इत्यादि विष्णु के ही क्या हरिहर में भेद न होने के कारण हरि की ही तरह हर का भी नाम लिया जाए तो कोई बात नहीं। 'ब्रह्मादि सकळ भजनीं तत्पर । तेव्हां हरिहर नाचतसे । कृष्ण विष्णु नाम अच्युत अनंत । सगुण निश्चित स्मरा वेगीं ॥ नामा म्हण नको उदंड सायास । तोडी भवपाश रामनामें ॥’¹⁰⁰ इस कारण वारकरियों के यहाँ 'जय जय राम कृष्ण हरि' का जाप बिना किसी भेद भाव के किया जाता है और यही उनका एक प्रकार का नारा भी बन गया है तथा भक्ति का मार्ग भी। एक विशेष दृष्टिकोण से देखा जाए तो इसमें रूढ़ परम्पराओं को प्रति गहरा प्रतिरोध छिपा है, जिसके तहत भक्ति पर सबका अधिकार होने का भाव अभिव्यक्त होता है।

नामदेव ने इसे कई अभंगों में स्वीकार किया है कि ईश्वरस्वरूप नाम लेने के लिए वेदोक्त अधिकार, विशिष्ट वर्ण या जाति की आवश्यकता नहीं होती है। नामदेव ने नाम को संजीवणी और सर्वजनता का आधार माना है। उनका कहना है - 'ब्राह्मण और शूद्र, वैश्य एवं स्त्री, पुरुष सभी का आधार नाम है'¹⁰¹ 'केशव के सुलभ एवं सरल नाम के उच्चारण से वाणी के सभी दोष चले जाते हैं'¹⁰² 'वाणी को अच्छादित मल जाकर वह शुद्ध हो जाती है' 'हरिनामसंगे सुस्नात पैं झाला । नाम्याजवळी आला केशीराज'¹⁰³ 'नामसंकीर्तन से देव खुश हो जाते हैं।' 'अत्यंज आणि जातिवंता । मुखी नाम घेतां उडी घाली ॥’¹⁰⁴ 'नामस्मरण से जिह्वा पर अमृत का झरना निकल पड़ता है।' 'वह अमृत की खान है'¹⁰⁵ इतना ही नहीं 'वह अमृत से भी मीठा होता है'¹⁰⁶। नामाभक्ति के प्रति अपनी भूमिका को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है - 'देव आकाराला आला । म्हणोनि स्थापिला नमावेदीं ।’¹⁰⁷ वैदिक परम्परा में भक्ति को लेकर व्याप्त कुप्रचारों के प्रतिरोध में नामा भक्ति को स्थापित करने के प्रयास में उन्होंने स्पष्ट लिखा है -

“वेद का पढसी शास्त्रें का शिणसी । उदंड वाचेंसीं हरी म्हणा ॥”¹⁰⁸

“न पढवे वेद नव्हें शास्त्रबोध । नामाचे प्रबंध पाठ करा ।”¹⁰⁹

नामदेव के यहाँ मुक्ति से भी भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है और इसके लिए उन्होंने नामस्मरण से ही भक्त श्रेष्ठों की श्रेणी में आनेवाले तथा अपने जीवन के आरंभ में दुर्जन माने जानेवाले ऐतिहासिक और

पौराणिक दोनों प्रकार के पात्रों का हावाला बार-बार दिया है। यह उनके नामा भक्ति के सन्दर्भ में दिए गए प्रमाण माने जा सकते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में प्रह्लाद, नारद, रावण, पूतना आदि कई पात्रों का उल्लेख नामा भक्ति के माध्यम से तरने के सन्दर्भ में किया है, जो सामान्य भक्तों में, पाठकों-श्रोताओं में एक प्रकार का आत्मविश्वास भरता है।

नामदेव ने सत्संग करने की सलाह अपनी कविताओं के माध्यम से दी है, किन्तु सत्पुरुष के कुछ गुण उन्होंने बताए हैं, जिससे उन्हें पहचाना जा सकता है। संगति संत के पहचान के बिना नहीं करनी चाहिए। अन्यथा कोई ढोंगी हमें फँसा सकता है। इसलिए जो देह भान के विषयों में उदासीन होता है, जिसके हृदय में ईश्वर प्रेम की ममता है, वाणी में राम-कृष्ण हरी मंत्र का जाप चलता हो, 'तुझ्या ध्यानीं ज्यांचें सदा भरलें मन। विश्व तूचि म्हणूनी भजति भावें। ऐसे नित्यानंदबोधें जे निमाले। ते जीवावेगळे न करी नाम्या' ॥ जो विश्व को ईश्वर का स्वरूप समझाकर उसकी प्रेमपूर्वक भक्ति करते हैं और आनन्दस्वरूप परमात्मा के ज्ञान से जिन्हें नित्य शान्ति मिली हो, ऐसे सत्पुरुषों की सेवा एवं संगति जी-जान से करना अर्थात् ज्ञानप्राप्ति है। इसे नामदेव की युगसापेक्ष प्रस्तावित प्रस्तावना मानी जानी चाहिए, जिसमें परम्परा का रूप तो ग्रहण किया किन्तु अपने समय 'सन्त' के नाम पर हो रही ठग विद्या से लोगों को सचेत करवाने का भाव भी निहित है।

नामदेव उन विरल सन्त-भक्त कवियों में से हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं में अपने ही जीवन के सन्दर्भ में बहुत सारे सूत्र दिए हैं। उनके ऐसे अभंगों को 'आत्मपर अभंग' या 'आत्मचरित्रात्मक अभंग' कहा जाता है। यह अभंग आधुनिक साहित्यिक विधा आत्मकथा के काफी समीप हैं, किन्तु इसमें क्रमवारिता एवं वैचारिकता का अभाव होने के कारण इसे पूर्णतः आत्मकथा नहीं कहा जा सकता है। इन अभंगों में एक व्यक्ति के रूप में झेलने पड़ रहे दुःख, एक भक्त के रूप में हो रही यातनाएँ, जीवन की न्यूनताओं का आभास, आनन्दरूपी ईश्वर के मिलन की उत्कंठा, संतमेला में हानेवाले विभिन्न प्रसंग, पारिवारिक प्रसंग आदि इन अभंगों में अभिव्यक्त हुए हैं। इन अभंगों में वे कई बार आत्मालोचना भी करते देखे जा सकते हैं, जो एक भक्त की दृष्टि से अधिक हुई है। इन अभंगों में विठ्ठल को आवाज़ लगाते हैं और इससे पूर्व कई बार भक्तों की आर्त पुकार पर आने का भी उल्लेख करते हैं।

कई बार आवाज़ लगाने के बाद वे अराध्य श्रीविठ्ठल से लड़ते भी हैं। यह लड़ाईवाले अभंग 'देवाशी भांडण' (अराध्य से लड़ाई) शीर्षक से प्रसिद्ध हैं। इन कविताओं में कोमल शब्दों की जगह नामदेव का कवि तीव्र उपालंभों का सहारा लेने लगता है। वे भावनाओं में बहकर कुछ अधिक ही सख्त हो जाते हैं। यहाँ नामदेव की वाणी उतनी ही सख्त हो जाती है, जितनी कोमल और हृदयद्रावक वह ज्ञानेश्वर समाधि का चित्रण करने के प्रसंग में हो जाती है। ज्ञानदेव समाधि प्रसंग में उनके प्रत्येक शब्द में जैसे आश्रु बह रहे हो। यहाँ अभिव्यक्त श्रद्धाभाव और शोकाकुलता के कारण इस कविता को 'शोककाव्य' कहा जाए तो गलत न होगा। नामदेव ने अपने जीवन के कष्टों से अधिक परकाराया प्रवेश करते हुए निवृत्ति-ज्ञानदेव परिवार को तत्कालीन समाज रूढ़ियों द्वारा दिए गए कष्टों का अधिक तन्मयता के साथ चित्रण किया है। "ज्ञानेश्वर के जीवन सन्दर्भ में जितने साधन और कविताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें सबसे अधिक भव्यता किसी भी लेखन में नहीं आ पायी है।"¹¹⁰ यह नामदेव की शब्द साधना के साथ-साथ अर्थ के लिए परदुःखों को अपने बनाकर एक रचनाकार के रूप में उसे अभिव्यक्त करने की बेचैनी का परिणाम है।

वारकरी सम्प्रदाय ने भक्ति साधना अथवा मुक्ति दोनों में से किसी के भी लिए संसार-घर-द्वार छोड़कर जंगल-वनों में जाने या किसी मठ में बैठकर शिष्य सम्प्रदाय बढ़ाकर वैयक्तिक साधना की पक्षधरता कभी नहीं की। उन्होंने अपनी सामूहिकता एवं सामाजिक दृष्टि के माध्यम से सम्पूर्ण भक्ति सम्प्रदाय की ओर देखने के दृष्टिकोण में बदलाव लाने का प्रयास किया। ज्ञानेश्वर की मृत्यु (समाधि) तक संतमेळा ने अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया होगा और उसे एक व्यवस्थित एवं सुचारू रूप मिल गया होगा। यही कारण है कि इसके बाद नामदेव उत्तर भारत की यात्रा के लिए निकल पड़े। तीर्थयात्राओं और नामदेव-ज्ञानदेव को लेकर कई कथाओं ने कई विवादों को जन्म दिया है। इस बार नामदेव तीर्थयात्रा करने के उद्देश्य से उत्तर की ओर नहीं गए और न ही इस पर किसी आलोचक ने चर्चा की है। यदि इस बार नामदेव तीर्थयात्रा के लिए निकले होते तो सिधे वे उसी ओर जाते किन्तु इस बार राजपुताना की ओर से काशी पहुँचे और वहाँ भी न टिककर आगे पंजाब में घुमान में जाकर ठहरे।

इस बात की कोई आधिकारिक सामग्री नहीं मिलती है कि नामदेव के इस प्रवास का निश्चित मार्ग क्या था और वे कहाँ-कहाँ रुके और किन-किनसे मिले थे। उनकी हिन्दी रचनाओं का संवर्धन तो आदिग्रंथ में हो गया, किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ ही संस्मरण मिलते हैं, जो काव्यत्मक एवं कई बार चमत्कारिक कथाओं से आच्छादित हैं। इस बात को इसी क्रम में हिन्दी और मराठी दोनों अध्येताओं ने स्वीकार किया है कि “नामदेव की हिन्दी रचनाओं ने सन्त कबीर के काव्य के लिए भूमिका बनाई है।”¹¹¹

नामदेव का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था कि सन्तमेळा में रहते उन्होंने सभी को अपनाया और सभी ने उन्हें अपनत्व से स्वीकार भी किया। ठीक उसी प्रकार उन्होंने उत्तर भारत के वास्तव्य में रैदास, कबीर आदि सन्त कवियों का अपना वृत्त बनाया होगा, जिसमें कई बातों को लेकर वाद-विवाद-संवाद होता रहा होगा। नामदेव अपने विचारों से इन्हें अवगत कराते हुए सभी के विचारों से लाभान्वित भी हुए होंगे। नामदेव का अधिकांश समय पंजाब में बीता, जहाँ उन्होंने अपने साथी-शिष्यों के साथ तत्कालीन सम्पूर्ण पंजाब प्रान्त का भ्रमण करने के उल्लेख मिलते हैं। इन सबने उनके साहित्य को कई मायनों में प्रभावित किया होगा, जिसे अलग से छनकर नहीं निकाला जा सकता है। जिस प्रकार नामदेव के पहिले शिष्य परिसा भागवत से लेकर नामदेव की दासी जनाबाई, राका उसकी पत्नी बाका, सावता माली (सन 1250-1295), नरहरी सोनार (मृत्यु सन 1313), जोगा तेली, जोगा परमानन्द, जगमित्र नागा (समाधिकाल सन 1330), साळ्या रसाळ, कुर्मदास, वत्सरा, चोखामेळा (मृत्यु सन 1338), सेना न्हावी, कान्होपात्रा आदि उनके साथियों की सम्पूर्ण सूची उपलब्ध होती है, उस प्रकार की आधिकारिक सूची उत्तर भारत के वास्तव्य के सन्दर्भ में उपलब्ध नहीं होती है।

3.2.6 कीर्तन, अभंग छन्द और नामदेव की मराठी कविताओं का रूप-विधान

नामदेव को प्राप्त परम्परा और उन्होंने इसमें से जो संग्रह-त्याग कर जो दाय दी है, उसका मूल्यांकन करते समय स्वाभाविक रूप में हमारी दृष्टि अभंग छन्द के इतिहास पर आकर टिकती है। मराठी भक्ति साहित्य का सबसे प्रमुख रचनाबंध अभंग है। सम्पूर्ण पिंगलशास्त्र के सामने चुनौती प्रस्तुत करते हुए नामदेव ने इस छंद को मराठी का प्रमुख छन्द बनाया और उसमें रचनाएँ भी लिखी। नामदेव ने इस नवीन छंद का शोध क्यों लगाया इसके दो प्रमुख कारण थे - पहला पारम्परिक काव्यशास्त्र के

इतना जड़ एवं नियमाधारित हो चुका था कि उसके अनुसार काव्य रचना करना सामान्य लोगों को आपके बाहर हो चुका था। ऐसे में श्रमिक समाज अपने-आप को अभिव्यक्ति के लिए लोकगीतों आदि का सहारा लेता था, जो गायन की पद्धतियाँ प्रचलित थी उनके अनुसार। किन्तु यह गायन पद्धतियाँ या तो सामुहिक नहीं थी या किसी वर्ग के विशेष तक ही सीमित थी। ऐसे में किसी समुहवाचक गायन पद्धति की आवश्यकता थी, जिसे अभंग रचनाबंध द्वारा पूर्ण करने का प्रयास किया गया।

दूसरे कारण के रूप में तत्कालीन समय में नाटक-रंगमंच के अभाव को देखा जा सकता है। नामदेव के समय में जन-सामान्य की भाषा में नाटकों का प्रायः अभाव रहा है। कोई ऐसा लोक माध्यम उपलब्ध नहीं था जिसके माध्यम से सीधे अधिकतम लोगों तक पहुँचा जा सके। इसलिए नामदेव ने गायन की एक ऐसी पद्धति का आरंभ किया, जो आज भी प्रचलित है, जिसने अतिशीघ्र ही लोगों में अपना स्थान बना लिया। इस गायन पद्धति को 'कीर्तन' कहा जाता है। वैसे कीर्तन नामदेव से पहले भी प्रचलित रहा होगा किन्तु उसके ठोस प्रमाण आज उपलब्ध नहीं होते। प्राचीनवादी आतिउत्साही शोधार्थियों ने श्रीमद्भगद्गीता को साथ-साथ "विष्णुपुराण, स्कंदपुराण, आदित्यपुराण आदि पुराणों में संकिर्णता" के उल्लेखों का पता लगाया है। किन्तु वास्तव में ये नाम महिमा है। कीर्तन का प्राचीन अर्थ था - "कीर्तनम् - (कृत् - ल्युट्) अ) Telling, Narrating, ब) Praising, Celebrating. क) A Temple, any work of arts, a building"¹¹² वारकरियों के यहाँ कीर्तन का अर्थ है - "कृत् स्तविणे, स्तुतिस्तोत्रे गाणे, गुण वर्णिणे" अर्थात् "हरिदास वगैरे वीणादि गायन साहित्य लेकर मन्दिर या कहीं भी ईश्वर को खड़े रहकर जो गुणगाण करते हैं, वह कीर्तन है।"¹¹³ इसी अर्थ में बहेणाबाई ने वारकरियों की परम्परा-विकास को काव्यबद्ध करते हुए लिखा है - "नामदेव कीर्तन करी। पुढे देव नाचे पांडुरंग।" यदि वारकरियों में प्रचलित कीर्तन के अर्थ में नामदेव ही इसके संस्थापक है। नए रूप को उन्होंने 'कीर्तन' का प्राचीन नाम अवश्य स्वीकार किया है। अन्यथा बहेणाबाई नामदेव कीर्तन करी क्योंकर कहती, ज्ञानदेव कीर्तन करी भी कहा जा सकता था, क्योंकि दोनों उनके समकालीन नहीं थे। इसलिए वारकरियों में प्रचलित कीर्तन के अर्थ के अनुसार नामदेव को 'आद्यकीर्तनकार' कहा जा सकता है।

कीर्तनकार एक साथ रचयिता, अभिनेता, गायक, वादक, निर्देशक, व्याख्याकार आदि की भूमिकाओं का निर्वहन करता है। कीर्तन में जो छन्द गाया जाता है वह प्रायः अभंग छन्द होता है। कीर्तनकार एक-एक अभंग को ससंगीत एवं साभिनय गाकर उसकी व्याख्या दर्शकों-श्रोताओं के सामने प्रस्तुत करता है और साथ ही सामान्य जन-व्यवहार के उदाहरणों के माध्यम से उपदेश भी देता है। इस रूप में नाटक जैसे जनमाध्यम की पूर्ति नामदेव ने अभंग-कीर्तन से की है। कीर्तन के रूप में जन-नाट्य अपने-अपने प्रदेश में विकसित हो रहा था।

नामदेव ने अभंग के दो प्रकार बताए हैं, जिसमें शास्त्रीय नियमबद्धता नहीं है, बल्कि एक बाहरी आरेखन मात्र है। उनमें से पहले प्रकार के लक्षण हैं -

“अभंगाची कळा नाही मी नेणत। त्वरा केली प्रीतकेशी राजें ॥
अक्षरांची संख्या बोलिले उदंड। मेरु सुप्रचंड शर आदि ॥
सहा साडेतीन चरण जाणावे। अक्षरे मोजावी चौक चारी ॥
पहिल्या पासोननी तिसर्या पर्यंत अठरा गणित मोज आलें ॥
चौक चारी आधी बोलिली मातृका। बावीसाची संख्या शेवटील ॥

दीड चरणाचे दीर्घ ते अक्षर । मुमुक्ष विचार बोध केला ॥
 नामा म्हणे मज स्वप्न दिले हरि । प्रीतिने खेचरीं आज्ञा केला ॥”¹¹⁴
 अपेक्षाकृत छोटे अभंग प्रकार का लक्षण नामदेव ने इस प्रकार बताए हैं –
 “मुख्य मातृकांची संख्या । सोळा अक्षरे नेटक्या ॥
 समचरणी अभंग । नव्हे तळ छंदो-भंग ॥
 चौक पुलिता विसर्ग । गण यति लघु दीर्घ ॥
 जाणे एखादा निराळा । नामा म्हणे तो विरळा ॥”¹¹⁵

स्वयं नामदेव ने अपने कई अभंगों में आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के दबाव के चलते यह छन्द का बन्धन तोड़ दिया है । अर्थात् नामदेव ने अभंग रचना में आन्तरिक लय और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अर्थात् वस्तु की सम्प्रेषणीयता को अधिक महत्व दिया । चूंकि तत्कालीन समय में कीर्तन में गाए जानेवाले अभंगों का रचयिता ही प्रायः कंपोजर और गायक होता था, इसलिए स्वयं एक कीर्तनकार होने के नाते नामदेव द्वारा यह छूट देना (और स्वयं द्वारा लेना) स्वाभाविक ही था ।

इसी प्रकार नामदेव ने मराठी भाषा और साहित्य को लोक के अधिक करीब लाने के लिए मराठी के तत्कालीन प्रचलित नागरी मराठी और ग्रामीण मराठी, दोनों का समन्वय करते हुए अपनी साहित्यिक भाषा का निर्माण करने का प्रयास किया है । यही कारण है कि लगभग रचनाकाल समान होते हुए भी ‘ज्ञानेश्वरी’ और नामदेव के अभंगों की भाषा में बहुत अन्तर देखने को मिलता है । ‘ज्ञानेश्वरी’ की भाषा अपभ्रंश के अधिक करीब है तो नामदेव की भाषा उसका अगला चरण साधते हुए आधुनिक मराठी के अधिक समीप आने का प्रयास करती हुई दिखाई देती है । बाद के समय में पेशवाकाल में मराठी में फारसी के शब्दों की बड़े पैमाने में मिलावट होने के कारण मराठी को भिन्न रूप प्राप्त हुआ । इस अर्थ में दूर तक सोचा जाए तो आधुनिक मराठी साहित्यिक भाषा के निर्माण में नामदेव महत्वपूर्ण स्थान पर आसीन दिखाई देते हैं ।

3.2.7 विठ्ठल रक्षक भानुदास

भानुदास ने अपनी भक्ति भावना एवं कवित्व के बल पर विठ्ठलमूर्ति को राजदरबार से वापस लाने वाली कथा का उल्लेख हो चुका है । “इनके सौ अभंग उपलब्ध होते हैं । ‘आमुचिये कुळीं पंढरीचा नेम । मुखीं नाम सदा विठोबाचें ।’ जैसे उनके वचन हैं । इसी भक्ति के रंग में रंगकर उन्होंने अभंग रचना की है । विठ्ठलमहात्म्य, पंढरीमहात्म्य, नाममहिमा, रामनाममहिमा, मुमुक्षूओं को बोध, करुणा, बाळक्रिडा, गौळणी, काला, फुगडी कुछ इस प्रकार की उनके साहित्य की रूपरेखा है । ‘वेदीं सांगितलें श्रुती अनुवादिलें । तें ब्रह्म कोंदलें पंढरिये ।’, ‘चन्द्रभागेतीरीं उभा विटेवरी । विठ्ठलराज्य करी पंढरीये ।’, ‘जैसा उपनिषदाचा गाभा । तैसा विटेवरी उभा ।’, ‘लावण्य रूपडें पाहा डोळेभरी । मूर्ति हे गोजिरे विटेवरी ।’, ‘पंढरिचें सुख पाहतां अलौकिक । वैकुंठ नायक उभा जेथें ।’ इत्यादि पंक्तियों से भानुदास के कवित्व एवं भक्ति भाव की कल्पना आ जाती है ।”¹¹⁶ इन पंक्तियों एवं विषयों को देखा जाए तो भानुदास एवं नामदेव के काव्य में कई समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं । नामदेव ही नहीं, सन्तमेळा के सारे कवियों ने इन्हीं विषयों को अपने काव्य का आधार बनाया है, किन्तु भाव उनके अपने-अपने हैं ।

3.2.8 आम्हीं वारीक वारीक : सेनानाई

सेनानाई मराठी भाषी क्षेत्र के बाशिंदे थे अथवा हिन्दी भाषी क्षेत्र के यह तय न कर पाने की स्थिति में उनके नाम से दो सौ से अधिक मराठी अभंगों का होना, उन्हें मराठी भाषा से अवगत ही नहीं, अपितु उसका रचनात्मक स्तर तक जानकारी सिद्ध करता है। उनकी मराठी तत्कालीन किसी भी सन्त-भक्त कवि से किसी भी मायने में कमतर नहीं है। ‘आम्ही वारीक वारीक। करूं हजामत बारीक’ उनका यह रूपकात्मक अभंग आज भी महाराष्ट्र में बच्चों के भी मुख से सुना जा सकता है। उन्होंने मराठी में अत्यन्त सरल और मुहावरेदार अभंग लिखे हैं, जो आसानी से याद रह जाते हैं। उनके अभंगों के विषय तत्कालीन अन्य सन्त-भक्तों के समान ही हैं। उन्होंने अपने कई जीवन-प्रसंगों को भी शब्दबद्ध किया है, विशेषतः उस घटना को, जिसके अनुसार वे किसी राजा के सेवक थे और वहाँ से वे भक्त बन गए -

“करितां नित्यनेम। रायें बोलविलें जाण ॥

पांडुरंगें कृपा केली। राया उपरती झाली ॥

मुख पाहतां दर्पणीं। आंत दिसे चक्रपाणी ॥

कैसी झाली नवलपरी। वाटीमांजी दिसे हरी ॥

खुमादेवीवर सेना म्हणे मी पामर ॥”¹¹⁷

सेना के मराठी अभंगों को पढ़कर ऐसा कहीं भी नहीं लगता है कि वे किसी अन्य भाषा क्षेत्र के रहनेवाले रहे होंगे। नामदेव एवं सन्तमेळा सम्बन्धी प्रेम उनकी कविताओं में झलकता है।

3.2.9 लोक एवं शास्त्र के रचनाकार एकनाथ के मराठी साहित्य का स्वरूप

एकनाथ की पहली रचना ‘चतुःश्लोकी भागवत’ है, जिसकी रचना उन्होंने नासिक पंचवटी में अपने गुरु जनार्दन स्वामी के आदेश पर की थी। उनकी अन्तिम और अपूर्ण रचना ‘भावार्थ रामायण’ है, जिसे उनके शिष्य गायबा ने पूर्ण किया है। इन ग्रंथों के बीच एकनाथ ने अनेक ग्रंथों, अभंगों, भारूडों एवं अनेक लोककला रूपों में कविताओं की रचना की। अनेक यात्राएँ की। साधारण जनों से लेकर विद्वज्जनों के मंचों तक उनकी रचनाएँ सम्माननीय थी। एक तरफ महाराष्ट्र के लोकधर्म वारकरी सम्प्रदाय में उनका ‘भागवत’ ग्रंथ-त्रयी में गिना जाता है, तो वहीं अपेक्षाकृत संकुचित और परम्परावादी माने जानेवाले दत्त सम्प्रदाय में वे दीक्षित थे, समादृत थे। उनके गुरु जनार्दन स्वामी दौलताबाद की राजनीति में प्रभावी रूप से सक्रिय थे। एकनाथ स्वयं संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी अपनी काव्यरचना के लिए उन्होंने लोकभाषा (लोकभाषाओं) को ही चुना। ‘हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास’ में विद्वान इतिहासकारों ने एकनाथ के सन्दर्भ में लिखा - “इन्हें संस्कृत से बड़ा प्रेम था।”¹¹⁸ यहाँ एकनाथ के सन्दर्भ में पूर्णतः गलत तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। न केवल उन्होंने अपना सम्पूर्ण साहित्य तत्कालीन लोकभाषा में रचा बल्कि लोकभाषा की अत्यन्त पक्षधरता के ही कारण अपने पुत्र हरिपंडित से भी मनमुटाव हो गया।

ज्ञानेश्वर एवं एकनाथ के कृतित्व में काफ़ी समानताएँ हैं और युगानुरूप संघर्ष का रूप एवं रचनात्मकता भिन्न है। ज्ञानेश्वर को सामाजिक जीवन में स्वीकृति पाने के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ा। इस प्रकार का संघर्ष एकनाथ के हिस्से नहीं आया। ज्ञानेश्वर को अपनी ‘ज्ञानेश्वरी’ की स्वीकृति के लिए संघर्ष करना पड़ा और ऐसा ही संघर्ष एकनाथ को अपनी रचना ‘भागवत’ की स्वीकृति के लिए

काशी के पंडितों को मनाने के लिए करना पड़ा। दोनों सन्त-भक्त शास्त्रीय साहित्य के गहन अध्येता थे। एक की गुरु परम्परा नाथों में मिलती है तो दूसरे की दत्त सम्प्रदाय में। वास्तव में ज्ञानेश्वर को ही एकनाथ का साहित्यिक गुरु माना जाता है। उन्होंने अनुपलब्ध 'ज्ञानेश्वरी' को खोजकर उसका पाठ-निश्चित किया। आज प्रचलित ज्ञानेश्वरी एकनाथ द्वारा सम्पादित ज्ञानेश्वरी ही है। एकनाथ ने अपनी प्रत्येक रचना के सूत्र ज्ञानेश्वर की रचनात्मकता में खोजकर उन्हें आगे बढ़ाया है। ल.रा.पांगारकर के अनुसार, "ज्ञानेश्वरी" में गुप्त रह गए ज्ञानेश्वर के अभिप्राय एकनाथ ने अपने 'भागवत' में अधिक विशद किए हैं। 'ज्ञानेश्वरी' के यथार्थ आकलन के लिए नाथ के 'भागवत' का अध्ययन आवश्यक किया जाना चाहिए। इनमें इतनी एकता है कि दोनों ग्रंथ मिलकर एक ही ग्रंथ है। 'ज्ञानियाचा एका' उक्ति इस ग्रंथ से यथार्थ सिद्ध होती है।¹¹⁹ केवल इतना ही नहीं "शब्दरचना, विषय प्रस्तुति, अधिकारयुक्त उपदेश, भगत्प्रेम व स्वानुभावयुक्त ब्रह्मज्ञान इन कामों में दोनों ग्रंथों की योग्यता एकसमान है। 'भागवत' अधिक सरल एवं सरस है, सांसारिक को अधिक भानेवाला ग्रंथ है।"¹²⁰

वारकरी सम्प्रदाय की परम्पराओं को आगे बढ़ाते हुए एकनाथ ने अभंगों, भारूडों एवं गौळणों की रचना की। एकनाथ ने ज्ञानेश्वर की परम्परा को अपनाया ही नहीं अपितु उसका विकास भी किया। ज्ञानेश्वर की छवि प्रायः विद्वत् कवि एवं संघटनकर्ता तक सीमित रह गई किन्तु एकनाथ अपने में इन गुणों के अतिरिक्त एक लोककवि के रूप में अधिक विख्यात हुए। ज्ञानेश्वरी भले ही नित्यपठनीय बन गई हो किन्तु एकनाथ के भारूड जनसामान्य की जीव्हा पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल रहे। प्रस्तुत कविद्वय भले ही लोकभाषा के समर्थक रहे हो किन्तु दोनों के भाषाप्रयोग में काफी अन्तर है। ज्ञानेश्वर अपने समय से पूर्व की भाषा का प्रयोग करते हैं तो एकनाथ की भाषा विषयानुरूपता लिए हुए है। ज्ञानेश्वर की भाषा एक जैसी ही है, किन्तु एकनाथ एक तरफ़ जायसी की लोकभाषा तो दूसरी तरफ़ तुलसीदास की मान्यभाषा, दोनों का प्रयोग सिद्धहस्तता से करते हैं। जिस प्रकार जायसी और तुलसीदास की भाषा है तो अवधि किन्तु दोनों में अन्तर है, उसी प्रकार एकनाथ के प्रबंधकाव्यों और भारूडों, गौळणी आदि लोककाव्यों की मराठी भाषा में अन्तर है। एकनाथ ने विपुल साहित्य की निर्मिती की किन्तु ज्ञानेश्वर ने नामदेव, चोखामेळा जैसे कवियों की। कई समानताओं और भिन्नताओं के बावजूद 'ज्ञानियाचा एका' धारणा मानी जा सकती है।

'विरोधों का सामंजस्य'¹²¹ एकनाथ के साहित्यिक कृतित्व में देखा जा सकता है। अध्यात्मिकता, वैदिक धर्म के प्रति आदरभाव, ज्ञानसाधना एवं व्यावहारिक मार्मिक ज्ञान के साथ वे एक समर्थ लोककवि के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। वहीं लोककल्याण, समाज के प्रति बेचैनी, लोकभाषा एवं लोकरूपों के प्रति सहज आकर्षण, रूढ़ियों पर करारा व्यंग्य आदि हृदय स्पंदन उनके साहित्य में दिखाई देते हैं। उनके काव्य में दार्शनिक उक्तियों एवं तत्वज्ञान की भरमार है, वहीं नाट्यमयता एवं हास्य-व्यंग्य भी देखते बनता है। एकनाथ व्यंग्य के बाणों से अपने अराध्य को भी नहीं छोड़ते हैं। 'रुक्मिणीस्वयंवर' रचना में विवाह में एक रीति के अनुसार श्रीकृष्ण को रुक्मिणी के पल्लु की गाँठ छुड़ानी होती है, तब रुक्मिणी के भाई व्यंग्य से कहते हैं, "यमुना तट पर ग्वालनों की बिरडी छुड़ाने की आदत कृष्ण को है, वह अभ्यास यहाँ काम में आएगा।" रुक्मिणी को टीका लगाते समय कोई सखी पीछे से कहती है, "कृष्ण, रुक्मिणी सुकुमार है, उन्हें धीरे से टीका लगाओ हं...!! क्योंकि तुम जगज्जेता हो, अपने लोहपाशों से तुमने बड़े-बड़े मल्लों का मर्दन किया है, इसलिए चिन्ता हो रही है...धीरे हं...!!"

एकनाथ की रचना रुक्मिणी स्वयंवर के अनुसार श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह में दुर्गा एवं अष्टावक्र आते हैं, जिन्हें देखकर कुछ बाराती उनका मज़ाक बनाते हैं। इन देवताओं के क्रोध से वहाँ कई बिमारियाँ फैल जाती हैं, इसका भी हास्यास्पद वर्णन किया गया है।¹²² भागवत के कदर्यु आख्यान में कंजुस ब्राह्मण को आलंबन बनाकर विनोदनिर्मिती की गई है। घर के तंदुल खत्म न हो जाए इस डर से चिड़ियों को दाना न डालनेवाला, फल देखने मात्र के लिए हाट जानेवाला और उत्सव के दिन भी खर्च से बचने के लिए विभिन्न तर्क देनेवाला यह पात्र बड़े ही मज़ेदार हैं।

एकनाथ ने पात्रों के माध्यम से मात्र विनोद और व्यंग्य की निर्मिती ही नहीं की बल्कि पारंपारिक पात्रों में अपनी विचारधारा के अनुसार बदलाव भी किए। विचारधारा के अनुसार इसलिए कि उन्होंने कई पात्रों का आदर्शिकरण या उन पर लगे आरोपों को दूर करने का भी प्रयास किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने अपनी रचना 'भावार्थ रामायण' में राम को एक आदर्श के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए इस बात का पुनः-पुनः स्मरण कराया कि यह अवतारी पुरुष हैं। देवताओं का सम्मान बढ़ाना, नवग्रहों के प्रकोप से मुक्ति दिलाना, रामराज्य की स्थापना करना, गो-ब्राह्मणों की रक्षा एवं प्रतिपालन करना और धर्म का रक्षण करना, यह राम अवतार के मुख्य कार्य उन्होंने अपनी रचना में अनुस्यूत किए। इसके साथ ही निरी भक्तबुद्धि से श्रीराम पर लगे आरोपों को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु उसका भावार्थ अपने अर्थानुसार एवं इन घटनाओं को अधिक सकारात्मक बनाकर श्रोताओं को समझाते हैं, प्रायः यह घटनाएँ आध्यात्मिक अर्थ में वे विश्लेषित करते हैं। श्रीराम का विरह शोक, मृग के पीछे जाना, सीता को न मिल पाने की उदासीनता आदि कुछ प्रसंग हैं, जिसकी एकनाथ ने भक्तियुक्त व्याख्या करने का प्रयास किया है। नई उद्भावना करते समय कई बार उनके पात्रों में विसंगत रंगच्छटाओं के भी दर्शन होते हैं।

'रुक्मिणीस्वयंवर' रचना में कृष्ण का पात्र इस प्रवृत्ति का शिकार हुआ है। इस रचना में श्रीकृष्ण सिंहासन से कूदकर सुदेव के साष्टांग दंडवत करते हैं, सुदेव द्वारा रुक्मिणी की कुंडली दिखाने पर उसे झट से लेकर उसका चुंबन लेते हैं, सुदेव को ब्राह्मण देवता कहकर पूजा कर उनके पैर दबाते हैं। इत्यादि उनके द्वारा निर्मित प्रसंग श्रीकृष्ण के मध्यवर्ती व्यक्तिरेखा से विसंगत महसूस होते हैं। श्रीकृष्ण को कई बार महानता के स्तर पर ले जाकर भी औचित्य विवेक छूट जाने पर सामान्य से भी सामान्य स्तर पर उन्होंने लाकर खड़ा कर दिया है। चरित्र चित्रण में देवी देवताओं का नख-शिख वर्णन अनौचित्यपूर्ण होता है। इस रचना में श्रीकृष्ण का सविस्तर रूप वर्णन रीतिवादी पद्धति पर किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नवीन प्रसंगोद्भावना¹²³ के क्षेत्र में सूरदास को तुलसीदास से भी श्रेष्ठ माना था, ऐसे में एकनाथ नवीन प्रसंगोद्भावना तो करते हैं, किन्तु उसमें वह उच्चता अनौचित्य के कारण नहीं आ पाती जो सूरदास के वर्णन में आयी है, बल्कि मराठी साहित्य में रीतिवादी प्रवृत्तियों को जन्म लेते देखा जा सकता है, जो देर-सबेर अधिक प्रबल हो जाती हैं। ऐसे में कहा जा सकता है कि हिन्दी भक्ति साहित्य की ही तरह मराठी भक्ति साहित्य में भी रीतिवाद के बीज हमें कृष्ण की यौवन-लीला-कथाओं में ही मिलते हैं।

सम्पूर्ण मराठी भक्ति साहित्य के साथ एकनाथ की रचनाओं को पढ़ने से एकनाथ द्वारा किए गए नवीन प्रयासों या प्रयोगों को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। एकनाथ के यह प्रयोग बहुत कुछ उनके दर्शन से परिचालित हैं। उनकी कविता की वस्तु और रूप दोनों पर समान रूप से उनके दार्शनिकता की

छाप देखी जा सकती है। इसी कारण उन्होंने वारकरी सम्प्रदाय में प्रचलित श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन तो अपनी कविताओं में किया किन्तु वारकरियों की तरह उनके कृष्ण अब बालकृष्ण नहीं। एकनाथ तक आते-आते महदंबा, ज्ञानदेव, नामदेव के बालकृष्ण बड़े हो चुके थे। एकनाथ के कृष्ण अब माखन नहीं चुराते वे मानलीला करते, गोप-बालाओं के साथ खेलते नहीं हैं बल्कि रुक्मिणी से विवाह करने के लिए उद्यत हैं, वे घुटरुनी नहीं रेंगते हैं, बल्कि भागवत का उपदेश देते हैं। ध्यातव्य है कि एकनाथ ने अपने पुरखे वारकरियों की भाँति अथवा सूरदास की भाँति भले ही अधिकांश कविताएँ बालकृष्ण की लीलाओं के सन्दर्भ में नहीं रची हो, किन्तु उनके कृष्ण हिन्दी अथवा मराठी के रीतिकालीन कवियों की भाँति गोपियों से प्रेम-क्रिडाओं में लिप्त नहीं हैं। एकनाथ ने श्रीकृष्ण के ग्रहस्थ रूप को अधिक चित्रित किया है, बाल रूप को बहुत ही कम।

मराठी में रामकथा पर प्रबंध काव्य लिखने की भी बहुत लम्बी परम्परा नहीं रही है, भावार्थ रामायण लिखना आरंभ कर एकनाथ ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की परम्परा में प्रयोग करने का प्रयास किया। इसके साथ ही एकनाथ ने मराठी में प्रबंध काव्य लिखने की परम्परा को भी बड़े स्तर पर स्वीकार किया। अपने पूर्ववर्तियों से श्रीकृष्ण के भिन्न रूप का अपने साहित्यिक अलंवन के रूप में स्वीकार करना, रामकथा पर प्रबंध काव्य लिखना, काव्य रूप के स्तर पर प्रबंध-काव्य को स्वीकृति प्रदान करना और इसके साथ ही लोकगीतों में अपनी महारत सिद्ध करना- यह कुछ ऐसे बिन्दु हैं, जिनमें एकनाथ परम्परा के भीतर रहते हुए भी उसे तोड़ते हैं और अपनी नई परम्परा की तलाश करते हैं। एकनाथ ऐसा क्यों करते हैं, इसका उत्तर उनके युग और उसके अनुसार उनके द्वारा स्वीकृत दर्शन या विचारधारा में देखा जा सकता है।

प्रायः प्रत्येक आलोचक एवं अध्ययनकर्ता ने एकनाथ को एक दार्शनिक कवि के रूप में प्रस्तुत किया है तथा उनके साहित्य में अभिव्यक्त दार्शनिक बिन्दुओं का अध्ययन-विश्लेषण किया है। किन्तु किसी ने भी यह जानने का प्रयास नहीं किया कि एकनाथ अपनी रचनाओं में सीधे-सीधे दार्शनिक उक्तियों का प्रवचन की हद तक प्रयोग क्यों करते हैं? कई बार उनकी रचनाएँ पढ़ते हुए ऐसा भी महसूस हो सकता है कि कवि मात्र इतना भर कहने के लिए अपनी रचनाएँ लिख रहा है अथवा उनकी रचनाओं में इन दार्शनिक उक्तियों के कारण विशेषतः प्रबंध-काव्य में पाठक को रसभंग से सामना करना पड़ रहा है। इतना ही नहीं अपने प्रबंध काव्यों में एकनाथ चलती कथा को रोककर बीच में ही कोई अवांतर नीति कथा सुनाने लगते हैं, तब यह शक यक्रीन में बदल जाता है। उनके प्रबंध काव्यों में आनेवाली उपकथाएँ भले ही विषयानुरूप होती हो, किन्तु वह रचना के पूर्ण प्रभावात्मकता पर असर डालती हैं। ‘भावार्थ रामायण’ में कई संस्कृत ग्रंथों से श्लोक, कहावतें, नीतिपरक पंक्तियाँ, उद्धरण ज्यों-के-त्यों अनुवाद करके एकनाथ ने डाल दिए हैं। कथा के बीच-बीच में रेणुकाख्यान, गजेन्द्र मोक्षाख्यान आदि से, रोचकता के बावजूद, कथा को बारम्बार अवरुद्ध उत्पन्न किया गया है।

एकनाथ के प्रबंध काव्यों में ही नहीं उनके लोककाव्यों में भी उनकी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, जहाँ एक पंक्ति या बंद तो सामान्यार्थक होता है, किन्तु अगली पंक्ति या बंद पूर्णतः आलौकिक या दर्शन से भरा होता है। प्रायः प्रत्येक भारूड, गौळण और अभंग में यह बात दिखाई देती है। वैसे भारूड अथवा गौळण की एकनाथ से पूर्व बहुत सक्षम परम्परा नहीं रही है, मौखिक रूप में हो सकती है। अभंगों की परम्परा तो नामदेव-ज्ञानदेव के बाद से ही बहुत अधिक विकसित रही है, किन्तु अभंगों में

इस प्रकार दर्शन एवं नैतिक सूक्तियों का इतने बड़े पैमाने पर प्रयोग किसी कवि ने नहीं किया। एकनाथ से पूर्व अभंग या तो अपने वैयक्तिक अनुभवों को साझा करने का या अपनी भक्ति भावना को अभिव्यक्त करने का माध्यम रहा है, या फिर कीर्तन के माध्यम से जनजागृति का। एकनाथ ने अभंगों को भी प्रौपगैंडा का माध्यम बनाते हुए अपनी दार्शनिक विचारधारा उसके माध्यम से प्रचारित करनी आरंभ कर दी। मराठी के कई आलोचकों ने एकनाथ की इस विशेषता को उनकी कला या उनके रूप से जोड़कर देखते हुए इसे रूपक शैली¹²⁴ कहा है। किन्तु ध्यान से देखने पर एकनाथ के प्रबंध या मुक्तक काव्य में यह शैलीगत विशेषता नहीं अपितु वस्तुगत विशेषता है, जो उनके दार्शनिक या नैतिकगत विचारधारा का फलितार्थ है। इस सन्दर्भ में सुहासिनी इल्लेकर ने ठीक ही कहा है कि, “रूपकात्मक निवेदन पद्धति नाथ प्रतिभा की केवल अभिव्यक्ति पद्धति ही नहीं अपितु वह उनकी अनुभव प्रक्रिया का ही एक भाग है, इसका एकनाथ के समग्र साहित्य में प्रत्यय होता है। रुक्मिणीस्वयंवर में रूपकात्मक निवेदन पद्धति का अतिरेक होने के कारण वह हमारा ध्यान आकर्षित करती है।”¹²⁵

एकनाथ की दार्शनिक दृष्टि और कृष्ण भक्ति के बदले हुए रूप का ही फलीतार्थ था कि उन्होंने श्रीमद्भागवत के रुक्मिणीस्वयंवर कथा पर काव्य लिखने की विरल परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए रुक्मिणीस्वयंवर रचना लिखी। “एकनाथ ने अपने अख्यानकाव्य रुक्मिणीस्वयंवर का कथाभाग पुनः एक बार श्रीमद्भागवत की चहारदीवारी में बन्द कर दिया। सीधे-सीधे उन्होंने अपने रुक्मिणीस्वयंवर कथाभाग को अनुवाद का रूप प्रदान कर दिया। भागवत के एक-एक श्लोक लेकर उसके कथात्मक एवं दार्शनिक आशय का स्वप्रतिभा तथा प्रज्ञा से मराठी में स्वच्छन्द अनुवाद कर यागवम एवं रुक्मिणीस्वयंवर की पुनः भेट करा दी।...एकनाथ ने इस विवाहोत्सव का वर्णन करते हुए महानुभावी रुक्मिणीस्वयंवर रचनाकारों का अनुसरण किया है, यह उनकी रचना से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।....परिणामतः अधिक-से-अधिक एकनाथ एक श्रेष्ठ संकलनकर्ता सिद्ध होते हैं। कथा को नवीन आशय देने बजाए नाथ उसे अद्वैत दर्शन का साधन बनाने में विशेष रस लेने लगते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि वे एक भावकथा को दार्शनिकता की चौखट में बन्द कर देते हैं।”¹²⁶ ध्यान देने की बात है कि इससे कथा में दार्शनिकता के हाथों सौन्दर्य की हानी भी होती है और भावात्मक प्रसंगों में रस निरुपण होने में भी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। ऊपर पात्रों के चरित्र चित्रण में आए अनौचित्य के प्रसंग में नायक के रूप में कृष्ण के पात्र में आए असंगत व्यक्तिचित्रण का उल्लेख हो चुका है।

अपना दार्शनिक दृष्टिकोण आरोपित करते रहने के बावजूद एकनाथ की कीर्ति का आधार उनके द्वारा रचित लोककाव्य प्रकार हैं, जिनमें उनके गौळण प्रमुख हैं। भारूड रचनाओं का सूत्रपात भले ही ज्ञानेश्वर-नामदेव से होता हो किन्तु उन्होंने इस माध्यम का उपयोग बड़े पैमाने पर नहीं किया। प्रायः आलोचकों ने एकनाथ द्वारा इतने व्यापक स्तर पर भारूड लिखने के दो कारणों की बारम्बार चर्चा की है। पहला मुख्य प्रयोजन धर्मजागरण और दूसरा गौण प्रयोजन लोकरंजन।

धर्म के साथ कट्टरता अनिवार्य रूप से जुड़ी होती है, कोड में खाज तो देर-सबेर हो ही जाती है। भारतीय तथाकथिक निम्न जातियों में आए धर्मान्तरित वर्गों एवं बाहर से आए सेवाप्रदाताओं के वर्गों को कहीं-न-कहीं धर्म के कट्टरतावादी तबके से धर्म का अतिवादी घोट पिलाया जा रहा था, तो दूसरी ओर हिन्दुस्तान में कट्टरतावाद, अस्पृश्यता एवं छूआछूत का अपना इतिहास रहा है। कट्टरता किसी भी धर्म की अद्वितीय विशेषता नहीं है। धर्म के नाम पर सभी धर्मों में अंधश्रद्धाएँ प्रचलित की जाती हैं,

जिनमें सामान्य जन के शोषण का लक्ष्य निहित होता है। ऐसा मुल्लाओं, धर्मपुरोहितों के भ्रमजाल से निकलने के लिए एकनाथ का भारुड साहित्य उन्हें सच्चा धर्म समझाने का प्रयास कर रहा था। इस अर्थ में वह धर्मजागरण था।

भारुडों में एकनाथ ने अपने दार्शनिक कवि रूप को कुछ काबु में करने का प्रयास किया है। भागवत आदि ग्रंथों जैसा सविस्तार दर्शन भारुडों में प्रायः देखने नहीं मिलता। इस काव्य-रूप में अभिव्यक्त दर्शन अपेक्षाकृत कम गहनता लिए हुए है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस रचना-रूप में दर्शन नाममात्र भी नहीं है, इसकी सघनता मात्र कम है। 'पाखरू' शीर्षक भारुड में सगुण में निहित अन्तिम सत्य निर्गुणत्व को एकनाथ रूप देते दृष्टिगोचर होते हैं। अपने अद्वैत दर्शन उनके भारुडों में भी गाहे-बगाहे आ ही जाता है। 'अर्जदास्त' शीर्षक भारुड में वे सहज ही कह देते हैं- जे निर्गुण निराकार तेथे माझा वास (जो निर्गुण निराकार वहाँ मेरा वास) अथवा 'कोल्हाटिन' भारुड में वे कहते हैं- सगुणासी लागे ध्यान। त्याने केले निर्गुण। ऐसी कई पंक्तियाँ एकनाथ के भारुडों में सहज ही देखी जा सकती हैं। रुक्मिणीस्वयंवर अख्यानकाव्य के प्रतिरूप में देखा जाए तो भारुडों में आया दार्शनिक आग्रह नितान्त भिन्न है। भागवत, रुक्मिणीस्वयंवर आदि में वह रचनाओं में छनकर चट से दिखाया जा सकता है, किन्तु भारुडों में वह रचना से एकरूप हो जाता है। संभवतः जनसामान्य को दृष्टि में रखकर दर्शन का छौंक एकनाथ ने भारुडों में सीमित रूप में लगाया है।

लोक काव्य होने के नाते एकनाथ के भारुडों में भी लोक-काव्य की प्रवृत्तियाँ अधिक हावी होती दिखाई देती हैं, जो इन रचनाओं के एक धन पक्ष (Plus point) कहे जा सकते हैं। उन्होंने लोकरंजन के माध्यम से लोकशिक्षण को समाज के सभी स्तरों तक पहुँचाने के लिए मुख्य रूप से भारुड को अपना मुख्य रचनाबंध बनाया। तत्कालीन समय-समाज में जो रूढ़ियाँ, जो कुछ सही नहीं लगा उन पर इस रचनाबंध के माध्यम से एकनाथ ने व्यंग्यात्मक प्रहार किए। इस कार्य में उन्होंने तत्कालीन सभी लोकरंजन के रूपों को, लोक तक पहुँचने वाले कलारूपों को, पशु-पक्षियों एवं निर्जीव वस्तुओं को तक अपने इस लक्ष्य का माध्यम बनाया। उनके भारुडों के विषयों में बाध्या-मुरळी, भांड, पोतराज, जंगम, जोशी, मुका, जागल्या, डौर, सवाल-जवाब, कंजारिन, जोहार, चोपदार, डोंबारी आदि का समावेश होता है।

नाट्यमयता एवं भावनाओं का विस्तृत एवं सफल चित्रण उनके भारुडों की अद्वितीय विशेषता है। इस नाट्यमयता में एकनाथ का लोकनिरिक्षण बखुबी व्यक्त हुआ है। सूक्ष्मता से समाज का निरिक्षण करना, उसमें व्याप्त कुरीतियों प्रहार करना तथा इस प्रहार के लिए समाज से ही माध्यमों को चुनना। इसी सामाजिक दायित्व के कारण एकनाथ इन सारी प्रक्रियायों से गुजरते हैं, जिसके कारण लोककला रूपों में अनुस्यूत नाटकीयता भी भारुडों में अनायास आ जाती है। इससे बढ़कर बात यह है कि एकनाथ उसका निर्वहन भी अपने भारुडों में भली-भाति कर पाते हैं। तत्कालीन विभिन्न व्यावसायिकों, कलाकारों, पदाधिकारियों को जब एकनाथ अपने भारुडों के पात्र बनाते हैं, तब उनकी सभी विशेषताओं, शारीरिक चेष्टाओं, संवाद-शैली, सामाजिक कुरीतियों आदि को भी भारुड में ले आते हैं। इस सभी से उनका प्रत्येक भारुड जीवित हो उठता है। भोग छोड़कर त्याग का दान माँगनेवाला वासुदेव, विवेक का गुन गानेवाला जोशी, सामाजिक संतुलन में बाधा होनेपर दैवी शक्ति का आह्वान कर 'बये दार उघड' की ललकार लगाकर विकारों पर कोड़े मारनेवाला पोतराज, ज्ञानदीप जलाकर

उसके प्रकाश में विकारों का अहंकार मिटानेवाला भुत्या, संकोच विकल्प को अपनाकर पंगु हो चुका पांगुळा, ज्ञान के अहंकार से वाणी को त्याग चुका मुका (गुंगा), अहंकारी ससुर, विकल्पों की सास, आशा-ममतारूपी ननंद एवं अविवेकी पति के साथ संसार करते हुए ससुराल से तंग आकर मनौती माँगनेवाली दुल्हनिया इन सारे रूपकों को देखने के पश्चात यह सहज समझा जा सकता है कि अध्यात्म-दर्शन को अपनी रचनाओं के केन्द्र में रखनेवाले एकनाथ भारुडों की रचनाओं में उसे ग्रंथ-पोथियों में बन्द करके लोकजीवन में उसकी समग्रता के साथ प्रवेश कर जाते हैं। “उनके द्वारा चित्रित ‘निजानन्द पूरिचा रहिवासी’ सरोदा, ‘तीनों लोक का चक्कर काटकर चार युगों की खबर’ देनेवाला डोंबारी, साहंम शब्द के नगाड़े पीटकर उसकी ताल पर उलटी उड़ी मारनेवाला कोल्हाटी, बोध की टोकरी व ज्ञान का संबळ¹²⁷ लेकर अज्ञान को भस्म करते हुए नाचनेवाला भवानी का भुत्या इत्यादि प्रकरण मुलतः पठनीय हैं।”¹²⁸

मराठी सन्त साहित्य के गहन अध्येता यू.म.पठान के अनुसार, “एकनाथ तत्त्वचिन्तक होने पर भी और अपने भागवत जैसे ग्रंथ में मुख्यतः यह चिन्तन अत्यन्त विस्तार से निरूपित करने पर भी भारुडों में उन्होंने अपने इस तत्त्वचिन्तनप्रणव वृत्ति को बड़े संयम के साथ नियंत्रित किया है। इससे उनके औचित्य विचार का प्रत्यय जैसे होता है वैसे ही जनसामान्य के आकलन स्तर के उनके ज्ञान के पता होने की बात भी पता चलती है। और इसीलिए कदाचित भारुडों में गहन तत्त्वचिन्तन पर अधिक भर नहीं दिया, यह स्पष्टतः महसूस होता है।”¹²⁹ भारुडों में प्रचलित कई अराधना पद्धतियों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से कई के प्रति एकनाथ उदार थे, तो कईयों को अंधश्रद्धा घोषित करते हुए सख्त आलोचना करते देखे जा सकते हैं। इतना ही नहीं भारुडों में मुलभूत सुविधारहित सांसारिकता एवं अत्याचारी सास-ससुर के भी मरण की कामना एकनाथ करते देखे जा सकते हैं। इन अर्थों में एकनाथ लोकरंजन एवं लोकजागरण अपने भारुडों के माध्यम से करते देखे जा सकते हैं, अपने इस काव्य-रूप में तमाम लोक-गुणों को सहेजते हुए, लोक से जुड़ने का प्रयास करते हुए और लोक में अपने दार्शनिकता के माध्यम से जागरण लाने का प्रयास करते हुए।

एकनाथ के मराठी भारुडों की ऊपरोल्लेखित विशेषताओं को उदाहरणरसहित समझने के लिए नीचे उनका सुप्रसिद्ध भारुड ‘मला दादलना नको ग बाई’ नीचे दिया जाता है –

“बया बया बया

काय झाल बया ?

दादला नको ग बाई

मला नवरा नको ग बाई !

मोडकंच घर, तुटकच छप्पर

पन ज्हायाला जागाच नाही

मला दादला नको ग बाई !

फाटकंच लुगडं, कुटकीच चोळी

पन शिवायला दोरा न्हाई

मला दादला नको ग बाई !

कळण्याची भाकर, अंबाड्याची भाजी

वर तेलाची धारच न्हाई
मला दादला नको ग बाई !
एका जनार्दनी समरस झाले
पण तो रस येथे नाही
मला दादला नको ग बाई !

इस भारूड में एक गृहिणी का दुःख अभिव्यक्त हुआ है जो अभावों में जीवन व्यतीत करने के लिए अभिशप्त है। वह एक-एक कर अपने अभावों को गिना रही है किन्तु यहाँ ध्यान देनेवाली बात यह है कि टेक के रूप में जो पंक्ति बार-बार आ रही है ‘मला दादला नको ग बाई’ यह मात्र एक धुन का काम नहीं कर रही है, बल्कि उस स्त्री का सम्पूर्ण विवाह संस्था के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति कर रही है। माना कि अन्त में एकनाथ ‘एकाजनार्दनी समरस’ होने की बात कहते हैं और सारी बात अपनी दार्शनिकता में उड़ा ले जाता हैं, जो उनकी अपनी उपज है। निःसंदेह यह तत्कालीन समय में एकनाथ ने गीत किसी स्त्री वर्ग को गाते सुना होगा और उसे अपनी सूक्ष्म कला-दृष्टि से दार्शनिकता में लपेटकर प्रस्तुत कर दिया किन्तु आज यह तत्कालीन स्त्री की दशा और अभावों में उसे होने वाले दुखों की दासताँ प्रस्तुत गीत के रूप में देखा जा सकता है। जो लाज बचाने के लिए चोली न लाकर दे या फिर लाए भी तो फटी चोली जिसे सिलने के लिए धागा भी न हो, जो खाने के लिए अन्न उपलब्ध न करा पाए या फिर कराए भी तो अंबाड़ा (जूट) और कनकियाँ, वह भी मँगनी के, जिसमें डालने के लिए तेल भी न हो। ऐसा पति होने से तो न होना ही अच्छा है। इस पूरे भारूड में एक गृहिणी स्पष्ट रूप से कहती दृष्टिगोचर होती है।

जिसे एकनाथ ने अन्त में मोड़ देते हुए कहना चाहा कि जो रस गुरु जनार्दन से एकरस होने में है वह संसार में नहीं है। इस भारूड में टेक द्वारा एक लय को बरकरार रखा गया, जिसे कई गायकों-गायिकाओं ने गाया। मूलतः यह प्रश्नोत्तर की शैली में लिखा गया है, जिसमें स्पष्टतः उत्तर देनेवाली एक स्त्री पात्र है और प्रश्न करनेवाला पुरुष है। स्त्री को विवाद करने का मौका हमारे किसी भी पारम्परिक साहित्य में शायद ही दिया हो, किन्तु एकनाथ के इस भारूड की स्त्री तर्कों के साथ अपने को क्यों विवाह नहीं करना है अथवा उसे क्यों पति नहीं चाहिए जैसे प्रश्नो के उत्तर देती है। इस भारूड को गीत के रूप में संगीतकार राम कदम के संगीत के साथ शाहिर साबळे की ध्वनि में सुनाना और इसका प्रदर्शन देखना इसकी नाटकीयता को उजागर करता है।

इसी प्रकार अपने गौळण काव्य-रूप में भी एकनाथ ने ग्वाल बालाओं की विभिन्न व्यथाओं का चित्रण किया है। ‘विराण्या’ शीर्षक अन्तर्गत रचित कविताओं में “एकनाथ ने ग्वाल बालाओं की मनोव्यथा का सुन्दर भावचित्र चित्रित किया है। श्रीकृष्ण को मिलने के लिए अतुर वह इतनी आर्त बन जाती हैं कि लौकिक व्यवहार का वहन कर पाना उनके लिए दुष्कर कार्य हो जाता है। श्रीकृष्ण मिलन की ईच्छा वे नाना पद्धतियों से अभिव्यक्त करती है।

येई येई कान्हा देई अलिंगन । भेट देऊनि पुरवी मनोरथ पूर्ण ॥

विरह विरहा करी समाधान । दावी तू अपने चरण ॥

इस प्रकार कृष्ण मिलन का मार्ग ढूँढते वाली एकनाथ की विरहीनी मिलन के लिए आतुर अवश्य है किन्तु वह भक्तिमार्ग के साधकावस्था की स्त्री प्रतीत होती है। एकनाथ ने मात्र उसके अन्तःकरण की विरहव्यथा को ही चित्रित नहीं किया अपितु भक्ति-मुक्ति की स्वतः की स्वतंत्र कल्पनाएँ

भी उसमें पिरोई हैं।”¹³⁰ निःसंदेह एकनाथ की ग्वाल बालाएँ हमें कई स्थानों पर सूरदास की गोपिकाओं की याद दिला देती हैं।

इस प्रकार एकनाथ का साहित्यिक कर्म शिष्ट से लेकर जन-सामान्य तक पहुँचने का अविरत प्रयास करते दिखाई देता है। यह प्रयास रूप और वस्तु दोनों स्तरों पर देखा जा सकता है। जहाँ रूप के स्तर पर एकनाथ का साहित्य अपने लक्ष्य श्रोताओं-पाठकों के अनुसार रूप का चुनाव करते हैं, वहीं काव्यप्रकार के माध्यम से उनकी वस्तु तय होती। यह कहा जा सकता है कि लोक काव्यों के रूपों भारूड, गौळण, विराण्या में उनके द्वारा प्रेषित वस्तु एवं उनके प्रबंध काव्यों में वस्तु दोनों में अन्तर है, किन्तु उनके तमाम साहित्य में अभिव्यक्त मानवीय मूल्य उनके युगानुरूप अपना स्वरूप लिए हुए हैं। उनके साहित्य में अभिव्यक्त जन-अभिलाषाओं को युगीन कसौटी के अनुरूप देखा जा सकता है। उन्होंने अपनी स्वीकृत विचारधारा और दर्शन को युग एवं श्रोता-दर्शकों के अनुसार प्रेषित करने का ईमानदारी से प्रयास किया है। यही कारण है कि वे सामान्य जन से लेकर शिष्ट साहित्यिक मंचों पर आज भी समादृत रहे हैं। एकनाथ के इसी प्रयास ने उन्हें जन-कवि और धुरंधर साहित्यिक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। युगानुरूप लोक एवं शास्त्र का समन्वय उनके काव्यकर्म की विशेषता रही है। इसी आधार पर ‘हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास’ में एकनाथ को “लोकसंग्रही”¹³¹ कहा गया है। मराठी भक्ति साहित्य, एकनाथ का मराठी काव्य-कर्म एवं अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों काव्य-कर्म के आलोक में एकनाथ की हिन्दी कविताओं का अध्ययन आगे किया जाएगा।

3.2.10 शिखरपुरुष तुकोबा का मराठी काव्य

उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ लोकसंत-समाजसुधारक महात्मा ज्योतीबा फुले एवं गाडगे महाराज ने संत तुकोबा को अपना प्रेरणास्रोत माना, डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर अपने ‘मूकनायक’ पत्र पर तुकोबा के अभंगों के चरण लिखा करते थे। तुकोबा की कविताओं के प्रभाव को इस अर्थ में भी समझा जा सकता है कि तुकोबा का काव्य मराठी काव्यक्षेत्र को ही नहीं, अपितु नाटक, उपन्यास और आलोचना पद्धतियों को भी प्रभावित करता है एवं वे एक प्रतिमान के रूप में मराठी आलोचना में विराजमान हैं।

तुकोबा की कविताओं की संख्या आठ हजार से अधिक बताई जाती है, जिनमें अभंग, भारूड, गवळणी, झोपाळा, पिंगा, ओव्या आदि काव्यरूप हैं। उनके रचनाओं की संख्या जितनी अधिक है, उतने ही मत उसके सन्दर्भ में बनाए गए हैं और तुकोबा की कविता इस प्रकार के विभिन्न मतों के लिए स्पेस भी देती है।

तुकोबा की कविता में इतनी विविधता है कि इसमें से कई अध्ययनकर्ताओं ने अपनी विचारधारा एवं मानसिकता के अनुसार अपने अध्ययन का उपसंहार प्रस्तुत किया है, किन्तु यह अधिकतर समाज केन्द्रित ही रहा है। इनमें प्रायः इतना विरोध भी रहा है कि इन्हें परस्पर विरोधी मत कहा जा सकता है। स्थूल रूप से उनकी मराठी कविताओं को दो भागों में बाँटा जाता रहा है - एक में अराध्यविषयक अनुभूति की विभिन्न छटाओं का वर्णन मिलता है तो दूसरी में कवि उपदेशक की भूमिका का निर्वहन करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इन दोनों प्रकारों का स्थूल विभाजन ठीक उसी प्रकार माना जाना जाए, जिस प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ में किया गया आदिकाल का

नामकरण और विभाजन। इस अध्ययन में चाहे तुकोबा की कविताओं के सन्दर्भ में विरोधी मत प्रकट हुए और उनकी कविताओं के विरोधाभास प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप से सामने आए हैं। तुकोबा के अपने पूर्ववर्ती सन्तों से भिन्न समाज एवं साहित्यिक दाय को इसमें विभिन्न रूप से विश्लेषित किया गया। यह तो सर्वविदित है कि तुकोबा की कविताएँ, विशेषतः अभंग, सामान्य जनता से लेकर अकादमिक विद्वत्ता तक, वारकरियों से लेकर अमरिका-यूरोप के साहित्य और सामाजिक विज्ञानों के अध्येताओं तक भारतीय समाज तथा सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने के लिए ध्यानाकर्षित करते रहे हैं। मराठी भक्ति आन्दोलन के साथ-साथ आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए प्रतिमानों के निर्माण में जिन कवियों के काव्यकर्म ने परोक्ष-अपरोक्ष रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन किया, उनमें तुकोबा भी हैं। तुकोबा का जीवन तथा काव्य-संघर्ष कई नाट्यकृतियों, उपन्यासों एवं चलचित्रपटों का उपजिव्य विषय बना। उन्होंने एक बहुत बड़े सामाजिक इतिहास को दिशा देने का कार्य किया है।

कई आलोचकों ने तुकोबा की ज्ञानदेव-नामदेव-एकनाथ से पूर्व की भी परम्परा को खोजने का प्रयास किया। कईयों ने उनके अभंगों में चित्रित एवं जीवन में घटी चमत्कारिक घटनाओं के सामाजिक सन्दर्भ की ओर भी संकेत किया है। तुकोबा की कविताओं में आया साधना का विकासक्रम समझाते हुए भी कईयों ने लेखनकार्य किया। कई विचारकों ने समाज एवं उनकी कविताओं के परस्पर प्रभाव का भी अध्ययन किया है। सगुण-निर्गुण ज्ञान की ऊँचाई और द्वैत-अद्वैत की जाँच पड़ताल भी उनके अभंगों में की गई। तुकोबा की भाषा और आर्त-करुण उद्गारों में व्यक्त संवेदना की मधुरता आरंभ से आकर्षण का विषय रही है। वस्तुतः सभी ने किसी-न-किसी अर्थ में तुकोबा के सामाजिक कार्य एवं उनका जनसामान्य पर पड़े प्रभावों को अपने विवेचन-विश्लेषण का विषय बनाया, जिसमें वस्तुवादी और रूपवादी दोनों दृष्टियाँ देखी जा सकती हैं।

वारकरी पंथ से व्यापक स्तर पर जुड़े होने के कारण तुकोबा की मराठी कविताओं में सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव आदि सभी ईश्वर के रूपों-स्वरूपों का समावेशन देखा जा सकता है। किन्तु उन्होंने अराध्य के रूप में अधिकांश विठ्ठल का ही नाम लिया गया है, जिससे वे प्रायः माता का सम्बन्ध जोड़ते हैं। तुकोबा की यह माता ममता की छाया है। वे अपनी माता को आर्त ध्वनि में पुकारते हैं, प्रेम से उसके सामने हठ करते हैं, तो कभी सप्रेम उससे लड़ते-झगड़ते भी हैं और साथ ही यह भी अपेक्षा करते हैं कि माता से रूठने का हक केवल बालक को है, माता को ऐसा अधिकार नहीं देते। उन्होंने अपने कई अभंगों में अराध्यमूर्ति विठ्ठल, चन्द्रभागा नदी एवं पंढरपुर का अत्यन्त मनोहर चित्र प्रस्तुत किया है। वे पंढरपुर के अतिरिक्त भी श्रीमद्भागवत के वासुदेव सर्वमिती के अनुसार सर्वत्र ईश्वर को ही देखते हुए कहते हैं, जहाँ भी देखूँ तुम्हारे चरण दिखते हैं, इस सम्पूर्ण विश्व में तू ही व्याप्त है।

तुकोबा ने जातिवादी रूढ़ियों का जोरदार विरोध किया। ऐसा विरोध उनके पूर्ववर्ती संतो में भी देखने को मिलता है, किन्तु तुकोबा के यहाँ उसकी तीव्रता और गति में भरपूर बढ़ोतरी थी। चूँकि तुकोबा का सम्बन्ध अजीवन ग्राम से रहा, वहाँ की भोली-भाली जनता को जागृत करने के लिए उन्होंने उन्हीं की भाषा में और उन्हीं के लहजे में अपनी बात कही, इस कारण उनके काव्य में संवेदनशीलता के साथ अपनी एक तार्किकता है, जिसमें हृदय एवं बुद्धि दोनों पक्षों का शमन करने की क्षमता है। भक्ति आन्दोलन के मूल में भक्ति की समानता को कई विद्वानों ने रेखांकित किया है। तुकोबा ने भी हरि के चरणों में समर्पित होने का अधिकार सभी वर्णों जातियों को होने की बात की है, उसके लिए जाति के

प्रमाण को सीधे-सीधे अमान्य कर दिया। अस्पृश्यता का पालन करनेवाले ब्राह्मण को, ब्राह्मण मानने से इन्कार कर दिया। इससे भी आगे बढ़कर तुकोबा ने ब्राह्मणों को भी उपदेश दिए हैं। उन्होंने नाममार्गी भक्ति में जाति के मत को ही हीन मानकर जिसके मुख में नाम है, उसे ही धन्य माना है। उन्होंने लाखों हृदयों की बात अपनी हृदयस्पर्शी कविता के माध्यम से जनभाषा में ही नहीं, जनता के लहजे में भी कही, इसी कारण उनकी कविताओं की कई पंक्तियाँ कहावतों के रूप में प्रसिद्ध हो गई।

उनकी कविता जितने तीखे शब्दों में सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करती है, उतनी ही वह अहिंसात्मक पद्धति से सामाजिक समन्वय चाहती हैं। इसी कारण तुकोबा का काव्य एक भिन्न पद्धति से सामाजिक एकता का कार्य कर रहा था। उन्होंने हमेशा लघुता को महत्व दिया है, न की महानता या विराटता को। अपने अराध्य से भी उन्होंने चींटी सी लघुता ही माँगी है। उनके अनुसार सन्तो को होनेवाला दैहिक कष्ट जगत के कल्याण के लिए ही होता है, वे समाज पर उपकार करने के लिए ही विभूति आते हैं। तुकोबा के काव्य में सामाजिक एवं वैयक्ति संघर्ष को यथोचित मिश्रण हुआ है, जिसने तत्कालीन समय से लेकर वर्तमान भोगवादी समाज को दोनों प्रकार के संघर्षों में आत्मविश्वास देने का कार्य किया है। तुकोबा की लोकचिन्ता को उनके बाद जिस किसी ने युगानुरूप वाणी देने का प्रयास किया है, वह भी उनके ही स्तर के विभूति बने। “वस्तुस्थिति तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महाराष्ट्र में घटित सभी क्षेत्रीय विचार मंथनों एवं अन्य व्यवहारों के केन्द्र में तुकोबा ही थे।”¹³² वे एक ही समय अपने समय के भाष्यकार, कलाकार एवं विचारक भी थे और उनका यह रूप उनके अभंगों में झलकता है।

आलोचकों के एक बहुत बड़े वर्ग ने अपनी ऊर्जा इसमें भी लगायी है कि तुकोबा और उनकी कविताएँ वैदिक परम्परा से जुड़ती हैं या वे अवैदिक हैं। कुछ ने तुकोबा के बहाने सम्पूर्ण वारकरी परम्परा को ही अवैदिक सिद्ध कर, उसे चार्वाकों, जैनों, बौद्धों से जोड़ने का प्रयास किया, तो इसके प्रतिवाद में कुछेक विचारकों ने उसे पूर्णतः वैदिक माना है। उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों वर्ग के लेखक-आलोचकों को तुकोबा के काव्य में भरपूर मात्रा में उदाहरण भी मिल जाते हैं, तो कुछ कविताओं की उस प्रकार व्याख्या भी की जा सकती है। इसके साथ ही तुकोबा आदि सन्त-भक्तों द्वारा वैदिक परम्परा की आलोचना को अन्तर्गत टीका-टिप्पणी मानकर उसे अन्तर्गत संघर्ष भी माना जाता रहा है। आ.ह.साळुंखे ने तो अपने ‘गौतम बुद्ध ते तुकोबा’ शीर्षक लेख में गौतम बुद्ध को पूर्णतः अवैदिक मानते हुए तुकोबा को पूरी तरह श्रमण संस्कृति से नत्थी करने का प्रयास किया है। और इस प्रकार यह भी निष्कर्ष निकाल गया कि “कम-से-कम महाराष्ट्र में तो कालक्रमानुसार जो तांत्रिक विकृतियाँ आयी थी, उन्हें दूर रखते हुए बौद्ध धर्म ने बगावती धर्म में रूप में पुनः आवतार लिया।”¹³³ इसी क्रम में तुकोबा को नामदेव का आवतार माना गया और वारकरी सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म का, तो इसे भोली भक्ति भावना समझना चाहिए।

यह सही है कि अपने कीर्तन एवं कार्यों द्वारा तुकोबा ने नामदेव का कार्य आगे बढ़ाया, जो किसी भी अर्थ में अपूर्ण नहीं था, किन्तु नामदेव ने जो धागा छोड़ा था, वह तुकोबा को वहीं-का-वहीं नहीं मिला। कारण वही था, ढाई-तीन सौ वर्षों के समय में कट्टरपंथी ताकतों ने अपना धर्म पर उसी प्रकार अधिकार जमा लिया था, जैसा ज्ञानेश्वर-नामदेव या उससे भी पूर्व चक्रधर के समय में था। ऐसे में तुकोबा को अपना कार्य शून्य से फिर से शुरू करना था, जो उन्होंने किया, किन्तु एक नयी गति से।

तुकोबा के समय परिस्थितियाँ अधिक बिकट हो चली थी। सामान्य जन पर शासक-पुरोहित गठबंधन कई प्रकारों से प्रताड़ित करने की प्रक्रिया को जोर दिया था। तो दूसरी तरफ मठों की स्थापना ने शासन एवं सामाजिक न्याय की प्रक्रिया पर ही नहीं, शासन की ओर से दिए जानेवाले न्याय पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। यही कारण है कि तुकोबा द्वारा कविताएँ लिखा जाना एवं उनके कीर्तन की शिकायत धर्मपरिषद या इसी प्रकार की किसी संस्था तक पहुँची थी, जहाँ उनकी कविताओं नदी में डुबोने की सज़ा सुनाई गयी थी। इससे तो यही प्रदर्शित होता है कि न्याय की प्रक्रिया पर भी एक खास किस्म के लोगों का पूर्ण अधिकार हो चला था, क्योंकि शासन में उन्हीं के समविचारी भाई-बन्धु थे, चाहे उनके धर्म का नाम भिन्न था। इस प्रवृत्ति ने दो-तीन शताब्दियों में सामाजिक संरचना में भी अपनी जगह बना ली थी, जिसे रामेश्वर भट जैसे लोगों में देखा जा सकता है, जिन्होंने तुकोबा के कीर्तन-काव्य को लेकर कचहरीनुमा न्यायालय में शिकायत की थी।

तुकोबा ने अपनी कविताओं के सन्दर्भ में कहा था कि उन्हें नामदेव ने स्वप्न में आकर कवित्व का आशीर्वाद दिया है और उनकी कविताओं के माध्यम से स्वयं श्रीविठ्ठल अपनी बात प्रस्तुत कर रहे हैं। अपनी कविताओं को पवित्रता की भावना के साथ जोड़ने की यह प्रवृत्ति गाहे-बगाहे अधिकांश भक्तिकालीन कवियों में देखी जा सकती है। नामदेवादि के सन्तमेळा की परम्परा पूरी परम्परा पर इतने श्रम के बाद कब्जा करनेवाले धर्म के ठेकेदारों को कैसे मान्य हो सकता था कि तुकोबा उन्हीं प्रतिरोधी शक्तियों को पूरी तीव्रता के साथ समाज के सामने प्रस्तुत करें और वारकरी सम्प्रदाय को फिर से लोकधर्म बनाने का सफल प्रयास करते ! उन्होंने वही किया जो उनके हित में था।

तुकोबा ने 'विश्व मिथ्या' को अस्वीकार करते हुए 'विश्व ब्रह्म' को स्वीकार किया है। इस कारण वे पक्षी और लताओं को भी मनुष्य के परिजन मानते हैं एवं इस कारण उनका जीवन दर्शन अधिक व्यावहारिक बनकर सर्वजन ग्राह्य हुआ है। उनकी वाणी में जितना सर्वजन अंतर्वेशन है, उतना रूढ़ियों के प्रति अपवर्जन है और इसलिए वे प्रतिरोध के कलाकार हैं। उन्हें वारकरी सम्प्रदाय का चरमोत्कर्ष कहा गया है। क्योंकि पूर्ववर्ती तमाम सन्तों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व की प्रवृत्तियाँ उनमें एक साथ दृष्टिगोचर होती है। तुकोबा को वारकरी सम्प्रदाय का चरमोत्कर्ष अथवा शिखर पुरुष कहा जाना ही सिद्ध करता है कि वारकरी सम्प्रदाय एक प्रतिरोध की संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया के तहत सामने आया था और मानो तुकोबा तक के विकास में उसने अपनी पूर्ण प्रगति कर ली थी। उसने जन मानस तक अपनी पहुँच का प्रमाण तुकोबा एवं अन्य वारकरी सन्तों को मिली अपूर्व स्वीकृति के माध्यम से दिया। जहाँ सम्पूर्ण विश्व का तादात्म्य स्थापित होता है। मनुष्यता की व्याख्या में सारी सृष्टि समाविष्ट हो जाती है और दर्शन बौद्धिक कसरतों का आखाड़ा मात्र न रहकर उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाता है। प्रत्येक वारकरी 'जय जय राम कृष्ण हरि' का उद्घोष करता है, तो वास्तव में वह वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास और दर्शन को आत्मसात करने का साक्षी बन जाता है।

वारकरी सम्प्रदाय में 'नामयाचा तुक्या' की अवधारणा प्रचलित है जिसके ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय कारण हैं। दो सौ से अधिक वर्षों तक वारकरी सम्प्रदाय नायकविहीन था। लोक में तो उसकी पैठ नामदेव के बाद बनती गई किन्तु उपरोल्लेखित नव-सामंतवादी समाज के कारण बदली सामाजिक परिस्थितियों में परिनिष्ठित वारकरी दार्शनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किसी बड़े व्यक्तित्व की अपेक्षा थी, जिसे बखूबी समझकर तुकोबा ने पूर्ण किया। दत्त सम्प्रदायिकों के

वारकरियों से मुठभेड़ के कोई प्रमाण तो नहीं मिलते, किन्तु दत्त सम्प्रदाय वास्तव में वारकरी सम्प्रदाय के आचारमार्गों से असह्य अवश्य रहा होगा। तुकोबा अपने पैतृक व्यवसाय के कारण श्रमजीवि वर्ग से जुड़े हुए थे और इसलिए वे बदलती हुई आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से अवगत भी थे। परिवार में वारकरी संस्कार आयु के साथ आत्मसात होने के कारण वे पूर्वप्रचलित वारकरी दर्शन को अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान करने में सक्षम हो पाए। जहाँ पूर्ववर्ती कई वारकरी सन्त मुख्यधारा की दार्शनिक मान्यताओं से अनुकूलन की स्थिति में थे वहीं तुकोबा सामान्यजन की दृष्टि से उसकी पुनर्व्याख्या कर उन्हें अंतर्वेशन या अपवर्जन करते हैं। अर्थात् एक प्रकार से वारकरियों में सद्-सद् विवेक बुद्धि का चरम विकास तुकोबा के यहाँ देखा जा सकता है। 'सन्तत्व' को मात्र धार्मिक अनुष्ठानों से ऊपर उठाते हुए उसे पुनर्परिभाषित करते हुए कहा है कि 'जो शोषित-पीड़ितों को अपनाता है, वह साधु कहलाता है और ऐसे ही स्थान पर ईश्वर बसते हैं।' उन्होंने व्यावहारिक और धार्मिक दोनों प्रकार के पाखण्डों को अपर्जित करने की वकालत अपनी वाणी में की है।

3.2.11 तुकोबा की मराठी कविताओं का रूप विधान

तुकोबा के समय तक उच्च वर्गीय तबका भक्ति आन्दोलन पर अपनी पकड़ बनाने में काफी मात्रा में सफल हो चला था किन्तु जनसामान्य में उसे वह मान्यता नहीं मिल पायी थी जो वारकरियों ने प्राप्त की थी। इसका श्रेय ज्ञानदेव-नामदेव और उनके सन्तमेळा से आरंभ हुई और प्रायः प्रत्येक वारकरी द्वारा स्वीकृत कीर्तन की परम्परा को जाता है। कीर्तन रचनात्मकता का वह चरमोत्कर्ष था जहाँ समाजसुधारणा, समाज शिक्षा, भक्ति एवं दर्शन को व्यावहारिक रूप में एक साथ साधा जाता था। वारकरियों के यहाँ कविता या किसी गीत को गाना ही कीर्तन नहीं होता है, अपितु उस गीत के भावों को समझाते हुए अपनी समकालीन कूप्रवृत्तियों पर लोगों को सचेत करना भी अनिवार्य होता है, इसे आज भी कई स्थानों पर देखा जा सकता है। इस कारण वारकरियों का कवित्व संगीतात्मक अभिव्यक्ति को लिए हुए है। कीर्तन की इस स्वस्थ परम्परा को विकसित करने का श्रेय नामदेव को है, जिन्होंने कीर्तन के लिए सर्वाधिक अनुकूल अभंग छन्द की योजना की। साथ ही कीर्तन को संत चरित्र के साथ जोड़ते हुए अप्रस्तुत रूप में प्रत्येक सन्त के प्रदर्शक-कलाकार होने की परम्परा को भी अनिवार्य कर दिया। कीर्तन नुक्कड़ नाटक एवं संगीत नाटक का ऐसा मिश्रण होता था जो श्रोता पर सीधे अपना प्रभाव अविलंब जमा लेता था। इसी कीर्तन ने भक्ति आन्दोलन की विचारधारा को तीव्रता से जनमानस में पैठ जमाने में मदद की। परिणामस्वरूप इस कीर्तन-परम्परा ने महाराष्ट्र में आन्दोलन का रूप ग्रहण किया, जिसने सामन्तवादी विचाराधारा की जड़े हिला दी। एकनाथ के समय तक तो कीर्तन करने पर प्रायः किसी भी सन्त को उतना विरोध सहना नहीं पड़ा, जितना तुकोबा के हिस्से आया। क्या कारण है कि नामदेव तथा अन्य सन्तमेळा के सन्त-भक्त तथाकथित शूद्र होते हुए भी उभय सन्तों में से केवल तुकोबा को इतना तीव्र विरोध हुआ कि उनकी रचनाएँ नदी में बहा देने का फतवा तत्कालीन कट्टरपंथी पुरोहितों ने दिया? क्योंकि इन कीर्तनकारों ने न केवल कवित्व इनके प्रतिरोध में लिखा बल्कि वह संगीतात्मकता के साथ इन कट्टरपंथियों के पाखण्ड के विरुद्ध; स्वयं लोगों की बोली में अशिक्षितों को भी सुलभ किया और उसका लोकाभिग्रहण बड़ी मात्रा में हो रहा था। अर्थात् 'वह' जान गए थे कि कविता की संगीतात्मक सर्वाभिव्यक्ति यानि कीर्तन का समाज पर तीव्र और उनके एकाधिकारशाही के विरुद्ध प्रभाव पड़ रहा है।

तुकोबा ने अपनी समकालीन टीकाओं-भाष्यों की परम्परा को नकारते हुए नामदेव-बंका महार की अधिक रचनात्मक अभंग-कीर्तन परम्परा को स्वीकार किया। उन्होंने सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में आ रही या लायी जा रही फाँक को दूर करते हुए प्रयत्न को सर्वोपरि माना। उन्होंने अपनी उपदेशपरक कविताओं में ब्राह्मण एवं जाति की अवधारणाओं को गुणवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया। तुकोबा को शूद्र कहकर काव्य रचना एवं कीर्तन करने से वंचित करने का प्रयास रामेश्वर भट्ट द्वारा करना तथा गाँव के मुखिया (पाटिल) को कहकर गाँव निकाला या अपनी कविताओं को इंद्रायणी नदी के पानी में डुबोने का विकल्प देना कई बातों की ओर इंगित करता है, यथा : उस समय तक भी ब्राह्मणेत्तर सारे जातीय लोग शूद्र ही माने जाते थे, तुकोबा अपनी कविताओं में जन की बात कर रहे थे और सामान्य जन को उनकी कविताओं-कीर्तनों में अभिव्यक्त विचार अपने से लग रहे थे जिसके चलते वे खासे लोकप्रिय बन गए थे और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सवर्ण समाज को उनकी कविताएँ अपने विरोध में जान पड़ रही थी। तुकोबा भी नामदेव की ही भाँति एक साथ कीर्तनकार और अपने समय के बौद्धिक भी थे। उनमें पूर्ववर्ती सारे सन्तों की अपेक्षा कई अधिक आक्रोश देखा जा सकता है।

एक मराठी कहावत के अनुसार यदि आप में मानवता नहीं है तो आपकी सारी प्रतिभाएँ व्यर्थ हैं। तुकोबा के समय में अकाल ने भुखमरी के रूप में अपना विकराल रूप दिखाया। तुकोबा का पैतृक व्यवसाय बनिया का होने के कारण उनके पुरखों के मालगोदाम में अनाज की कुछ बोरियाँ थी और तुकोबा ने अपनी सबसे बेहतरीन प्रतिभा को उजागर करते हुए सारी बाँट दी। ऐसा कर उन्होंने नामदेव से आती हुई मानवीय परम्परा को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। इस संकट के समय में उन्होंने अपने कई आसजन भी अन्न के अभाव में खो दिए। दूसरी ओर उनका मानवीय रूप सोने की भाँति भट्टी में तपकर निकल रहा था। उन्होंने अपने कीर्तनों के माध्यम से न केवल प्रतिरोध की संस्कृति को विकसित करने का प्रयास किया अपितु अकाल के दुर्दिनों में मानवीय विश्वास को बनाए रखने का भी कार्य किया। इन मायनों में उनकी रचनात्मकता अपने समकालीन समाज की तमाम चुनौतियों से लड़ते हुए सामान्य जन की बात प्रस्तुत करती है। महाराष्ट्र के गाँव-गाँव में तुकोबा की वाणी आज भी भोर से गाई जाती है क्योंकि वह आज के भी किसानों की आवाज़ हैं, उसमें मानवीय स्वाभाविकता है, नैसर्गिक उपमाएँ हैं, भाषा की सरलता है और सबसे ऊपर एक आन्तरिक लय है जो श्रम में विश्राम देती रहती है, अपनत्व की गर्मी देती रहती है।

जहाँ वे मराठा योद्धाओं को ध्यान में रखकर 'पाईक के अभंग' लिखते हैं, वहाँ उनके काव्य की वस्तु के साथ-साथ भाषा, लय एवं उद्देश्य में भी अन्तर आ जाता है। जहाँ वे अपने भक्ति के कोमल भावों को अभिव्यक्त करते हैं, वहाँ करुणा की अजस्र धारा बहती दिखाई देती है। साथ ही जब तुकोबा माता-पिता की भूमिका में आकर अपने साथियों-श्रोताओं को डाँटने लगते हैं, उन्हें कई बार खरी-खोटी सुनाने लगते हैं, तो स्वाभाविक रूप में वह दूसरों को तो क्या अपने-आप पर भी दया नहीं करते। जब तुकोबा समाज में धर्म एवं जातियों के नाम पर हो रही असमाताओं को प्रस्तुत करते हैं, ढोंगियों की खबर लेने लगते हैं, तब वे आक्रामक तुकोबा बन जाते हैं। यह सारी विशेषताएँ ही तुकोबा को तुकोबा बनाती हैं। ऐसे रचनाकार की कविताओं को कैसे नदी में डुबोया जा सकता है। जैसाकि दागिस्तानी (रशिया का एक भाग) कवि-उपन्यासकार ने अपने एकमात्र उपन्यास 'मेरा दागिस्तान' में लिखा है

‘असली कविताओं को नदी में डुबोया नहीं जा सकता, वे लोगों के दिलों में साँस लेती हैं।’ कैसे डूब सकती थी तुकोबा की कविताएँ, क्योंकि वह भी तो लोगों के दिलों में साँस लेती हैं। इसी कारण उन्हें मराठी का साहित्यकार ही नहीं, ‘महाराष्ट्र के संस्कृतिपुरुष’ के रूप में की जाती है।

3.2.12 ‘गुरु’ रामदास का मराठी काव्य

रामदास ने अपने दीर्घ रचना के हेतुओं को स्पष्ट करते हुए अपनी सबसे प्रसिद्ध रचना ‘दासबोध’ में कहा है “सब के लिए इसका पहला उद्देश्य हरिकथानिरूपण है, दूसरा उद्देश्य राजकारण और तीसरा सावधान करना है।”¹³⁴ अपने सम्पूर्ण साहित्य में उन्होंने इन्हीं तीन उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया है, जिसमें उन्हें काफी सफलता मिली है। ‘दासबोध’ उनकी बहुत बाद की रचना है, जो कई वर्षों तक लिखी जाती रही है। इससे पूर्व उन्होंने ‘करुणाष्टके’, ‘एकवीससमासी’, ‘लघुरामायण’, ‘दीर्घरामायण’ और ‘मनाचे श्लोक’ की रचना कर ली थी।

विठ्ठल भक्ति से गुंजायमान वातावरण में रामदास ने राम भक्ति का स्वर लगाया, इसे कई प्रकार से व्याख्यायित भी किया गया है। इस बात को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि उन्होंने वैयक्तिक उपासना के लिए राम भक्ति और हनुमान भक्ति पर अधिक जोर दिया था, इस कारण उनका अधिकांश साहित्य भी इन्हीं दो अराध्यों वृत्त में रचा गया है। इनसे अन्य देवताओं को उन्होंने मान्यता तो दी है, किन्तु व्यापक स्तर पर इन्हें ही स्वीकार किया है। रामदास ने अपनी नयी परम्परा मुकुंदराज, एकनाथ, दासोपंत एवं त्र्यंबकराज की परम्परा में ढूँढने का प्रयास किया, बजाए वारकरी सम्प्रदाय के किसी भी कवि के साहित्य में। अपने समकालीन तुकोबा से वे किसी भी अर्थ में प्रभावित नहीं हुए और न तुकोबा उनसे। रामदास ने कथाकाव्य और स्फुट काव्य, इन दोनों रूपों में साहित्य रचना की है। उन्होंने भी अपने साहित्य के साथ पवित्रता की भावना को जोड़ने का प्रयास किया है।

रामदास की ‘करुणाष्टके’ शीर्षक के अनुसार करुण रस से ओत-प्रोत हैं। इस रचना को उनके साधकावस्था में डूबे हुए मन का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। “स्वजनों का त्याग कर दिया, किन्तु ‘राम’ दर्शन होता नहीं, साधक की इस अवस्था, तड़प से भीगी हुई रचना यह रचना है। इस काव्यरचना में ‘समर्थ’ से अधिक ‘रामदास’ ही दिखाई देते हैं। शंकरराव देव ने करुणाष्टके का अर्थ ‘रुलानेवाली कविता’ होता है सही कहा है। यह शीर्षक रामदास ने नहीं दिया है। यह साधकावस्था के तड़पनेवाले मन का मुक्त एवं अनामिक अविष्कार है।”¹³⁵ इसके बाद की रचना ‘एकवीससमासी’ में साधनारत रामदास के मन के भावों को देखा जा सकता है। संसार में कोई भी चीरकालीन नहीं होता, इसलिए ईश्वरभक्ति के माध्यम से अपना उद्धार करना चाहिए, इसे समझाना ही इस रचना का उद्देश्य है। इसके 1340 ओवियों में उन्होंने निवृत्ति का ज्ञान, सद्गुरु एवं सत्-शिष्यों के लक्षणों आदि का प्रतिपादन किया है।

रामदास ने दो रामायणों की रचना की है। एक ‘लघुरामायण’ और दूसरा ‘दीर्घरामायण’। अपने मौसा एकनाथ के पदचिन्हों पर चलते हुए उनके ‘भावार्थरामायण’ से कई भावों को ग्रहण किया है, इस बात को कई इतिहासकारों ने स्वीकार किया है।¹³⁶ ‘लघुरामायण’ में केवल युद्धकाण्ड का वर्णन 125 श्लोकों में किया गया है। इसमें उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति का खूब आधार लेते हुए कई नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। “रामदास ने वाल्मीकि लिखित रामायण के अनुसार इस ग्रंथ की रचना

नहीं की है। मूल कथा रामायण से लेकर उसे अपनी कल्पनाशक्ति के अनुसार आकार दिया है। इसलिए बंदी बना लिए गए देवताओं की स्थितियों का वर्णन उन्होंने सविस्तार किया है -

समीर लोटतो खडे । वरुण घालितो सडे

मयंक साउली धरी । मळीण पावकु हरी ।”¹³⁷

उनके द्वारा रचित दूसरा रामायण ग्रंथ पहले की अपेक्षा बड़ा होने के कारण ‘दीर्घ रामायण’ के रूप में उसका उल्लेख किया जाता है। यह रचना उनके जीवन के अन्तिम पड़ाव की मानी जाती है। इसके सुन्दर और युद्ध काण्डों के कुल 1462 श्लोकों में कथा कही गई है। इस रचना में उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों के वर्णन होने की संभावना को समर्थ के टीकाकारों ने माना है। इस कथाकाव्य का उद्देश्य भी युद्ध का सजीव चित्रण ही माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त अपने शिष्यों को इसके माध्यम से उन्होंने अपने सम्प्रदाय के मूल्यों को सम्प्रेषित करने का कार्य भी किया है। कई स्थानों पर राजनीति को लेकर भी टिप्पणियाँ देखने को मिल जाती हैं।

रामदास ने कुछ रचनाएँ समय-समय पर लिखी किन्तु उनकी कुछ रचनाओं की रचना प्रक्रिया लम्बे समय तक चलती रही। ऐसे ही ग्रंथों में उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ आती हैं। पहली ‘मनाचे श्लोक’ और दूसरी ‘दासबोध’। उपरोल्लेखित रचनाओं से भिन्न यह दोनों रचनाएँ अपने शिष्यों की अपेक्षा समान्य जन को अधिक संबोधित लगती हैं। यही कारण है कि रामदास को कथाकाव्य की अपेक्षा अधिक सफल स्फुट रचनाकार माना जा सकता है। इन काव्य संकलनों की प्रत्येक पंक्ति में रामदास ने आदर्श समाज, आदर्श व्यक्ति, आदर्श शिष्य आदर्श गुरु आदि कई ‘आदर्शों’ के गुणों को संजोने का कार्य किया है। जहाँ वारकरी सम्प्रदाय ने अपना कार्य करते हुए भक्ति करने का आदर्श स्थापित किया था, वहीं रामदासी सम्प्रदाय में वैराग्य एवं भीक्षा को अनिवार्य माना गया। भीक्षा माँगने के लिए जब रामदासी शिष्य किसी के घर के सामने जाएगा, तो वह जिन श्लोकों का उच्चारण करेगा, उसका लेखन भी रामदास ने किया है। विशिष्ट मूल्यों को घर-घर तक पहुँचाने का कार्य इस माध्यम से करने का प्रयास रामदास ने किया है। मनाचे श्लोक के इन 205 श्लोकों में वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में सुचारु रूप से चलाने के लिए इन कविताओं की रचना की गई थी और इन कविताओं को श्रोताओं तक पहुँचाने की व्यवस्था भी वारकरियों से भिन्न रूप में रामदास ने की थी। वारकरियों के यहाँ कीर्तन के माध्यम से गायन द्वारा कविताओं को अपने सामाजिक अर्थ के साथ पाठक-श्रोताओं तक पहुँचाया जाता था, किन्तु रामदास ने घर-घर तक कविताओं तक पहुँचाने का अपना नया तरीका इजाद किया।

‘दासबोध’ रामदास की सबसे सशक्त रचना मानी जाती है। “महाड के नज़दीक शिथर नदी के किनारे बैठकर रामदास ने इस ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ का निरूपण समर्थ करते जाते और उनके शिष्य कल्याणस्वामी उसे लिख लेते थे। अपने अब तक के अनुभवों और विचारों का निरूपण रामदास ने अपने इस ग्रंथ में किया है। ...साधारणतः ‘दासबोध’ के दो भाग हैं। पूर्वार्द्ध में आठ दशक (खण्ड) हैं एवं उत्तरार्द्ध में बारह (खण्ड) हैं। पूर्वार्द्ध की ओविसंख्या 3866 और उत्तरार्द्ध की 3885 है। दासबोध एकवीससमासी की परिवर्द्धित एवं बढ़ाकर लिखी हुई आवृत्ति है। दासबोध के आरंभिक सात दशकों में सम्पूर्णतः आध्यात्मविवेचन है। आठवें दशक का शीर्षक ज्ञानदशक है, यह पहले ही लिखकर रखा हुआ था, जो बाद में जोड़ दिया गया और इसके बाद के दशक समर्थ द्वारा विभिन्न समयों पर लिखित स्फुट समासों का संकलन है।”¹³⁸

दासबोध में उत्तमपुरुष निरूपण, मूर्खलक्षण, गुरुलक्षण, शिष्यलक्षण आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें रामदास का दृष्टिकोण एवं विचारधारा काव्य रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसी में उन्होंने सांसारिकता और वैराग्य में सन्तुलन साधने का प्रयास करते हुए भी सांसारिकता को दूसरा दर्जा दिया है। उन्होंने 'जैसे को तैसे' की सूक्ति को न्याय मानते हुए 'देवद्रोहियों को कुत्ता कहते हुए उन्हें मारकर भगाने'¹³⁹ को कहा है।

इसके अतिरिक्त रामदास ने कई स्फुट रचनाएँ भी लिखी हैं, जिनमें से अधिकतर वैयक्तिक भक्ति से सम्बन्धित हैं। इनमें से अधिकांश रचनाएँ धार्मिक रचनाएँ कही जा सकती हैं। जैसे 'रामवरदायिनी' की रचना प्रतापगढ़ किले पर स्थित भवानी की भक्ति में लिखी गई है। 'भीमरूपी स्त्रोत्र' शीर्षक के अन्तर्गत लिखित तेरह 'हनुमान स्त्रोत्र' इसी रूप में देखे जा सकते हैं। उनके द्वारा लिखित केदारेश्वर केदारनाथ की आरती, तिरुपति व्यंकटेश्वर की आरती, मयूरेश्वर की आरती, जेजुरी के खंडोबा की आरती, कृष्णा नदी की आरती, हनुमान की आठ आरतियाँ, श्रीराम की पंद्रह आदि आरतियाँ उनके भक्ति साहित्य में ईजाफ़ा करते हैं, किन्तु इस साहित्य को साहित्य से अधिक विशुद्ध भक्ति साहित्य ही माना जा सकता है, इसमें तत्कालीन समाज के दर्शन अत्यन्त ही सीमित रूप में होते हैं। इसमें समाज के दर्शन करने का प्रयास करना उसी प्रकार है, जैसे रेत से तेल निकालना। कहा जाता है कि रामदास जिन-जिन तीर्थक्षेत्रों की यात्राएँ की, उन देवताओं के सन्दर्भ में उन्होंने आरतियाँ लिखी।

इसी के साथ उन्होंने अपने मठों का कार्यभार जिन शिष्यों को सौंपा था, उन्हें निर्देशित करने के लिए उन्होंने 'मानसपूजा' की रचना की। इसमें उन्होंने अपने शिष्यों को सम्प्रदाय के मूल्यों के अनुसार निर्देशित करने का प्रयास किया है। आध्यात्मिक लेखन के साथ रामदास के कुछ लेखन को ऐतिहासिक भी माना जाता है। जैसे उनके द्वारा छत्रपति शिवाजी महाराज को लिखा गया पत्र, संभाजी महाराज को लिखा गया पत्र। इसके अतिरिक्त रामदास ने डफगाणी, भूपाळ्या, पद, सवाया आदी लोकगीतों का उद्धार करने का प्रयास करते हुए अपनी लेखनी चलायी। इस साहित्य में उनके अपने अनुभव मूल्य जोर देकर रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। अपने सम्पूर्ण साहित्य के आधार पर उन्होंने अपने समाज के भार को उठाकर एक विशिष्ट दिशा में ले जाने का प्रयास किया। उन्होंने एक विशिष्ट किस्म के समाज का स्वप्न देखा था, जो उनके 'आनन्दवनभूवन' शीर्षक छोटी-सी रचना में अभिव्यक्त हुआ है। आनन्दवनभूवन का मूल अर्थ तीर्थक्षेत्र काशी है। "किन्तु रामदास के यहाँ आनन्दवनभूवन से अभिप्राय महाराष्ट्र (नासिक से करवीर तक) से है। अपने साक्षात्कारों के अनुसार कल के महाराष्ट्र का आशावादी चित्र इसमें उन्होंने प्रस्तुत किया है।"¹⁴⁰ इसमें उनका सामाजिक एवं राजकीय चिन्तन तीव्रता के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

रामदास एवं वारकरी सम्प्रदाय के कवियों की तुलना होना स्वाभाविक है, किन्तु तुलना का उद्देश्य किसी वर्ग या विचारधारा के प्रति अपनी सहानुभूति का पालन करने के लिए नहीं, अपितु साहित्य एवं कार्यों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। तुलना इसलिए भी आवश्यक है कि किन्हीं विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों में रहते हुए किसने अपने साहित्य एवं कार्यों द्वारा साहित्य की प्रतिरोधी एवं मानवतावादी धारा को कितनी मात्रा में पोषित किया है। ऐसे में रामदास एवं तुकोबा की एक ही ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में रहने के कारण सबसे अधिक तुलना होना स्वाभाविक है। इस तुलना का आरंभ मराठी साहित्य के इतिहास लेखन में वि.ल.भावे ने अपने इतिहास

ग्रंथ 'महाराष्ट्र सारस्वत' में ही कर दिया था। आगे के इतिहासकारों एवं आलोचकों ने भी भावे के इस बिन्दु को बराबर अपने लेखन में जारी रखा। कभी भावे द्वारा तुकोबा के साथ किए गए पक्षपात का मुखर विरोध हुआ तो कभी दबी आवाज़ में उसे सही भी ठहराया गया और साथ ही कई इतिहासकारों ने इसमें सन्तुलन लाने का भी प्रयास किया है। स्वाभाविक रूप में इसमें राजनीति ढूँढनेवालों की कोई कमी नहीं थी, जिसके लिए इसमें पर्याप्त स्थान है।

इस विवाद में बड़ा व्यक्तित्व किसका है, पर खूब चर्चा हुई और दोनों पक्षों ने अपनी बातों को प्रस्तुत किया। इस बात को एक समकालीन साहित्येतिहासकार की दृष्टि से कुछ इस प्रकार देखने का प्रयास किया गया है - "हनुमान मूर्तियों की स्थापना, मठ स्थापना, विशाल शिष्य सम्प्रदाय, आदि कार्यों को छोड़ दिया जाए तो रामदास एवं वारकरी सम्प्रदाय के सन्तों में अधिक अन्तर नहीं रह जाता है। वारकरी सम्प्रदाय और (रामदास समकालीन) तुकोबा, इनकी तुलना में रामदास की दृष्टि संकुचित दिखाई देती है। केवल वर्णव्यवस्था का आदर और रक्षा करनेवाले, ब्राह्मणों को ही गुरु माननेवाले रामदास और 'या रे सारे लहानथोर। याति भलते नारी नर' (आओ रे सारे छोटेबड़े। सारी जातियों के नारी नर) जैसी व्यापकता को स्वीकार करनेवाले तुकोबा, इन दोनों की दृष्टि का यह मूलभूत अन्तर ध्यान में रखना अनिवार्य है। ज्वलन्त जीवनानुभूति, स्त्री-शूद्रों के लिए भक्ति मार्ग का बोध, जनसामान्य के लिए ममता, मानवता की उपासना, दांभिकता पर कठोर प्रहार, शाश्वत भावनाओं का आविष्कार आदि के कारण तुकोबा की वाणी आज भी जनजीवन के सभी स्तरों पर अपनी जड़ें जमाए हुए है, वैसी रामदास की नहीं है। आज भी रामदास का शिष्यपरिवार और दासबोध का पाठक ब्राह्मण वर्ग ही दिखाई देता है। जैसाकि ह.श्री.शेणोलीकर कहते हैं, 'रामदास के दासबोध में सामाजिक संकुचितता बिल्कुल साफ दिखाई देती है। इस दुर्गुण के कारण रामदास का वाङ्मय बहुजन समाज को एकनाथ-तुकोबा जैसी प्रेरणा न दे सका'। इस वस्तुस्थिति को नकारा नहीं जा सकता है।"¹⁴¹ वि.रा.करन्दीकर, डॉ.किशोर सानप आदि कई इतिहासकारों-आलोचकों ने यही बात अपने-अपने शब्दों में कही है। आवश्यक नहीं कि इस दृष्टिकोण से सभी सहमत हो। आवश्यक तो यह भी नहीं कि इन दोनों रचनाकारों की तुलना की जाए, जैसा कि प्र.न.जोशी ने अपने इतिहासग्रंथ में संभवतः जानबूझकर नहीं की है। कई बार दृष्टिकोण का अभाव भी इतिहास के लिए खतरा बन जाता है।

3.2.13 रामदास के मराठी काव्य का रूप विधान

समर्थ रामदास अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन वारकरियों या अन्य सम्प्रदायियों से न केवल काव्यवस्तु के सन्दर्भ में दृष्टिभेद रखते थे, अपितु काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों को लेकर भी उन्होंने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास किया था। संभवतः एक मठाधीश एवं गुरु के रूप में ऐसा करना उनके लिए अनिवार्य भी रहा होगा। इस रूप में वे भी परिवर्तनकारी कहे जा सकते हैं। उन्होंने न केवल काव्यवस्तु को लेकर अपने शिष्यों के काव्य को नियंत्रित करने का प्रयास किया, अपितु उनके लिए एक नवीन शुद्धतावादी काव्यशास्त्र भी रचने का प्रयास किया। काव्य कैसा होना चाहिए और कैसा नहीं होना चाहिए, इन दोनों प्रश्नों पर उन्होंने संक्षेप किन्तु पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार "काव्य निर्मल, सरस, अहंभावरहित, अर्थगौरव युक्त, हरि कीर्तन युक्त, रम्य, मधुर, सरल, अल्परूप, कोमल, कौशलपूर्ण, भक्तिभाव युक्त होना चाहिए। उसमें अक्षरबन्ध, पदबन्ध, चातुर्य, कलाकारिता, विभिन्न छन्द, विभिन्न रस, मुद्राएँ, सिद्धान्त, शंकासमाधान, सुविचार, योग, तत्त्वचर्चा, संशय का

समाधान, तीर्थाटन का उल्लेख होनी चाहिए।¹⁴² रामदास ने मूर्ख, पढतमूर्ख, अज्ञानी आदि अनेक नकारात्मक प्रवृत्तियों के भी न होने का या उनके लक्षणों का अपने काव्य में सव्यंग्य वर्णन किया है, ठीक उसी प्रकार काव्य कैसा नहीं होना चाहिए, इस सन्दर्भ में भी उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। उनके अनुसार “काव्य पाठ के लिए कठिन नहीं होना चाहिए। वह शब्दों को जोड़-जोड़कर सप्रयास बनाय हुआ नहीं होना चाहिए। वह पाखण्ड युक्त, रसभंग एवं रंगभंग युक्त, वह वाद-विवादों को बढ़ावा देनेवाला, वह दृष्टान्तहीन एवं रूक्ष, वह कुटिलता से भरा हुआ या हीन वृत्तियों से युक्त, वह छन्दभंग के दोष से युक्त, ज्ञान एवं तर्क को दूर करनेवाला, उबाऊ और भक्ति वैराग्य रहित नहीं होना चाहिए।”¹⁴³

रामदास के मराठी काव्य पर दृष्टिपात करने पर कहा जा सकता तमाम प्रयासों के बावजूद वे वस्तुवादी कवि ही बनकर रह जाते हैं। उनके पास अपने शिष्यों, अपने समुदाय एवं समाज के लोगों को कहने के लिए बहुत कुछ है। सामान्यतः उनकी लेखनशैली उस पर्वतशृंखला की तरह है, जिस पर छोटे-छोटे पत्थरों के कारण हरियाली ही नहीं उगती है। उन्होंने पद्य में भी गद्य ही लिखा है, इस कारण उनकी अधिकांश रचनाएँ पद्याभास मात्र बनकर रह जाती है। उन्होंने विभिन्न छन्दों का चुनाव अपने काव्य के लिए किया, किन्तु उनके पास कहने के लिए ही कुछ ऐसी बातें थी कि छन्द आदि रूपगत वैशिष्ट्य पीछे छूट गये और उनका कथ्य ही प्रमुख हो गया। वस्तु के भार से रूप अपने आप दब गया।

रामदास की अधिकांश रचनाएँ ‘कहन शैली’ या शिष्यों को समझाने के रूप में भी लिखी जान पड़ती हैं। दासबोध के सन्दर्भ में तो पहले ही इसे कहा जा चुका है कि रामदास कहते जाते और उनके शिष्य उसे लिख लिया करते। ऐसे में उनकी रचनाओं में समझाने और कहन शैली का आना स्वाभाविक है। स्वाभाविक रूप से ही रामदास की वाणी में प्रासादात्मक एवं मठ के गुरु का जोर रहा होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में प्रासादिकता एक बहुत बड़ा गुण बनकर उभकर आया। जो स्वाभाविक रूप में उनके कहने के अनुसार उनके शिष्यों द्वारा लिखा लिया जाने के कारण कविताओं में भी आता गया। कहने की शैली और समझाने का आधिक्य एवं प्रासादिक शैली के कारण रामदास की कविताओं को ‘न्याय के लिए कठोर बोलनेवाली कविता’, ‘तीखा बोलनेवाली कविता’, ‘सटिक बोलनेवाली कविता’ ‘भेदक शैली की कविता’ आदि विशेषण भी दिए गए हैं। यही कारण है कि कथाकाव्य की अपेक्षा रामदास की स्फुट कविताएँ अधिक सफल एवं लोकप्रिय रही है। कहन शैली में होने के कारण वह सीधे पाठक-श्रोता से संवाद साधने का प्रयास करती है और सीधे उनके प्रश्नों के उत्तर और प्रतिप्रश्न भी उपस्थित करती हैं।

“काव्य में पुनरुक्ति, अशुद्धता, छन्दभंग को वर्जित माननेवाले रामदास के काव्य में यही दोष कई बार दिखाई देते हैं। ह्रस्व-दीर्घ की खींचतान को तो सीमाएँ ही नहीं हैं। उनकी भूमिका कवि से अधिक सम्प्रेषणकर्ता की थी, इसे उनकी कविताओं के सन्दर्भ में ध्यान में रखना पड़ता है।”¹⁴⁴ ऐसा होना उनके लिए स्वाभाविक भी था, क्योंकि वे क्या कह रहे हैं, इस पर अधिक ध्यान देनेवाले कवि थे, बरअक्स इसके कि कैसे कह रहे हैं। उनके द्वारा काव्यलक्षणों को सविस्तार बताना और फिर अपनी काव्यवस्तु पर उन्हें न्यूँछावर कर देना, इसी बात की सूचना देता है कि उन्होंने अपनी प्रासादिक वाणी में किसी की भी परवाह नहीं की। महाकाव्य के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव प्रकट करते हुए भी उन्होंने ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अधिकांश काव्य मुक्तकों में रचकर अपने समय में मृतप्राय मूल्यों को बचाने का कार्य किया। उन्हें कविता के रूप से अधिक समाज बिगड़ते हुए रस-छन्द-अलंकारों की चिन्ता थी।

3.2.14 जीवन कथा से गाथा तक : बहेणाबाई का मराठी काव्य

बहेणाबाई ने अपना सम्पूर्ण काव्य मुक्तक रूप में ही लिखा है। उन्होंने कोई महाकाव्य या प्रबंध काव्य नहीं लिखा। उनके काव्य या जीवन के सन्दर्भ में अधिक विवादों का न होने का कारण भी उनका काव्य ही है, क्योंकि अपने जीवन और काव्य के सन्दर्भ में उन्होंने इसमें लिखा है। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी माता के जीवन-संघर्ष को आरतियों में भी प्रस्तुत करते हुए उनके मृत्यु की घड़ी को भी लेखनबद्ध किया है। जब माता लिखने योग्य शारीरिक स्थिति में नहीं रह गयी थी, तब विठ्ठल ने उनके शब्दों को उनके पास बैठकर घंटों लेखनकार्य किया होगा। बहेणाबाई ने अपने पूर्वजन्मों की कथा इन्हें सुनाई थी, जिसे विठ्ठल ही ने काव्यबद्ध किया है। उनके काव्य में प्रक्षिप्त जोड़ने का भी प्रयास बाद के लिपिकारों ने किया होगा, जिसे अलगाकर शालिनी जावडेकर ने उनके अभंगों को सभी स्रोतों से मिलान करते हुए 'संत बहेणाबाईचा गाथा' प्रकाशित करवाया है, जिसमें बहेणाबाई की कुल 720 मराठी-हिन्दी कविताओं का संकलन किया गया।

“सद्गुरु तुकोबा की सामाजिक विचारधारा का बहेणाबाई पूर्णतः समरस हो गई थी। इसके उदाहरण उनकी अभंगवाणी में दिखाई देते हैं -

‘महारासी शिवे। कोपे, ब्राह्मण तो नव्हे ॥’

‘ब्राह्मण तो एक चोखामेळा महार’

‘भेदाभेद भ्रम असंगळ।’¹⁴⁵

जातिव्यवस्था की आलोचना, आदर्श भक्त के गुण, संत महिमा या उनके गुण, कर्मयोग, पातिव्रत्य, पंढरी महात्म्य, दार्शनिक विचार, मायाब्रह्म निरुपण, ज्ञानयोग, वैराग्य, सद्गुरुकृपा, साधना एवं सिद्धावस्था, देवाशी भांडण आदि वारकरी एवं सन्त-भक्त कवियों के पारम्परिक विषयों पर लेखन किया है। बहेणाबाई के अनेक ऐसे अभंग हैं जिनमें योग विधि-विद्या का वर्णन किया गया है। उन्होंने यह माना है कि यह योगमार्ग सद्गुरु कृपा के अभाव में अत्यन्त दुर्गम हो जाता है, इसलिए सद्गुरु की कृपा को प्राप्त करना चाहिए। “यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस प्रकार खुले तौर पर एवं तीव्रता से अपने अभंगों में गुरुकृपांकित योग साधनों का पुरस्कार तथा मार्गदर्शन करनेवाली एकमात्र संत (भक्त) स्त्री हैं। मुक्ताबाई, जनाबाई व अन्य सभी सन्तों के अभंगों में योगानुभव तो है, किन्तु योगपुरस्कार कभी-कभार ही मिलता है।”¹⁴⁶ उन्होंने न केवल इसका पुरस्कार किया है, अपितु उस मार्ग पर चलने का मार्गदर्शन किया है।

बहेणाबाई अपने श्रीकृष्ण कथा पर लिखे गए मुक्तकों के लिए काफी प्रसिद्ध हैं। लगभग 25 पदों में उन्होंने श्रीकृष्ण कथा की झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। ध्यातव्य है कि उन्होंने अपने हिन्दी पदों में भी इसी प्रकार कृष्ण जन्म कथा के प्रमुख प्रसंगों को शब्दबद्ध किया है। वैसे तो उनके कृष्ण अधिकांश मराठी कवियों की भाँति बालक ही हैं। उन्होंने साथ ही उन्होंने गोपियों के संग इस बालक द्वारा किए गए क्रिडाओं का भी सुन्दर वर्णन अपनी कविताओं में किया है। इसमें भक्ति एवं ज्ञान का समन्वय होने के कारण श्रृंगार एवं अश्लिलता का नाममात्र भी पूट नहीं है। इनके गोपी वर्णन की एक और विशेषता है कि वह गोपियों को कृष्ण की दृष्टि से नहीं, अपितु गोपियों के अपने विचारों को सीधे शब्दबद्ध करती है, ठीक उसी प्रकार कृष्ण के भी अपने विचारों को अभिव्यक्त करती हैं और साथ ही कृष्ण के प्रति गोपियों के विचारों-भावनाओं को भी बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करती है। संभवतः स्त्री होने के कारण वे

अधिक सफलता से ऐसा कर पायी हैं। अपने अभंगों में इन्होंने श्रीकृष्ण को परपुरुष के रूप में स्मरण किया है।

वारकरी सम्प्रदाय की अन्य रचनाकारों से बहेणाबाई की भिन्नता यह भी है कि उन्होंने बावन अभंगों में आत्मकथा लिखी। आधुनिक अर्थों में भले ही इन अभंगों को उस प्रकार आत्मकथा नहीं कहा जा सकता है, किन्तु उससे उनके जीवन की झाँकि आवश्यक प्रस्तुत हो जाती है। जहाँ तक पतियों या अन्य पुरुषों द्वारा अत्याचारों का खुलकर वर्णन करने का आज की आत्मकथाओं का फैशन बन चला है, उसमें बहेणाबाई पहली रचनाकार सिद्ध होती हैं। उन्होंने पति द्वारा परम्पराओं, रूढ़ियों एवं अहंकार के चंगुल में फँसकर किए अत्याचारों का बड़ा ही खुलकर वर्णन किया है। सखी-संवाद शैली में लिखित अपने आत्मकथात्मक अभंगों का आरंभ उन्होंने बचपन से किया है, जिसमें विवाह, तदोपरान्त खानाबदोशों सा जीवन एवं पति द्वारा किये गए अत्याचारों का वर्णन उन्होंने सविस्तार किया है। उनके जीवन में आए संघर्षों को उन्होंने शब्दबद्ध करते समय पति द्वारा पीटा जाना, गाय-बछड़े वाला प्रसंग, तुकोबा को गुरु किये जाने का विरोध आदि को दर्ज किया है, जो इन घटनाओं को जानने का एकमात्र प्राथमिक साधन है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा ‘भ्रतार तो मज वोढतो एकांती। भोगावे मजसी। म्हणोनिया ॥’

एक मध्यकालीन स्त्री के सामने विकल्प भी कितने थे, लगभग नहीं के बराबर। एक तो बेघर परिवार, ऊपर से पति के परम्पराओं की मार। इस कारण उन्होंने स्त्री शरीर को ही इसका जिम्मेदार मानना आरंभ कर दिया। जो परम्पराएँ-रूढ़ियाँ एक मध्यकालीन स्त्री के रूप में उनमें बैठी थी, उसके अनुसार स्त्री देह को ही दोषी मानना उनके अनुसार सही कहा जाएगा। वह इस अर्थ में अत्याधुनिक नहीं हो गई थी कि इसके मूल में पुरुषवादी समाज की विचारधारा को पकड़ सके। यदि उन्होंने पहचान भी लिया होगा, तो अपनी कविताओं में स्पष्ट शब्दों में उन्हें अभिव्यक्त नहीं किया है। किया भी होता किन्तु तब तक वे तुकोबा को उनकी कविताओं के माध्यम से ही जानती थी, सीमित रूप में। यदि तुकोबा से उनकी मुलाकात हुई होती, तो संभवतः उन्होंने इसके लिए स्त्री देह को दोष देने की बजाए, पुरुषवादी मानसिकता का दोष दिया होता। उन्होंने पति के पक्ष को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और उनके द्वारा पीटे जाने को भी, किन्तु उन्होंने इसके लिए पुरुषवाद की बजाए स्त्री देह को जिम्मेदार ठहराया है और इससे असह्य होकर प्राण त्यागने की भी बात की है -

“स्त्रियेचे शरीर। पराधी देह। न चले उपाव विरक्तीचा ॥

शरीराचे भोग। वाटतात वैरी। माझी कोण करी। चिंता आता ॥

वाटे देह आता। घालू अग्निमाजी। किंवा ही करवत। घालू माथा ॥

वाटे जीव द्यावा। नदीचे प्रवाही। किंवा दाही दिशा। उल्लंघाव्या ॥

बहेणी म्हणे माझा। जीव हा तळमळी। का रे मनमाळी। मोकलिसी ॥”

बहेणाबाई ने अपने अभंगों में अपना आध्यात्मिक प्रवास एवं अनुभवों को अभिव्यक्त किया। उनके एक महत्वपूर्ण कार्य के रूप में ‘वज्रसूची’ के अनुवाद का उल्लेख आवश्यक किया जाता है। उन्होंने संस्कृत अपने पति से सीखी होगी। इस अनुवाद से यह तो पता चल जाता है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान था। मराठी या भारतीय भाषाओं में बहेणाबाई के समय तक अनुवादों एवं टीकाओं की बहुत लम्बी परम्परा थी। प्रत्येक टीकाकार, व्याख्याकार या अनुवाद अपने विचारधारा अनुसार किसी प्राचीन पाठ

का चुनाव उन्हें अपना स्रोत पाठ या उपजीव्य ग्रंथ बना रहा था। किन्तु किसी ने भी इस ग्रंथ का चुनाव उस समय तक अपनी व्याख्या या अनुवाद के लिए नहीं किया था। 'ज्ञानेश्वरी' आदि ग्रंथों के सन्दर्भ में कहा जाता है कि इन टीकाओं के माध्यम से संस्कृत में जो आध्यात्मिक ज्ञान था उसे इन सन्तों ने लोकभाषा में सर्वसुलभ कराने का प्रयास किया। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान के माध्यम से सामाजिक समानता उपलब्ध कराना था तो उन्होंने सामाजिक शोषण के मूल पर प्रहार करनेवाली 'वज्रसूची' का अनुवाद कर समानता लाने का प्रयास क्यों नहीं किया? प्रश्न तो यह भी है कि ब्राह्मण सत्ता एवं वर्णव्यवस्था पर वज्रपात करनेवाले इस पाठ का चुनाव बहेणाबाई ने क्यों किया? कहा जाता है कि इसका चुनाव उन्होंने तुकोबा के कहने पर किया था। अर्थात् तुकोबा 'वज्रसूची' की शक्ति को भली-भाँति पहचानते थे।

संभव है कि बहेणाबाई की आध्यात्मिक शक्ति एवं तुकोबा की समानता की भावना को बाद में समझनेवाले बहेणाबाई के पति ने 'वज्रसूची' का पाठ तुकोबा और बहेणाबाई के सामने किया होगा और उसका अनुवाद करने का प्रस्ताव दोनों ने मिलकर बहेणाबाई से किया होगा। बहेणाबाई ने इसका इतना सुन्दर पद्यपद्ध अनुवाद किया है कि कई वर्षों तक यह बहेणाबाई की ही रचना मानी जाती रही। इन्हें 'ब्रह्मकर्मपर अभंगों' के नाम से जाना जाता है, जिनकी संख्या 49 है। उन्होंने इस अनुवाद के माध्यम से समाज के लिए एक नवीन मार्ग खोल दिया। एक ब्राह्मण स्त्री अपने पुरखे के शब्दों में अपने-आप को अभिव्यक्त करने लगी, जिसमें तुकोबा की भी चेतना बोलती है -

“सर्वांठायी जीव सारिखाचि एक। पशुपक्षी देख चांडाळादि।

पुढे जीव होती मागे बहु झाले। ब्राह्मणत्व आले नाही तया ॥

बहिणी म्हणे जीव प्राणिमात्री एक। ब्राह्मणत्व देख म्हणो नये ॥”

बहेणाबाई का स्पष्ट मत था कि सदाचार, दया, प्रेम, समभाव, सन्तों के आगे नतमस्तक इन्हीं गुणों से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि आज-कल इन गुणों से युक्त भक्तों से अधिक अभक्तों की संख्या अधिक हो गई है। सन्तों की निंदा करनेवालों को भी बहेणाबाई ने तुकोबा की कडवी वाणी में बात की है। “ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए संसार व समाज को पीठ दिखाकर सामान्य जन से बुरा व्यवहार करने से नहीं चलेगा, उसके लिए रोजमर्रा के जीवन में सद्गुणसम्पन्न शुद्धाचारण की आवश्यकता होती है। इसे बहेणाबाई ने कई बार दोहराया है और इस प्रकार लोकमानस पर उदात्त संस्कार कर व्यक्तिगत एवं समाज जीवन शुद्ध, निरोगी एवं मजबूत करने का प्रयास किया है। सभी वारकरी सन्तों की यह विशेषता है, किन्तु बहेणाबाई ने उसे अधिक जोर देकर स्वीकार किया है। अपनी वाणी एवं लेखनी के माध्यम से मुक्तहस्त से उन्होंने लोकोक्तियों का दान किया है।”¹⁴⁷

इसके अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन स्त्रियों में प्रचलित झीम्मा, फुगड़ी, पिंगा आदि ग्रामीण-लोक रूपों में भी कविताएँ लिखी, जो संखी-संवाद शैली में हैं। इन कविताओं में उन्होंने एक प्रकार से सीधे अपनी सखियों (स्त्रियों) से संवाद स्थापित करने का प्रयास किया है। यह संवाद अधिकांश आध्यात्म एवं परम्पराओं से सम्बन्ध रखता है। इसमें बहेणाबाई तत्कालीन स्त्रियों के दृष्टिकोण का चित्रण कर सकती थी, किन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं। केवल रूप के स्तर पर उन्होंने इन गायन प्रकारों को चुना और वस्तु में अभंगों से कोई भिन्नता नहीं है। कुछ ऐसा ही प्रकार उनकी आरतियों में भी दिखाई देता है

। तुकोबा के काव्य में जो प्रकृति के चित्र आए हैं, वे उनकी इस शिष्या के काव्य में दिखाई नहीं देते हैं, जबकि उन्होंने भी काफी लम्बा प्रवास किया था। गाय-बछड़े के प्रति लिखित कविताओं में ममता इतनी भरी है कि वह कथा मात्र सुनने से हृदय द्रवित हो जाता है।

‘पुंडलिक महात्म्य’ भी उनकी लेखनी से निकला हुआ अपने प्रकार का काव्य माना जा सकता है। वैसे तो निवृत्तिनाथ के समय से ही यह कथा मराठी सन्त-भक्त कवियों के काव्य की उपजीव्य रही है, किन्तु नामदेव, एकनाथ और बहेणाबाई ने ही पुंडलिक-चरित्र को कथाकाव्य रूप में गाया है। इसमें नयी उद्भावनाएँ भी करने का प्रयास किया है। उन्होंने पुंडलिक और श्रीविठ्ठल के बीच नारदमुनि की मध्यस्थता को भी अपनी कविता में स्थान दिया है, जिसका अन्य दो कवियों ने उल्लेख भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त एकनाथ की कविता में रुक्मिणी का श्रीकृष्ण से रुठकर चले जाने का जो प्रसंग है, उसका बहेणाबाई ने वर्णन नहीं किया है। “हमें लगता है कि मुख्यतः इसी कारण से फ्रेंच लेखक जी.ए.डलरी ने बहेणाबाई की कथा को अधिक श्रेय दिया है। डलरी के अनुसार, ‘Although all the saints from Jyandev onward did mention in their abhangas the fact that Krishna came to Pandharpur for the sake of Pundalik, Bahenabai is the first to give a full account of the event which eventually ended in the perpetual presence of Vithala at Pandharpur.’”¹⁴⁸ बहेणाबाई द्वारा लिखित ‘पुंडलिक-महात्म्य’ पर लिखे गए इस कथा-काव्य को पहली सम्पूर्ण पुंडलिक की कथा पर लिखी कविता माना जाता है।

“बहेणाबाई के सभी अभंगों में अप्रतिम मधुरता है। नामदेव की प्रेमपूर्ण वृत्ति और तुकोबा की वैराग्यधारणा बहेणाबाई के अभंगों में अभिव्यक्त होती हुई दिखाई देती है। स्वानुभूति के उद्गार तो अत्यन्त श्रेष्ठ दर्जे के हैं। जनाबाई के बाद नाम लेनेलायक मराठी भाषा की सन्त कवयित्री बहेणाबाई हैं।”¹⁴⁹ उन्होंने अपनी कविताओं में जहाँ एक ओर सामाजिक बुराइयों का सामना किया, वहीं दूसरी ओर कई रूढ़ियों को एक मध्यकालीन स्त्रियों की भाँति शब्दबद्ध भी किया। सर्वप्रथम अपनी पारिवारिक स्थिति से लड़ते हुए वह अपनी निजी आस्था पर कायम रही। तत्पश्चात् पति के साथ हुए टकरावों में उन्होंने अपनी स्थिति को कायम रखा। तुकोबा को गुरु बनाए जाने के मुद्दे पर उन्होंने अपने पति से बैर मोल लिया ही, किन्तु समाज की भी परवाह नहीं की। अपने गुरु को उन्होंने प्रभाव के रूप में ही ग्रहण किया और अपनी विशिष्ट कथन एवं कहन शैली विकसित की। कई बार तुकोबा कड़े शब्दों में समझाते हैं किन्तु बहेणाबाई की मृदु वाणी अत्यन्त मधुरता से समझाती है।

3.2.15 बहेणी म्हणे : बहेणाबाई की मराठी कविताओं का रूप-विधान

बहेणाबाई ने अपने काव्य में अभंगों का अधिकतर प्रयोग भले ही किया हो, किन्तु उन्होंने भारुड, झिम्मा, फुगडी, वासुदेव, पाळणा, पिंगा, खेलिया, दादला, सोंग, आरती, मुंडा, हमामा, प्रार्थना, श्रोता गाणे आदि लोक एवं ग्रामीण गीत प्रकारों में भी अपनी काव्य रचना की है। उन्होंने अपने काव्य में कथाओं को भी शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है, जहाँ वे एक कथावाचक की शैली में प्रस्तुत होती हैं। इसी के साथ उन्होंने स्त्रियों को बातचीत की शैली में भी समझाने का प्रयास किया है। तो कई स्थानों पर उन्होंने उपदेश देने के साथ डाँट-फटकार भी सुनाई है।

इन विभिन्न शैलियों के प्रयोगानुसार जितना भाषा में अन्तर आना चाहिए था, उतना भाषा का अन्तर उनकी कविताओं में देखने नहीं मिलता है। उनकी भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ होती चली गई है, जो

लोकभाषा से भी दूर होने के संकेत देती है। उन्हीं के समकालीन तुकोबा की भाषा और रामदास की भाषा पर दृष्टिपात कर निर्णय लिया जाए तो बहेणाबाई की भाषा इन दोनों सन्त-भक्तों के बीच में स्थित होती दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् बहेणाबाई की भाषा तुकोबा जितनी ग्राम्यता लिए हुए नहीं है, किन्तु वह रामदास जितनी सधी हुई एवं नागरता लिए हुए भी नहीं है। यह तीनों रचनाकार समकालीन ही हैं, इनकी भाषा में यह अन्तर लक्षणीय है। कई बार तुकोबा के काव्य के साथ रखकर पाठ करने पर बहेणाबाई के काव्य के सन्दर्भ में यह भी कहा गया कि “कई स्थानों पर संस्कृतप्राचुर्य के कारण उनकी रचना क्लिष्ट भी लगने लगती है।”¹⁵⁰ ‘नाच’ शीर्षक पदों में उन्होंने श्रीकृष्ण के लिए पचास से अधिक विशेषणों से गौरान्वित किया है, जो संस्कृत की शब्दावली से ग्रहण किये गए हैं। इसी प्रकार “भक्तिजनउज्जीवना”, ‘त्रिपुटीभेदना’, ‘योगीजनविश्रामा’ इन रूपकों में उनका पांडित्य, संस्कृतप्रेम एवं संस्कृत ज्ञान दिखाई देता है और उनके शब्दवैभव से हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं।”¹⁵¹

सौ.शालिनी जावडेकर¹⁵² ने बहेणाबाई के काव्य को शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुसार मूल्यांकित करने का प्रयास करते हुए उसमें विभिन्न शब्दालंकारों, अर्थालंकारों रसों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उनके विश्लेषण में जाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उन्होंने प्रतिकात्मक रचनाओं में लोक रूपों का प्रयोग बड़ी ही कुशलता से किया है, जो ऊपर से देखने पर सामान्य अर्थ देते हैं, किन्तु उनकी गहराई में गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ होता है। इन्हीं लोक कलाप्रकारों के माध्यम से उन्होंने आदर्श गृहिणी अथवा पत्नी के गुण स्त्रियों को समझाने का प्रयास किया है। इन कविताओं में अलंकारों का वैभव देखा जा सकता है, जिसमें अन्योक्ति महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार बहेणाबाई के काव्य के सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि “उनका वाङ्मय काव्यगुण सम्पन्न है एवं उच्च कोटी का है। ...विचारसौन्दर्य उनके काव्य का नज़रों में भरनेवाला गुण है।”¹⁵³ वैसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो उनकी भाषा पर चिन्तन करते समय उनके जीवन में किए गए प्रवासों को ध्यान में रखना अनिवार्य है। उनका जन्म भले ही अपभ्रष्ट माने जानेवाले भाषा क्षेत्र में हुआ, किन्तु उनके जीवन का अधिकांश समय साहित्य में प्रचलित भाषा क्षेत्र में हुआ। उसी प्रकार इस दौरान जहाँ-जहाँ उनके प्रवास के पड़ाव आए या उन्हें जिन-जिन हस्तियों-व्यक्तियों के यहाँ रहना पड़ा, उनमें अधिकांश संस्कृतनिष्ठ भाषा का व्यवहार करनेवाले लोग ही अधिक थे, जिनका उल्लेख उनके जीवन परिचय के दौरान हो चुका है। उसी प्रकार उनके पति एवं पिता भी संस्कृत के अच्छे जानकार थे और उनकी शिक्षा इन्हीं दो व्यक्तियों द्वारा हुई थी। चूँकि बेटी और पत्नी के रूप में वे शिक्षित की जा रही थी, तो संभव है कि उनकी माता भी साक्षर एवं संस्कृत जानती रही होगी और उन्होंने भी पुत्री को भाषा ज्ञान दिया होगा। ऐसे में उनकी मराठी कविताओं की भाषा संस्कृत से अधिक प्रभावित रहना स्वाभाविक ही कहा जाएगा। करुण एवं शान्त रस का उनके काव्य में होना भी उतना ही स्वाभाविक कहा जाएगा।

सारांशतः कहा जा सकता है कि वस्तु एवं रूप के स्तर पर मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित भक्तिकालीन काव्य अपनी यात्रा मुकुंदराज से आरंभ करता है। बहेणाबाई के बाद के समय में उसमें भक्ति के अंश तो रहते हैं, किन्तु आन्दोलित करनेवाले तत्व प्रायः जाते रहे। सामाजिक इतिहास को आन्दोलित करने की अपेक्षा उसने अपना प्रश्रय या तो मठों में बनाया या वह राजदरबारों की अट्टालिकाओं में कैद होकर रह गया। इस बीच कुछ रचनाकारों ने सामाजिक दायित्व का निर्वहन

करने का प्रयास पोवाडों जैसे वीरगीतों के माध्यम से किया, किन्तु उसमें सामाजिक आलोचना की अपेक्षा राजनीतिक प्रेरणाएँ अधिक थी। लावणी जैसे श्रृंगारिक गीत-काव्य प्रकार के माध्यम से अत्यन्त अक्षील ही नहीं, अश्रव्य गीत भी लिखे गए। इसी दौरान मराठी पर फारसी भाषा का अत्यधिक प्रभाव बढ़ता गया। छत्रपति शिवाजी महाराज एवं संभाजी महाराज के बाद तो राजनीति से भी सामाजिक जिम्मेदारी का भाव जाता रहा। इसका फल यह हुआ कि अब साहित्य भी या ऐश्वर्यप्रधान बन गया या भक्ति को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनकर रह गया। लोकगीतों, लोक कथाओं में वह अभी भी वह अपनी प्रेरणाएँ तलाशता था। कीर्तन परम्परा ने व्यवसाय का रूप लेना आरंभ कर दिया था और वारकरी सम्प्रदाय भी रूढ़ धर्म बनता जा रहा था। जब महात्मा ज्योतिबा फुले ने छत्रपति शिवाजी महाराज और तुकोबा के इतिहास का स्मरण करवाया, तब जाकर साहित्य एवं वारकरियों को अपनी सच्ची परम्परा का भान हुआ। ध्यातव्य है कि महात्मा फुले और कॉमरेड अन्नाभाऊ साठे ने छत्रपति शिवाजी महाराज पर कई पोवाडे लिखे, जो मराठी की श्रृंगारकालीन चारणकालीन परम्परा से रूप ग्रहण करते हुए भी वस्तु एवं उसकी सामाजिकता के रूप में अत्यन्त भिन्न थे। महात्मा फुले ने तो तुकोबा को अपना गुरु ही माना था। आधुनिक समय में भक्तिकालीन कवियों में तुकोबा एवं नामदेव अनेक रचनाकारों के प्रेरणास्रोत रहे हैं।

सन्दर्भ संकेत-तृतीय अध्याय

¹. यादव, मा.के. : *मराठी सन्त कवयित्री*, पृ.10.

². “रामदेवराव हा लढवय्या पुरुष नव्हता. सातारच्या शाहूराजासारखा सुखोपभोगी, सैल व मृदु माणुस होता. हरिदासाच्या कथा, शास्त्रांच्या संभावना, मानभावांचे संवाद, हेमाद्रीची व्रते-उद्यापने इत्यादी पारमार्थिक बाबतीत त्याचा सर्व वेळ खर्चीला जावून सैन्य व राज्य ह्यांच्या तयारीकडे त्याचे बिल्कुल लक्ष्य नव्हते. राजपुरुषाला सर्वथा अयोग्य अशा ह्या वर्तनाचे दुष्परिणाम बरेच होऊन चुकले होते. परन्तु ते उत्कटत्वाने दृश्यमान होण्यास शके 1216 तील अल्लाउद्दीननाची स्वारी विशेष कारण झाली. अल्लाउद्दीनाची धाड येण्यापूर्वी कर्नाटक, कोंकण इत्यादी बहुतेक सर्व प्रांतातून मांडलिक राजे बेलगाम होऊन सम्राट सत्ता नावाला राहिली होती.” : राजवाडे, वि.का., *महिकावतीची बखर*, प्रस्तावना, पृ.42-43.

³. “महानुभावांच्या लिळाचरित्रातही ‘महादेओ राजा राज्यधर्म जाणे : कान्हरदेवो आस्तिक : रामदेवो निपरवस’ (लीळाचरित्र, भाग 2रा पृ.46) असा उल्लेख अढळतो. दिल्लीच्या सुलतानाशी वागतांना रामदेवाने पुढे जी लाचारी व परधार्जिनेपणा दाखविला, त्यामुळे या मताला दुजोरा मिळतो. मात्र पहिल्या स्वारीत अल्लाउद्दीनने नेलेल्या लुटाचा तपशील वाचला म्हणजे या राजघराण्याच्या अलोट ऐश्वर्याची साक्ष पटते. यादवांच्या मांडलिकांनी व अधिकार्यांनी दिलेली जी दानपत्रे अढळतात त्यावरून त्यांच्या संपन्नतेबद्दल शंका उरत नाही. परन्तु पाचपंचवीस शहरांतील मूठभर सत्ताधारीवर्गाच्या सुस्थितिवरून सर्वसाधारण जनतेच्या जीवनक्रमाची काहीच कल्पना येत नाही.” सरदार, ग.बा. : *सन्तसाहित्याची सामाजिक फलश्रुती*, पृ.11

⁴. Mukhiya, Harbans : *Was their feudalism in Indian History ?; Feudalism and non-European societies* : etd. By Harbans Mukhiya, pg.1-48.

⁵. Sharma, R.S. : *Indian Feudalism*, pg. 50-53, 121-22, 243, 283; *light on early Indian society and economy*, Mumbai, 1966, pg. 73; Yadav, B.N.S. : *Society and culture*, pg. 163-73; Yadav, B.N.S. : *immobility and subjection*, pg. 21-23; coated on Mukhiya, Harbans : *Was their feudalism in Indian History ?; Feudalism and non-European societies* : etd. By Harbans Mukhiya, pg.1-48.

⁶. Altekar, A.S. : *A history of village communities in western India*, pg. 86.

⁷. त्याचा मुख्य झगडा निसर्गाविरुद्ध होता जमीनीची अल्प उत्पादनशक्ति हे त्या काळी सामाजिक दुरावस्थेचे प्रबलकारण होते. शिवाय पावसाच्या अभावी वारंवार पडणार्या दुष्काळांनी या दुःस्थिति अणखी भर पडत असे. युरोपप्रमाणे येथे शेतकऱ्यांची पिळवणूक होत नव्हती असे मूळीच नाही. परन्तु ती अप्रत्यक्ष व व्यक्तिनिरपेक्ष होती. येथील शेतकरी हा जरी परम्परेचा व रूढीचा दास असला, तरी कुणाही व्यक्तिका ताबेदार नव्हता. राजसंस्था, वतनसंस्था, ग्रामसंस्था, जातिसंस्था, धर्मसंस्था इत्यादी संस्थाद्वारा त्याच्या उत्पन्नातील बराच भाग संभावितपणे हिरावून घेतला जाई. या सर्व संस्थांना दैवी अधिष्ठान लाभले होते त्यामुळे त्याच्या गुलागिरीलाही धर्मनिष्ठेचे सोज्वळ रूप प्राप्त झाले. सरदार, ग.बा. : *सन्तसाहित्याची सामाजिक फलश्रुती*, पृ.59

⁸. Mukhiya, Harbans : *Was their feudalism in Indian History ?; Feudalism and non-European societies* : etd. By Harbans Mukhiya, pg.1-48. हरबंस मुखिया जी ने यह आर.एस.शर्मा की पुस्तक *इंडियन फ्युडलिज्म* (पृ.56, 18-24); ‘उन पर आरोपित

असंख्य कर-महसूलों के कारण वे अर्ध-भूदासों की स्थिति में पहुँच गए' वक्तव्य के आधार पर कहा है। उन्होंने इरफान हबीब की पुस्तक *एंग्रेरियन सिस्टम* (पृ.115-16, 118), *इकनामिक हिस्ट्री ऑफ़ डेहली सल्तनत* (पृ.298) का भी हवाला दिया है, जिसमें उन्हीं के अनुसार इरफान जी यह मानते हैं कि 'इस परिस्थिति में बाधित श्रम कोई महत्वपूर्ण तत्व नहीं मानते हैं।' (इसी लेख की पाद-टिप्पणी क्रमांक 117 एवं 172 देखें)।

⁹. "सामान्य तौर पर हिन्दी में 'सामंतवाद' को अंग्रेजी के 'फ्युडलिज़्म' का पर्याय माना जाता रहा है, किन्तु अवधारणात्मक रूप से इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है, "क्योंकि 'सामन्तवाद' किसी हद तक 'लैण्डलार्डिज़्म' का पर्याय तो हो सकता है, लेकिन हाल के इतिहास लेखन में फ्युडलिज़्म की जैसी परिकल्पना और व्याख्या पेश की गई है, उससे यह काफी दूर पड़ता है।", *Feudalism and non-European societies* : etd. By Harbans Mukhiya, भूमिका से.

¹⁰. गावंडे, शैला : *दहा संत कवयित्री*, पृ.33.

¹¹. यादव, मा.के. : *मराठी सन्त कवयित्री*, पृ.20-21.

¹². शर्मा, श्रीराम : *दक्खिनी हिन्दी का साहित्य*, पृ.48

¹³. यादव, मा.के. : *मराठी सन्त कवयित्री*, पृ.21.

¹⁴. चक्रधर ने उसकी 'म्हातारी जिज्ञासक : म्हातारी चर्चक : म्हातारी एक काही पुसतचि असे : ' कहकर स्तुति की है।

¹⁵. शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.15

¹⁶. तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ.193

¹⁷. देशपांडे, यशवंत खुशाल : *महानुभावीय मराठी वाङ्मय*, पृ.78

¹⁸. भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ.59

¹⁹. "केशवदेयासि संस्कृती सरळी : आणि पंडितासि संस्कृती मऱ्हाटिया सरळी : " (स्मृ.88), "सर्वांगी काइ देखणें असे? देखणें तें डोळेनीचि कीं : तैसे तुम्ही माझे डोळे कीं गा पंडिता : केशवद्या : " (स्मृ.95), तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ.193, साथ में देखिए पर पाद टिप्पणी 17 और 17-अ।

²⁰. वंशी, बलदेव : *भारतीय सन्त परम्परा*, पृ.170-172

²¹. वही, पृ.170

²². सिंह, महीप : *आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि*, पृ.50

²³. डॉ.सिंह ने लिखा है, "भाई गुरदास ने भी बार दस में त्रिलोचन और नामदेव के आपसी सम्बन्ध और संवाद की चर्चा की है - 'त्रिलोचन प्रातः होते ही नामदेव के दर्शन करने आया करते थे। दोनों मिलकर भक्ति करते थे। नामदेव उन्हें हरि की लीला सुनाते थे। एक बार त्रिलोचन ने नामदेव से कहा, मेरी ओर से आप भगवान से विनती करें, कि मुझे भी उनका दर्शन प्राप्त हो। नामदेव ने भगवान से पूछा कि त्रिलोचन को आपके दर्शन कैसे हो सकते हैं। भगवान ने हँसकर नामदेव को समझाया - मैं किसी प्रकार की भेंट से प्रसन्न होकर किसी को दर्शन नहीं देता। मैं तो प्रसन्न होकर ही त्रिलोचन को दर्शन दे सकता हूँ। मैं अपने भक्तों अधीन हूँ। यदि तुम्हारे जैसे सन्त बीच में पड़े तो वे किसी को भी मुझसे मिला सकते हैं। पूरा पद इस प्रकार है -

दरशन वेखण नाम देव भलके उठि त्रिलोचन आवै ॥

भगति करनि मिल दुइ जणे नामदेउ हरि चलित सुणावै ॥

मेरी भी करि बेनती दरशन देखाँ जे तिस भावै ॥

ठाकुर जी नो पुछि उसु दरशन किवैं त्रिलोचन पावै ॥

हसके ठाकुर बोलिया नामदेउ नो कहि समुझावै ॥

हत्य न आवै भेंट सो तुसि त्रिलोचन मै मुहि लावै ॥

हउ अधीन हाँ भैगत दे पहुँच न हंघा भगती दावै ॥

होइ विचोला आणि मिलावै ॥ सिंह, महीप : *आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि*, पृ.52

²⁴. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ.39

²⁵. वही, पृ.38

²⁶. वही, पृ.38-39

²⁷. कानडे, मु.श्री. : *संतांची हे भेटी*, पृ.32

²⁸. वही, पृ.32-33

²⁹. वही, पृ.33

³⁰. फाटक, न.र. : *ज्ञानेश्वर : जीवन आणि कार्य*, पृ.333 से कानडे, मु.श्री. : *संतांचे हे भेटी*, पृ.33 पर पूर्वोद्धृत.

³¹. वही, पृ.33-34, वही, पृ.वही

³². कानडे, मु.श्री. : *संतांचे हे भेटी*, पृ.33

³³. ह.भ.प.सुबंध द्वारा संपादित नामदेवरायांची सार्थ गाथा, भाग पहला, प्रस्तावना, पृ.30 से कानडे, मु.श्री. : *संतांचे हे भेटी*, पृ.33 पर पूर्वोद्धृत.

³⁴. कानडे, मु.श्री. : *संतांचे हे भेटी*, पृ.36

³⁵. वही, पृ.वही

³⁶. वही, पृ.38

- ³⁷. शुक्ल, रामचन्द्र : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ.39
- ³⁸. C.K.Waradachari : *Alwars of South India*, Editorial, pg.10 से डॉ.प्रेमशंकर : भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, पृ.52 पर पूर्वोद्धृत
- ³⁹. जोशी, प्र.न.: *मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ*, पृ.309
- ⁴⁰. वंशी, बलदेव : *भारतीय सन्त परम्परा*, पृ.385-386
- ⁴¹. सिंह, महीप : *आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि*, पृ.65
- ⁴². जोशी, प्र.न.: *मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ*, पृ.273
- ⁴³. अग्रवाल, पुरुषोत्तम : *अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय*, पृ.76
- ⁴⁴. पंडित, प्रभाकर सदाशिव : *महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य*, पृ.
- ⁴⁵. सरदास, गं.बा. : *संत साहित्याची सामाजिक फलश्रुति*, पृ.06
- ⁴⁶. चतुर्वेदी, रामस्वरूप : *हिन्दी साहित्य और संवेदन का इतिहास*, पृ.79
- ⁴⁷. लॉरेंज, डेविड एन. : *निर्गुण संतों के स्वप्न*, अनु.सिंह, धीरेन्द्र बहादुर, पृ.30.
- ⁴⁸. वही, पृ.38
- ⁴⁹. यदि इस्मा न भी आया होता तो भक्ति आन्दोलन का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है। - हजारीप्रसाद द्विवेदी
- ⁵⁰. शर्मा, वियमोहन, *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.135-136
- ⁵¹. सानप, किशोर : *समग्र तुकोबा दर्शन*, पृ.135-136
- ⁵². वही, पृ.136 पर उद्धृत
- ⁵³. वही, पृ.वही
- ⁵⁴. वही, पृ.61
- ⁵⁵. वही, पृ.86-87
- ⁵⁶. वही, पृ.93
- ⁵⁷. वही, पृ.107
- ⁵⁸. वही, पृ.126-127
- ⁵⁹. वही, पृ.133
- ⁶⁰. सानप, किशोर : *समग्र तुकोबा दर्शन*, पृ.260
- ⁶¹. करन्दीकर, वि.रा.: *समर्थ रामदास*, पृ.08
- ⁶². वही, पृ.27
- ⁶³ पूर्व तेथोनी वेरूळ। साजनी माहेर माझे देवगाव भागी ।।।।1
देवांचा समूह सर्व जये ठाई। मिळालासे पाही देवगावी ।।।।2
हिमालयाहुनी चालिला अगस्ती। चातुर्मास्य वस्ती केली जेथे ।।।।3
तेथुनी पश्चिमे सिवनद वाहात। तीर्थ हे अद्भुत तीर्थांमाजी ।।।।4
संत बहेणाबाईंचा गाथा, जावडेकर, (सम्पा) शालिनी, अंभंग क्र 196 .पृ. 2.
- ⁶⁴ .संत बहेणाबाईंचा गाथा, जावडेकर, शालिनी (सम्पा), अंभंग क्र9., पृ.
- ⁶⁵ .संत बहेणाबाईंचा गाथा, जावडेकर, शालिनी (सम्पा), अंभंग क्र19., पृ.14-13.
- ⁶⁶ .संत बहेणाबाईंचा गाथा, जावडेकर, शालिनी (सम्पा), अंभंग क्र21., पृ.
- ⁶⁷ .संत बहेणाबाईंचा गाथा जावडेकर, (सम्पा) शालिनी, अंभंग क्र23-22.
- ⁶⁸ ,शालिनी जावडेकर .*सन्त बहेणाबाईंचा गाथा*, (प्रस्तावना), पृ.18.
- ⁶⁹ 40. क्र अंभंग, वही .
- ⁷⁰ 54. क्र अंभंग, वही .
- ⁷¹ शालिनी जावडेकर .: *संत बहेणाबाईंचा गाथा*, प्रस्तावना 34-33 .पृ ,
- ⁷² जेया नाही शास्त्रीप्रतीती। नेणती तर्कमुद्रेची स्थिति ।।
तेया लागी मन्हाटीया युक्ति। केली ग्रंथरचना ।। - विवेकसिंधू
शंकरोक्तीवरी। मियां बोलिली हे वैखरी।
म्हणोनि धरावी चतुरी। शास्त्रबुद्धी ।। - विवेकसिंधू
- ⁷³ भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ.116
- ⁷⁴ तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्यांचे वाङ्मय*, पृ.213-214
- ⁷⁵ नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.34
- ⁷⁶ तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्यांचे वाङ्मय*, पृ.215
- ⁷⁷ नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.34
- ⁷⁸ गावंडे, शैला : *10 मराठी सन्त कवयित्री*, पृ.42-55
- ⁷⁹ नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.35

- ⁸⁰ गावडे, शैला : 10 मराठी सन्त कवयित्री, पृ.57
- ⁸¹ यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.26
- ⁸² तुळपुळे, शं.गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ.216
- ⁸³ तुळपुळे, शं.गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ.194-95
- ⁸⁴ वही, पृ.195
- ⁸⁵ नसिराबादकर, ल.रा. : प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पृ.45
- ⁸⁶ तुळपुळे, शं.गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ.196
- ⁸⁷ तुळपुळे, शं.गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ.196
- ⁸⁸ नसिराबादकर, ल.रा. : प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पृ.47
- ⁸⁹ तुळपुळे, शं.गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ.197
- ⁹⁰ तुळपुळे, शं.गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ.197 पर वद्याहरण, प्रस्तावना, पृ.47-48 से पूर्वोद्धृत
- ⁹¹ बहिरट, भा.पं. एवं भालेराव, प.जा. : वारकरी संप्रदाय-उदय व विकास, पृ.162 पर सरदार, गं.बा. : ज्ञानेश्वरांची जीवननिष्ठा, पृ.13 से पूर्वोद्धृत
- ⁹² शुक्ल, रामचन्द्र :
- ⁹³ वही, पृ.305
- ⁹⁴ वही, पृ.301-300.
- ⁹⁵ वही, पृ.303.
- ⁹⁶ 1369,70,71.क्र अभंग.
- ⁹⁷ सरदार, गंगफलश्रुति सामाजिक साहित्याची सन्तः.बा., पृ.83.
- ⁹⁸ पेंडसे, शं.नामदेव आणि ज्ञानदेवः.दा., पृ.330-329.
- ⁹⁹ 687.क्र अभंग.
- ¹⁰⁰ 668.क्र अभंग.
- ¹⁰¹ 751.क्र अभंग.
- ¹⁰² 823.क्र अभंग.
- ¹⁰³ 652.क्र अभंग.
- ¹⁰⁴ 686.क्र अभंग.
- ¹⁰⁵ 649.क्र अभंग.
- ¹⁰⁶ 1484.क्र अभंग.
- ¹⁰⁷ 680.क्र अभंग.
- ¹⁰⁸ 758.क्र अभंग.
- ¹⁰⁹ 799.क्र अभंग.
- ¹¹⁰ कानडे, मुकाव्यदर्शःनामदेव सन्तः.श्री., पृ.46.
- ¹¹¹ मराठी साहित्यशाहिरापर्यन्त आरंभापासून-, पृ.
- ¹¹² Apte, Vaman Shivram : Practical Sanskrit Dictionary, pg..215
- ¹¹³ खांडगे, प्रकाश बुका-भंडार ! भक्तिनाट्य-विधिनाट्य :, पृ.96.,
- ¹¹⁴ 789 अभंग क्र.
- ¹¹⁵ 823 अभंग क्र.
- ¹¹⁶ जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.310
- ¹¹⁷ जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.273 पर उद्धृत
- ¹¹⁸ हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, पृ.235
- ¹¹⁹ पांगारकर, ल.रा. : मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, खण्ड-2, पृ.265
- ¹²⁰ पांगारकर, ल.रा. : एकनाथी भागवत, प्रस्तावना.
- ¹²¹ शुक्ल, रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.56
- ¹²² वही, पृ.34
- ¹²³ शुक्ल, रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.48
- ¹²⁴ वऱ्हाडपांडे, वसंत कृष्ण : नाथांची काव्यशैली (लेख), संत एकनाथ दर्शन, सम्पा. : इनामदार, हे.वि., पृ.78
- ¹²⁵ इलेंकर, सुहासिनी यशवंतराव : नाथांचे रुक्मिणीस्वयंवर (लेख), संत एकनाथ दर्शन, सम्पा. : इनामदार, हे.वि., पृ.17
- ¹²⁶ इलेंकर, सुहासिनी यशवंतराव : नाथांचे रुक्मिणीस्वयंवर (लेख), संत एकनाथ दर्शन, सम्पा. : इनामदार, हे.वि., पृ.18
- ¹²⁷ “एक वाद्य । यह तबले की भाँति दो वाद्यों की जोड़ी होती है जो एक-दूसरे से जुड़े होते हैं । इन दोनों में खर्ज प्रकार की ध्वनि निकालने वाले भाग को बंब अथवा धम कहा जाता है तथा दूसरे भाग को झील । इसमें बंब झील की अपेक्षा छोटा होता है । पेड़ के तने को या कांस्य को उस प्रकार का आकार देकर इसे बनाया जाता है । यह दोनों हाथों में अपने छोर अंग्रेज़ी के एस आकार की छड़ी द्वारा दो वाद्यों पर लगे चमड़े के भाग पर पीटकर बजाया जाता है । छड़ियों की लम्बाई एक से डेढ़ फीट तक होती है और यह हाथ से न छूटने के लिए इस पर धागा लपेटा जाता है । महाराष्ट्र में अधिकांश विवाह अथवा शुभ-प्रसंगों पर इसे बजाया जाता । बाँसुरी के साथ इसे हाथ से ही बजाया जाता है । महाराष्ट्र के लोककलाकार गोंधळी इसे अपने अराधना में उपयोग करते हैं । यह वाद्य शांत-उग्र, कोमल-तीव्र तथा एकता स्थापित

करनेवाला माना जाता है। वेदकालीन स्तंभ अथवा सांवल वाद्य का सम्बन्ध भी इससे जोड़ा जाता है। कलिकापुराण के अनुसार शिव ने पार्वती के आनन्द के लिए यही वाद्य बजाया था। संगीतज्ञ इसे अवनद्ध वाद्य मानते हैं।” <http://thinkmaharashtra.com/sanskriti-sanchit/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%AC%E0%A4%B3>

¹²⁸. वऱ्हाडपांडे, वसंत कृष्ण : *नाथांची काव्यशैली* (लेख), *संत एकनाथ दर्शन*, सम्पा. : इनामदार, हे.वि., पृ.14

¹²⁹. पठान, यू.म. : *नाथांचे भारूड भंडार* (लेख) *संत एकनाथ दर्शन*, सम्पा. : इनामदार, हे.वि., पृ.58

¹³⁰. गोसावी, कुमुद दिगंबर : *नाथ साहित्याचे विहंग दर्शन* (लेख), *संत एकनाथ दर्शन*, सम्पा. : इनामदार, हे.वि., पृ.15

¹³¹. सम्पादक मंडल : *हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास*, पृ.234.

¹³². सरदार, गं.बा. : *संत साहित्याची सामाजिक फलश्रुति*, पृ.23

¹³³. वही, पृ.09

¹³⁴. पहिले ते हरिकथानिरुपण। दुसरे ते राजकारण। तिसरे ते सावधपण। सर्वविषयी ॥ - दासबोध

¹³⁵. नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.182

¹³⁶. जोशी, प्र.न. : *मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ*, पृ.379

¹³⁷. नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.184

¹³⁸. वही.पृ.186

¹³⁹. देवद्रोही तितुके कुते। मारुनि घालावे परते।-दासबोध

¹⁴⁰. वही, पृ.188

¹⁴¹. वही, पृ.193-194

¹⁴². इस सन्दर्भ में उनकी यह कविता देखी जा सकती है -

कवित्व असावें निर्मळ। कवित्व असावें सरळ।

कवित्व असावें प्रांजळ। अन्वयाचें ॥

कवित्व असावें भक्तिबळें। कवित्व असावें अर्थागळें।

कवित्व असावें वेगळें। अहंतेसी ॥

कवित्व असावें कीर्तिवाड। कवित्व असावें रम्य गोड।

कवित्व असावें सोपें। कवित्व असावें अल्परूपें।

कवित्व असावें सुलभ। चरणबन्द।

मृदु मंजुळ कोमल। भव्य अद्भुत विशाल।

गौल्य माधुर्य रसाळ। भक्तिरसें ॥ 14.3, दासबोध -

¹⁴³. इस सन्दर्भ में उनकी यह कविता देखी जा सकती है -

कवित्व नसावें धीटपाठ। कवित्व नसावें खटपट।

कवित्व नसावें उद्धट। पाषांड मत ॥

कवित्व नसावें वादांग। कवित्व नसावें रसभंग।

कवित्व नसावें रंगभंग। दृष्टान्तहीन ॥

कवित्व नसावें पाल्हाळ। कवित्व नसावें बाष्कळ।

कवित्व नसावें कुटीळ। लक्षूनियां ॥

हीन कवित्व नसावें। बोलिलेंचि न बोलावें।

छन्दभंग न करावें। मुद्राहीन ॥

व्युत्पत्तिहीन तर्कहीन। कलाहीन शब्दहीन।

भक्तिज्ञान वैराग्यहीन।-कवित्व नसावें ॥

भक्तिहीन जें कवित्व। तेचि जाणावें ठोंबें मत।

आवडीहीन वक्तृत्व। कंटाळवाणें ॥ 19-3.14-14, दासबोध -

¹⁴⁴. नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.193

¹⁴⁵. शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, प्रस्तावना, पृ.82

¹⁴⁶. शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, प्रस्तावना, पृ.85

¹⁴⁷. शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पृ.88.

¹⁴⁸. Delray G.A. : *The Cult of Vithoba*, pg.147 से जावडेकर शालिनी, : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पृ 186.पर उद्धृत.

¹⁴⁹. न.प्र. जोशी. : *मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास*, काळ प्राचीन-पृ.368.

¹⁵⁰. शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पृ.187.

¹⁵¹. शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पृ.187.

¹⁵². शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पृ.168-148.

¹⁵³. शालिनी, जावडेकर. : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पृ.188.

चतुर्थ अध्याय

मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : भक्ति, प्रतिरोध और पॉलिमिक्स

4.1 मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य : पाठ परम्परा

एक प्राचीन-मध्यकालीन पाठ अपनी ऐतिहासिक स्थितियों में किन आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है, वर्तमान में इसे जानने का कोई विश्वसनीय साधन नहीं है। इस सन्दर्भ में पाठ की समकालीन विचारधारा एवं भावधारा से व्याख्याएँ काफी नहीं होती हैं। यहाँ पाठ परम्परा से आशय ऐसी किसी परम्परा को जानने से नहीं है और न ही वह विश्वसनीय पद्धति से संभव ही है। यहाँ हम केवल उन पाठों का विकास क्रम एवं उनमें समयानुसार हुए बदलावों को जानने का प्रयास भर करेंगे। हमारे सामने मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं के जो पाठ हैं, वह कई परम्पराओं से चलकर पहुँचे हैं। उन परम्पराओं का उल्लेख करना एवं उनका इस पाठ निर्माण में योगदान तथा पाठान्तर में हस्तक्षेप को विश्लेषित करने का प्रयास ही यहाँ 'पाठ-परम्परा' है। अतः यहाँ क्रमशः उपलब्ध जानकारी का प्रयोग करते हुए मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं की पाठ-परम्परा एवं उसके विकास पर प्रकाश डाला जा रहा है।

4.1.1 चक्रधर की एकमात्र हिन्दी कविता

चक्रधर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। इनकी कोई मराठी कविता उपलब्ध नहीं होती है। इनकी प्राप्त कविता को मराठी क्षेत्र में पायी जानेवाली सबसे प्राचीन हिन्दी कविता माना जाता है। उन्होंने लम्बी यात्राएँ की थी और उनकी मातृभाषा गुजराती थी, ऐसे में उनके द्वारा गुजराती मिश्रित कविताओं की रचना करना असंभव नहीं है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने चक्रधर की दो चौपदियों को प्रस्तुत किया है, जो वास्तव में एक ही है। इसे शं.गो.तुळपुळे ने 'महानुभाव पंथ आणि त्यांचे वाङ्मय' शीर्षक पुस्तक में उद्धृत किया है। उनके अनुसार, "लीळाचरित्र" के उत्तरार्द्ध में स्वतः श्रीचक्रधर द्वारा एक चौपदी गाए जाने का उल्लेख मिलता है (ली.310)।¹

आचार्य शर्मा एवं तुळपुळे जी द्वारा प्रस्तुत पाठ में काफी अन्तर है। पद का हिन्दीकरण करते हुए शर्मा जी ने उसकी प्राचीनता नष्ट कर दी है। जैसे उन्होंने मराठी में प्रयुक्त 'ळ' के स्थान पर 'ल' लिख दिया है और कई स्थानों पर दीर्घीकरण एवं ह्रस्वीकरण भी किया है। प्रत्येक पंक्ति द्वारा इस अन्तर को निम्नवत समझा जा सकता है -

शं.गो.तुळपुळे द्वारा प्रस्तुत पाठ - "मूळस्थानीं भीड बांधों होइ : जोइ ना काळ कळाइ :"²

आचार्य शर्मा द्वारा प्रस्तुत पाठ - "मूल स्थानीं भिउ बंध बांधो हो जोई ना काल कलाई ॥"³

यहाँ स्पष्टतः दो पाठों में अन्तर देखा जा सकता है, जहाँ दूसरे पाठ में उसका हिन्दीकरण करने का प्रयास है तो पहले में प्राचीनता की सुरक्षा दिखाई देती है। इसमें आये विराम चिन्हों को लेकर द्वितीय अध्याय में काफी चर्चा हो चुकी है। अतः हम तुळपुळे द्वारा प्रस्तुत पाठ को अध्ययन के लिए स्वीकार करते हैं।

4.1.2 महदंबा

इनकी एकमात्र हिन्दी रचना उपलब्ध है। महदंबा की कविता का अध्ययन एवं उसके पाठ भेद पर चर्चा करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपलब्ध एकमात्र कविता महदंबा की है या उमांबा या उभांबा (उमाइसा) की है। महदंबा के जीवन पर विचार करते हुए स्पष्ट किया गया है, महदंबा एवं उमांबा एक ही रचनाकार या स्त्री का नाम था। स्रोत का उल्लेख किए बगैर आचार्य विनयमोहन शर्मा ने अपनी 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' शीर्षक पुस्तक में इस कविता को उद्धृत किया है। वह कविता इस प्रकार है-

“नगर द्वार हो भिच्छा करो हो, बापुरे मोरी अवस्था लो ।
जिहाँ जाबो तिहाँ आप सरिसा कोउ न करी मोरी चिंता लो ।
हाट चौहाटां पड रहूं हो मांग पंच घर भिच्छा ॥
बापुड लोक मोरी अवस्था कोउ न करी मोरी चिंता लो ।”⁴

संभव है कि महदंबा के पूर्वज, जो यादव राजाओं के यहाँ पुरोहित थे⁵, काशी या किसी ब्रज क्षेत्र के पंडित रहे हो, जो यादवों के यहाँ पुरोहिती करने आये थे। महदंबा की भाषा में स्पष्ट रूप से भोजपुरी, ब्रज का पुट दृष्टिगोचर होता है। वामनाचार्य महदंबा के प्रतिपितामः थे। समाज में यह तथ्य भी दृष्टिगोचर होता है कि स्थानान्तरित परिवारों या समूह में पुरुष अधिक दिनों तक अपनी मूल भाषा को सहेज नहीं पाते हैं, जबकि स्त्रियाँ ऐसा करने में सफल होती हैं। स्त्रियों के लिए अपेक्षाकृत बन्द मध्यकालीन समाज में यह अधिक संभव था। यही कारण है कि महदंबा की कविता में जाबो, भिच्छा, मोरी, कोउ, जिहाँ, तिहाँ आदि शब्द मिलते हैं। शर्मा जी ने भी माना है कि “महदायिसा के हिन्दी पद की भाषा खड़ी बोली और ब्रज का मिश्रण है।...चक्रधर स्वामी की अपेक्षा महदायिसा की भाषा में अधिक प्रौढ़ता है, अधिक हिन्दीपन है।”⁶ अतः निर्विवाद रूप से न सही, किन्तु यह कहा जा सकता है कि वामनाचार्य हिन्दी की पश्चिमी बोली क्षेत्र से यादवों की पुरोहिती करने दक्षिण आये थे। दो पीढ़ियों के पश्चात भी उसके परिवार में स्त्रियाँ कुछ मराठीपन लिए अपनी भाषा सुरक्षित रखे हुए थी, जिसके साक्ष्य महदंबा की कविता में मिलते हैं।

कुछ पाठ भेद के साथ ‘महानुभावीय मराठी वाङ्मय’ पुस्तक के लेखक यशवंत खुशाल देशपांडे ने इस कविता को ‘चौपदी’ कहते हुए उद्धृत की है -

“नगरद्वारहो भिच्छा करोहो बापुरे मोरी अवस्था लो ॥
जिहां जाबो तिहां आपसरिसा कोऊं न करी मोरी चिंता लो ॥1॥
हाट चौ हाटां परहु मांगू पंचघर भिच्छा ॥
बापुड लोक मोरी अवस्था कोऊं न करी मोरी चिंता लो ॥2॥”⁷

इस कविता की भाषा को देशपांडे जी ने ‘हिन्दी मिश्रित मराठी’ कहते हुए दूसरी कविता का ‘हिन्दी मिश्रित गुजराती’ में भी होने का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने वह पद कहीं भी उद्धृत नहीं किया है।

शं.गो.तुळपुळे ने भी प्रायः देशपांडे जी के पाठ को कुछ विरामचिह्नों के बदलाव के साथ, ज्यों-का-त्यों उद्धृत करते हुए इसे “नागदेवाचार्य की बहन उमाइसा द्वारा गाई गयी चौपदी” कहा है। उनके द्वारा दिया गया पद इस प्रकार है-

“नगरद्वारहो भिच्छा करो हो बापु रे मोरी अवस्था लोः
जिहां जावों तिहां आपसरिसा न कोइ न करी मोरी चिंता लो ॥1॥
हाट चौहाटां पड रहूं मांगू पंचघर भिच्छाः
बापुड लोक मोरी अवस्था कोइ न करी मोरी चिंता लो ॥2॥”⁸

यशवंत खुशाल देशपांडे एवं श.गो.तुळपुळे द्वारा दी गई कविताओं में कोई पाठभेद नहीं है। तुळपुळे जी ने कविता का महानुभाव पंथीय कवित्व के अनुसार संस्कार किया है। पहली और तीसरी पंक्ति में उन्होंने जो विसर्ग दिए हैं, वह आरंभिक महानुभाव पंथ के साहित्य में अर्द्धविराम के विरामचिह्नों (Punctuation) की तरह प्रयुक्त हुए हैं, इसे महदंबा की कविता में भी देखा जा सकता है।

इन विद्वतद्वय (यशवंत देशपांडे एवं तुळपुळे) द्वारा प्रस्तुत कविताओं को आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दी गई कविता से तुलना करने पर पाठ सम्पादन का भेद और अधिक स्पष्ट हो जाता है। तुळपुळे जी ने इस कविता का महानुभावीय संस्कार किया, तो शर्मा जी ने इसका हिन्दीकरण किया। विद्वतद्वय ने पहली पंक्ति में आए “नगरद्वारहो”, “पंचघर” दूसरी पंक्ति में आए पद “आपसरिया” को मिलाकर लिखा, जबकि शर्मा जी ने इन पदों को “नगर द्वार हो”, “पंच घर” एवं “आप सरिया” लिखा। निःसंदेह शर्मा जी ने पाठ-शुद्धि का प्रयास बिना उल्लेख किया है। इनसे कई अधिक बड़ा अन्तर दोनों पाठों में है, जिसे हम दोनों पाठों के शब्दों के भेद पाते हैं। यह भेद ठेठ देशज शब्दों की प्रस्तुति में खुलकर सामने आता है। विद्वतद्वय के पाठ में जहाँ “जिहाँ”, “जावों”, “तिहाँ”, “कोइ”, “मांगू” लिखा है, वहीं शर्मा जी द्वारा प्रस्तुत पाठ में क्रमशः “जिहाँ”, “जाबो”, “तिहाँ”, “कोउ” एवं “मांग” लिखा है। इस पाठ-भेद से कविता के कथ्य में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। इसके लिए हमें कविता का शाब्दिक अर्थ एवं भावार्थ जान लेना आवश्यक है, जिससे पाठ-भेद के कारण आए अन्तरों को ठीक से समझा जा सके।

आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दिए गए पद का शाब्दिक अर्थ कुछ इस प्रकार होता है – “नगर द्वार पर भिक्षा माँगती हूँ, हे पिता समान आप मेरी अवस्था की ओर ध्यान दीजिए। जहाँ जाती हूँ वहाँ आपके भाँति मेरी चिन्ता कोई नहीं करता है। भिक्षा माँगकर हाट-चौहाटें पर पड़ी रहूँ। कोई मेरी चिन्ता नहीं करता, आप तो मेरी चिन्ता कीजिए।”

ऊपर शब्दभेद की जो चर्चा की गई है, उसके अनुसार केवल पद की तीसरी पंक्ति में अर्थभेद निर्माण होता है, जिससे पद के भावार्थ में अन्तर पड़ जाता है। “मांग” के स्थान पर “मांगू” तथा “चौहाटा” के स्थान पर “चौकटा” शब्द देशपांडे-तुळपुळे द्वारा प्रस्तुत कविता में आया है। जिससे सम्पूर्ण पद का स्वर ही बदल गया है। “चौकटा” का अर्थ चौखट भी होता है, किन्तु “चौहाटा” कहने से चौराहे का भाव आता है। “मांग” अपनी स्थिति को बताता है तथा “मांगू” अपूर्ण भूतकालीन क्रिया होने के कारण, ऐसी क्रिया की जाने की ईच्छा का भाव दर्शाता है। इस कारण “मांगू” इस कविता में होना चाहिए, क्योंकि कविता अपनी स्थिति बताने के लिए नहीं लिखी गयी है, बल्कि गुरु से यह विनती की जा रही है कि “बापुरे मोरी अवस्था लो” “मोरी चिन्ता लो”। इसी कारण तीसरी पंक्ति गुरु से यह कह रही है कि यदि आप मेरी चिन्ता करते हैं तो मैं पंचघर भिक्षा माँगकर हाट-चौराहे पर पड़ी रहूँगी या हम चौखट भी कह सकते हैं, जिससे हमारे द्वारा कविता से अपेक्षित अर्थ में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा की गई प्रस्तुत पद की व्याख्या अपूर्ण सिद्ध होती है। उनके अनुसार-“मार्ग के आचार्य के अनुसार साधिका भिक्षा माँगकर चौहाटे पर पड़ी रहती है। उसके गुरुदेव ही उसकी चिन्ता करते हैं। वह उन्हीं का आह्वान करती है। महदयिसा की गुरु भक्ति प्रसिद्ध है।”⁹

4.1.3 दामोदर पण्डित

दामोदर पण्डित की मराठी कविताओं की तरह ही उनके हिन्दी पद भी राग-रागिनियों में लिखे गए हैं। इसके सम्बन्ध में कोई आधिकारिक जानकारी प्राप्त नहीं होती कि इन कविताओं को संगीत के

अनुसार लिखा गया है या उनके शीर्ष पर रागों के नाम बाद के समय में किसी पंथीय व्यक्ति ने लगा दिए। दामोदर के जीवन-वृत्त के सन्दर्भ में जो जानकारी उपलब्ध होती है, उसमें वे एक कवि के साथ-साथ संगीतज्ञ भी बताए जाते हैं। संभव है कि उन्होंने अपनी कविताएँ अपने गायन के लिए संगीत्मक लिखी हो। यशवंत खुशाल देशपांडे ने लिखा है- “पहले भाग में दामोदर पंडित का चौपदियों के सन्दर्भ में उल्लेख किया जा चुका है, जहाँ नमूने के लिए एक चौपदी दी गई थी। इसके बाद पेशावर में उनकी साठ चौपदियाँ प्राप्त हुई हैं। इन्हें महंत दत्तराज ने शके 1828 (सन 1906 ई.) में लाहौर से छपवाया था।”¹⁰ शं.गो.तुळपुळे ने दामोदर पंडित की साठ चौपदियों का उल्लेख किया है, जिनमें से चालीस चौपदियाँ “विभिन्न रागिनियों में रची जाने” का उल्लेख उन्होंने किया है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने दामोदर पंडित की कुल आठ कविताएँ दी हैं। शर्मा जी द्वारा दी गई कविताओं की पाण्डुलिपि “ई.स.1649 शिव-काल में लिखी गई है।”¹¹ उनके अनुसार “इन चौपदियों को डॉ.पेठे व श्री पोंक्षे ने मिलकर संपादित किया है और उसकी एक पाठशुद्ध आवृत्ति निकालने का प्रयास प्रा.व.दा.कुलकर्णी कर रहे हैं।”¹² हमें बड़े परिश्रम के पश्चात् भी यह संग्रह कहीं प्राप्त नहीं हुआ। हमें उल्लेखित विनयमोहन शर्मा द्वारा सम्पादित कविताएँ ही प्राप्त हुई हैं। आचार्य शर्मा ने लिखा है- “शके 1571 विरोधनाम संवत्सरे : श्रावण मासे सुधे नवमी : वार सोमवार : तद्दिने पुस्तकपूर्ण (लाडनाम तुक राजा के शिष्य अनंत मुनि के हस्ताक्षर)।”¹³ उन्हें “स्व.नेने की कृपा से यह पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है।”¹⁴ अतः इन्हीं के आधार पर हम अपना अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

4.1.4 त्रिलोचन, नामदेव और सेनानाई की कविताएँ : पाठ की शुद्धता एवं शुद्ध पाठ

इन तीनों कवियों की पाठ परम्परा को एक साथ देखने का कारण यह है कि इनकी पाठ परम्परा का आरंभ एक साथ सन 1572 में गुरु अर्जुनदेव द्वारा सम्पादित ‘आदिग्रंथ’ से आरंभ होती है। संभव है इनमें नामदेव ही नहीं अन्य दो कवियों के काव्य की इससे भी प्राचीन परम्परा रही होगी। ‘आदिग्रंथ’ में त्रिलोचन की चार और सेना की एक रचनाएँ संग्रहित हैं।

नामदेव की हिन्दी कविताओं के इससे भी प्राचीन पाठ प्राप्त होते हैं। मराठी में प्रचलित पाठों के सन्दर्भ में कहा जाता है कि यह नामदेव के अपने हस्तलिखित प्रतियों से स्वीकृत पाठ हैं। आज नामदेव की 2171 मराठी और 237 हिन्दी कविताएँ उपलब्ध हैं, जिन्हें विभिन्न आलोचकों ने जाँच-परखकर उनका पाठ-निर्धारण किया है। यह संख्या हमेशा से इतनी ही स्थिर नहीं थी और न यह पाठ ही वैसा था, जैसा यह आज है। मराठी में सन्त-भक्त कवियों की कविताओं के सम्पादन का लम्बा इतिहास रहा है। नामदेव की हिन्दी कविताओं को उनकी मराठी कविताओं के साथ लगातार सम्पादित किया गया। इनकी संख्या भी हमेशा स्थिर नहीं रही।

नामदेव, तुकोबा और बहेणाबाई की कविताओं के संकलन को ‘गाथा’ कहा जाता है और इसका ‘गाहा’ से संभवतः कोई सम्बन्ध नहीं है। नामदेव की कविताओं का सर्वप्रथम गाथा सन 1896 में श्री रावजी श्रीधर गोंधळेकर ने सम्पादित किया था। यह गाथा मौखिक एवं पंढरपुर के केशवराज मंदिर की प्रतिलिपियों पर आधारित था। इसमें संग्रहित 800 अभंगों में कोई हिन्दी रचना नहीं थी। इस प्रकार सन 1894 में तुकोबातात्या घरत द्वारा सम्पादित 2558 एवं सन 1908 में त्र्यंबक हरी अवटे द्वारा प्राचीन हस्तलिखित पुरातन प्रतियों से सम्पादित 2373 अभंगों में किसी हिन्दी रचना का उल्लेख तक नहीं किया गया है। नामदेव की हिन्दी कविताओं को पहली बार सन 1925 में विष्णुबुआ जोग द्वारा प्रकाशित गाथा में समावेश किया गया। इसके बाद सन 1949 से 1962 ई.तक छः भागों में श्री

प्र.सी.सुबंध द्वारा सम्पादित सार्थ गाथा के 2221 अभंगों में हिन्दी कविताएँ भी समाविष्ट की गई हैं। इसमें पूर्व प्रकाशित गाथाओं को बगल करते हुए हस्तलिखित प्रतियों का आधार लिया गया। यही भूमिका सन 1970 में महाराष्ट्र शासन द्वारा प्रकाशित नामदेव गाथा के सम्पादकों ने अपनायी। उन्होंने लगभग तीस हस्तलिखित प्रतियों का अध्ययन किया, जिसमें इक्कीस प्रतियाँ पंढरपुर में से हैं। इस गाथा में 2107 मराठी और 230 हिन्दी रचनाओं को समाविष्ट किया गया। “इस गाथा में संकलित हिन्दी रचनाओं के लिए डॉ.भगीरथ मिश्र एवं डॉ.राजनारायण मौर्य द्वारा सम्पादित प्रतियों को जस-का-तस स्वीकार किया गया है।”¹⁵ इसके बाद सन 1999 में रेळेकर और गोंदकर ने ‘संत नामदेवांची गाथा’ प्रकाशित करवायी, जिसमें 2349 मराठी एवं 278 हिन्दी रचनाओं का संकलन किया गया।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि नामदेव की कितनी रचनाएँ प्रामाणिक मानी जाए, 237 या 278? हिन्दी अभंगों को दुबारा अभंग, नाममुद्रा, एक ही अभंग की भिन्न मुद्राएँ, नामा म्हणे की मुद्रा, आत्मस्तुतिपरक अभंग, अर्थ को दुरुह करनेवाले अभंग, पंडिती मुद्रा, काल विपर्यास, रचनादोष, विष्णुदास नामा, तृतीय पुरुष अभंग आदि कई पैमानों पर मूल्यांकित करते हुए डॉ.मु.श्री.कानडे एवं रा.शं.नगरकर ने नामदेव की 237 रचनाओं का संकलन सन 2005 में ‘सन्त नामदेवांचा सार्थ चिकित्सक गाथा’ शीर्षक किया है। यह रचनाएँ लगभग वही हैं, जो इससे पूर्व ‘शासकीय गाथा’ में दी जा चुकी थी। उन्होंने केवल भाषा को शुद्ध करने का प्रयास किया है। इस कारण भाषा की प्राचीनता में खलल पड़ा है। इसके विपरित शासकीय गाथा में प्राचीनता की रक्षा की गई है, जिसमें पाण्डुलिपियों को जस-का-तस उतारने का प्रयास किया गया है। इस कारण हम ‘शासकीय गाथा’ के पाठ को स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य सात कविताओं के लिए हमने डॉ. कानडे की ‘गाथा’ की कविताओं को स्वीकारना पड़ा।

4.1.5 ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई

ज्ञानेश्वर की जो दो कविताएँ कही जाती हैं, उसकी शब्दावली को लेकर आचार्य विनयमोहन शर्मा ने काफी विचार-विमर्श किया है। पदों में आए ‘मौला’ शब्द एवं अरबी-फारसी के शब्दों को लेकर काफी लम्बा-चौड़ा विचार किया और इतना ही नहीं, उनके ज्ञानेश्वर रचित होने पर भी संदेह किया। किन्तु अन्त में उनका संदेह अपने आप जाता रहा। मुक्ताबाई की भी एक कविता कही जाती है। उस पर उनकी मराठी कविताओं का प्रभाव है, इसलिए उस पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

4.1.6 भानुदास

महिपति ने लिखा है कि ‘भानुदास के वंश में विठ्ठल भक्ति पुरातन काल से चली आ रही थी।’ इस बात को एकनाथ ने कुछ भिन्न रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने विठ्ठल भक्ति के स्थान पर कृष्ण का उल्लेख किया है, जिसमें मूलभूत रूप में बहुत अन्तर नहीं माना जा सकता है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भानुदास की दो कविताएँ होने का उल्लेख किया है। यह दोनों रचनाएँ ब्रज का प्रभाव ग्रहण किए हुए हैं।

4.1.7 एकनाथ

कविताओं की संख्या की दृष्टि से नामदेव के बाद सबसे अधिक हिन्दी कविताओं की रचना करनेवाले मराठी सन्त-भक्त कवि एकनाथ हैं। मराठी में कथा-काव्य से लेकर शुद्ध दार्शनिक ग्रंथों की, प्रबंध काव्यों से लेकर अपने अत्याधिक प्रसिद्ध लोककाव्यों के विभिन्न प्रकारों में रचना करनेवाले एकनाथ ने हिन्दी में मात्र दो प्रकार के काव्यों की रचना की है - एक गौळण और दूसरे मुंडा, फकीर, भांड आदि। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 1957 ई. में एकनाथ के 36 हिन्दी पद प्रस्तुत किए गए थे। शर्मा जी ने भूलवश बड़े पदों को तोड़कर अलग-अलग पद मान लिये थे। इस कारण उनके द्वारा प्रस्तुत वास्तविक पदों की संख्या इससे काफी कम थी। एकनाथ साहित्य पर आधिकारिक रूप से लेखन करनेवाले प्रभाकर सदाशिव पंडित ने इस समन्वयवादी शोध को आगे बढ़ाते हुए एकनाथ के “अन्य स्रोतों से प्राप्त एकनाथ के हिन्दी पदों की संख्या 57 तक”¹⁶ मानी है। किन्तु वास्तव में विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत कविताओं और प्रभाकर सदाशिव पंडित द्वारा दी गई कविताओं में कोई भिन्नता नहीं है, अपितु पंडित जी ने कविताओं को अगल-अलग कर उनकी संख्या बढ़ा दी है। सन 1972 ई. में दक्खिनी के कवियों पर महत्वपूर्ण शोध करते हुए श्रीराम शर्मा ने एकनाथ को दक्खिनी सबसे अधिक प्रामाणिक कवि माना था। वस्तुतः शर्मा जी ने मराठी में लिखनेवाले प्रायः सभी सन्त-भक्त कवियों को दक्खिनी भाषा के कवि माना है।¹⁷

एकनाथ ने अपनी ‘गवळण’ शीर्षक कविताओं में जमकर गुजराती का प्रयोग किया है। उनकी गुजराती हिन्दी के अधिक समीप है। मराठी भाषा की रूप रचना एवं शब्दावली उनकी कविताओं में जस-की-तस आयी है। कई बार उन्होंने सर्वनामों का खुलकर प्रयोग भी अपनी कविताओं में किया है, जो हिन्दी कविताओं में प्रयुक्त होकर मराठीकरण से युक्त हैं। हमने आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पाठ अपने अध्ययन के लिए चुना है और उन्होंने प्रस्तुत पाठ में पाद-टिप्पणियों के सहारे मराठी शब्दों का अर्थ भी दिया है। प्रभाकर सदाशिव पंडित द्वारा दिए गए पाठ से तुलना करके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है। एकनाथ की ‘फकीर’ कविता आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इस प्रकार दी है -

भला संतन का संग
खावे बोधन की भंग
सदा आनंद मो दंग, ऐसा मलंग फकीर ॥1॥
ग्यान के मैदान में खड़े
सम दम में आन लड़े
बहोतां के तखत चढ़े ऐसा मलंग फकीर ॥2॥
किया संतन का दुमाल मेरा तुटा जंजाल
ऐसा एकनाथ कंगाल, ऐसा मलंग फकीर ॥3॥

प्रभाकर सदाशिव पंडित द्वारा दिए गए पाठ में इस पाठ से अधिक अन्तर न होते हुए भी कुछ अन्तर लक्ष्यणीय हैं। पहला अन्तर तो यह है कि यहाँ पंक्तियाँ तोड़-तोड़कर प्रस्तुत की गई हैं। पंडित जी ने पहली और दूसरी, चौथी और पाँचवी पंक्ति को अल्पविराम के साथ एक ही पंक्ति में प्रस्तुत किया, जो स्वाभाविक है। यहाँ दी गई दूसरी पंक्ति में ‘खावे बोधन की भंग’ के स्थान पर ‘खावे निज बोधन की

भंग' पाठ दिया गया है, अर्थात् विनयमोहन शर्मा जी ने 'निज' शब्द को नहीं रखा है। बहोतां के ऊपर पंडित जी ने अनुस्वार (बिन्दी) नहीं दिया है, जो कि दक्खिनी के उच्चारण के अनुसार होना चाहिए। बाकी पाठ जस-का-तस है। अर्थात् दोनों पाठों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

इस प्रकार दोनों स्थानों पर कविताओं की मात्रा में अन्तर होते हुए भी पाठ में बहुत अन्तर नहीं है। हम यहाँ अध्ययन के लिए आचार्य विनमोहन शर्मा जी द्वारा दिया गया पाठ स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्होंने पाठ के साथ बहुत अधिक छेड़छाड़ भी नहीं की है।

4.1.8 तुकोबा की हिन्दी कविताएँ : हस्तलिखित प्रतियों से संकेतस्थल तक की पाठ परम्परा

17 फरवरी 2002 में तुकोबा के जीवन, कार्यों, साहित्य और अवदान-प्रभाव पर आधिकारिक रूप से अध्ययन-मनन-लेखन-अनुवाद करनेवाले सदानंद मोरे और दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे की संकल्पना को साकार करते हुए, उन्हीं के समन्वय एवं देखरेख में कुछ शोधकर्ताओं-रचनाकारों ने तुकोबा डॉट कॉम (www.tukaram.com) संकेतस्थल (Website) बनाया गया। प्रस्तुत संकेतस्थल तुकोबा के जीवन एवं कार्यों के सन्दर्भ में देशी-विदेशी 21 भाषाओं में जानकारी उपलब्ध कराता है। इसमें सन 1945 में महात्मा गाँधी द्वारा अंग्रेजी में अनुदित तुकोबा के 16 अभंग भी प्रकाशित करवाये गये हैं। उल्लेखनीय है कि येरवाड़ा कारावास (15 अक्तूबर 1930 से 28 अक्तूबर 1930) के दौरान गाँधी जी ने यह अनुवाद किए थे। तुकोबा के मराठी अभंगों की सन 1945 में सम्पादित-प्रकाशित 'श्रीसंत तुकारामांची राष्ट्रगाथा' की प्रस्तावना भी गाँधी जी ने लिखी थी। यह संग्रह डॉ. इंदुभूषण भिंगारे ने सम्पादित किया था। इस प्रस्तावना में गाँधी जी ने लिखा है -

“डॉ. इंदुभूषण भिंगारे ने संत तुकोबा की राष्ट्रगाथा का एक विभाग तो प्रकट किया था। मजकुर विभाग दूसरी आवृत्ति है। मेरा मराठी भाषा का ज्ञान बहुत अल्प है। तुकोबा मुझे बहुत प्रिय हैं। लेकिन उनके अभंगों में से थोड़े ही बिना परिश्रम से पढ़ सकता हूँ। इसलिए मैंने डॉ. भिंगारे की पसंदगी भाई कुंदरजी दिवाण को दी और उन्होंने बड़े परिश्रम से सारा चुनाव देख लिया।

गाथा के लिए सही चित्र भी चाहिए था। डॉ. भिंगारे ने तो बाजारी चित्र लिया था। मुझे बहुत चुभा। मैंने शान्तिनेकेतन के प्रसिद्ध कलाकार श्री नंदलाल बोस को भेजा। उन्होंने अभंग के साथ तुकोबा के कुछ चित्र भेजने की कृपा की है। उसमें से जो मुझे सबसे उचित लगा वह चित्र इस संस्करण के साथ प्रसिद्ध होगा। मेरी उम्मीद है कि यह संस्करण लोगों को अदरणीय लगेगा।

मो.क.गांधी

सेवाग्राम

१०/१/१९४५

इस संकेतस्थल पर नन्दलाल बोस द्वारा बनाया गया तुकोबा का वह चित्र भी उपलब्ध कराया गया है। तुकोबा की सभी मराठी कविताओं के साथ उनकी अब तक की उपलब्ध 62 हिन्दी कविताएँ भी प्रकाशित की गई हैं। इन हिन्दी कविताओं में उनकी कुछ तो पहले विभिन्न संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ पहली बार सामने आयी हैं।

साहित्यिक-सांस्कृतिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हुए सन 1954 में श्रीराम शर्मा ने दक्षिण की सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित दक्खिनी के रचनाकारों की रचनाओं का संकलन 'दक्खिनी का गद्य और पद्य' शीर्षक से किया। इसमें उन्होंने कई मराठी कवियों की कविताओं के साथ तुकोबा की 43 कविताओं को संकलन में स्थान दिया। शर्मा जी ने अपने स्रोत (स्रोतों) का उल्लेख नहीं किया है।

उनके द्वारा इस संकलन की प्रस्तावना के रूप में लिखित 'निवेदन' में भी सारी चर्चा दक्खिनी के कवियों और दक्खन को लेकर ही की गई है। इन्होंने तुकोबा के पदों को पहले रखते हुए दोहरों या द्विपदियों को बाद में रखा है, जो वि.ल.भावे द्वारा सम्पादित 'तुकोबा बुआंची अस्सल गाथा' के ठीक विपरीत है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' पुस्तक में कई कवियों के साथ तुकोबा की 40 कविताओं को संकलित किया। उन्होंने इन कविताओं को पहले दो विभागों में बाँटकर फिर पहले को भी दो में बाँटा है। पहले दो विभाग कविता के स्रोत के अनुसार 'तुकोबा बुआंची अस्सल गाथा' से 33 कविताएँ और फिर 'अस्सल गाथा के अतिरिक्त पद' शीर्षक के अन्तर्गत 7 पदों को समाविष्ट किया गया है। इस संस्करण में दिए गए सारे के सारे पद तुकोबा के अन्तर्जाल संस्करण में दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त प्रो.यू.म.पठान द्वारा 20 अक्तूबर 1976 को प्रकाशित 'मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी' में दिए गए 5 दोहे और छः पद इसी संकलन से लिए जान पड़ते हैं।

शोभीराम सन्त साहित्य शोध संस्थान द्वारा सन 1963 में एक महत्त्वकांशी परियोजना के तहत संकलित-सम्पादित ग्रंथ 'हिन्दी के जनपदीय सन्त' में तुकोबा की 15 कविताएँ सम्मिलित की गई हैं। इसमें कोई दोहा नहीं दिया है और साथ ही पहला और ग्यारहवाँ पद थोड़े से पाठान्तरण के साथ एक ही जान पड़ता है। इस संकलन का भी स्रोत आचार्य विनयमोहन शर्मा का संकलन ही जान पड़ता है। क्योंकि कुछ कविताओं को छोड़कर सारी की सारी वही कविताएँ इसमें संकलित हैं जो आचार्य शर्मा ने अपने संकलन में दी हैं। पाठ भी पूर्णतः वही है जो विनयमोहन शर्मा ने किया है। सम्पूर्ण पाठ जस-का-तस उठा लिया गया है, वह भी बिना उल्लेख किए। किन्तु इसमें वह सारी कविताएँ नहीं हैं जो आचार्य विनयमोहन शर्मा ने दी हैं, उससे कम कविताओं का समावेश संकलन में किया गया है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सम्पादकों ने लिखा है - "प्रस्तुत ग्रंथ 'हिन्दी के जनपद सन्त' इस जमाने की अत्यन्त महत्व की आवश्यकता की पूर्ति करता। इसमें हिन्दी के जनपदीय सन्तों की वाणी संग्रहित है। सारी पूरी वाणी एक ग्रंथ में आ नहीं सकती, और आएगी भी तो लोग पढ़ नहीं सकते। इसलिए कुछ चुनी हुई वाणी का ही यह संग्रह है। सन्त भक्त कहेंगे कि यह संग्रह छोटा है। मैं कहूँगा कि आज के जमाने में सबसे बड़ा दारिद्र्य है समय का। बहुत पृष्ठों के ग्रंथ का अध्ययन करने के लिए समय निकालना आसान नहीं है।"¹⁸ अतः स्पष्ट है कि इसमें तुकोबा की उस समय तक उपलब्ध सारी कविताओं को इस संकलन में स्थान नहीं दिया गया और इसके लिए सम्पादकों ने अपनी भूमिका को भी स्पष्ट कर दिया। इस संकलन में अतिरिक्त रूप में दिए गए पद को तुकोबा के पद के रूप में स्वीकार करते हुए इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस संकलन के पाठ से आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दिए गए पाठ में एक भी अन्तर न होने के कारण पाठ-भेद में इसकी चर्चा करना समय के दारिद्र्य को और बढ़ाने जैसा है। हिन्दी के कई जनपदीय सन्तों को एक ही संकलन में लाने के कारण इस संकलन का महत्व अक्षुण्ण है।

इस प्रकार हमारे पास तुकोबा की कविताओं के तीन और पाठ बचे रह जाते हैं। वे हैं - श्रीराम शर्मा, आचार्य विनयमोहन शर्मा और अन्तर्जाल पर सम्पादित पाठ। इन तीनों पाठों में एक स्रोत की समानता देखने को मिलती है। वह है इनमें वि.ल.भावे के 'तुकोबा बुआंची अस्सल गाथा' में समाविष्ट सारी कविताओं को क्रम के अन्तर के साथ स्थान दिया गया है। श्रीराम शर्मा जी ने तुकोबा की दोहेनुमा कविताओं को 'दोहरे' कहते हुए 23 दोहरे दिए हैं और इनके किसी भी स्रोत का उल्लेख नहीं किया है।

जबकि आचार्य विनयमोहन शर्मा ने उन्हें 'साषी' (साखी) कहते हुए 16 साषियाँ दी हैं और उनके स्रोत रूप में 'अस्सल गाथा' का पाद-टिप्पणी में उल्लेख किया है। अन्तर्जाल संस्करण में इन्हीं कविताओं में 'साख्या' (साखी का मराठी प्रभावित बहुवचन) कहते हुए 30 साख्या दी गई हैं।

श्रीराम शर्मा द्वारा प्रस्तुत 23 द्विपदियों में 12 विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पाठ में भी मौजूद हैं और इनमें से 22 अन्तर्जाल संस्करण में दिए गए 30 द्विपदियों में भी मौजूद हैं। अर्थात् श्रीराम शर्मा द्वारा प्रस्तुत पाठ के अतिरिक्त अन्तर्जाल पर प्रस्तुत पाठ में 8 द्विपदियाँ अतिरिक्त हैं। विनयमोहन शर्मा द्वारा दी गई सारी द्विपदियाँ अन्तर्जाल पर प्रस्तुत पाठ में भी हैं। भले ही श्रीराम शर्मा और विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पाठों में आधे से भी कम द्विपदियाँ समान हो किन्तु विद्वत्द्वय द्वारा प्रस्तुत लगभग सारे-के-सारे पद अन्तर्जाल संस्करण में संकलित हो गए हैं, केवल श्रीराम शर्मा और विनय मोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत प्रति में एक पद अतिरिक्त है जो अन्तर्जाल की प्रति में नहीं है। इस प्रकार अन्तर्जाल पर प्राप्त 30 पद एवं शर्मा द्वय की प्रतियों में प्राप्त एक पद मिलाकर हमारे पास तुकोबा की 31 द्विपदियाँ हैं। श्रीराम शर्मा एवं आचार्य विनयमोहन शर्मा की प्रति में जो एक पद समान और अतिरिक्त प्राप्त हुआ है, उसमें भी दोनों के पाठों में कुछ अन्तर हैं।

इसके अतिरिक्त तुकोबा के पद भी प्राप्त होते हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'तुकोबा बुआंची अस्सल गाथा' और 'अस्सल गाथा के अतिरिक्त पद' विभागों में कुल मिलाकर 16 दिए हैं, जिसमें से पद क्रमांक 32 को छोड़कर बाकी 15 पद अन्तर्जाल संस्करण में समाहित हैं। विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पद क्रमांक 17 और पद क्रमांक 33 ऊपर से देखने पर यह एक ही पद दिखाई देता है, किन्तु अपने कथ्य में यह काफी भिन्न हैं। आचार्य शर्मा ने यह दोनों पद कुछ पाठभेद के साथ अपने संकलन में दिए हैं किन्तु अन्तर्जाल संस्करण में यह पद न केवल एक बार दिया गया है, अपितु इसका पाठ दोनों से बहुत कुछ भिन्न होकर एक तीसरा ही पद बन गया है। ऐसा लगता है इसके सम्पादक ने इन दोनों पदों को एक ही जानकर दोनों पाठों को एक करने का प्रयास किया है। आचार्य शर्मा के संकलन में अन्तर्जाल संस्करण के अतिरिक्त जो पद संकलित किया गया है वह श्रीराम शर्मा द्वारा संकलित 20 पदों में पद क्रमांक 4 के रूप में मौजूद है। वास्तव में श्रीराम शर्मा के संकलन में अन्तर्जाल संस्करण के 31 पदों के अतिरिक्त 2 पद ऐसे हैं जिनमें से एक तो आचार्य शर्मा के संकलन में मौजूद है, किन्तु एक पद ऐसा है जो न तो अन्तर्जाल संस्करण में है और न ही आचार्य शर्मा के संकलन में। इस प्रकार तीनों प्रकाशित स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् हमें तुकोबा के 32 पद उपलब्ध होते हैं। इनमें 31 द्विपदियों को मिलाकर तुकोबा की 63 कविताएँ हमें प्राप्त हुई, जिनके पाठभेद पर अभी चर्चा करनी है।

पाठान्तर के सन्दर्भ में सबसे पहले उन पदों पर चर्चा करनी चाहिए, जिन्हें विनयमोहन शर्मा ने कुछ पाठभेद के साथ दो बार प्रस्तुत किया है, किन्तु अन्तर्जाल संस्करण में इसे एक ही मानकर प्रस्तुत किया गया है। इस एक उदाहरण के माध्यम से हमें पाठभेद की प्रवृत्तियों का पता चल जाता है। क्रमशः पहले आचार्य शर्मा द्वारा दिए गए दोनों पद एवं तद्नंतर अन्तर्जाल संस्करण वाला पद नीचे उद्धृत किया जा रहे हैं -

हरीसुं मील देष येक ही बेरे । पाछे फिर तु नावे घर ॥धृ॥
मात सुनो दुती आवे मनावन । जाया करीती भर जोबन ॥
हरीसु मोही कहीया न ज्याये । तब तु बुझे आंगों पाये ॥

देष ही भावा कुछ पकडी हात । मीलाई तुका प्रभु सात ॥
 आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दिया गया अन्य पद इस प्रकार है -
 हरिसूं मिल ले एक ही बेर । पाछें तूं नावे घर ॥
 मात सुनों दुति आवे मनावन । जाया करती भर जीवन ॥
 हरिसुख मोही कहिया न जाय । तब तू बुझे आगो पाय ॥
 देषहि भाव कुछ पकरी हात । मिलाई तुका प्रभु सात ॥

अन्तर्जाल संस्करण में इन दोनों पदों को एक ही मानकर दिया गया है, किन्तु अचरज की बात है कि वह पद इन दोनों पदों से कई मायनों में पाठ के स्तर पर भिन्न हो गया है । वह पद प्रकार है -

हरिसूं मिल दे एक हि बेर । पाछे तूं फिर नावे घर ॥1॥
 मात सुनो दुति आने मनावन । जाया करति भर जोबन ॥धृ॥
 हरिसुख मोहि कहिया न जाये । तब तूं बुझे आगोपाये ॥2॥
 देखहि भाव कुछ पकरि हात । मिलाइ तुका प्रभुसात ॥3॥

श्रीराम शर्मा ने भी अपना एक पाठ तैयार करते हुए यह पद एक ही बार अपने संकलन में शामिल किया है । वह पद इस प्रकार है -

हरि सूं मिलन दे एक हि बेर
 पाचें तू फिर नावे घेर
 मात सुनों दुति आवे मनावन
 जाया करति भर जोबन
 हरि सुख मोहि कहिया न जाये
 तब तूँ बूझे आगो पाये
 देख हि भाव कुछ पकरि हात
 मिलाई 'तुका' प्रभु सात ।

सर्वप्रथम आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दिए गए दो पदों के पाठ-भेद और उनके एकत्व पर चर्चा की जानी चाहिए तथा यह देखा जाना चाहिए कि क्या वास्तव में यह दो भिन्न-भिन्न कविताएँ हैं अथवा एक ही कविता के दो रूप । कम-से-कम इन पदों की भाषा से तो इसकी प्राचीनता स्पष्ट होती है । 'ख' के स्थान पर 'ष' का प्रयोग इन दोनों पदों में देखा जा सकता है, जो देवनागरी में लिखनेवाले कई भक्ति कालीन कवियों की कविताओं में भी देखने को मिलता है और बाद के लिपिकारों ने उन्हें ठीक करने का प्रयास किया है । पद की पहली पंक्ति से ही यह अन्तर देखने को मिलता है और अन्त तक जाते-जाते स्पष्टतः ये दोनों पद अपनी भिन्न सत्ता स्थापित कर देते हैं । पहले पद (पद क्र.17) की पहली पंक्ति जहाँ एक सुझावात्मक और समझाने के ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करती है तो दूसरे पद (पद क्र.33) की पहली पंक्ति उपदेशात्मक स्वर में दिखाई देती है । पहली कविता कहती है - 'एक बार हरी से मिलकर तो देख' । वहीं दूसरी कविता का आरंभ यून होता है - 'हरी से मिल ले एक ही बार' । स्पष्ट रूप से कहने के ढंग के कारण कथ्य में काफी अन्तर आ गया है ।

अर्थात् हिन्दी भाषा की कथन भंगिमा से तुकोबा भली-भाँति न केवल परिचित थे, अपितु उन्होंने उसका रचनात्मक उपयोग भी अपनी हिन्दी कविताओं में किया है । दूसरी पंक्ति में भी शब्दों

को आगे-पीछे और अलग-अलग ढंग से लिखने के कारण कथ्य में अन्तर पड़ गया है। 'फिर' को 'फेर', 'तु' को 'तूं' लिखकर कविता का मिजाज़ कायम रखा गया है। दोनों कविताओं में तीसरी पंक्ति को जस-का-तस रखा गया है। चौथी पंक्ति में आए 'जोबन' (यौवन) के स्थान पर दूसरी कविता में 'जीवन' लिखा गया है। पहले पद की पाँचवीं पंक्ति में आए 'हरिसु' के स्थान पर दूसरे पद में 'हरिसुख' आया है और अन्य शब्द ठीक उसी क्रम में वैसे ही लिखे गए हैं। आगे की पंक्तियों में 'र' का 'ड' का तथा 'ही' के स्थान पर 'हि' का स्थानापन्न किया गया है। अन्तिम पंक्तियों का पाठ एक जैसा होते हुए भी सन्दर्भ के बदलने से अर्थ बिल्कुल भिन्न हो गया है। जहाँ कर्म के साथ तुका को प्रभु की साथ मिलने की बात पहले पद में आती है, वहीं दूसरे पद की अन्तिम पंक्ति से जीवन में भक्ति के प्रवेश से और प्रभु चरणों पर पूर्ण समर्पण से प्रभु का साथ मिलने का अर्थ ध्वनित होता है।

एक और कारण है, जिससे इन दो पदों को भिन्न माना जा सकता है। संभवतः इनमें हुए पाठभेद भी इसी कारण संभव होकर इन दो पदों का एक रूप निर्माण हुआ है। तुकोबा कीर्तन परम्परा के कवि होने के कारण एक प्रकार के कथ्य दो अलग-अलग जगहों पर स्वाभाविक रूप से कहते समय इन पाठों का निर्माण हुआ होगा। पठित कविता के कहने और लिखित होने में जो स्वाभाविक रूप से पाठ-भेद आ जाता है, वही इस कविता के साथ हुआ होगा। किन्तु यह कविताएँ अपने रूप में ऊपरी तौर पर एक होते हुए भी कथ्य में बहुत बड़ी न सही, अन्तर पड़ जाने के कारण दो कविताएँ निर्मित हुई हैं। अतः हम भी इन्हें भिन्न कविताएँ मान सकते हैं।

यदि अन्तर्जाल संस्करण में इन दो पदों से भिन्न पाठ देखने को मिलता है। पहली पंक्ति पर ही चर्चा की जाए तो जहाँ आचार्य विनमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पहले पद में 'देष' और दूसरे पद में 'ले' हैं, उसी स्थान पर यहाँ मात्र 'दे' दिया गया है। इसे पूरी पंक्ति के सन्दर्भ में देखने पर कोई अर्थ परिवर्तन नहीं होता है। इसी पंक्ति में आए 'हि' के स्थान पर 'ही' लिखा मिलता है, जो आचार्य शर्मा के पाठ सम्पादन में किया गया बदलाव या कविताओं का हिन्दीकरण माना जा सकता है। हिन्दीकरण अर्थात् वर्तमान हिन्दी लिखने की पद्धतिनुसार प्राचीन पाठों को बदलकर लिखना यह प्रवृत्ति हिन्दी सन्त-भक्त कवियों के हिन्दी प्रदेशी सम्पादकों द्वारा सम्पादित पाठों में अधिकाधिक बढ़ती हुई देखी जा सकती है, वही बात तुकोबा के पाठ-सम्पादन के सन्दर्भ में भी सही है। श्रीराम शर्मा के पाठ में यह प्रवृत्ति अधिक खुलकर दिखाई देती है, जबकि मराठी कविताओं के साथ सम्पादित हिन्दी कविताओं में यह उतनी खुलकर नहीं दिखाई देती है। इस क्रम में सही गलत का निर्णय कर पाना कठिन कार्य है। क्योंकि इस प्रक्रिया में एक ओर कविताओं की प्राचीनता नष्ट होती है तो दूसरी ओर ऐसे बदलाओं से कविता कई बार अधिक सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास सफल होता दिखाई देता है। उदाहरणार्थ आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा सम्पादित तुकोबा की कविता की एक पंक्ति है - 'मांगत टुका घर घर खाया'। अन्तर्जाल संस्करण में 'टुका' के स्थान पर 'टूका' दिया गया है, वहीं श्रीराम शर्मा ने इसका पाठ 'तुका' कर दिया है। वैसे तुकोबा द्वारा घर-घर मांगकर खाने की बात मानी नहीं जा सकती। उन्होंने अपनी मराठी कविताओं में भिक्षा वृत्ति की इतनी खुलकर निंदा और आलोचना की है। अर्थात् यहाँ 'टुका' माना जाए या 'तुका' इस पर सन्देह हो सकता है और हम किसी साफ निर्णय पर नहीं पहुँच सकते हैं। किन्तु ऐसा होते हुए भी सम्पूर्ण कविता के मिजाज के हिसाब से यहाँ इसे 'टुका' मानना ही उचित लगता है। पूरा पद इस प्रकार है -

छोडे धन मंदिर बन बसाय । मांगत टुका घर घर खाया ॥
 तीनसों हम करवों सलाम । ज्यामुख बैठा राजाराम ॥
 तुलसीमाला का बभूत चहावे । हरजी के गुन निमल गावे ॥
 कहे तुका जो सांई हमारा । हिरनकश्यप जिन्हें मारहि डारा ॥

करीब से देखा जाए तो पद में अन्त से आरंभ तक तृतीय पुरुष का प्रयोग किया गया है। 'जो' और 'वह' की शैली में लिखते-लिखते बीच ही में तुकोबा कैसे अपना नाम ले सकते हैं। ऐसे में वे और उसके बाद आनेवाली पंक्ति में 'तीनसों' अर्थात् उन्हें या उसे आने के कारण यहां 'टुका' शब्द ठीक बैठता है।

उनकी कविताओं के पूर्ण सन्दर्भ को न समझते हुए और समकालीन पाठकों को ध्यान में रखकर पाठों को बनाने का प्रयास हुआ है। कथ्य को केन्द्र में रखकर पाठ सम्पादन करने के कारण भाषा में मोड़-तोड़ देखने को मिलता है। इनमें से सबसे अधिक प्राचीन स्रोत से स्वीकार्य होने के कारण हम आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा पाठ स्वीकार कर सकते हैं। साथ ही प्राचीन हस्तलिखितों पर ही आधारित होने और आधिकारिक विद्वानों की देखरेख में सम्पादित होने के कारण हम अन्तर्जाल संस्करण को भी नकार नहीं सकते। पाठ का समीप से अध्ययन करने के पश्चात् आचार्य विनयमोहन शर्मा एवं अन्तर्जाल पाठ में मूलभूत समानताएँ पाने के कारण दोनों को स्वीकार कर सकते हैं। आचार्य शर्मा का पाठ अधिक करीब एवं मराठी पाठ परम्परा में होने के कारण इसे प्राथमिकता देना अनिवार्य है। अतः जो कविताएँ इस पाठ में उपलब्ध नहीं होती, वे हम अन्तर्जाल संस्करण से स्वीकार कर सकते हैं।

4.1.9 रामदास

समर्थ रामदास की हिन्दी कविताओं के स्रोतों की जानकारी देते हुए आचार्य विनयमोहन शर्मा ने लिखा है, "समर्थ गाथा' तथा धूलिया के श्री समर्थ वाग्देवता मन्दिर की जीर्ण पाण्डुलिपियों तथा अन्य स्रोतों से जो रामदास के हिन्दी पद प्राप्त हुए हैं, वे राग-रागिनियों में भी गाये जा सकते हैं।"¹⁹ आचार्य शर्मा के अनुसार - "परिशिष्ट में मैंने समर्थ के कई अप्रकाशित हिन्दी-पद विभिन्न हस्तलिखित पोथियों के पाठान्तर के साथ दे दिए हैं।"²⁰ अपने विवेचन के क्रम में उन्होंने आगे लिखा है - "इस भाव की लगभग 840 पंक्तियाँ हमें धूलिया के श्री समर्थ वाग्देवता मन्दिर की हस्तलिखित पोथी क्रमांक 668 में प्राप्त हुई हैं। यह पोथी लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है। उसकी भाषा तत्कालीन जन भाषा प्रतीत होती है, जो खड़ी बोली का दक्षिण में व्यवहृत बाजारू रूप है।"²¹ इसके बाद उन्होंने रामदास की मानी जानेवाली यह रचना उद्धृत की -

“हरा ना पिला रंग काला नहि रे
 सफेदी नहीं क्या कहु में इसे रे।
 सबे रंग से वो नियारा खुदा हि।
 मु से हि कहे सा नाहि वो ईलाहि ॥”²²

आचार्य शर्मा ने इसका सरल खड़ी बोली में जो अर्थ दिया है, उसके अनुसार इस कविता की दूसरी पंक्ति में आए 'में' के स्थान पर 'मैं' होना चाहिए। इस कविता को उद्धृत करते हुए शर्मा जी ने पाद-टिप्पणी में लिखा है - "पूरी रचना परिशिष्ट में देखिए।" किन्तु परिशिष्ट में रामदास की कविताओं

के साथ या अन्य किसी भी स्थान पर यह कविता नहीं दी गई है। इसके बाद विवेचक ने अन्य दो कविताओं की क्रमशः चार-चार पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए सरल खड़ी बोली में उसका अनुवाद दिया है, किन्तु उसके सन्दर्भ में परिशिष्ट में होने की बात नहीं उठाई गई है। हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण बात इन कविताओं के विवेचन के बाद कही गई है। आचार्य शर्मा ने लिखा है - “ऊपरनिर्दिष्ट पाण्डुलिपि में लगभग 240 पंक्तियाँ रामदास के नाम से अंकित हैं परन्तु उसी संस्था में संग्रहित अन्य हस्तलिखित पोथी क्रमांक 1840 में वही रचना कतिपय पाठान्तर के साथ ‘देवदास’ नाम पर लिखी मिलती है। यह पाण्डुलिपि सन 1927 में दादा सा. करन्दीकर को पुणे के पुराने बाजार में प्राप्त हुई थी। इसकी नकल सन 1932 में की गई। लिपिकारों ने, प्रतीत होता है, यत्र-तत्र भाषा शुद्धि की है। ‘नहिं’ के ‘हिं’ को प्रत्येक स्थल पर दीर्घ ‘हीं’ कर दिया गया है। अन्य स्थलों पर भी खड़ी बोली का शुद्ध रूप मिलता है। अब प्रश्न यह है कि ऊपर्युक्त रचना वास्तव में किसकी मानी जाए - समर्थ रामदास की या देवदास की ?” उन्होंने परिशिष्ट में समर्थ रामदास के पाँच पद पाठान्तर निर्देशों के साथ दिए हैं, जिनमें से दो के राग एवं ताल का भी निर्देश दिया गया है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा के संग्रह से पूर्व श्रीराम शर्मा द्वारा सम्पादित ‘दक्खिनी का गद्य और पद्य’ शीर्षक संग्रह में रामदास की कोई कविता नहीं दी गई है। इसके दो कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है, एक तो उस समय तक रामदास का हिन्दी काव्य उपलब्ध नहीं था अथवा श्रीराम शर्मा ने रामदास को दक्खिनी के कवियों में गिनाना उचित समझा होगा। यह कारण उचित नहीं हो सकता है, भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से रामदास का काव्य दक्खिनी के कवियों के काफी समीप है। उसके ठीक चार वर्षों बाद आचार्य विनयमोहन शर्मा के सम्पादकत्व में रामदास के 5 पद संग्रहित हुए और रामदास के हिन्दी काव्य की ओर विद्वानों की दृष्टि गई।

‘हिन्दी के जनपदीय सन्त’ में समर्थ रामदास के पद ठीक उसी क्रम में दिए गए हैं, जिसमें आचार्य विनयमोहन शर्मा ने दिए हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य शर्मा ने पाठान्तर दिए थे, किन्तु यहाँ पाठान्तरों को टाला गया है। इस संग्रह के सम्पादकों की इतिहास दृष्टि पर तरस आता है। इन्होंने स्वयं रामदास के शिष्यों के बाद रामदास का हिन्दी काव्य दिया है, अन्य कवियों की तो बात करना ही व्यर्थ है। इसके बाद क्रम आता है, प्रो.यू.म.पठान द्वारा सम्पादित ‘मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी’ का। इस संग्रह में भी आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत तीन ही पद दिए गए हैं। आचार्य शर्मा द्वारा सम्पादित पदों में से 1, 2 और 5 क्रमांक के पद ही यहाँ दिए गए हैं। पाठों में प्रायः कोई भेद नहीं है। प्रभाकर सदाशिव पंडित द्वारा सम्पादित ‘महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य’ संग्रह में समर्थ रामदास की 10 कविताएँ दी गई हैं। इन कविताओं में तीन कविताएँ ऐसी हैं, जो आचार्य विनयमोहन शर्मा के संग्रह में भी कुछ पाठभेदों के साथ देखी जा सकती हैं। पाठ भेद पर चर्चा करते समय इस पर विस्तार से बात की जाएगी, क्योंकि पाठभेद कभी-कभी राजनीति का हिस्सा होते हैं।

सर्वप्रथम चर्चा करनी चाहिए आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा पाद-टिप्पणी के रूप में दिए गए पाठान्तरों पर। उन्होंने पाँच पदों के लिए कुल मिलाकर 18 पाठान्तरणों का उल्लेख किया है। वास्तविक रूप से आचार्य शर्मा द्वारा दी गई पाद टिप्पणियाँ पाठान्तरण न होकर अधिकांश कठिन शब्दों के अर्थ बताने का प्रयास है। हो सकता है पाठक की सुविधा के लिए ऐसा किया गया होगा। 18 में से 13 पाद टिप्पणियाँ इसी कोटी की हैं। मात्राओं में बैठाने के लिए रामदास ने ‘रघुवीर’ को

‘रघूविरा’ लिखा होगा। कहीं उन्होंने ‘मुसलमान’ का बहुवचन बनाने के लिए ‘मुसलमानां’ लिखा तो कहीं ‘पहचाने’ के स्थान पर ‘पछाने’ लिखा। इसे विनयमोहन शर्मा ने दक्खिनी का प्रभाव माना है। ‘अव्वल’ के स्थान पर ‘अवल’ और आखिर के स्थान पर ‘अखैर’ मराठी उच्चारण पद्धति के अनुसार है। इसका उल्लेख आचार्य शर्मा ने नहीं किया।

दोनों पाठों में जो तीन पद समान हैं, उनके पाठों पर भी चर्चा की जा सकती है। सबसे पहले तो आचार्य विनयमोहन शर्मा ने जिन पंक्तियों को तोड़-तोड़कर लिखा है, उन्हें प्रभाकर सदाशिव पंडित जी ने पदों के रूप में लिखा है, जो सही जान पड़ता है। दोनों स्थानों पर ध्रुवपद के संकेत किए गए हैं, किन्तु जिस प्रकार आचार्य विनयमोहन शर्मा ने राग और ताल का निर्देश दिया है, उस प्रकार का निर्देश प्रभाकर सदाशिव पंडित ने कहीं नहीं किया है। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा अन्तर दोनों पाठों में यह दिखाई देता है कि, एक कविता की दो पंक्तियाँ जो आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दिए गए पाठ में हैं, वह प्रभाकर सदाशिव पंडित जी के पाठ में नहीं है। वह कविता इस प्रकार है -

“राम न जाने नर तो क्या जी ॥धृ॥
 धन दौलत सब माल खजीना ।
 और मुलुख सर किया तो क्या जी ॥1॥
 गोकुल मथुरा मधुवन द्वारका ।
 और अयोध्या कर आया तो क्या जी ॥2॥
 गंगा गोमति रेवा तापी ।
 और बनारस न्हाया तो क्या जी ॥3॥
 दर्वेश शवडा जंगम जोगी ।
 और कानफड़ी हुआ तो क्या जी ॥4॥
 आत्म ज्ञान की खबर न जाने ।
 और ध्यानन बक हुआ तो क्या जी ॥5॥
 वेद पुरान की चर्चा घनी है ।
 और शास्तर पढ़ आया तो क्या जी ॥6॥
 रामदास प्रभु, आत्म रघूविर ।
 इस नयन नहिं छाया तो क्या जी ॥7॥”²³

इस कविता में कई बदलावों के बाद प्रभाकर सदाशिव पंडित ने अपने संग्रह में शामिल किया है। आरंभ में देखा जाए तो ‘खजीना’ के स्थान पर ‘खजाना’, ‘क्या जी’ के स्थान पर ‘क्यां जी’, ‘है’ के स्थान पर ‘हय’ आदि कुछ पाठान्तर दिखाई देते हैं। पहले बन्द में ध्रुवपद की पहली और दूसरी पंक्ति यथास्थान है, किन्तु तीसरी पंक्ति के स्थान पर तीसरे बन्द की दूसरी पंक्ति रख दी गई है और पहले बन्द की दूसरी तथा तीसरे बन्द की पहली पंक्ति पूरे पाठ से गायब है। इसके किसी भी कारण का अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता है, न इसकी आवश्यकता है।

इस प्रकार हमारे पास समर्थ रामदास की आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा सम्पादित पाँच और प्रभाकर सदाशिव पंडित द्वारा सम्पादित दस कविताएँ हैं। जिनमें से तीन कविताएँ समान हैं। इसके

अतिरिक्त आचार्य शर्मा के संग्रह की दो ऐसी कविताएँ हैं, जो सदाशिव पंडित के संग्रह में नहीं हैं। अर्थात् हमारे पास रामदास की नौ कविताएँ हैं।

हमारी जानकारी में समर्थ रामदास का इसके अतिरिक्त और कोई पद प्राप्त नहीं हुआ है। प्रभाकर सदाशिव पंडित ने इस सन्दर्भ में लिखा है - “समर्थाचा गाथा’ नामक ग्रंथ में रामदासजी द्वारा रचित 78 हिन्दी पदों का समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त अशोक कामत एवं प्रो.भगत द्वारा सफल सम्पादन के कारण हिन्दी जगत को सन्त रामदास के हृदय की विशालता का परिचय प्राप्त हुआ है। मुसलमानों से घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण अरबी-फारसी शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। हिन्दी और मराठी दोनों प्रकार की रचनाओं में विचार-सूत्र एक ही है।”²⁴ कई प्रयासों के बावजूद हमें यह उल्लेखित संग्रह नहीं मिला पाया, इस कारण यहाँ आचार्य शर्मा और प्रभाकर सदाशिव पंडित द्वारा दिये गए पाठों को ही अध्ययन का आधार बनाया जा रहा है।

4.1.10 बहेणाबाई

बहेणाबाई की हिन्दी या हिन्दुस्तानी कविताओं की कोई पाठ परम्परा निर्मित नहीं हो पायी है। कम-से-कम उनकी हिन्दी कविताएँ वारकरी या किसी भी सम्प्रदायगत पाठ से बच जाने के कारण उनका गैर-मराठी भाषा में होना स्वीकार किया जा सकता है। साथी ही मराठी आलोचना ने इसे किसी विशेष टिप्पणी से नहीं नवाज़ा है। बहेणाबाई की सभी कविताओं का पाठशुद्ध सम्पादन कर, व्याख्या करने का प्रयास सौ.शालिनी जावडेकर ने किया है। शालिनी जी द्वारा सम्पादित ग्रंथावली का प्रकाशन सन 1979 ई. में हुआ था। इससे पूर्व सन 1957 में केवल हिन्दी रचनाओं को सम्पादित करने का प्रयास विनयमोहन शर्मा कर चुके थे।

अपनी व्याख्या-विश्लेषण में आचार्य शर्मा ने बहेणाबाई की दो ही प्रकार की रचनाओं का उल्लेख किया है। उनके द्वारा परिशिष्ट में दी गई रचनाएँ भी बहेणाबाई की सम्पूर्ण रचनाएँ नहीं हैं। संभवतः इस समय तक बहेणाबाई की उतनी ही रचनाएँ प्राप्त रही होंगी, जितनी उन्होंने संकलित की हैं। उन्होंने अपने स्रोत का भी कहीं उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने अपने विवेचन में बहेणाबाई की हिन्दी रचनात्मकता को गौलण (गौळण) तक ही सीमित करते हुए, उनकी छवि मात्र एक गौळण लेखिका के रूप में प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है - “इनकी कृष्ण सम्बन्धी रचनाएँ अधिक प्राप्त हैं, जो गौलण शीर्षक के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। गौलण (गोपी) का मन कृष्ण से मिलने के लिए आतुर होता है। वह सब कुछ भूलकर संकेत स्थल पर दौड़ना चाहती है और अपने अराध्य प्रियतम कृष्ण के साथ एक प्रकार हो जाना चाहती है।”²⁵ इसके पश्चात उन्होंने यह कविता उद्धृत की है -

“जमुना के तिर धेनु चरावत है गोपाल री।

गीत प्रबंध हास्य विनोद नाचत है श्रीहरी।

धर कानों में कुंडल लाल, सिर पर मोरपिखा नंदलाल

अबीर गुलाल सबके माला, हार सुवास पिन्हाये।

जाइ जुई चम्पक कोमल चंदन चोबा लाए

छंद धीमा धीमा सुनावत है हरि, बंध गयो मेरो प्रान

बहिणी कह सो भूल गए मेरा हरि से लगा है मन ।”²⁶

आचार्य शर्मा ने बहेणाबाई की इस कविता को गौळण कहा है, किन्तु मराठी में प्रचलित अर्थ में यह गौळण नहीं है। गौळण में अनिवार्यतः गोपियों की भाव-दशाओं एवं कृष्ण के प्रति उनके प्रेम भाव का चित्रण होता है। इसके अतिरिक्त गौळण में सौन्दर्य चित्रण गोपियों का अधिक होता है। गौळण की परम्परा ने आगे चलकर मराठी भक्ति आन्दोलन का रूख रीतिवाद की तरफ़ मोड़ दिया। यहाँ धेनु चरानेवाले, गीत-प्रबंध-हास्य करनेवाले हरि की चेष्टाओं का चित्रण अधिक है। गौळण का सम्बन्ध प्रेमी कृष्ण से है, जबकि मराठी भक्ति काव्य में प्रेमी कृष्ण का चित्रण न के बराबर हुआ है। वहाँ बालकृष्ण एवं दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते एवं कर चुके कृष्ण को अधिक काव्य का विषय बनाया गया है। यही कारण है कि मराठी भक्ति काव्य में राधा की उपस्थिति विरल है। बाद के समय में जब लावण्यवती कथाओं का प्रचलन बढ़ा तो, गोपियों के माध्यम से सौन्दर्य एवं रसीले गीत गाए गए। जिसमें गौळण एवं लावणी प्रमुख हैं। रूढ़ अर्थ में, गौळण में प्रमुखतः गोपियाँ मथुरा के बाज़ार में दही बेचने जाती हैं और युवक कृष्ण उनकी राह रोककर उन्हें सताते हैं और इस पर वे अपनी भावदशा एवं प्रेम से उन्हें रिझाने का प्रयास करती हैं। यह मराठी भक्ति काव्य की सौन्दर्यवादी एवं कलावादी परिणति है। बहेणाबाई की इस कविता में गौळण की प्रवृत्तियाँ ढूँढी तो जा सकती हैं, किन्तु यह पूर्णरूपेण गौळण नहीं है। जैसे हिन्दी भक्ति आन्दोलन में कृष्ण काव्य में सौन्दर्य का चित्रण तो देखा जा सकता है किन्तु उसे ठीक वही काव्य नहीं कहा जा सकता है, जो रीतिकाल में कृष्ण-गोपियों की कथा का आलंबन बनाकर लिखा गया है। यही बात बहेणाबाई की इस कविता के सन्दर्भ में कही जा सकती है।

इस कविता को आचार्य विनमोहन शर्मा ने बहेणाबाई की अन्य कविताओं के साथ संग्रहित किया है, किन्तु इस कविता का पाठ वहाँ इतना बदला हुआ है कि पता ही नहीं चलता है कि दोनों कविताएँ एक ही हैं। परिशिष्ट में दी गई कविता को ऊपरोद्धृत कविता से तुलना की जाए तो, उसमें कई पाठभेद दिखाई देते हैं। प्रस्तुत है वह कविता -

“जमुना के तट धेनु चरावत
गावत है गोपाल री
गीत प्रबंध हास्य विनोद
नाचत है श्री हरी ॥1॥
मैं येरी देखत मय नंदलाल कांसे पीत वसन है झलाल
कानों में कुंडल देती ढाल
सिर पर मोर पिखा मोर दिखा नंदलाल ॥2॥
अबीर गुलाल सबके माथा
हार सुवास पिनाये
जाई जुई चंपन कोमल
चंदन चंपक लाये
छंद धीमा धीमा सुनावत है
हरि बंध गयो मेरो प्रान
बहिना कहे सब भूल गये

मेरा हरी सु लगा है मन ॥”²⁷

दोनों कविताओं में अन्तर यही है कि दोनों को अपनी सुविधा के अनुसार अपनी स्थापना को स्थापित करने के लिए उसे मोड़-तोड़कर प्रस्तुत किया गया है। इस बात का पुस्तक में कहीं भी उल्लेख नहीं है कि यह दोनों भिन्न कविताएँ हैं अथवा एक ही हैं। इसे पाठ भेद नहीं, अपितु अपनी सुविधानुसार पाठान्तरण कहते हैं। कविता की कई पंक्तियों को गायब ही कर दिया गया है। अस्तु इस कविता के पाठ भेद पर चर्चा करने के लिए, इस कविता का शालिनी जावडेकर द्वारा प्रस्तुत पाठ भी देख लेना अनिवार्य है। शालिनी जावडेकर ने यह कविता इस प्रकार दी है -

“जमुनाके तट धेनु चरावत । गावत है गोवाल री ।
गीत प्रबंध हास्य विनोद । नाचत है श्रीहरि ॥1॥
माय री, देखत मैं नंदलाल । कासे पीत बसन है झलाल ।
कानों में कुंडल देती ढाल । सिरपर मोरपिसा चंदलाल ॥2॥
अबीर गुलाल सबके माथा । हार सुवास पिनाये ।
जाई जुई चंपति कोमल । चंदन चंपक लाये ॥3॥
छंद धीमा धीमा सुनावत है । हरि बंध गयो मेरे प्राण ।
बहेणि कहे सब भूल गये । मेरा हरिसुं लगा है मन ॥4॥”²⁸

शालिनी जावडेकर द्वारा किए गए कुछ बदलाव कविता को दुर्बोध बना देते हैं। जैसे शर्मा जी ने जहाँ ‘गोपाल’ लिखा है वहीं उन्होंने ‘गोवाल’। तो कहीं पाठ को जस-का-तस स्वीकार करने से भी यह दिक्कत आयी है। उदा. ‘गोवाल री’ के स्थान पर ‘गोवालरी’ लिखा है। ‘मैं येरी देखत नंदलाल’ के स्थान पर ‘माय री देखत मैं नंदलाल’ के कारण दोनों भिन्न पाठ होने का भ्रम निर्माण होता है। कहीं-कहीं तो आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पाठ में भी गलतियाँ दिखाई देने लगती हैं, एक ही पंक्ति में कई शब्दों का अकारण ही पुनः पुनः उपयोग होने लगता है। दोनों पाठों को देखने के पश्चात कई स्थानों पर बिगूचन होने लगता है कि इनमें से किस पाठ को प्रामाणिक माना जाए। जैसे, जिस स्थान पर शर्मा जी ने ‘मेरो’ का प्रयोग किया है वहीं जावडेकर ने ‘मेरे’ रखा है। ‘बहिना’ की जगह ‘बहेणि’ करना शालिनी जावडेकर का अपना दृष्टिभेद है, जिसकी चर्चा हो चुकी है।

इसी क्रम में एक आवश्यक तथ्य की ओर ध्यान दिलाना भी आवश्यक है, जिससे पता चलता है कि आचार्य शर्मा और जावडेकर दोनों सम्पादकों के स्रोतों में समानता है। शालिनी जावडेकर ने अपने संग्रह में प्रत्येक कविता के पाठ-भेदों की ओर संकेत करते हुए पाद-टिप्पणियाँ दी हैं। उन्होंने पाठ-भेद को दर्शाया और उसके स्रोतों का भी उल्लेख किया है। उनका पहला स्रोत है शिऊर के हस्तलिखित, जिससे उन्हें 15 हिन्दी कविताएँ प्राप्त हुईं। जिससे उन्होंने ‘संत बहेणाबाईचा गाथा’ में पद क्रमांक 390 से 404 तक ‘हिंदी पदे’ शीर्षक के अन्तर्गत रखी हैं। उनकी हिन्दी कविताओं का दूसरा स्रोत है ‘कोल्हारकर प्रत’। उन्होंने ‘कोल्हारकर प्रतीत शिऊर प्रतीपेक्षा जास्त असलेले अभंग’ (कोल्हारकर प्रति में शिऊर प्रति से अधिक अभंग) शीर्षक के अन्तर्गत स्थान दिया है। इस प्रति से उन्हें नौ हिन्दी कविताएँ प्राप्त हुई हैं। इन पदों का क्रम है - 608, 611, 630, 631, 639, 640, 646, 647 और 665। कविताओं को संग्रह में संकलित करते हुए पाठ-भेद दिखाने के लिए पाद-टिप्पणी में इन स्रोतों का उल्लेख क्रमशः शि (शिऊर की हस्तलिपियाँ) और को (कोल्हारकर प्रत) के संक्षिप्त रूपों में किया गया है। संकलन के

अन्त में भी दो बार पाठ-भेद पर अतिरिक्त चर्चा की गई है, किन्तु वहाँ किसी भी हिन्दी कविता के पाठ-भेद का उल्लेख नहीं है। यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि शिऊर की प्रत शालिनी जावडेकर ने स्वयं प्राप्त की है, वहीं कोल्हारकर प्रत उसे नाम दिया गया है, जो विश्वनाथ नारायणराव कोल्हारकर द्वारा सम्पादित होकर पहली बार सन 1926 में प्रकाशित हो चुकी थी। जिसकी द्वितीय आवृत्ति सन 1956 में पुनः पुणे की चित्रशाळा प्रेस से प्रकाशित हुई थी। इसमें बहेणाबाई के नौ हिन्दी पदों का उल्लेख हमने किया है। इन पदों को शालिनी जी ने परिशिष्ट पहले के रूप में सम्पादित किया है। इस प्रकार दोनों स्रोतों से मिलाकर शालिनी जी ने 24 कविताएँ अपने संकलन में सम्पादित की हैं।

आचार्य विनयमोहन शर्मा के संकलन में बहेणाबाई के कुल 20 पद हैं। इन पदों में क्रमांक 18 पद क्रमांक 05 की पुनरावृत्ति है। शालिनी जावडेकर ने शिऊर की हस्तलिखित प्रत से जिस क्रम में पदों को संग्रहित किया है, ठीक उसकी क्रम में आचार्य शर्मा ने भी उन्हीं 14 पदों का संग्रह पहले ही कर लिया था। पहले से सन 1926 में ही प्रकाशित और आचार्य शर्मा के संकलन के ठीक एक वर्ष पहले पुनः प्रकाशित कोल्हारकर के संकलन की सारी कविताएँ आचार्य शर्मा के संकलन में नहीं हैं। उन्होंने पद क्रमांक 608, 611, 639 और 640 का ही समावेश अपने संकलन में किया है। जिन पदों का संकलन उन्होंने नहीं किया है, प्रायः वह सारे पद बहेणाबाई की उस छवि से बिल्कुल मेल नहीं खाते हैं, जिसका उल्लेख आचार्य शर्मा ने किया है। यह पद पाखण्ड खण्डन करते हैं। जिस भाषा की स्त्री से अपेक्षा की जाती है, उन सीमाओं को कई बार लाँघ जाते हैं। संभवतः इस कारण जानबूझकर संकलन में शामिल नहीं किया गया होगा। अन्यथा क्या कारण था कि उसी संग्रह के चार पदों को अपना कर भी अन्य पदों को छोड़ दिया गया? इन पदों पर आगे चर्चा होनी है। इस प्रकार आचार्य विनयमोहन शर्मा ने बहेणाबाई की 19 कविताओं को अपने संकलन में सम्मिलित किया। इसमें उनकी सम्पादकीय दृष्टि और समन्वयवादी दृष्टि भी काम करती दिखाई देती है, जिससे सहमत-असहमत हुआ जा सकता है। वह अवश्य महत्वपूर्ण और समय की माँग के अनुरूप है।

दोनों सम्पादकों के स्रोत एक होते हुए भी लक्ष्य पाठक भिन्न होने के कारण दोनों के पाठों में अन्तर है। ऊपर जो पद उद्धृत किया गया है, उसकी पाद टिप्पणियों में शालिनी जी ने पाठ-भेद दिया है उससे बात और अधिक स्पष्ट होगी। उन्होंने इस पद की पाद-टिप्पणियों में दोनों स्रोतों की टिप्पणियाँ दी हैं। वह इस प्रकार हैं - गोवाल री गोवालरी (को), माय री मैं येरी (को), चंपति चंपन (को), भूल बिसरी (शि), हरिसुं हरि से (को)। आचार्य शर्मा ने पाठ सम्पादन करते हुए कविताओं को और अधिक सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास अवश्य किया है। उन्होंने बदलाव करने अतिरिक्त, कुछ जोड़ा भी है और कुछ जस-का-तस भी रहने दिया है। उन्होंने जो बदलाव किए हैं, वह इस प्रकार हैं - गोवाल री गोपाल री, माय री मैं येरी, कासे कांसे, सिर पर मोरपिसा चंदलाल सिर पर-मोर पिखा मोर दिखा नंदलाल, मेरे-मेरो, प्राण-प्राण। इसके अलावा दोनों पाठों में कोई भेद नहीं है। इनमें से कुछ बदलाव करने पर कविता पर कोई असर नहीं पड़ता वहीं कुछेक बदलावों से कविता पर कई प्रकार के प्रभाव देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'सिर पर मोर पिसा चंदलाल का सिर पर मोर पिखा मोर दिखा नंदलाल' में जहाँ कई शब्दों की पुनरावृत्ति हुई है, जो किसी भी प्रति में होने का उल्लेख शालिनी जावडेकर ने नहीं किया है, वहीं 'चंदलाला' के स्थान पर नंदलाल अधिक तर्कयुक्त लगता है।

इस प्रकार हमने पाया है कि शालिनी जावडेकर द्वारा संकलित-सम्पादित पाठ में एक तो बहेणाबाई की कविताएँ अधिक मात्रा में हैं। इस संकलन के साथ यह दूसरी सबसे महत्वपूर्ण बात है कि इसमें अपने से पूर्व सारे पाठों के भेद स्पष्ट उल्लेखित किए जाने के कारण पारदर्शिता आयी है। इन कारणों से हम अपने अध्ययन के लिए ‘संत बहेणाबाईचा गाथा’ में सम्पादित कविताओं को अपने अध्ययन का आधार बनाएँगे।

4.2 मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य: वस्तुगत अध्ययन

प्रस्तावना

सम्पूर्ण पृथ्वी एवं उस पर विचरण करनेवाले विचार और भाव विषय हैं तथा कविता वस्तु है। इस अर्थ में कवि का समाज, उसका दृष्टिकोण, उसके विचार सब विषय हैं और जो पाठक-श्रोता के समक्ष प्रस्तुत पाठ वस्तु। मराठी सन्त-भक्त कवियों की कविताओं में अभिव्यक्त वस्तु का विश्लेषण यहाँ अपेक्षित है। इस काव्य-वस्तु विश्लेषण के माध्यम से हम तत्कालीन इतिहास, समाज एवं कवि तक पहुँचने का प्रयास करेंगे। इस क्रम में इस बात का बारबार ध्यान रखा जाएगा कि कविता पर सामाजिकता का अतिरिक्त भार न डालते हुए सामाजिकता उसमें से खोज निकाली जाएगी, कविता पर आरोपित नहीं की जाएगी।

4.2.1 चक्रधर

श्रीमान शं.गो.तुळपुळे ने जो चक्रधर की चौपदी दी है, वह इस प्रकार है -

“मूळस्थानीं भीड बांधों हो जोइ : जोइ ना काळ कळाइ :
 गुरुवचनें वोडियाणां दृढ बांधों : जेवि ना चंचळ होइ : ॥१॥
 गोरक्षी हों : सुनि बंधि : स्थिरु होइ : जेणें तुम्ही जायां :
 सोपरि मारो : बैरी आनु : नाहीं कोइ ॥१॥
 पांचै पंचायन : पांचै जन हो : धावति आन आन स्थानीं :
 उन्मनीकारणें निजमुनि लीन : ना ते मारियले निजस्थानीं ॥२॥
 पवन पूरो : मन स्थिर करो : चंद्रा मिळावो भानु :
 आयागमन यें दुष (ख) निवारों हो : बूधि राखो आपणा ॥३॥
 भाटीं (पाठ जाति) जातां निवारो हो : भीडें वायु न उजाइ :
 अलख निरंजनीं लो कर हो : भावा ना भाव होइ ॥४॥”²⁹

इस कविता के साथ में एक रोचक बात यह भी जुड़ी हुई है कि इसके सन्दर्भ में कहा जाता है कि यह पंक्तियाँ उन्होंने गायी थी, न कि लिखी या कही थी। महानुभाव सम्प्रदाय के सन्दर्भ में इस बात का सविस्तार उल्लेख हो चुका है कि किस प्रकार चक्रधर ने वहाँ पहले गायन पर प्रतिबंध लगा दिया था और फिर दामोदर पण्डित के लिए उसे उठा किया था।

4.2.2 महदंबा

महदंबा की जो एकमात्र कविता कही जाती है, वह इस प्रकार है -

“नगर द्वार हो भिच्छा करो हो, बापुरे मोरी अवस्था लो ।

जिहाँ जाबो तिहाँ आप सरिसा कोउ न करी मोरी चिन्ता लो ।

हाट चौहाटां पड रहूं हो मांग पंच घर भिच्छा ॥

बापुड लोक मोरी आवस्था कोउ न करी मोरी चिन्ता लो ।”³⁰

अर्थात् - ‘नगर द्वार पर भिक्षा माँगती हूँ, हे पितासम आप मेरी अवस्था की ओर ध्यान दीजिए । जहाँ जाती हूँ वहाँ आपके भाँति मेरी चिन्ता कोई नहीं करता है । भिक्षा माँगकर हाट-चौहाटें पर पड़ी रहूँ । कोई मेरी चिन्ता नहीं करता, आप तो मेरी चिन्ता कीजिए ।’

ऊपर जो शब्दभेद की चर्चा की गई है, उसके अनुसार केवल पद की तीसरी पंक्ति में अर्थभेदन निर्माण होता है, जिससे पद के भावार्थ में अन्तर पड़ जाता है । ‘मांग’ के स्थान पर ‘मांगू’ तथा ‘चौहाटां’ के स्थान पर ‘चौकटां’ शब्द देशपांडे-तुळपुळे द्वारा प्रस्तुत कविता में आया है । जिससे सम्पूर्ण पद का स्वर ही बदल गया है । ‘चौकटां’ का अर्थ चौखट भी होता है, किन्तु ‘चौहाटां’ कहने से चौराहे का भाव आता है । ‘मांग’ अपनी स्थिति को बताता है तथा ‘मांगू’ अपूर्ण भूतकालीन क्रिया होने के कारण, ऐसी क्रिया की जाने की प्रतिज्ञा का भाव दर्शाती है । इस कारण ‘मांगू’ इस पद में होना चाहिए, क्योंकि पद अपनी स्थिति बताने के लिए नहीं लिखा गया है, बल्कि गुरु से यह विनती की जा रही है कि ‘बापुरे मोरी अवस्था लो’ ‘मोरी चिन्ता लो’ । इसी कारण तीसरी पंक्ति गुरु से यह कह रही है कि यदि आप मेरी चिन्ता करते हैं तो मैं पंचघर भिक्षा माँगकर हाट-चौराहे पर पड़ी रहूँगी या हम चौखट भी कह सकते हैं, जिससे हमारे द्वारा कविता से अपेक्षित अर्थ में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है । इस दृष्टि से देखा जाए तो आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत पद की की गई व्याख्या अपूर्ण सिद्ध होती है । उनके अनुसार-“मार्ग के आचार्य के अनुसार साधिका भिक्षा माँगकर चौहाटे पर पड़ी रहती है । उसके गुरुदेव ही उसकी चिन्ता करते हैं । वह उन्हीं का आह्वान करती है । महदयिसा की गुरु भक्ति प्रसिद्ध है ।”³¹

शर्मा जी ने यदि ‘मांग’ में ‘ऊ’ की मात्रा पर ध्यान भी नहीं, किन्तु उनका ध्यान पद की तीन पंक्तियों में आए ‘लो’ की तरफ तो जाना चाहिए था । यह पूरी कविता में टेक या लय को बनाने के लिए भी इस्तेमाल हुआ है, किन्तु इससे कविता के लहजे का पता चलता है । इसका उपयोग तीनों जगह लेने या वहन करने अर्थ में हुआ है । इन पदों का अर्थ जानते ही कविता का पूर्ण अर्थ उस भँवरे की तरह खुलकर सामने आता है, जो पूर्ण रात्रि कमल दलों में बिताकर, अपनी करनी कर गुजर चुका है । ठीक उसी भँवरे की तरह शब्द अपने अर्थों को खो देते हैं और छिपाए अर्थों के खुलने के बाद कविता का कथ्य अपने-आप खुलता जाता है । इस प्रकार यह कविता गुरु से निवेदन कर रही है कि ‘देखो मैं अपने पंथ के नियमों के अनुसार भिक्षा ग्रहण कर रही हूँ, हाट चौहाटे पर पड़ी रहती हूँ, जहाँ बहुत से लोग हैं, लेकिन मेरी कोई चिन्ता नहीं करता, जैसाकि आप किया करते थे, हे गुरु तुम मेरी चिन्ताओं का वहन करो, मेरी अवस्था को देखो ।’

इस अर्थ के आलोक में कहा जा सकता है कि यह कविता चक्रधर को लक्ष्य करके लिखी गई है । ऐसा लगता है चक्रधर को महदंबा एक शिष्य के रूप में यह कथन कह रही है । इस कविता की रचना संभवतः चक्रधर के चले जाने के पश्चात् हुई होगी । क्योंकि इस कविता का लहज़ा कहीं-न-कहीं शिकायती भी है । गुरु चक्रधर के चले जाने के पश्चात् महदंबा गोविन्दप्रभु के सान्निध्य में रहने लगी थी । ऐसे में उसे अपने गुरु श्रीचक्रधर की स्वाभाविक रूप से याद आई होगी और उसने यह चौपदी गाई होगी । उसने कहा, ‘जैसा आपने निर्धारित किया था, वैसे ही मैं नगर में भिक्षा माँगती हूँ, हाट-चौराहे पर पड़ी रहती हूँ, आपके चले जाने के पश्चात् यहाँ लोग तो बहुत हैं, किन्तु जहाँ भी जाती हूँ वहाँ आप

जैसी कोई भी मेरी चिन्ता नहीं करता, इसीलिए हे गुरु मेरी अवस्था की सुध लो और मेरी चिन्ताओं का वहन करो।' इसी स्तर पर आकर विनयमोहन शर्मा जी की बात सही लगती है कि महदंबा की कविता में "करुण भाव की छाया है।"³²

4.2.3 दामोदर पण्डित

दामोदर पण्डित की कविताओं पर विचार करने से पहले उनके जीवन की दो घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। इन दोनों घटनाओं ने समान रूप से उनकी कविता को न केवल प्रभावित किया, बल्कि इन दो घटनाओं ने उनके कविताओं के वस्तु और रूप का निर्धारण किया है।

पहली घटना दामोदर के पूर्व-जीवन से जुड़ी हुई है, जिसके अनुसार वे एक नाथपंथी थे और बाद के समय में उन्होंने महानुभाव पंथ में प्रवेश किया। इस कारण नाथ पंथ के सामान्य सिद्धान्तों एवं व्यवहारों से उनका परिचित होना स्वाभाविक है। इसी कारण आचार्य नागदेव ने उन्हें नाथपंथियों के आचार-विचारों का खंडन अपनी कविताओं के माध्यम से करने का आदेश दिया था। श्रीराम शर्मा के अनुसार, "महानुभाव पंथ और नाथ पंथ में बहुत समय तक प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। यह प्रतिद्वन्द्विता ज्ञानेश्वर के समय भी कुछ समय तक विद्यमान थी। एक व्यक्ति पहले महानुभाव पंथ का अनुयायी था और फिर नाथपंथी बन जाता था। कभी इसके विपरित भी होता था। दामोदर पण्डित पहले नाथपंथी थे, फिर महानुभाव बने।"³³ नाथ सम्प्रदाय की ऐसी किसी भी प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख न तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है और न ही प्रो. रामचन्द्र ढेरे ने अपनी पुस्तक में किया है। सामान्य तौर पर भी पंथों में एक-दूसरे के सिद्धान्तों के खंडन-मंडन की प्रवृत्ति भारतीय इतिहास में देखी जा सकती है। प्रतिद्वन्द्विता के चरम रूप की कल्पना करना व्यर्थ है। इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि दामोदर पण्डित की हिन्दी कविताओं से ऐसा कहीं भी जान नहीं पड़ता कि वे नाथ सम्प्रदाय के विशेषज्ञ रहे होंगे। एक-दूसरे के पंथीय सिद्धान्तों का सामान्य ज्ञान होना उसी प्रकार संभव है। तुळपुळे³⁴ ने भी उनके नाथ पंथ से जुड़ने की मात्र संभावना जताई है।

दामोदर के जीवन की दूसरी घटना उनके वैयक्तिक जीवन की है, जो उनकी रचनात्मकता से जुड़ती है, जिसका उल्लेख प्रायः सभी विद्वानों ने किया है। वि.ल. भावे ने इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है, "दामोदर पण्डित जैसा विद्वान था उसी स्तर का गायक भी था। इसी कारण हर समय वह ईश्वर के गीत प्रेमपूर्ण स्वर में गाया करता था। किन्तु आचार्य ने गीत गायन के लिए मनाही की थी और तब से खुलेआम गाना उसने बंद कर दिया था। किन्तु बचपन से गाने का अभ्यास होने के कारण वह उससे छूटता नहीं था। इसी प्रकार एक दिन वह मधुर गीत अपने मधुर कंठ से गा रहा था तभी आचार्य वहाँ आए और उसके पीछे चुपचाप खड़े रहे। उसका प्रेमपूर्ण गीत सुनकर आचार्य की तंत्रा लग गई और प्रसन्न होकर उनके आँसू बहने लगे। इसके बाद आगे आकर उन्होंने दामोदर पण्डित की सराहना की और उसकी मनाही रद्द करते हुए उसे इसी प्रकार ईश्वर गीत गाते रहने की आज्ञा दी।"³⁵ उनकी कविताओं से यह सिद्ध होता है कि दामोदर पण्डित गायक थे।

यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता है कि दामोदर पण्डित पहले नाथ पंथी रहे होंगे किन्तु यह तो कहा जा सकता है कि नागदेवाचार्य के कहने पर उन्होंने नाथ पंथियों से सैद्धान्तिक स्तर पर लड़ने के लिए हिन्दी में काव्य रचना की। अपने पंथ की पैरवी करने के लिए उन्होंने नाथों के सिद्धान्त जान लिए होंगे। महानुभाव पंथ का आरंभ से ही लोकभाषा की ओर रुझान सकारात्मक रहा है। ध्यातव्य है कि बाद के समय में अपने मूल्यों और सिद्धान्तों को गुप्त रखने के उद्देश्य से जिस सम्प्रदाय के लोगों ने गुप्त लिपियाँ ईजाद की, वही सम्प्रदाय अपने आरंभिक चरण में जनता तक अपनी बात अधिक-से-अधिक पहुँचाने के लिए लोकभाषा का प्रयोग करना अनिवार्य मानता था, चाहे वह लोक भाषा रचनाकार की मातृभाषा अतिरिक्त ही क्यों न हो। यह भी एक कारण है कि बाद के समय में महानुभाव

सम्प्रदाय के पास अधिक सामाजिकता होने के बावजूद भी वारकरी सम्प्रदाय की तरह अधिक प्रसिद्ध न हुआ। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि अपने अधिक अन्तर्वेशी एवं जनतांत्रिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार करने की ईच्छा के चरण में महानुभाव सम्प्रदाय में जन्मना ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी, जबकि गुप्त रखने की ईच्छा रखनेवाले परवर्ती महानुभाव सम्प्रदाय में सभी जाति-वर्णों के लोगों की पर्याप्त संख्या थी। इतिहास के इस अपेक्षाकृत विपरित समय को वर्तमान विमर्शवादी समय में मुक्तिबोध की मराठी भक्ति आन्दोलन सम्बन्धी स्थापनाओं के आलोक में देखना बड़ा दिलचस्प और धक्कादायक है।

दामोदर एक मिशन के तहत सैद्धान्तिक पाखण्ड-खण्डन को केन्द्र में रखते हुए भी उनकी कविताएँ किसी से संवाद करने की मुद्रा धारण किए हुए हैं। ऐसी कविताओं का प्रायः एकतर्फी हो जाने का खतरा रहता है, जिस प्रक्रिया में वे मात्र नारे में बदल जाती हैं। दामोदर की प्रायः प्रत्येक कविता क्रोध में 'किसी' को कुछ 'बुझाने' का प्रयास कर रही है, समझाने का प्रयास कर रही है। यहाँ कविता का लहज़ा अपने पाठक या श्रोता को वाद-विवाद-संवाद के लिए आमंत्रित करता हुआ है। दामोदर का यह खुला आमंत्रण बुद्धिप्रामाण्यवाद पर आधारित नहीं कहा जा सकता, जो वाद-विवाद-संवाद की अनिवार्य शर्त है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि वे मध्यकाल के आरंभिक दौर में ऐसा कर रहे थे। बुद्धि को प्रमाण मानकर वाद-विवाद-संवाद करना, जिसका मुख अतीत की ओर हो, 19 वीं शती के आस-पास के नवजागरण की विशेषता थी। भक्ति आन्दोलन भी अपने किस्म का नवजागरण था, जिसने आध्यात्मिक चोला पहन रखा था। 19 शती का नवजागरण उच्च वर्गीय सुधारों से जुड़ा हुआ था, वहीं 20 शती में आकर वह अधिक व्यापक सामाजिक मूल्यों को जन्म देता है। किन्तु आरंभ में भारतीय नवजागरण उच्च वर्गीय सुधारों से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने में लगा था, वहीं मध्यकालीन नवजागरण धार्मिक-आध्यात्मिक प्रश्नों के माध्यम से सामाजिक प्रश्नों से जुड़ रहा था। जैसे की 19 वीं सदी के नवजागरण में सती प्रथा विरोध, बाल-विवाह विरोध, विधवा विवाह समर्थन, स्त्री शिक्षा आदि केवल उच्चवर्णों-वर्गों से संबंधित मुद्दों को केन्द्र में रखा गया था, उसी प्रकार दामोदर जैसे मध्यकालीन कवि मात्र आध्यात्मिक-धार्मिक सैद्धान्तिक बहसों को रचनात्मक केन्द्र में रखते हैं। यही कारण है कि दामोदर की कविताओं में सामाजिक नहीं अपितु भक्ति एवं धर्म सम्बन्धी सैद्धान्तिक रूढ़ियों का खण्डन-मण्डन मिलता है। वे धर्म या धार्मिक भावनाओं के व्यापारियों के सख्त विरोधी हैं। साथ ही वे मात्र ज्ञान साधना के भी विरोधी हैं। उन्होंने लिखा है –

“सारमसार बुझती हे बिरला, तत्व ज्ञान जीन्हं पाया।

कलयुग माहे बदंती ग्यानी, सब लोकु धंदे लगाया ॥5॥”³⁶

इसी प्रकार ज्ञान को निस्सार कहते हुए उन्होंने ज्ञान में उस सम्पूर्ण को पूर्ण रूप से व्याप्त नहीं माना है। इसी कारण उसके सार को बिरला समझने की बात भी उनके एक पद में आयी है। एक अन्य पद में उन्होंने लिखा है –

“सुन हो बाबा, सुन हो पंडित सुन बैरागी भाइ।

हमारी साखी बीरला सुने, बूझति बीरला कोइ ॥1॥”³⁷

यहाँ 'साखी' का प्रयोग 'साक्षी' के रूप में ही हुआ है। अपनी कविताओं में वे साक्ष्य प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे थे। यह भी जान लेना अनिवार्य है कि दामोदर द्वारा किया गया खण्डन-मण्डन मात्र नाथ पंथ से सम्बन्धित नहीं है, अपितु अन्य कई साधना-पद्धतियों, रीति-रिवाजों, बाह्याडंबरों की निस्सारता का सैद्धान्तिक बखान है। इसी क्रम में उन्होंने अपनी कविताओं में विभिन्न अस्मिताओं की चर्चा भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप से की है। यह सही है कि इनकी कविताओं में अधिकतर नाथियों की आलोचना की गई है, किन्तु इनकी कविताओं में मात्र नाथ पंथियों की आलोचना ही नहीं हुई। उसी प्रकार कई अस्मिताओं का भी उल्लेख मिलता है, जिन्हें एक ही माना जाता रहा है। नाथपंथी, जोगी,

बैरागी, योगी आदि को एक ही मानने का प्रचलन है, किन्तु दामोदर ने इनकी भिन्नताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

“नवनाथ कहे सो नाथपंथी, जुगुत कहे सो जो जोगी ।

विश्व बुझे सो कहि बैरागी, ग्यान बुझे सो योगी ॥1॥”³⁸

इसके अतिरिक्त उनकी कविताओं में ‘सिद्ध’ ‘पंडित’ आदि का स्वतंत्र अस्मिताओं के रूप में उल्लेख हुआ है। अर्थात् उनके समय तक इन स्वतंत्र अस्मिताओं को मान्यता प्राप्त हो गयी थी। कहीं-न-कहीं वे अपनी कविताओं में इनकी ही खिल्ली उड़ा रहे थे, उन्हें प्रश्न कर रहे थे, वाद-विवाद-संवाद स्थापित कर रहे थे। भले ही उन्होंने यह भेद आध्यात्मिक अर्थों में न स्पष्ट किया हो, किन्तु ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्मित इन अस्मिताओं ने भारतीय समाज को दूर तक प्रभावित किया है। इससे समाजिक एवं आध्यात्मिक जगत के सूक्ष्म विभाजन का पता चलता है।

उन्होंने न केवल नाथों की आलोचना की है, बल्कि तत्कालीन प्रचलित अन्य कई मतों, सिद्धान्तों की भी आलोचना की है। विचारप्रणाली के झूठे बाह्यचार, दंभ और सिद्धान्तविहीनता उनकी आलोचना की शिकार बनी है। अपने सिद्धान्तों पर दंभ करनेवालों और अपने ही पंथ को सम्पूर्ण ज्ञान का भंडार माननेवालों को वे प्रश्न करते हैं कि ‘शून्य-निरशून्य की बात तुम कहाँ करते हो, तुम तो ब्रह्म का पार तक नहीं जानते।’ ‘इस शिव-शक्ति की युक्ति से तुमने क्या पाया है।’ ‘आत्मज्ञान की बात तो बहुत से मार्गों में बताई गई है, लेकिन वह आदिनाथ का अनुभव लिए बगैर नहीं आता है, क्योंकि आत्मज्ञान तो गूँगे के सपने जैसा होता है, जिसका अनुवाद करना संभव नहीं है’ -

“मुके नि सपना दीठे अनुवाद करे कोण ।

तैसा सुन रे भया अस आतम ज्ञाना ॥1॥”³⁹

लेकिन “आतम ज्ञान की बात तो छोड़ो, तुमने तो लोभ, क्रोध आदि दुर्गुणों को तक नहीं त्यागा है... तुम तो दंभ करण हो तुम क्या सिद्धान्तों की बात करोगे।” तुम क्या निवृत्ति के मार्ग पर चलोगे क्योंकि निवृत्ति क्या है तुम जानते ही नहीं। ऐसे दांभिकों के लिए दामोदर ने कहा है -

“सटो सटो रे दंभ करण, याथे निव्रत नावे

जेता जेता दंभ करेगा, तेता बंधन पावे ॥2॥

चिथड़ा फाटा तुटा पेहरो उपरी चोर न आवे ।

येहि रहनी जे चालती, ते जंगल मध्ये सोवे ॥3॥

सटि बा झुटा बोले मिठा आशा मनसा दुइ धांधा ।

काम क्रोध जीन्हें भांजे नहीं, ते काल फाड़ फाड़ खाधा ॥4॥

ऐसे तुम हो ग्यानी बैरागी, खरग धार चलाई ।

अहंकार जीन्हें भांज्यों नहिं, पर सिद्धि कैसे पायी ॥5॥

कहे नागार्जुन तजो अभिमान, किसकी करे हम निंदा ।

पुहुपमये सेज जीस भावे, काल फाड़ फाड़ खादा ॥6॥”⁴⁰

उपर्युक्त कविता में नाथ एवं बैरागियों की आलोचना करने के बावजूद भी एक समन्वयवादी रुझान दिखाई देता है।

दामोदर पण्डित ने पंडितों से प्रश्न कर, उनके आचरण पर सवाल खड़े किए हैं। पंडितों से उन्होंने प्रश्न किया, “ऐ ! थोते पंडित तुम्हारा इन्द्र तुम्हें कितनी बार मिलने आया? बत्तीस मुख वाले ब्रह्मा को तुमने कितनी बार प्रत्यक्ष पाया? एक तो तुम मार्ग भूल गए हो और स्वयं झूठे कपटी होकर भी मुझे समझा रहे हो ! तत्व ज्ञान तो जानते नहीं और स्वयं को मिथ्या पंडित कहलवाते हो।”⁴¹ किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दामोदर पंडित प्रतिपक्ष को “सटो सटो रे दंभ करण”⁴² कहकर उसकी मात्र आलोचना कर, उससे निजाद पाते हैं। वे उसे अपने अनुसार सही मार्ग दिखाने के क्रम में

विचारधारा की विविधताओं को स्वयं स्वीकार करते हैं। दामोदर उन कवियों या विचारकों में नहीं हैं, जो अपनी विचारधारा को स्थापित करने के लिए अन्यो की विचारधारा को 'नष्ट भ्रष्ट को जीर्ण पुरातन' कहकर कोसते हैं। उन्होंने माना है कि, "अनंत पुरुष हो अनंत भाषा पुकारती नाना विचार"⁴³ की स्थिति होती है, और वह दृष्टि भेद मात्र होती है। इस वैचारिक भेद का कारण जो भी हो, अन्त में जिससे उत्पन्न हुए हैं, उसी में सभी को समाना है। इस नितांत निजी सत्य को समझाने के लिए उन्होंने अपनी कविता में कई दृष्टान्त दिए हैं। एक कविता में उन्होंने 'आदिनाथ' को 'प्रभु' कहा है, जो महानुभाव पंथ की दृष्टि में विस्तार है। महदंबा के सन्दर्भ में चर्चा करते समय बताया गया है कि महानुभाव पंथ 'पंचकृष्ण' के अतिरिक्त किसी अन्य देवता को अपनी अराधना का विषय तक नहीं बनाना उचित समझता है, उसे पानी में डूबो देते हैं। ऐसे में आदिनाथ को अपनी कविता में दामोदर ने पूर्ण सम्मान के साथ स्मरण किया है, जो उनके पंथ से परे जाकर उदार होने का प्रमाण है। दामोदर पंडित ने लिखा है -

“गयनि उत्पति गयनि लोरे, आपु तो गयनिं समु ।
आभाशु का भाशु तैसा बुझो सब माया का मरमु ॥धृ॥
तैसे रे भव बिचार रजुकेरा भुजंगु ।
गुरु पसायें बुझती जोइ, न बुझे पैहो जगु ॥1॥
सपन को आली को साचा, जेवी प्रबंधु न होइ ।
निहाळित भिंग जळ रे कदली गरभ बुझती जोइ ॥2॥
पवणु पेलितु भुमिको रजु रे, जेवि गगन चढाइ ।
नाथिली उत्पति स्थिति लया रे, जाहां का ताहां समायि ॥3॥
सार असार निर्वाळित प्रभु आदिनाथ की वाणी ।
नागदेव म्हणे हमें रंगलों, चक्र स्वामिचा चरणी ॥4॥”⁴⁴

अपनी बात रखने के क्रम में दामोदर पंडित ने कई बार सुन्दर दृष्टान्त दिए हैं, जिनमें काव्यात्मकता है। साथ ही यही दृष्टान्त उनके द्वारा किए जा रहे वाद-विवाद की धार को थोथरा कर देते हैं, किन्तु कई बार संवाद स्थापित करने में, बुझाने में अधिक मददगार साबित होते हैं। इसलिए उनकी कविताएँ बुझाने का अधिक प्रयास करती हैं। इन दृष्टान्तों में नवीनता को ढूँढने का प्रयास व्यर्थ है, अधिक-से-अधिक उन्हें दामोदर द्वारा उपयोग में लाये गए पंथीय विचारधारा के सैद्धान्तिक उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है। वे पंथीय दृष्टान्तों के संकलनकर्ता थे। काव्य में दृष्टान्तों को पिरोने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है।

दर्शन में पहले सामनेवाली विचारधारा का खण्डन किया जाता है और अपने सिद्धान्तों को या तत्संबंधी दृष्टिकोण का प्रस्तुतिकरण किया जाता है। यहाँ बुद्धि पक्ष प्रधान होता है और अनिवार्यतः अपने मत को प्राचीनता या ऐतिहासिकता का आधार प्रदान किया जाता है। कविता में आदर्श स्थिति का बखान, अँधेरे समय का वर्णन और अन्त में कवि का प्रस्ताव तथा कहीं-कहीं कवि की दृष्टि के लाभ भी दिखाए जाते हैं। यहाँ बुद्धि और भावनाओं का कनकुंडलवत् मिश्रण देखने को मिलता है। इसमें प्रत्येक अंग की कविता में प्रत्यक्ष होना अनिवार्य नहीं है। इस रूप में वह यथार्थ का अमूर्तन भी करती है। विचारधारा को अधिक से अधिक अप्रस्तुत रूप में कविता में लाने वाला कवि ही सफल कवि माना जाएगा। यहाँ अपनी विचारधारा या मत की प्राचीनता सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, किन्तु स्थापित होने की जल्दबाज़ी में कुछ कवियों ने ऐसा किया है, जिनकी कविता में कविता की अपेक्षा निबंध की विशेषताएँ अधिक दृष्टिगोचर होने लगती हैं। जहाँ बुद्धि के पीछे-पीछे हृदय होता है, सहचर नहीं। वर्तमान विमर्शवादी अधिकांश कविताओं की यही स्थिति है।

इस दृष्टिकोण से दामोदर पंडित की कविता अपना काव्यत्व दाँव पर लगाती है। कई स्थानों पर ऐसा लगता है दामोदर दूसरों से जो प्रश्न पूछ रहे हैं, उसके उत्तर स्वयं उनके पास नहीं हैं। मध्यकालीन कवियों से आत्मालोचना की उम्मीद करना बेईमानी है, किन्तु ऐसा करने का प्रयास नामदेव, कबीर, तुलसीदास आदि कवियों ने, दास्य भक्ति की आँधी में ही सही, किया है। दामोदर प्रतिपक्ष को पछाड़ने के लिए कविता लिख रहे थे, इस क्रम में वे आत्मालोचना भूल जाते हैं या आत्मालोचना से बचना उनके लिए अनिवार्य था।

एक योजना के तहत काव्य लेखन प्रतिभा के लिए दीमक की तरह होता है, जो धीरे-धीरे कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा को खा लेती है। भले ही प्रतिभा का भावयित्री रूप सृजनात्मकता के लिए अनिवार्य माना गया हो, किन्तु भावयित्री प्रतिभा के अभाव में साहित्य सृजन असंभव है। भावयित्री प्रतिभा से ही कवि संसार को, समाज को, व्यक्ति को पढ़ता-समझता-ग्रहण करता है। ऐसे में दामोदर की पछाड़वादी मिशनरी (ध्येयवादी) कविता जब अपने पंथ की विचारधारा का अनुवाद करते हुए प्रतिपक्षों की आलोचना कर रही होती है तो वह रचना के साथ ही अगली कविता को समाप्त करने का भी प्रयास कर रही होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कविता को प्रौपगेंडा का माध्यम नहीं होना चाहिए, किन्तु उसमें दो चीज़ों का होना अनिवार्य है। एक तो उसे अपेक्षित, कम-से-कम काव्यत्व की भी रक्षा करनी चाहिए। दूसरे उसका प्रौपगेंडा विचारधाराओं के लोकतंत्र की रक्षा में होना चाहिए। यदि साहित्य विशिष्ट विचारधारा को थोपने का प्रयास कर रहा है, तो वह वैचारिक लोकतंत्र की बजाए एकल विचारधारा का समर्थक बन रहा है, जो फासीवाद से कम नहीं। विचारधारा की अनिवार्य दबंगयी एकता तानाशाही को जन्म देती है। संभवतः माओ-त्से-तुंग को भी साहित्य एवं कलाओं द्वारा किया जानेवाला प्रौपगेंडा इस रूप में मान्य नहीं था। इसलिए उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था—“बैड आर्ट कैन-नॉट बी रीच।” अर्थात् कलाओं का उसके श्रोताओं तक कलाकार की भावनाओं-विचारों सहित पहुँचना आवश्यक है और वह न्यूनतम कलात्मकता से ही संभव होता है। इस अस्वादन को मुक्तिबोध ने ‘कला का तीसरा क्षण’ कहा है, और उनके अनुसार तीनों समान अनिवार्य हैं।

सद्विचारों एवं सद्भावनाओं का शाब्दिक-आर्थिक संयोजन ही काव्य है, किन्तु ‘सद्’ मूल्यवादी धारणा है और ‘मूल्य’ व्यक्तिनिष्ठ धारणा है। काव्यत्व कोई सौन्दर्यवादी सोच मात्र नहीं है, अपितु जीवनवादी मूल्य है। काव्यत्व जनता के जीवन की स्थिति के मानदंडों से निश्चित होता है। जनता की स्थिति भौतिक, संवेदन और बौद्धिक रूप से उठाने के लिए साहित्य कितना प्रयास करता है, उससे उसका काव्यत्व निश्चित होना अनिवार्य शर्त है। विचारधारा या दर्शनों की तुकबंदी से युक्त पंक्तियों में गूँथने से नहीं बल्कि जीवन के प्रश्नों से टकराने से साहित्य जन्म लेता है। जीवन से टकराहट के लिए रचनाकार में संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है, किन्तु इसी को बगल करके जब रचनाकार मात्र सिद्धान्त कथन करने लगता है, अपनी आदर्शात्मक विचारप्रणाली समाज पर थोपने का प्रयास करने लगता है, अपनी ही विचारधारा अथवा विचारों को अन्य से मात्र सैद्धान्तिक आधार पर श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करने लगता है, तब उसकी कविता कुछ-कुछ दामोदर पण्डित जैसी हो जाती है। जीवन-संघर्ष के स्थान पर सिद्धान्तों-विचारों का दंभ और अहंकार बचा रह जाता है, अपने आप को सही सिद्ध करने का प्रयास बचा रह जाता है। यही कारण है कि दामोदर पण्डित की कविता अपने समय में महानुभाव पंथ की वकीली करने वाली बेहतरीन कविता रही हो, किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि पहले दिन बिना तैयारी के न्यायालय में आए वकील की भाँति वह अपने मुक्किल का एक भी पक्ष नहीं रख पाती है। अपनी कविताओं में दामोदर पंडित महानुभाव पंथ के अपेक्षाकृत सेकुलर और उदार पक्ष को पूर्णतः प्रस्तुत नहीं कर पाए, जिसकी पर्याप्त चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है।

दामोदर पंडित की कविता में महानुभाव पंथ के अनुसार ‘निर्गुण का मूळ’ खाने की बात आयी है। उनकी कविता का अन्त एक समाहित करनेवाली मुद्रा में होता है, जिसमें प्रायः ‘नागदेव’ अर्थात्

नागदेवाचार्य की बात कही गई है। सभी के सार को गहने और उसे मान्यता प्राप्त करने तथा उस पर आगे बढ़ते रहने की बात भी उन्होंने कही है। सुख और दुख के पार को पा लेना वेदों और शास्त्रों के अध्ययन के अभाव में संभव है और यह बात उन्होंने नागदेव के श्रीमुख से सुनी थी, इसे भी वे कविताबद्ध करने का प्रयास करते हैं। चक्रधर का उल्लेख तीन कविताओं में पंथ के मूल पुरुष के बजाए नागदेवाचार्य पर कृपाकर के रूप में हुआ है। एक कविता में उनका उल्लेख 'राऊळ के दास'⁴⁵ अर्थात् राऊळ गुंडम के शिष्य अथवा दास के रूप में मिलता है। अतः उनकी कविताओं का अन्त एक समन्वयवादी दृष्टिकोण से होता है, तमाम खंडन के बाद भी, उनके पंथ की और उनकी कविताओं की एक विशेषता है।

4.2.4 त्रिलोचन

जैसाकि उल्लेख किया गया है, त्रिलोचन के चार पद 'आदिग्रंथ' में सिरी, गूजरी और धनासरी रागों में संग्रहित हैं। उनका सिरी राम में पद इस प्रकार है -

“माइआ मोहमनि आगलडा, प्राणी जरा मरणु भउ विसरि गइआ ॥
कुटुम्बु देखि बिगसहि कमला जिउ, पर घरि जोहहि कपट नरा ॥1॥
दूजा देखि बिगसहि तणा ॥ तिन आगलडै मैं रहणु न जाइ ॥
कोई कोई साजणु आइ कहै ॥ मिलु मेरे बीठुला लै बाहडी वलाइ ॥
मिल मेरे रमईआ मैं लेहि छडाइ ॥ रहाउ ॥
अनिक अनिक भोग राज बिखरे प्राणी संसार सागर पै अमरु भइआ ॥
माइआ मूठा चेतसि नाही जनमु गवाइउ आलसीआ ॥2॥
बिखम घोर पंथि चालणा प्राणी, रवि ससि तह न प्रवेसं ॥
माइआ मोह तब विसरि गइअ जा तजोअले धरमराउ ॥
तह कर दल करनि महाबली, तिन आगलडै मैं रहणु न जाइ ॥4॥
जे को मूँ उपदेसु करतु है, ता वणि त्रिणि रतडा नाराइणा ॥
ऐ जी तू आपे सभ किछु जाणदा, बदति त्रिलोचनु रामईआ ॥5॥”⁴⁶

त्रिलोचन के अन्य पदों में भी इसी प्रकार की भक्ति भाव की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपनी भक्ति को काव्यबद्ध करने का प्रयास किया है, जो आदिग्रंथ के सम्पूर्ण विचारधारा के साथ जुड़ता है। ध्यातव्य है कि आदिगुरु नानक के विचारों एवं पाँचवे गुरु अर्जुनदेव की भावधारा के अनुसार आदिग्रंथ में रचनाओं का चुनाव किया गया था।

4.2.5 ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई

ज्ञानेश्वर के दोनों पद अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों के साथ रखकर देखने से अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इसका पहले भी उल्लेख हो चुका है कि ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा उनके बन्धु निवृत्तिनाथ के माध्यम से नाथ सम्प्रदाय से जुड़ती है। उनकी दोनों हिन्दी रचनाएँ प्रायः नाथों की विचारधारा से अपना सम्बन्ध स्थापित करती हुई दिखाई देती हैं। उन्होंने अपने एक पद में स्पष्ट कहा है कि “भगवान सभी प्राणियों में समाया हुआ है। उसका कोई रंग-रूप नहीं है, उसे काला और सफेद कैसे कहा जा सकता है? पोथी-ज्ञान से निर्गुण ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता है। उस अलख को अन्तर्दृष्टि के माध्यम से ही देखा जा सकता है।” उनके दूसरे एवं मुक्ताबाई के एकमात्र पद में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ ज्ञानेश्वर ने सच्चा ज्ञान प्राप्त होने के लिए गुरु की अनिवार्यता को माना है, वहीं मुक्ताबाई ने भी इसी बात को दोहराया है। ज्ञानेश्वर ने इसे आत्मज्ञान से प्राप्त ज्ञान बताया है, तो मुक्ताबाई ने भी गुरु और शिष्य में ज्ञान प्राप्त होने के बाद बराबर माना है। दोनों के पदों में बहुत हद तक भाव साम्य है।

दोनों के पदों का कथ्य प्रायः एक समान ही है। ज्ञानेश्वर ने तीर्थाटन, मुद्रा, आसन, अभ्यास, पोथी ज्ञान आदि की निस्सारता को भी इस पद में अभिव्यक्त किया है।

4.2.6 नामदेव

1) 'कहां करं जाति कहां करं पाति'

नामदेव के काव्य की पाठ-परम्पराओं पर अनिवार्य एवं अपेक्षित चर्चा करने के पश्चात् इस ओर भी ध्यानाकर्षित करना अनिवार्य हो जाता है कि नामदेव तथा अन्य घुमक्कड़ सन्तों की कविताओं में प्रयुक्त एवं अभिव्यक्त सामाजिक धारणाओं को एक ही समाज द्वारा उद्भूत धारणाओं के रूप में नहीं देखा जा सकता है? इसे 'विश्व दृष्टि' या 'वर्ग दृष्टि' के रूप में देखने से उनके जीवनानुभवों को कमतर करके आँकने जैसा होगा। नामदेव के जीवन-क्रम एवं उनकी कविता के विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनका जीवन विभिन्न मान्यताओं वाले कई सामाजिक समूहों के सम्पर्क में व्यतीत हुआ और इन्हीं कारणों से उनकी दृष्टि में उत्तरोत्तर बदलाव आते गए, जो उनकी हिन्दी-मराठी कविता में अभिव्यक्त हुई है। इन सामाजिक-सांस्कृतिक धारणाओं में परिवर्तन-परिवर्द्धन स्वाभाविक रूप से होते गए और साथ ही अपने विवेकानुसार उन्होंने इन धारणाओं को ग्रहण किया होगा। अपनी जीवन यात्रा के साथ विभिन्न सामाजिक-भौगोलिक समूहों से ग्रहण की गई मान्यताओं को उन्होंने सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक स्तर पर समझने और कविताओं में समाझाने का प्रयास किया है।

यह भी कारण हो सकते हैं कि उनकी कविताओं में लगातार ध्वनीय विलोमता वाली धारणाओं का समावेश, उसके विभिन्न अर्थों में प्रयोग, उसका लगातार परिवर्तित रूप या विशेष धारणाओं के प्रति विरोध के बाद समर्थन एवं समर्थक के बाद विरोध एक साथ दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ उनकी कविताओं में आयी 'जाति' की अवधारणा को लिया जा सकता है। जातिगत सामाजिक विभाजन को कुछ स्थानों पर उन्होंने सामाजिक समस्या के रूप में रेखांकित करते हुए कटु आलोचना के केन्द्र में रखा और उसे कई उदाहरणों द्वारा अमानवीय विभाजन माना है तथा सामाजिक समानता का उद्घोष किया। किन्तु कुछेक कविताओं का स्वर इसके अनुरूप नहीं है, जहाँ उन्होंने इसे मात्र आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हुए नियतिवादी समाधान प्रस्तुत किया है। जब नामदेव जातिगत विभाजन को नियति या भाग्य पर छोड़ देते हैं तो उनकी कविता में भावुकता का अधिक्य हो जाता है, किन्तु इसी समस्या को सामाजिक समस्या के रूप में चित्रित करते समय उनके विचारों और भावों में संतुलन देखा जा सकता है। मनुष्य मात्र की समानता मानते हुए भी उन्होंने अपने अराध्य से जाति के सम्बन्ध में भावनात्मक स्तर पर कई प्रश्न किए हैं। एक कविता की आरंभिक पंक्तियाँ हैं -

“हीन दिन जाति मोरी पंढरी के राया।

ऐसा नामा दरजी तुमने कायकु बनाया ॥”⁴⁷

स्पष्ट रूप से इस प्रकार के प्रश्न का परिचालन सामाजिक व्यवस्था की वास्तविकता के ज्ञान एवं तद्जनित तर्क के अभाव में संभव नहीं है। इस प्रश्न में जिज्ञासा या उत्तर की अपेक्षा से अधिक अपनी शोचनीय स्थिति की ओर ध्यानाकर्षण करने का प्रयास अधिक दिखाई देता है, जो वैचारिक से अधिक भावात्मक रूप में समाप्त होता है।

जाति व्यवस्था को जब सम्पूर्ण सामाजिक समस्या के रूप में नामदेव अपनी कविता में लाते हैं तब उनकी कविता में अधिक तीव्रता आती है । किन्तु उसी जाति व्यवस्था का समाधान जब वे आध्यात्मिक प्रश्न के रूप में खोजने लगते हैं, तब उनकी कविताओं की धार अपेक्षाकृत कम हो जाती है । ऐसी कविताओं में अरुण कमल के शब्दों में कविता को ‘अपनी केवल धार’ देने में नाकाम होते नज़र आते हैं और भावनात्मकता का पलड़ा अधिक भारी हो जाता है । उदाहरण स्वरूप उनकी इन दो कविताओं देखा जा सकता है -

“हीन दिन जाति मोरी पंढरी के राया । ऐसा नामा दरजी कायकु बनाया ॥1॥
टाळ बिना लेके नाम राऊल में गया । पूजा करते बह्मन उन्ने बाहेर ढकाया ॥2॥
देवल के पिछे नामा अल्लक पुकारे । जीदर जीदर नामा उदर देऊळ फिरे ॥3॥
नाना बर्ण गवा उनका एक बर्ण दूध । तुम कहाके बह्मन हम कहा के सुद ॥4॥
मन मेरी सुई तन मेरा धागा । खेचरजी के चरण पर नामा सिंपी लागा ॥5॥”⁴⁸

दूसरी कविता है -

“मोको तूं ना वसार तूं ना । वसार तूं ना वसारे रामैया ॥
अलापवंति हि भर्म जो हे । मुज उपर सब कोपला ॥1॥
सुद सुद कर मार उठायो । काहा करो बाप विठला ॥2॥
मुये हुये जो मुक्ति देउगे । मुक्ति ना जाने कोयला ॥3॥
ए पंडिया मोको धेड कहत है । तेरी पैज पछोड़ी होयला ॥4॥
तूं जो दयाल कृपाल कहत है । अति भुज भयो अपारला ॥5॥
फेर दिया देहुरा नामे को । पडियानको पिच्छ वारला ॥6॥”⁴⁹

सामान्य तौर पर देखा जाए तो दोनों कविताओं का कथ्य एक ही है, दोनों में अभिव्यक्त दृष्टि अथवा कविता में एक ही समस्या को देखने के दृष्टिकोण में अन्तर है । पहले उद्धृत कविता में कवि सीधे-सीधे श्रीविठ्ठल से प्रश्न कर रहा है, भले ही यह प्रसंग अपने पाठक-श्रोताओं के सामने कविता के माध्यम से प्रस्तुत कर रहा हो । इस आधार पर कविता के कुछ भाग निर्मित हो गए हैं - पहले भाग में श्री विठ्ठल से अपनी जाति के सन्दर्भ में शिकायत है । दूसरे भाग में श्रोताओं को एक चमत्कारिक घटना का उल्लेख, जिसके माध्यम से अराध्य की दृष्टि में जाति की अप्रासंगिकता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है । तीसरे भाग में एक व्यावहारिक उदाहरण, जिससे सामाजिक समानता को बल मिले । चौथे तथा अन्तिम भाग में अपना इस विषय में मत प्रस्तुत किया गया है । तर्काधारित प्रश्न उपस्थित करने में वे सफल तो होते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा उसकी परिणति भावनात्मक एवं भाग्यवादी होती दिखाई देती है ।

दूसरे पद में नामदेव सीधे-सीधे पंडिया (पंडित) से मुख़ातिब हैं, तारणकर्ता के रूप में राम पर पूर्ण विश्वास है । पद का मुख्य संबोध्य पंडिया ही है । यहाँ नामदेव अपनी बात पूर्ण आत्मविश्वास के साथ प्रस्तुत करते हैं । अराध्य से मात्र इतना कहना कि हे राम, मेरा पूर्ण विश्वास है कि तू तो मुझे बचाएगा ही, किन्तु इन परिस्थितियों में संभवतः यह भ्रम सिद्ध हो रहा है । तुम मुझे मरने के बाद मुक्ति तो दोगे, किन्तु क्या यह मुक्ति मेरे कोयले को अर्थात् मेरी चिता की राख को मिलेगी । ‘सूद सूद’ कहकर सब मारने के लिए दौड़ रहे हैं । यह मुक्ति की अवधारणा पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित करना है । इसके

अतिरिक्त दोनों कविताओं में पाठान्तरगत सदर्थ-सन्दर्भी का सम्बन्ध भी देखा जा सकता है। पहली कविता में जहाँ जीवन की एक चमत्कारिक घटना को सक्षिप्त रूप में बताया गया है, वहीं दूसरी कविता में उस घटना की तरफ संकेत मात्र किया गया है। दोनों कविताओं का सामान्य रूप में कथ्य एक ही है किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में कुछ अन्तर आ गया है। पहली कविता में नामदेव प्रश्न करते हैं, तो दूसरी कविता में अपनी स्थापना के लिए उस सन्दर्भ का संकेत रूप में उपयोग कर रहे हैं।

धेड अर्थात् महार। इस जातिवाचक शब्द को शताब्दियों तक गाली की तरह प्रयुक्त किया गया। संभवतः ज्ञानदेव आदि जाति से बहिष्कृत एवं नीच समझी जानेवाली जातियों के संगत में रहने के कारण नामदेव को भी इस प्रकार से कुछ लोगों ने संबोधित किया होगा। वैसे नामदेव इस जाति से नहीं थे। उनके मित्र चोखामेळा तथा उनका परिवार जाति से महार था। नामदेव एवं चोखामेळा परिवार के आत्मीय संबंध उनकी कविताओं में भी अभिव्यक्त हुए हैं। पद में विचारों की गतिशीलता, बेबाकपन एवं लहजे की तीव्रता से पता चलता है कि यह कविता नामदेव के उस दौर की कविता है, जब उनकी दृष्टि में अमूलचूल परिवर्तन हो रहे थे, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल⁵⁰ ने गुरु विसोबा खेचर के प्रभाव से होना बताया है। इस कविता में एक भक्त एवं व्यक्ति के रूप में प्रत्येक शब्द में मनोबल झलकता है।

नामदेव की कविता एक भक्त एवं कवि के रूप में अपना पूर्ण रूप ग्रहण करने की दिशा में अग्रसर रही है। उन्होंने भक्ति के क्रम में जाति को नगण्य मानते हुए कहा - 'कहां करं जाति कहां करं पाती। राजाराम सेऊ दीन राती ॥'⁵¹ उनका पूर्ण विश्वास है कि राम का नाम लेते ही कलंकित भी पावन बन जाते हैं।⁵² उनके लिए जाति व्यवस्था की रूढ़ियाँ और उसके मानक, व्यवसायादि की बाध्यता अमान्य थे, इन सबसे ऊपर उठकर एक सम्पूर्ण भक्त के रूप में उन्होंने जाति पाती गुरु गोत विठ्ठल माना है।⁵³ जातिगत व्यवसाय को अजीविका मात्र के लिए करते हुए भक्ति को साध्य बनाने का प्रयास किया। जब वे जाति, गुरु, गोत्र को विठ्ठल कहते हैं, तो वे तत्कालीन सामाजिक बद्धमूलक धारणाओं के आगे बहुत बड़ी चुनौती प्रस्तुत करते हैं, उन्हें तोड़ते हैं। रूढ़ियों के अनुसार नामदेव की जाति और गोत्र को आधार बनाकर ही उन्हें नीच सिद्ध करते हुए मन्दिर में प्रवेश से वंचित किया गया था, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी उपरोद्धृत कविता में किया है। नामदेव श्रीविठ्ठल को उन्हीं विशेषणों से विभूषित कर रहे हैं, जिन्हें सामाजिक विभाजन का आधार बनाया गया था। वास्तविक रूप में नामदेव आदि सन्त जातिगत व्यवस्था के विभाजन से डिक्लास्ड होकर, अपनी तथाकथित नीच जाति और अराध्य की समानता को मान्य करने में कोई हिचक महसूस नहीं करते थे। वे अपना सर्वस्व स्वाहा करके ही, अपना घर जलाकर ही भक्ति के बाज़ार में आए थे। वे भक्ति के रंग में रंगकर ही जाति के रंग से मुक्त हो गए थे, औरों को शीतल करना चाहते थे जो आपहु शीतल हो चुके थे। नामदेव ने इसी भाव से लिखा है -

“हीरदे माला हीरदे गोपाला। हीरदे सिष्टी को दीन दयाला ॥1॥

हीरदे रंग हीरदे छाया। हीरदे रैणी पाणी नीकया ॥2॥

हीरदे दीपक धरी उजाला। पुटीकी बार तटी गण ताला ॥3॥

हीरदे रंग राम नहीं जाती। रंगी रे नामा हरी के भाती ॥4॥”⁵⁴

हृदय में ईश्वर को बसाने के बाद की स्थिति का वर्णन इस कविता में किया गया है। हृदय में अराध्य बस गए हैं तो नामदेव भी उसके रंग में रंगकर जाति-पाति के बन्धन से मुक्त हो गए। पहले तो

हृदय में हरि बसे, फिर हृदय उनके भाँति हुआ, फिर स्वयं नामदेव अपने हृदय की तरह हो गया, उसके रंग में रंग गया। यहीं से नामदेव की कविता में एक रोमैंटिक मोड़ भी आता है, जो उन्हें जाति-पाँति के बन्धनों से मुक्त कराने में सहायक होता है। एक प्रकार से इसी के प्रभाव में वे भक्ति को भी वर्ण मुक्ति से जोड़ने का प्रयास करते हैं।⁵⁵ कई बार वे स्वयं को पूर्वप्रचलित धारणा के अनुसार मलीन भी मानते हैं और उन्हें स्वीकार करने के कारण माधव (अराध्य) को भी मलीन मानते हैं।⁵⁶ कई बार जाति के भीतर रहते हुए भी तरने की बात उन्होंने कही है।⁵⁷ साथ ही राम के संग में कलंकित के पावन होने की बात को भी स्वीकार किया है।⁵⁸

इस प्रकार नामदेव ने कई प्रचलित धारणाओं को अपने वैचारिक मतानुसार स्वीकार किया, तो कई बार वही धारणाएँ पूर्व प्रचलित अर्थों में आयी हैं। भक्ति के साथ मुक्ति की धारणा को उन्होंने वर्ण मुक्ति से जोड़ा और इस प्रकार भक्ति में उपस्थित भावात्मक संबंधों का निर्वहन किया, किन्तु साथ ही जाति व्यवस्था की कटु आलोचना भी प्रस्तुत की। इसलिए कहा जा सकता है कि नामदेव की कविता में जाति व्यवस्था को लेकर किसी विशिष्ट वर्ग, वर्ण, समूह के धारणाओं की नहीं बल्कि अनेक वर्गों की तथा जीवनानुभवों के साथ विकसित ऐतिहासिक रचनाकार के दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है।

मध्यकालीन सामाजिक इतिहास पर दृष्टिपात कर हम अपने वर्तमान समय का अध्ययन करें तो ग्रामीण जीवन की बहुत-सी आवश्यक पद्धतियाँ आज भी प्रचलित दिखाई देंगी। ऐतिहासिक क्रम में इसमें कुछ बदलाव अवश्य आएँ हैं किन्तु इसका ढाँचा प्रायः वही है। ऐसी ही एक पद्धति बारह बलूतेदारों की है। व्यावसायिक श्रम विभाजन व्यवस्था के अनुसार गाँव की धूरी जिन कारीगरों पर आधारित थी उनमें कुम्हार, बढई, लोहार, दर्जी, नाई, माली, महार, माँग, तेली, धोबी, चमार तथा गुरव को 'बलूतेदार' कहा जाता था। इन कारीगरों अथवा सेवा प्रदाताओं के वर्ग को उनकी सेवा या कार्य के लिए नगदी रकम साधारणतः नहीं दी जाती थी, अपितु वार्षिक तौर पर अनाज, कपड़े आदि तय किए होते थे। इसके अतिरिक्त तीज-त्यौहारों अथवा आनन्दोत्सव आदि शुभावसरों पर ईनाम दिया जाता था। इस व्यवस्था का कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं होता, किन्तु मराठी भाषी प्रदेश के ग्रामीण समाज में इसकी जड़े काफी गहरी दिखाई देती हैं। इस वर्ग को न तो व्यापारी कहा जा सकता है और न ही व्यावसायिक, सेवा प्रदाताओं के रूप में यह वर्ग अपनी जीविका के साधन इससे अवश्य जुटाता था। यह कार्य इस वर्ग के प्रत्येक वर्ग (वर्ण) को अपने पैतृक व्यवसाय के रूप में करना पड़ता था। जाति के कटघरे में कैद कर दिए जाने के कारण व्यवसायन्तरण का कोई अवसर नहीं बचा था। इस पृष्ठभूमि में हमें इरफान हबीब की 'आर्थिक सबलता' की अवधारणा पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। कारीगरों में आर्थिक सबलता का प्रतिफलन कम-से-कम उस क्षेत्र के अधिकांश हिस्से में तो संभव नहीं था, जिसे वर्तमान में महाराष्ट्र कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है 'बारह बलूतेदार' पद्धति व्यवसाय का रूप मध्यकाल तक तो ग्रहण नहीं कर पायी थी। इसे कई मराठी सन्तों के जीवन के सन्दर्भ में देखा जा सकता है, जो स्वयं इसी सेवाप्रदाताओं के वर्ग से आते हैं। नामदेव ने अपनी मराठी ही नहीं हिन्दी कविताओं में भी अपने शिंपी होने का उल्लेख किया है। 'शिंपी के जन्म दिला गुरुपदेश भला। संत के प्रसाद नामा हरसे मिला ॥'⁵⁹

विदेशी आक्रमण के कारण व्याप्त निराशा एवं धार्मिक संकट का आभास, भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास, निचली समझी जानेवाली जातियों का विद्रोह, आग्रहार पद्धति, आर्थिक

सबलता, आदि भक्ति आन्दोलन के उद्भव के सन्दर्भ में आदि विभिन्न कारणों पर पिछले अध्यायों में प्रसंगानुसार सविस्तार चर्चा की गई है। कारण जो भी रहे हो, किन्तु एक बात अवश्य थी कि भक्ति आन्दोलन में न केवल रीतिवाद के तत्व पहले से ही मौजूद थे, जैसाकि कृष्ण काव्य के सन्दर्भ में आलोचकों ने निर्देश किया है, बल्कि ध्रुवीय विलोमता वाली प्रवृत्तियाँ भी पहले से ही मौजूद रही हैं - एक ओर नामदेव ने अपनी हिन्दी कविताओं में जाति व्यवस्था का विरोध किया तो दूसरी ओर कई पारम्परिक अवधारणाओं को कभी परिवर्तित-परिवर्धित रूप में तो कभी जस-का-तस स्वीकृति प्रदान की। भले ही नामदेव ने खुलकर जाति व्यवस्था का समर्थन न किया हो, किन्तु वे ऊँच-नीच की सामाजिक स्तरीकरण की भावना स्वीकार करते हुए और उसे आध्यात्मिक-सांसारिक क्षेत्र में विरोध करते हुए एक साथ देखा जा सकता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नामदेव ने कई कविताओं में खुलकर जाति प्रथा का विरोध किया है। उन्होंने कई बार स्वयं को नीच जाति में जन्मा कहा है और ऊँची जाति के समान, छिपि के यहाँ जन्म लेकर भी गुरु उपदेश पाना एवं सन्त प्रसाद से हरि को पाने को वे अपने एक उपलब्धी के रूप में दर्शाते हैं।⁶⁰

इसे सीमित रूप में माना जा सकता है कि कुछ जातियाँ मध्यकाल में अपना जातिगत व्यवसाय बदलने का प्रयास कर रही थी और कईयों को इसमें सफलता भी मिल रही थी। नामदेव के गुरु विसोबा खेचर यजुर्वेदी ब्राह्मण और नाथ सम्प्रदायी योगी थे। प्रचलित ब्राह्मण धर्म के अनुसार अपना व्यवसाय न चुनकर उन्होंने वणिक (बनिया) व्यवसाय अपनाया था। बाद के समय में तुकोबा के पिता भी और स्वयं तुकोबा ने भी अपने जातिगत व्यवसाय से भिन्न अजीविका के लिए व्यवसाय किया। तुकोबा आरंभ में बनिया, फिर व्यापारी और अन्त में किसानी करते देखे जा सकते हैं। यह सभी जातियों में संभव नहीं हो पाया था। नामदेव के ही समकालीन चोखामेळा, बंका महार, कर्ममेळा, गोरा कुंभार, सावता माळी आदि कई सन्तों के लिए अपनी जाति के अतिरिक्त व्यवसाय करना स्वीकार नहीं किया यो वे ऐसा नहीं कर पाए। बल्कि इन सन्तों ने अपने जातिगत व्यवसाय को ही वह गरिमा प्रदान करने का प्रयास किया जो श्रम को हीन मानने वाली संस्कृति में संभव नहीं था। इससे एक बात तो जाहिर होती है कि जातियों के टूटने का आरंभ तो हुआ था, किन्तु यह बात सभी जातियों के लिए लागू नहीं की जा सकती।

चोखामेळा आदि सन्त अपनी कविताओं में जाति के कारण समाज में हो रही असह्य वेदनाओं-क्रूरताओं को अपने अराध्य के सामने सुनाने के बावजूद जोहार माँगने से परे नहीं हटे। अर्थात् अति-नीच समझी जानेवाली जातियों में भक्ति आन्दोलन के इस दौर में भी ऐसी समझ अपनी जड़े जमाई हुई दिखाई देती है, जो भाग्यवादी सोच को साथ लिए पुराने विश्वासों को पनाह दिए हुए थी और जिसने अपने निम्न जाति में जन्म के लिए पूर्वजन्म के पापों को, प्रकारान्तर से स्वयं को जिम्मेदार मानकर अपने दुःखों को ईश्वर के सामने प्रस्तुत किया है। इतना होने पर भी उन्हें अजीवन एवं जीवनोपरान्त भी मन्दिर के बाहर ही स्थान मिला। चूँकि नामदेव एक तरफ विसोबा खेचर, ज्ञानेश्वर, निवृत्ति आदि की तो दूसरी तरफ बंका महार, चोखामेळा, कर्ममेळा, जनी दासी, इन दोनों परम्पराओं से जुड़े हुए थे और ये दोनों परम्पराएँ अपने समय में निरन्तर संवाद स्थापित करने का प्रयास कर रही थी तथा इनके संवाद के केन्द्र में अपने समय की तमाम आध्यात्मिक-सामाजिक समस्याएँ थी, ऐसे में नामदेव न केवल इन दोनों परम्पराओं में मध्यस्थता का कार्य कर रहे थे, बल्कि उन्होंने इन दोनों परम्पराओं से अपने

जीवनानुभावों एवं तद्-निर्मित विवेक के अनुसार ग्रहण भी किया। संभवतः इसी कारण वे एक तरफ अपने को गोदान न करने का पापी मानते हैं।⁶¹ तो दूसरी ओर सतर्क प्रश्न करते हैं तुम कहाँ के बम्हन हम कहाँ के सूद। इस सामाजिक इतिहास की पृष्ठभूमि में भी नामदेव के सगुण-निर्गुण प्रवास और उसके स्विकार के भाव को देखना चाहिए, तब जाकर उनके समन्वय का महत्व समझ में आएगा, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मूल्यांकन का आधार बनाकर गोस्वामी तुलसीदास को स्थापित किया है। नामदेव की दृष्टि को हिन्दी-मराठी भक्ति आन्दोलन की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में देखा-परखा जाना चाहिए था, तत्पश्चात् उनकी बदलती हुई दृष्टि और साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति का विश्लेषण अपेक्षित था, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नामदेव की दृष्टि और कविता में गुरु के कारण चमत्कृत रूप से परिवर्तन दिखाकर इस पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया की अनदेखी करके, छुट्टी पा ली और ऐतिहासिक प्रक्रिया की अनदेखी की।

2) राजाराम सेऊ दिन राती - नामदेव की कविताओं में अराध्य की छवियाँ

इतिहास लेखन की सर्वप्रमुख आवश्यकताओं में से एक अध्ययन की सुविधा हेतु उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कालों में विभाजन किया जाना है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में ऐसा विभाजन सर्वप्रथम करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को दिया जाता है, जो सही है। किन्तु सबसे बड़ी समस्या तब उपस्थित होती है जब आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को पूर्णतः अवैज्ञानिक निर्गुण-सगुण की कोटियों में विभाजित कर, उसके अनुसार परिचालित होते हुए पूर्ण भक्तिकाल का मूल्यांकन भी करते हैं। इसी प्रभाव के कारण हिन्दी साहित्य का इतिहास में आचार्य शुक्ल जी द्वारा नामदेव और उनकी कविता पर किया गया लेखन नामदेव के साहित्य पर नहीं, अपितु उनकी विचारधारा या दार्शनिक पक्ष पर सगुण-निर्गुण भेद के प्रोजेक्ट के तहत किया गया लेखन बन जाता है। निर्गुण-सगुण उनके भक्तिकाल का आन्तरिक विभाजन है, जो स्वयं निर्गुण रखने के प्रयास में सगुण हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे सन्त-भक्त कवियों के निर्गुण ईश्वर अवतार धारण करते हैं।

नामदेव पर लेखन करते समय आचार्य शुक्ल ने कबीर को ध्यान में रखकर भूमिका बनाई है। चूँकि उन्हें कबीर को निर्गुण मतवाद का अग्रदूत सिद्ध करना था, इसलिए उन्होंने नामदेव पर लेखन आरंभ करते ही सर्वप्रथम लिखा - “महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग निर्गुणपंथ के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर के लिए नामथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे।”⁶² निर्गुण-सगुण का ढाँचा पहले-पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने निर्माण किया था और उनके ऐसा करने में भी उनके समकालीन कवियों की दृष्टि ही काम कर रही थी। जिस प्रकार छायावादी कवि अपने समय को समझने और उसे अभिव्यक्त करने बार-बार अतीत में दौड़ते हैं, उसी तर्ज पर आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल को समझने के लिए निर्गुण-सगुण का ढाँचा तैयार किया। संभवतः अतीतोन्मुखता उस युग की अनिवार्यता बन गई थी। इसी क्रम में एक तथ्य ध्यातव्य है कि कबीरदास जी ने की निर्गुणपंथ नहीं चलाया था। इतना ही नहीं कमाल को भी जब अपने पिता के नाम से पंथ स्थापन करने के लिए कहा गया तो उन्होंने इन्कार कर दिया, इसलिए यह उक्ति चल पड़ी थी - बूड़ा पंथ कबीर का, उपजा पूत कमाल। नामदेव की कविताओं में

सगुण-निर्गुण के क्रम को दिखाने के पश्चात अन्त में आचार्य शुक्ल इस ओर पुनः संकेत करते हैं कि “नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्गुण पंथ के लिए मार्ग निकालने वाले नाथ पंथ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है कि निर्गुण पंथ के निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे।”⁶³ इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने नामदेव की उस काल तक उपलब्ध कविताओं के आधार पर निर्गुण-सगुण ढाँचे में सीमित करने का प्रयास किया, जो कबीरदास की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत थे।

हमें यहाँ नामदेव को निर्गुण काव्य का अग्रदूत सिद्ध नहीं करना है और न ही उन्हें उसी ढाँचे में कैद करके देखना है। आचार्य शुक्ल के प्रभाव से हिन्दी में भक्तिकाल के मूल्यांकन की एक ऐसी धुरीवादी विचारप्रणाली का निर्माण हुआ, जिसके तहत हिन्दी आलोचकों ने हिन्दीतर भक्ति कालीन कवियों को निर्गुण-सगुण के ढाँचे में बाँटकर देखा जाने लगा। चूँकि कई भारतीय भाषाओं के मध्यकालीन सन्तों की कविताओं की तरह मराठी सन्तों की कविताओं में भी निर्गुण-सगुण दोनों प्रकार के अराध्य पाए गए, ऐसे में शुक्ल जी की बात को ध्यान में रखकर आगे आनेवाले आलोचकों-शोधार्थियों ने भी इसी तर्ज पर नामदेव के अराध्य और उनकी इस सन्दर्भ में विचारधारा का मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया। आचार्य शुक्ल के तर्कानुसार गुरुदीक्षा के पश्चात नामदेव निर्गुण निराकार ईश्वर के गुण गाने लगे थे, किन्तु ऐसा नहीं हुआ था। नामदेव ने लगातार सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति अपनायी थी। उनकी भक्ति पद्धति अथवा कविता में किसी विशिष्ट व्यक्ति या गुरु के प्रभाव मात्र से इतना बड़ा परिवर्तन नहीं आया था। नामदेव की कविता के सन्दर्भ में जिस स्थिति को हिन्दी में समझा-समझाया जाता रहा है, सत्य उससे भिन्न है।

“विसोबा के अनुग्रहित करने के पश्चात नामदेव के जीवन में क्रान्ति हो गई थी। आज तक वे केवल भक्त थे, किन्तु यौगिक शक्ति के संचार से सर्वव्यापक निर्गुण निराकार चिन्मयी परमतत्त्व की जो उन्हें अनुभूति हुई थी उसके कारण वे भी उस साम्यावस्था में पहुँचे हुए योगी हो गए थे, किन्तु उन्होंने सगुण भक्ति का पूर्णतः त्याग नहीं किया।”⁶⁴ इतना ही नहीं “विसोबा ने उन्हें आत्मज्ञान, आत्मसुख, प्रेमदृष्टि और ज्ञानमुद्रा प्रदान कर जन्म-मृत्यु के फेरे से मुक्त किया और विठ्ठल के चरण कभी न बिसरने का भी उल्लेख किया। निर्गुण का ज्ञान और सगुण की भक्ति का समन्वय किया, किन्तु इसके साथ ही पत्थर की मूर्ति ही ईश्वर नहीं होती, इसका भी विवेक प्रदान किया।”⁶⁵ इसे साक्ष्य स्वयं नामदेव की मराठी कविताओं में मिलते हैं।⁶⁶

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नामदेव का संक्षिप्त परिचय देने के बाद लिखा है - “महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। इन हिन्दी रचनाओं में एक विशेष बात यह पायी जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना से। इसके समाधान के लिए इनके समय की परिस्थिति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आदिकाल के अन्तर्गत यह कहा जा चुका है कि मुसलमानों के आने पर पठानों के समय में गोरखपंथी योगियों का बहुत प्रभाव था। नामदेव के ही समय में प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव हुए हैं जिन्होंने अपने को गोरख की शिष्य परम्परा में बताया है। ज्ञानदेव का परलोकवास बहुत ही थोड़ी अवस्था में हुआ, पर नामदेव उनके उपरान्त बहुत दिनों तक जीवित रहे। नामदेव सीधे-साधे सगुण भक्ति पर चले जा रहे थे, पर पीछे उस नाथपंथ के प्रभाव के भीतर लाए गए,

जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था ।
लानेवाले थे ज्ञानदेव ।”⁶⁷

जैसाकि पिछले और इस अध्याय में भी दिखाया जा चुका है कि महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सर्वप्रथम नहीं आता है । हिन्दी में लिखनेवाले भी नामदेव से पहले हो चुके थे । संभवतः नामदेव से पहले हुए रचनाकारों का पता शुक्ल जी के समय तक नहीं चल पाया होगा । इसके आगे का सारा लेखन इसी लक्ष्य को लेकर किया गया है कि किस प्रकार नामदेव की कविता में निर्गुण बाद में आया एवं उसके लिए किस प्रकार ज्ञानदेव जिम्मेदार हैं और उन्होंने ही कई चालाकियों (या युक्तियों) के माध्यम से नामदेव को नाथपंथी विसोबा का शिष्य बनाकर निर्गुण पंथ में ट्रेन किया । यह भी पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाया कि विसोबा खेचर के पास गुरुदीक्षा के लिए नामदेव को ज्ञानेश्वर ने जाने की सलाह दी या निवृत्तिनाथ ने, या कि फिर मुक्ताबाई ने । मुसलमानों के आगमन, पठानों के समय और नाथ पंथ के प्रभाव बढ़ने में क्या सम्बन्ध हैं, इसे सप्रयास सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु इसके कोई साक्ष्य नहीं मिलते कि नामदेव को गुरु ने निर्गुण पंथ मात्र की दीक्षा दी थी । जिन किंवदन्तियों के आधार पर आचार्य शुक्ल ने निर्गुण-सगुण वाद से अपनी बातों को सिद्ध करने का प्रयास किया, वे भी संदिग्ध हैं । इतिहास और कल्पना का मिश्रण रचनाओं में किया जाए तो उसे रचनात्मक उत्कर्ष प्राप्त होता है, इतिहास ग्रंथों में किया जाने पर इसे इतिहास और इतिहासकार का प्रौपगेडा कहा जाता है ।

सगुण कवि किसे कहा जाए या निर्गुण कवि किसे कहा जाए, इसके मानक पूर्णतः सिद्ध नहीं किए जा सकते हैं । यह धर्म-दर्शन का विषय है और उन्हीं मानकों से साहित्य में आयी ईश्वर की छवि को नहीं मूल्यांकित किया जा सकता । हिन्दी के निर्गुण माने जा चुके कवियों के काव्य में सगुण ईश्वर को ढूँढ़ निकालना या तुलसीदास में निर्गुण ईश्वर की भक्ति के प्रसंगों को दिखा पाना कोई असंभव कार्य नहीं है । इस सन्दर्भ में एक विनती यही है कि कबीर किस प्रियतम से मिलना चाहते हैं, सगुण या निर्गुण, वे किस प्रियतम की बाट जो रहे हैं, निर्गुण या सगुण । अतः सगुण-निर्गुण के इन पूर्वनिर्धारित मानकों को बगल करते हुए, नामदेव की कविता में चित्रित अराध्य के स्वरूप पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया जा रहा है ।

नामदेव की कविताओं में अपने अराध्य का चित्रण धार्मिक परम्पराएँ, सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ, सामाजिक-सभ्यतामूलक विमर्श, अपनी अस्मिता का भान, अपने पूर्वजों से प्राप्त सभ्यता परम्परा एवं अपनी स्वयं की दृष्टि के संघर्ष के रूप में होते हुए भी दृढ़, अपरिवर्तनीय तथा अनन्य रूप की अपेक्षा लचीला, परिवर्तनशील एवं विस्तृत रूप में आया है । उनके काव्य ने न तो किसी परम्परा को ठुकराने की जल्दबाज़ी की या न किसी परम्परा को अपनाने के क्रम में विवेक का दामन छोड़ा । संग्रह-त्याग में विवेक के कारण उनकी अपनी दृष्टि विकसित होने में बहुत बड़ी सहायता मिली । इस दृष्टि विकास को उन्होंने जाने-अनजाने अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया । इस व्यापकता का प्रतिफलन उनकी सभ्यता समीक्षा के रूप में देखा जा सकता है ।

महीप सिंह ने अपनी पुस्तक ‘आदिग्रंथ में संग्रहित संत कवि’ में नामदेव की कविताओं में अभिव्यक्त भक्ति पद्धति के तीन चरण माने हैं । उनके अनुसार - “नामदेव के सम्पूर्ण रचनाकाल को तीन पड़ावों में विभाजित किया जा सकता है । उनके पिता शिव के उपासक थे । नामदेव ने विठ्ठल (विष्णु) की उपासना का मार्ग अपनाया । दूसरे चरण में वे मूर्तिपूजा और अवतारवाद की ओर प्रवृत्त

दिखाई देते हैं और तीसरे चरण में वे पूरी तरह निर्गुण उपासना को स्वीकार कर लेते हैं। आदिग्रंथ में संगृहित उनकी अधिकांश रचना तीसरे चरण की रचना है।⁶⁸ गौर से देखा जाए तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापना और महीप सिंह की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है। दोनों व्याख्याकार नामदेव की भक्ति पद्धति को सगुण से आरंभ होकर निर्गुण तक का प्रवास मानते हैं। सिंह जी के केवल एक बीच की स्थिति की कल्पना की, जिससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त सिंह जी शुक्ल जी की तरह इसे गुरु प्रभाव से नहीं मानते हैं, उन्होंने कोई कारण ही नहीं दिया है। वास्तव में उनकी कविता में इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते कि उन्होंने किस कविता की पहले की और किस कविता की बाद में। ऐसे में जबकि उनकी कविताओं का कोई प्रामाणिक क्रम नहीं है, तो उनकी कविता के आधार पर मात्र उनके इस सगुण से निर्गुण प्रवास की बात करना एक कल्पना मात्र है। संभव है कि उन्होंने दोनों प्रकार की भक्ति से युक्त कविताओं की रचना एक ही समय में की होगी। जैसाकि उनके गुरु ने उन्हें सगुण भक्ति भी बाह्याडंबरों को त्यागकर करते रहने का उपदेश दिया था, उसी क्रम में उन्होंने रचनाएँ भी लिखी होगी, बगैर किसी भेद-भाव के। ऐसे में उनकी कविताओं में आए अराध्य की छवि को क्रम रूप में सजाना गलत होगा।

नामदेव की कविताओं में सगुण ईश्वर के दर्शन पर्याप्त रूप में होते हैं। सगुण अराध्य के रूप में उन्होंने किसी विशिष्ट रूप को नहीं चुना था, क्योंकि उनकी कविताओं में कई नामों से भक्ति के संकेत मिलते हैं।

“जन नामदेव पायो नाऊँ हरी।

जन आइ का करी। हो बौरी इब मोरी छुटी परी ॥1॥

भाव भगत की नाना बिधि किन्ही फळका कोन करी।

केवळ ब्रह्म निकटी लीव लागी मुक्ति कहव परी ॥2॥

नाम लेत सनकादी तारे पार न पायो तास हरी।

नामदेव कहे सुनोरे संतो इब मोही समाझी परी ॥3॥”⁶⁹

यहाँ नामदेव भक्ति की दो पद्धतियों का पुरस्कार करने की बात कहते हैं - एक तो हरि के चरण पकड़े रहो, जिससे यम भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा, उसे आपको छोड़ना ही पड़ेगा अर्थात् मृत्यु का भय खत्म हो जाएगा। दूसरी पद्धति नाम की है। वे यहाँ भाव-भक्ति की कई पद्धतियों को स्वीकार करते हैं, किन्तु इन दो पद्धतियों को सहज साध्य मानते हैं। अब वे इस बात को समझ गए हैं। नाम लेने से सनकादि के तरने का पूर्वोल्लेख या सन्दर्भ नामदेव यहाँ भी देते हैं। पूर्वपरम्परा से उदाहरण देने की प्रवृत्ति प्रायः सभी सन्तों-भक्तों में रही है। नामदेव भी कई स्थानों पर ऐसा करते देखे जा सकते हैं। दोनों पद्धतियों को एक साथ, एक ही कविता में देखने के पश्चात कोई इस कविता को सगुण-निर्गुण के खाँचे में नहीं अँटा सकता। अन्त में ‘सुनो रे सन्तों’ कहना एक नया मुहावरा। अर्थात् नामदेव सन्तों में बड़े छोटे के अन्तर को ‘अरे’ से मिटाते हैं तो कबीर ‘भई’ से मिटाते हैं। नामा भक्ति को स्थापित करने के लिए अराध्य की पारम्परिक छवि का पुनर्नविकरण आवश्यक था, जो नामा भक्ति के सर्वसुलभ लक्ष्य की पूर्ति करे, इसके अनुसार नामदेव ने समय के साथ अपने अराध्य की छवि में परिवर्द्धन किया। यह उभरते हुए श्रमिक वर्ग की ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुसार था।

नामदेव ने अपने लक्ष्य श्रोताओं-पाठकों के रूप में किसी विशिष्ट वर्ग का चयन नहीं किया था और संभवतः वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि उनके मूल्यों में समाज के प्रत्येक वर्ग-वर्ण के लिए उनके द्वार खुले थे। ऐसे में निर्गुण हो जाना या सगुण को पूर्णतः नकार देना पूर्णतः उनका निर्णय नहीं हो सकता था। इस कारण उनकी कविताओं में अराध्य या अराधना पद्धति का कोई क्रम निश्चित कर देना, उनकी कविताओं को दर्शन की सीमाओं में बाँधकर देखने जैसा होगा। श्रमिकों के लिए नाम भक्ति प्रस्तावित करते समय उन पर लादी गई सामाजिक रूढ़ियों से परिचित होने के कारण उनके लिए ईश्वर का अनिश्चित होना अनिवार्य था। ऐसे में नामदेव आदि कई सन्तों ने उनके लिए अराध्य को घट के भीतर एवं सर्वव्यापी घोषित किया। नाम साधना के लिए यह अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त तत्कालीन धर्म में प्रचलित कर्मकाण्डों से इस वर्ग-वर्ण को बचाने के लिए एक ऐतिहासिक कदम था। इस प्रकार नामा भक्ति के आधार रूप में ईश्वर के निर्गुण रूप की, जो सर्वव्यापी एवं सब में समाहित हो, की परिकल्पना पर अधिक जोर दिया गया। इस सन्दर्भ में उनका यह पद दृष्टव्य है -

“एक अनेक व्यापक पूरक जद देखो तद सोई ।
 माया चित्रबिचित्र विमोहित बिरला बूझे कोई ॥1॥
 सब गोविंद है सब गोविंद है गोविंद बिन नहीं कोई ।
 सूत एक मनसतसहंस है जैसे ओतप्रोत प्रभु सोई ॥2॥
 जलतरंग और फेन बुदबुदा जलते भिन्न होई ।
 यह प्रपंच परब्रह्मकी लीला औ बिचारत आन न होई ॥3॥
 मिथ्या परम अर सुपन मनोरथ सत पदारथ जान्या ।
 सुकिर्त मनसा गुरूपदेशी जागृतीही मन मान्या ॥4॥
 कहत नामदेव हरीकी रचना देखो हृदय बिचारी ।
 घटघट अंतर सर्व निरंतर केवळ एक मुरारी ॥5॥”⁷⁰

एकेश्वरवाद, माया, सर्वखिल्द ब्रह्म के विचार पद में एक साथ आए हैं। हृदय से विचार करने के लिए कहते हैं, जबकि विचार बुद्धि से किया जाता है, हृदय का सम्बन्ध भावनाओं से माना जाता है। जल और तरंगों का प्राचीन दृष्टान्त देते हैं। सबमें ईश्वर को मानते हैं।

नामदेव की कविता को सगुण से निर्गुण ट्रांसफर होने की कविता कहा जाता है। उनकी कविताओं का विभाजन तो कर दिया जाता है, किन्तु उनकी एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने की प्रक्रिया को कम ही लोगों ने रेखांकित किया है, प्रायः किसी ने नहीं किया है। आचार्य शुक्ल ने इसे गुरु के कारण मानते हुए अपना पल्ला झाड़ लिया है। उनकी कविता में इस ट्रांसफर की वेदना को देखा जा सकता है। एक ऐसे परिवेश-परिवार में पल-बढ़कर जहाँ धर्म मात्र दिखावे के लिए रह गया था, पोथियों तक सीमित हो गया था, किसी खास वर्ग की मिल्कियत हो गया था, ऐसे में धर्म के मूल उद्देश्य समानता, एकता एवं सामाजिकता को टिकाने के लिए नामदेव ने धर्म का सहारा लिया। इसके लिए उन्होंने प्रत्येक मत से प्रगतिशील विचारों को ग्रहण करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया के तहत उनकी कविताओं में विरोधाभासी विचारों का प्रवेश हो जाए तो किम् आश्चर्यम्। यही कारण है कि उनकी कविताओं को निर्गुण-सगुण के अर्थ में किसी भी विभाजन रेखा के तहत विभाजित नहीं किया जा सकता

है । सगुण से निर्गुण नामदेव की आस्था और विचार का प्रवास अत्यन्त निजी है । इसे कविता में बड़े बारीकी से देखने की आवश्यकता है ।

नामदेव को अपने प्रसास के दौरान अत्यन्त निजी क्षणों में इस पर विचार करने का अवसर मिला, जिसने उनके चिन्तन पर गहरा असर छोड़ा । इस कारण वे निर्गुण और सगुण के दोनों के दायरे में लगातार बने रहे । उनकी बाद की कविताओं में चमत्कारिक घटनाओं का न होना इसी ओर इंगित करता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से व्यक्ति के कर्तव्य में संलग्न होकर कार्य करने मेहनत करने में विश्वास करने लगे थे । चमत्कारों से संबंध रखनेवाली हिन्दी कविताएँ उनकी आरंभिक कविताएँ कही जा सकती हैं । यही कारण है कि एक समय में भगवान की मूर्ति को अपने हाथों से दूध पिता पाकर नामदेव अपने आप को सबसे बड़ा भक्त मान बैठे थे और वही नामदेव अपनी (ऊपर्युक्त) कविता में नैवेद्य, फूल, माला, देवमूर्ति स्नान आदि को निरर्थक बता रहे हैं । यह नामदेव का आस्था की परिपक्वता की ओर प्रवास है । इसी प्रवास के रूप में नामदेव की कविता को देखा जाना आवश्यक है । यह प्रवास उन्होंने संघर्षों से पूर्ण किया और अपनी इन कविताओं में इसे निजी नहीं, सार्वजनिक बनाकर व्यक्त किया । इसका कहीं भी आभास नहीं आने दिया कि यह उनका निजी संघर्ष था । इसी कारण उनकी मराठी कविताओं की तरह हिन्दी कविताएँ संघर्ष को अभिव्यक्त नहीं करती बल्कि आस्था का छना हुआ रूप प्रस्तुत करती हैं । यदि नामदेव अपनी निजी आस्था का संघर्ष कविता में व्यक्त करते तो वे व्यक्तिवाद के शिकार हो जाते । इसके बरअक्स उन्होंने अपने जातिगत संघर्ष को गौरवान्वित करके अपने निस्व जाति में जन्मने को अभिशाप नहीं, बल्कि एक अच्छी परिघटना के रूप में देखा ।

इस प्रकार उनकी कविताओं में अधिकतर वैष्णव रूप भले ही नज़र आते हो, किन्तु शैव, अन्तर्व्यापी, सर्वव्यापी, वेद-पुराण के अनुसार उन्हें सत्यापित करने का प्रयास, अद्वैत भाव, अलख लखने का प्रयास, अकथ रूप आदि भी उनकी कविताओं में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं । उन्होंने अपने श्रोताओं को समझाने के लिए अराध्य के पारम्परिक रूपों का भी सहारा अपनी कविताओं में लिया है । उनके यह सब प्रयास उनकी नामा भक्ति के पूरक माने जा सकते हैं । इन्हें उनकी विचारधारा के निर्धारण के लिए मान्य मान लेना और किसी कटघरे में बन्द कर देना, ऐतिहासिक क्रम में उनकी कविताओं के साथ अन्याय होगा । नामदेव की कविता को दर्शन के किसी कटघरे में बन्द करके देखना उसकी पाठ परम्पराओं के प्रति उपेक्षा का भाव दर्ज करना होगा । उनकी कविताएँ जिन पाठ परम्पराओं में जीवित हैं, उन्हें उसी रूप में स्वीकार करते हुए, उनके कथ्य को सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया में देखते हुए वर्तमान समय में उनकी मिल-जुल संस्कृति के निर्माण में पोषकता के सन्दर्भ में अधिक विचार होना चाहिए, न कि उन्हें खाँचाबन्द करने के लिए ।

3) सुमरी सुमरी उतरे पार - 'नामा भक्ति' का औदात्य

ज्ञानदेव और नामदेव के समकालीन कई कवियों को मिलाकर ज्ञानदेव-नामदेव मंडल कहा जाता है । इस मंडल में सभी सन्त-भक्त नीची कही जानेवाली जाति से आनेवाले हैं । इन दोनों सन्त-भक्त कवियों ने साहित्यरचना के अतिरिक्त वह दिया, जिससे इनके नाम और अधिक सार्थक सिद्ध होते हैं । ज्ञानदेव ने भक्ति आन्दोलन को ऐसा ज्ञान दिया जिसके सहारे उसने अपना सबाल्टर्न इतिहास रचने का प्रयास किया । अपने ग्रंथ ज्ञानेश्वरी और चांगदेव पासष्टि के अतिरिक्त अपने अभंगों के माध्यम से

एक ऐसा दर्शन ज्ञानदेव ने लोकभाषा में प्रस्तुत किया, जिसके बाद चिन्तन का मार्ग सामान्य जन के लिए और अधिक खुल गया। ज्ञानेश्वर के ज्ञान में भाव एवं विचारों को लोकतांत्रिक पद्धति से आत्मसात करने की क्षमता थी। उनके ज्ञान ने किसी का भी बहिर्जन करने के मार्ग को बन्द कर दिया। इसी ज्ञानसरिता को आधार बनाकर नामदेव ने भक्ति आन्दोलन में महानुभावों की गलतियों से सीखते हुए अपने समतावादी महत्तोद्देश्य से नामभक्ति को स्थापित करने का प्रयास किया।

सम्पूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप में व्याप्त सन्त साहित्य में और प्रकारान्तर से भक्ति आन्दोलन में आरंभ से ही नामाधारित भक्ति का इतना प्रमुख स्थान पा लेना तथा इसका एक पर्याय के रूप में विकास होना कोई चमत्कारिक घटना नहीं थी। भक्ति आन्दोलन के विकास में कभी नीची समझी जाने वाली कारीगर जातियों के आर्थिक स्थिति के उत्थान से जोड़कर देखा गया तो कभी इसे भक्ति की समानता की माँग के रूप में देखा गया। इसे भले ही निर्धारणवादी दृष्टि से नहीं देखा जा सकता किन्तु पहले का सम्बन्ध पूर्णतः सांसारिक या भौतिक जगत से है तो दूसरे का आध्यात्मिक भावनाओं से।

यदि यह मान भी लिया जाए कि ऐतिहासिक प्रक्रिया ने इन नीची समझी जानेवाली जातियों की आर्थिक स्थिति इतनी सबल हो गई थी कि उन्होंने भक्ति आन्दोलन के माध्यम से आराधना के समानता की माँग प्रस्तुत की, तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस तथाकथित नीची जातियों के समूह ने सम्पूर्ण सामाजिक बन्धनों से स्वतंत्रता की अपेक्षा संकुचित धार्मिक क्षेत्र से सम्बन्धित आराधना के समानता की ही क्यों माँग की। क्योंकि सामाजिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाती तो धार्मिक मुक्ति अपने-आप चलकर आ जाती या लायी जा सकती थी। क्या इन जातियों ने भक्ति आन्दोलन के माध्यम से जब अपनी बात कहनी आरंभ की, तो इनकी बात कितनी मात्रा में सुनी गई? यह प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि कई आलोचकों-विचारकों के अनुसार सामाजिक आन्दोलन के रूप में भक्ति आन्दोलन एक असफल आन्दोलन था। इसने जो लक्ष्य निर्धारित किए थे, उसे पाने में यह असफल रहा। और इसके विपरित उन्हीं विचारकों द्वारा यह भी माना जाता है कि भक्ति आन्दोलन ने भारतीय मूल्य व्यवस्था में अमूलचूल परिवर्तन किए, कई भारतीय मूल्यों का निर्माण इसने किया। क्या यह दो मत परस्पर विरोधी नहीं हैं। कैसे एक आन्दोलन असफल होकर मूल्यनिर्धारण कर सकता है? क्या आज का भारतीय समाज असफल आन्दोलन के मूल्यों को लेकर आगे बढ़ रहा है? आराधना की समानता मात्र के कारण भक्ति आन्दोलन को एक धार्मिक आन्दोलन मात्र मान लिया गया था, जिसका फल यह हुआ कि इसे सामाजिक आन्दोलन के रूप में असफल भी मान लिया गया था।

धर्म पर विशिष्ट पुरोहिती वर्ग का एकाधिकार एवं उसकी अपनी सुविधानुसार व्याख्या करके शोषण का माध्यम बनाया जाना, भारतीय महाद्वीप की ही अद्वितीय विशेषता नहीं थी। विश्व के प्रत्येक धर्म ने मनुष्य के लोकतांत्रिक स्पेस को संकुचित करने का कार्य किया है और सोचने-समझने के एक ढर्रे एवं दायरे का निर्माण किया है। ईसाई धर्म में चर्च की तानाशाही, ईस्लाम में धार्मिक-सैद्धान्तिक-दार्शनिक एकता के बावजूद प्रैक्टिसेस (व्यवहार) में असमानता एवं शोषण, सामाजिक एवं आध्यात्मिक समानता का दावा करनेवाले बौद्ध धर्म में जेंडरगत एवं पुरोहिती द्वारा निर्मित दिखाई देने वाले विरोधाभास, जैनों का अव्यावहारिक ज्ञानकांड आदि की तरह हिन्दू धर्म में भी स्वाभाविक रूप से ऐतिहासिक प्रक्रिया में विरोधाभास निर्माण होते गए। इन सबका कारण मनुष्य का सत्ता एवं धन के प्रति लोभी होकर धर्म को अपने लक्ष्यों के लिए उपयोग में लाना रहा है। त्याग का प्रवचन देनेवाले

पादरी, उलेमा और पुरोहित मध्यकाल में भी लोभियों के आदर्श बनते जा रहे थे। उन्होंने धर्म को अन्य सारी सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बना दिया था। विश्व इतिहास में चर्च का सिज़र (राजा) को कठपुतली बनाना और खलिफ़ा (धर्मगुरु) द्वारा राजा के राज्य को सत्यापित करना अनिवार्य होना, राजशाही को धर्म का उपनिवेश बनाने के उदाहरण हैं। राजनीतिक की तरह टैक्स सिस्टम, प्रशासन, सांस्कृतिक परिदृश्य, सामाजिक नियम, नैतिक मान्यताएँ, स्थापत्य-चित्र आदि कलाओं को भी धर्म ने अपना उपनिवेश बना रखा था। यही कारण है कि मध्ययुग तक की सारी कलाएँ किसी-न-किसी प्रकार धर्म के पर्दे से ढँकी हुई हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में भी पुरोहितों ने इसी प्रकार से आधिपत्य स्थापित कर लिया था। किसी भी समाज में धर्म एवं राज्य के सम्बन्ध साधारण जन के लिए तब और अधिक कष्टप्रद होते गए जब या धार्मिक प्रतीकों को आधार बनाकर वहाँ के पुरोहितों ने धर्म को वैयक्तिक आय का साधन बना लिया। ऐसा करने के लिए उन्होंने कभी धार्मिक भावनाओं का तो कभी ईश्वर के भय का आधार लिया। भय धार्मिक व्यापार का मुख्य आधार रहा है। धर्म का उपयोग जब व्यापार या वैयक्तिक आय के लिए किया जाता तब भक्ति का आधार करुणा नहीं, भय ही रह जाता है। इसी भयाधारित भक्ति को रेखांकित करते हुए जॉर्ज ग्रियर्सन ने भारत में भक्ति आन्दोलन को ईसाई धर्म की देन माना था। ग्रियर्सन की धारणा का प्रतिरोध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया था।

ग्रियर्सन एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत भले ही ऊपर से परस्पर विरोधी दिखाई देते हो किन्तु इसमें आन्तरिक एकता है। एक ने ईसाई धर्म में भक्ति आन्दोलन का विकास देखा तो दूसरे ने भारतीय धार्मिक चिन्तनधारा में। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय चिन्तन परम्परा में पहले से उपस्थित करुणा को बौद्ध धर्म की करुणा का स्मरण किया किन्तु अपने लेखन में इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं किया कि बौद्ध धर्म की करुणा और भक्ति आन्दोलन की करुणा में कितनी समानताएँ और असमानताएँ हैं। उन्होंने इस्लाम की देन को तो प्रतिशत में नाप लिया किन्तु बौद्धों की भक्ति आन्दोलन में उपस्थित करुणा का प्रतिशत नहीं बताया। वास्तव में ग्रियर्सन से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी तक के विद्वान भक्ति आन्दोलन का विकास धर्म या उसके प्रभाव में ही खोजते रहे, जबकि भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं उसके मूल्यों को पारम्पारिक धर्माधारित शोषण के प्रतिरोध में ढूँढा जाना आवश्यक है। भक्तिकाल के आरंभिक विभूति अपनी अधिकांश ऊर्जा प्रचलित रूढ़ धर्म एवं मान्यताओं की प्रतिरोधी शक्तियों तथा विचारधारा में पा रहे थे, उनके अतिवादों से बचते हुए। उनका महत्तोद्देश्य था सामाजिक अंगों-उपांगों धार्मिक उपनिवेशवाद से मुक्ति दिलाना।

धर्म के उपनिवेशवाद से मुक्ति इन वर्गों-वर्णों के सन्तों के लिए एक पर्याय का तलाश भी थी, एक ऐसे पर्यायी धर्म संस्था की तलाश जो पारम्पारिक धर्म संस्था की तरह शोषण का आधार न हो। इस पर्याय के रूप में उन्होंने रूढ़ धार्मिक मान्यताओं को बदलकर उसमें यथोचित परिवर्तन करने के प्रयास किए और अध्यात्म को सर्वसुलभ करके उसे नामाधारित निर्गुण भक्ति के माध्यम से साकार करने का प्रयास किया। उनका अराध्य केवल निर्गुण ही नहीं था, बल्कि वह सर्वत्र व्याप्त था। उसे भजने के लिए न किसी देहुरे (प्रार्थनागृह) की आवश्यकता थी और न किसी मसीत की और न किसी खास इल्म की। बस आवश्यकता थी अपने आप को पढ़ने की। अपने अन्दर झाँकने की। इस प्रकार सन्तों ने न केवल भक्त को बल्कि ईश्वर को भी चारदीवारी के कैद से मुक्त किया। प्रचलित धर्म को सहज बनाने का

प्रयास उन्होंने किया किन्तु उनके अनुसार यह सहज धर्म भी सहज इसलिए नहीं था, क्योंकि प्रचलित धर्म की मान्यताएँ त्यागने की इसमें आवश्यकता थी। कबीर के अनुसार - सहज सहज सब कहे, सहज न चीन्हें कोय। सहज को अपने भीतर पहचानना होता है। रूढ़ियों से मुक्त धर्म में अपने आप को फिट करने की भी कुछ शर्तें थी। प्रचलित धर्म के उपनिवेशवादी मानसिकता से स्वयं को मुक्त कराना सबसे पहली शर्त थी। यही सहज को चीन्हना था।

रूढ़ परम्पराओं से धर्म को मुक्त कराने के लिए अराध्य के स्वरूप का निर्धारण नहीं, उसका स्वच्छन्द होना आवश्यक था। उसका प्रचलित नामों से परे जाना आवश्यक था। इस कारण एक ओर निर्गुण अराध्य ने प्रमुख स्थान पाया तो इसका दूसरी ओर ईश्वर की सर्वव्यापकता के विचार को पुनर्स्थापित करके किया गया। इस सर्वव्यापक ईश्वर को भले की कई पारम्परिक नामों से पुकारा गया हो, उसकी महिमा गयी गई हो, किन्तु कई नामों के प्रयोग के बावजूद भी सन्तों के ईश्वर एक ही हैं। इस एकेश्वरवाद के सन्तों ने ईसाईयत से लिया हो या ईस्लाम से यह भारतीय चिन्तन परम्परा का स्वाभाविक विकास रहा हो, इस पर विवाद करना अवांछनीय नहीं है, किन्तु इस तत्व को सन्तों ने सर्वप्रमुख तत्व बनाकर भक्ति के समाजदर्शन प्रस्तुत को किया। उन्होंने यह परवाह ही नहीं की कि यह नाम शैव हैं या वैष्णव, ईसाई हैं या इस्लामी। क्योंकि स्वाभाविक रूप इन नामों के पूर्वप्राप्त अर्थ उनके लिए बहुत अधिक मायने नहीं रखते थे। यह था सन्तों का सामाजिक-राजनैतिक के साथ-साथ भाषा-प्रतीकों को रूढ़ धर्म के उपनिवेशवाद से मुक्त कराने का प्रयास।

इसी मुक्ति के प्रयास के तहत नामदेव की कविताओं में आयी नामकेन्द्रित भक्ति पद्धति के आधिक्य को कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो स्वाभाविक रूप में वारकरी सम्प्रदाय में पहले से ही नामाधारित भक्ति का प्रचलन रहा है। वारकरी सम्प्रदाय में अधिकतर भक्त किसानी एवं श्रमजीवी संस्कृति से जुड़े हुए लोग थे, आज भी हैं। नामदेव का नाथपंथी गुरु द्वारा दीक्षित होना भी इसमें एक तथ्य है। हमारे विचार से इन बिन्दुओं को नामदेव की कविताओं में सर्वप्रमुख होती नामकेन्द्रित भक्ति की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है, न कि कारणों के रूप में। क्योंकि नामदेव के यहाँ सर्वप्रमुख होती नामा भक्ति को नाथ सम्प्रदाय में प्रचलित नाम उच्चारण पद्धति से अलगाया जा सकता है, उसे नामदेव की पूर्वपरम्परा मानते हुए। चूँकि नामदेव से पूर्व वारकरी सम्प्रदाय से सम्बन्धित कोई आधिकारिक साहित्य उपलब्ध नहीं है। ऐसे में नामदेव की भक्ति पद्धति में नामा भक्ति का सर्वप्रमुख होना, भले ही नाथ प्रभाव से माना जाए, नवीन दृष्टिकोण का विकास माना जा सकता है।

नामदेव के सभी साथियों ने अजीवन भक्ति की समानता के लिए संघर्ष किया, किन्तु उन्हें स्वीकृति नहीं मिली। स्वयं नामदेव को विठ्ठल मन्दिर से बाहर ढकेल दिया गया था -

“टाळ बिना लेके नामा राऊल में गया।

पूजा करते बहान उन्ने बाहेर ढकाया ॥”⁷¹

इन स्थितियों में उन्होंने नाथों एवं वारकरी सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया, जो किसी अन्य सामाजिक शाखा और किसी स्वार्थ की उपनिवेश हो। उन्होंने इसका समाधान नामाधारित भक्ति में पाया। नामदेव ने अपने समय की धार्मिक परिस्थितियों का समीप से निरीक्षण करने के पश्चात नामा भक्ति का चयन किया था। उन्होंने अपनी एक कविता में स्पष्ट वर्णन किया है कि

तीर्थों के नाम पर कैसी लूट मचा रखी है। “कलिकाल के अनुसार कोई अपना पराया नहीं पहचानता। भक्ति में ध्यान और सेवा रह नहीं गई है, केवल उसका अपभ्रष्ट रूप रह गया है। उजले बगलों का उन्माद छा गया है, जो हरि में भक्ति का नहीं, व्यापार का भाव रखते हैं। श्रुति या स्मरण का दिखावा करके मजारों में अपना ध्यान लगाए बैठते हैं। इन्हीं मतों की बाध्यता हो गई है, जो डायन का भ्रम फैला रहे हैं।”⁷² यह न केवल हिन्दू देवी-देवताओं-मन्दिरों की स्थिति थी, बल्कि मजारों के साथ भी यही हो रहा था। संभवतः इसी स्थिति को देखकर ग्रियर्सन ने भयाधारित भक्ति की स्थापना दी थी। इस धर्माधारित शोषण को मठ और गढ़ तोड़कर नहीं, बल्कि उनकी अनिवार्यता को कम करके, नामाधारित भक्ति द्वारा सन्त-भक्तों ने प्रतिकार करने का प्रयास किया।

नामदेव की कविताएँ श्रमजीवी-कारीगर वर्ग से उपजती हैं, जिसे प्रचलित धर्म पद्धतियों का बाह्याचार दो कारणों से संभव नहीं हो सकता था। एक तो वे भक्ति मुख्यधारा में प्रवेश नहीं पा सकता था। उनकी नाममात्र आय के स्तर से मुख्यधारा भक्ति की परम्परा का आर्थिक स्तर पर पालन नहीं किया जा सकता था। अपने रोजमर्रा के कार्यों को कर अपना चूल्हा जलाते हुए अपनी आध्यात्मिक शान्ति के लिए यह श्रमजीवी वर्ग पारम्परिक भक्ति पद्धति के आनुष्ठानिक विधियों को पूर्ण कर ही नहीं सकता था। (यदि करने दी जाए तो) उसके संस्कार तो पारम्परिक पद्धति से अनुकूलित किए गए होते थे। जिस कारण वह स्वयं को अभक्त, पापी, सांसारिक माया में डूबा हुआ, पातकी, नीच आदि मानता था। नामदेव की आरंभिक कविताओं में यही प्रवृत्ति पायी जाती है। यह भी एक कारण है कि भक्ति आन्दोलन में प्रायः प्रत्येक आरंभिक सन्त ने अपने श्रम के साथ भक्ति को जोड़ने का प्रयास किया है, चाहे वह कबीर, रैदास, नानक हो या नामदेव, चोखामेळा, सद्ना खाटिक, बंका महार या सेना नाई। क्या यह प्रवृत्ति नाथों के नाम उच्चारण में दिखाई देती है। इसे कहते हैं परम्परा का विकास और यह चिन्तनधारा का नहीं, आचरणधारा का विकास है। यह विशेषता निर्गुण कहे जाने वाले कवियों की केन्द्रिय प्रवृत्ति रही है।

चूँकि नामा भक्ति को स्थापित करने का महद्दोश्य नामदेव एक ऐसे सामाजिक वातावरण में कर रहे थे, जो पारम्परिक रूप से अनुकूलित किया गया था। एक ऐसा अनुकूलन जो पारम्परिक कथाओं, ग्रंथों द्वारा बड़े पैमाने पर युगों से किया जाता रहा था। जिसे धर्म का नाम दिया गया है। इन स्थितियों से परिचित नामदेव ने उसी परम्परा के ऐसे उदाहरण अपनी स्थापनाओं में खोजकर पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यह प्रयास उन टीका परम्पराओं से नितान्त भिन्न स्थापनाओं और विचारों पर आधृत था, जिसे शिवकुमार मिश्र⁷³ ने के. दामोदरन को उद्धृत करते हुए सविस्तार प्रस्तुत किया है। जो मध्यकाल के आरंभिक दौर में धर्म (वर्णाश्रम-धर्म) की पुनर्स्थापना के लिए की जा रही थी। नामाभक्ति को स्थापित करने के लिए नामदेव ने पारम्परिक कथाओं में से कुछ ऐसे उदाहरणों को चुना है, जो इन कथाओं के मुख्य पात्र नहीं थे, किन्तु नामाधारित भक्ति को पूर्णतः आधार देते थे। ऐसे पूर्व परम्परा के सन्दर्भों में नामदेव ने कथाओं, पात्रों एवं ग्रंथों के उदाहरण दिए हैं।

मराठी सन्त-भक्त कवियों ने आरंभ से ही श्रीमद्भागत गीता का आधार अपनी वैचारिक भूमिका बनाने के लिए किया है। चक्रधर, निवृत्ति, ज्ञानेश्वर की दार्शनिक जड़े कहीं-न-कहीं इसी ग्रंथ से जुड़ी हुई हैं। शिवकुमार मिश्र की गीता के सन्दर्भ में राय है - “वर्ण-धर्म और उस पर आधारित राज सत्ता के अपने वर्ग-हितों के लिए उसके हिमायतियों को ऐसे किसी ग्रंथ की, तद्युगीन स्थितियों में बेहद

जरूरत थी, जो उनकी और उनके द्वारा स्थापित सत्ता की रक्षा कर सके। भागवद्गीता ने शासक वर्ग की इस जरूरत को पूरा भी किया।”⁷⁴ आवश्यक नहीं कि नामदेव भी अपनी इस पुनर्व्याख्या में उसी उद्देश्य की पूर्ति कर रहे हो। न तो वे शासक वर्ग से आते हैं और न उसके संस्थापकों में से। विचारधारा के रूप में तो उन्होंने तत्कालीन स्थापित धार्मिक विचारधारा को चुनौती देने का कार्य इस पुनर्व्याख्या के माध्यम से किया। वे अपनी विचारधारा एवं महत्तोश्य के अनुसार गीता का पाठ प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे में सारी पुनर्व्याख्याओं को एक ही बक्से में बन्द नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार नामदेव द्वारा प्रस्तुत दूसरा आधार मिथकीय पात्रों का है। यहाँ भी उन्होंने ऐसे पात्रों का चुनाव किया है, जो न तो अधिक प्रचलित थे और न पारम्परिक अराधना पद्धति का पूर्णतः समर्थन करते थे। इन भक्तों में प्रह्लाद और उसके गुरु संडामर (या संडामल), पूतना, वाल्हा (रत्नाकर), द्रौपदी, सती, आदि पात्रों का समावेश होता है। इन पात्रों के चयन में दो प्रकार की दृष्टि काम करती दिखाई देती है। एक तो यह पात्र किसी भी स्थापित आराधना पद्धति से भक्ति न करते हुए भी भक्तों की श्रेणी में आते हैं। दूसरे इनमें से कई पात्र अपने पूर्वजीवन में घोर पापी कहे जाते हैं। किन्तु बाद के समय में भक्तों के रूप में प्रसिद्ध हुए। जैसे वाल्हा कथाओं के अनुसार डकैती किया करता था, बाद में वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रह्लाद ने कोई याग-यज्ञ या पूजन-अर्चन किया या करवाया नहीं था। पूतना पिशाचिनी मानी जाती है। सभी पात्र नामा भक्ति के कारण ही तरे और प्रसिद्ध हुए थे। इन सबकी रक्षा ईश्वर ने संकट की स्थितियों में ही की थी, जो कि तारणकर्ता के रूप में आते हैं।

अपनी नामा भक्ति को नामदेव ने अपनी जीवन की कई चमत्कारिक घटनाओं के माध्यम से भी सत्यापित करने का प्रयास किया है। जहाँ उनकी आर्त पुकार सुनकर अराध्य किसी-न-किसी रूप में उनकी सहायता करने आते हैं। इसी क्रम में नामदेव की कविताओं में चमत्कारिक कथाओं का समावेश होता है। नामदेव की चमत्कारिक कथाओं से सम्बन्धित कविताएँ अपेक्षाकृत बाद की जान पड़ती हैं, जिनमें आप बीती कथाओं के माध्यम से नामा भक्ति की महत्ता स्थापित की गई है। इन कथाओं में किसी भी अनुष्ठान के बगैर मात्र नामोच्चार और आर्त पुकार से ईश्वर का तारनहारी रूप प्रस्तुत किया गया है।

नामदेव अपने अराध्य को आपातकाल की स्थिति में याद करते हैं, जहाँ वे उनकी मदद करने अवश्यंभावी आते हैं। ऐसे पदों को निर्गुण-सुगुण की कसौटी कैसे लागू की जा सकती है। यहाँ नाम लेकर ईश्वर की आराधना की जा रही है, उसे पुकारा जा रहा है और वह स्वयं नारायण, कृष्ण आदि रूपों में प्रकट हो रहे हैं। ऐसे पद नामाधारित भक्ति को स्थापित करने के लिए रचे गए मालूम पड़ते हैं और इनके कथात्मक भाग का यही कथ्य है। ‘आदिग्रंथ’ में संग्रहित एक लम्बे पद में किसी राजा द्वारा गाय को काटकर उसे जीवित करने का आदेश नामदेव को दिया जाता है। ऐसा न कर पाने की हालात में धर्मान्तरण की शर्त उन पर लागू की जाती है। नामदेव की आर्त पुकार सुनकर साक्षात् ईश्वर गाय को जीवित करते हैं तथा इससे नामदेव की कीर्ति और बढ़ती है। राजा द्वारा नामदेव के भक्ति की परीक्षा लेना इसी ओर इंगित करता है कि नामदेव एक भक्त के रूप में अपने जीवन काल में प्रसिद्ध हो चुके थे। ध्यातव्य है कि गरुड पर उनकी मदद के लिए आनेवाले ईश्वर बगैर किसी अनुष्ठानिक कार्य के, केवल

नामस्मरण पर नामदेव की परीक्षा में उत्तीर्ण होने और करने आते हैं। नामदेव यहाँ अपने भक्ति के कारण सम्मानित भी किए जाते हैं।⁷⁵

इस प्रकार अपनी नामा भक्ति को स्थापित करने के लिए नामदेव ने विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया। इसे सर्वजनसुलभ मानते हुए एक प्रतिरोधी भक्ति पद्धति के रूप में पूर्व प्राप्त तमाम भक्ति पद्धतियों से श्रेष्ठ माना है -

“ज्यो कोई वसुधा दान दे आवे। पूर्ण जज्ञ करे करावे ॥
तीरथ बरथ कर स्नान। नही नहीं हरीनाम समान ॥1॥
ज्यो कोई ज्यावे हीमालये गले। काशी करवत लेकर मरे ॥
दसवे द्वारे काढे प्राण। नही नहीं हरिनाम समान ॥2॥
काया कष्टवे कलेवर जीवे। ना कुच खावे ना कुच पीवे ॥
गगन मंडळमों जोग ध्यान ॥ नही नहीं हरिनाम समान ॥3॥
आगली पिछली बात बनावे। नेम धरममें मन छुपावे ॥
च्यारो बेद पढे पुरान। नही नहीं हरिनाम समान ॥4॥
सद्गुरूकी जद कृपा भई। प्रेम भगत हरदे धर लाई ॥
कहे नामदेव भज भगवान। नही नहीं हरिनाम समान ॥5॥”⁷⁶

सन्यास, याग-यज्ञ, तीर्थ-व्रत, गंगास्नान, हिमालय गमन आदि कई मान्यताओं के आगे नामा भक्ति को खड़ा किया गया है। इसमें तत्कालीन प्रचलित नाथों (काया को कष्ट देनेवाले), महानुभावों (सन्यास को अनिवार्य धर्म माननेवाले) आदि मतों को नामा भक्ति में सम्मिलित करके एकता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वहीं इन सभी की आराधना सभ्यता के समकक्ष सर्वसुलभ नाम को माना गया है। यह पद नामदेव की उन विरल कविताओं में से एक है, जिनमें भावों या विचारों की एकता आद्यन्त टिकी रहती है।

नामदेव ने नाम का महत्व सन्तों के साथ रहकर जाना था, गुरु प्रसाद से पाया था। इसलिए वे हमेशा नाम को गाते रहने के लिए कहते हैं।⁷⁷ उनका कहना है कि इस नाम में नामदेव जैसे जन भी सहज तर जाते हैं।⁷⁸ इसलिए यह सर्वग्राह्य भक्ति पद्धति है। निष्कासन का दुःख जाननेवाला जब जीवनक्रम के नियमों को तय करेगा, तब उसका अधिकतम प्रयास निष्कासन करनेवाले मूल्यों के निष्कासन का रहेगा। यह बात नामदेव की नामा भक्ति पर अतिरिक्त जोर देकर उसे स्थापित करने के प्रयास में दृष्टिगोचर होती है। यह सर्वजनसुलभ ही नहीं है, अपितु न तो इसे कोई चुरा सकता है और न कोई इसे छीन सकता है। यह ऐसी सम्पत्ति है जिसे जुए में भी नहीं हारा जा सकता है। इसी आनन्द के मारे नामदेव और किसी पद्धति को नहीं देखना चाहते हैं, बस राम रसायन को ही जिह्वा से चखना चाहते हैं।⁷⁹ उन्होंने साफ शब्दों में कहा है कि यदि नाम को बिसर जाऊँगा तो सब हार जाऊँगा। इस नाम का उच्चारण करने के लिए तम-मन-धन वार दूँ। इसके लिए मुहूर्त या एक घड़ी भी व्यर्थ नहीं कर सकता, क्योंकि बार-बार ये आती रहती है और बनी ही रहती है। सुमिरन को श्वास भर-भरकर पीता रहूँगा। राम की रट रटता रहूँगा। अगर इसे बिसर जाऊँ तो रो दूँगा। इसके अतिरिक्त कोई आसन नहीं करना चाहता। बस रामनाम का धन लेकर मरना चाहता हूँ। उन्हीं के शब्दों में -

“अवनी बीसारू राम संभारू। जो रबीसारू तो सब हारू ॥1॥

तन मन हरी परीछीन वारी । घडी घडी महरत पल नही डारी ॥2॥

सुमीरन स्वासभरी भरी पीऊ । रंक राम गुड खाईर जीऊ ॥3॥

अगे मांडी राम रटी लेहु । जौर बीसारू तौ रोई देहु ॥4॥

नामदेव कहे ऐर असन करीहू । राम नाम धन लागो ही मरीहू ॥5॥”⁸⁰

यहाँ नामदेव नामा भक्ति के प्रति अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिसका महत्व न सिर्फ उन्होंने स्वीकार किया, बल्कि एक भक्ति पद्धति के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। उस गुड को खाना चाहते हैं, जो उनके जन्म का आधार है और मृत्यु पश्चात की पूँजी है। उनका विश्वास है कि जहाँ नाम लिया जाता है वहाँ सारे काम पूर्ण होते हैं।⁸¹ हर हर कहते हुए सब भ्रम मिट जाते हैं। इसे ‘उत्तम धर्म’ मानते हुए उन्होंने सामान्य जन की दृष्टि से धर्म की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। यह नाम कुल-जाति की बाधा से परे है। वह अंधे की लकड़ी के समान है। हर हर कहते हुए कोई दुःख नहीं होता। इस नाम के कारण अजामिल को बैकुंठ में स्थान मिला, इसी ने सुए को पढ़ाया, गणिका को तारा, द्रौपदी इसी के सहारे तर गई, पूतना भी हर हर कहते हुए तर गई। गौतमी सती शिला से नारी बन गई। नामदेव ऐसे हरि को प्रणाम करते हैं जिसे जपने मात्र से आपदा टल जाती है। इसके लिए पूर्वप्रचलित किन्तु कम ध्यान दिए जानेवाले कथा-पात्रों के उदाहरण देकर अपनी बात प्रस्तुत की गई है।⁸²

नाम लेने मात्र से सभी कलंक दूर हो जाते हैं और सभी पवित्र हो जाते हैं। नामदेव ने स्पष्ट रूप से कहा -

“राम संग नामदेव जिनको प्रत्यय आयी ।

एकादशी व्रत रहे काहे को तीरथ जाई ॥”⁸³

वारकरी सम्प्रदाय में वर्ष में दो बार वारी की जाती है और साथ ही नाम स्मरण का भी महत्व है। नामदेव ने नामा भक्ति को उस एकादशी वारी के भी पर्याय रूप में प्रस्तुत किया है। संग्रह बिनु न त्यागु के अकुंठ भाव से। वारकरियों के यहाँ जय जय राम-कृष्ण हरी के सदा उच्चारण के माध्यम से नामाभक्ति का महत्व रहा है किन्तु नामदेव ने दोनों वारियों को नियम रूप में न स्वीकारते हुए, नाम को सर्वप्रमुख बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने विचारों को आगे बढ़ाते हुए कहा है -नाम लेने से मात्र सनकादि तर गए हैं, जिन्होंने पार तक नहीं पाया था, अर्थात् जिन्होंने विभिन्न पद्धतियों से हरी के पूर्णतः समझा भी नहीं था। नामदेव मध्यकालीन उस वातावरण को प्रतिरोध कर रहे थे, जहाँ सामान्य जन को नरक की यातनाओं का भय दिखाकर बाह्याडंबर से युक्त भक्ति करवायी जाती थी। उन्होंने डंके की चोट पर कहा - नामदेव कहे सुनो रे सन्तों इब मोही समझी परी।⁸⁴

साथ ही नामदेव भाव एवं भक्ति की विभिन्न पद्धतियों के अस्तित्व को भी मान्य करते हुए दिखाई देते हैं। उनके अनुसार इन पद्धतियों में फल की चिन्ता हमेशा लगी रहती है। इसलिए वे दूसरी पद्धति नाम की ही मानते हैं जिसके उदाहरण उन्होंने बार-बार दिए हैं।⁸⁵ उन्होंने यह कहकर प्रतिरोध को और कड़ा कर दिया कि नाम के धन को छिपाया नहीं जा सकता।⁸⁶ जहाँ भक्ति अन्य पद्धतियों में मंत्रबद्ध करके या विशेष प्रशिक्षण लेकर आराधना के क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ता है, ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिससे वह एक प्रकार से गुप्त ज्ञान की श्रेणी में चला जाता है, वहीं नाम का धन देने से और अधिक बढ़ता है। यह अष्ट सिद्धि नव निधि के बराबर है।⁸⁷ इन्द्र को भी जो न प्राप्त हो सका

वह इसी नामा भक्ति से प्रह्लाद ने पा लिया। गोपियों ने जो पद पाया वह कोई नहीं पा सका। सब अर्थ, काम, मोक्ष मांगते हैं, किन्तु नामदेव तो -

“अर्थ धर्म काम की कदा मोषी मांगों।

दास नामदेव प्रेम भगती अंतरी जो जागो ॥”⁸⁸

अन्तर में बँसनेवाले प्रेम के आगे नामदेव ने अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को भी कमतर माना है। प्रह्लाद एवं गोपियों का उदाहरण भी उन्होंने इसी अर्थ में दिया है, न कि हरि मिलन की उत्कंठा में या मोक्ष पाने की लालसा के अर्थ में, जैसा कि इन कथाओं के रूढ़ अर्थभाग माना जाता है। नामदेव के यहाँ तरने का अर्थ मोक्ष ही नहीं होता। अपने-पराए से उठ जाना होता है। मोक्ष मोह से होता है, संसार से नहीं। वारकरी सम्प्रदाय ने अध्यात्म और संसार को साथ में जोड़कर भक्ति को महत्व दिया है, इसलिए वहाँ सन्यास धर्म को कभी मान्यता नहीं मिली। जिस महानुभाव सम्प्रदाय और रामदासी सम्प्रदाय ने सन्यास धर्म को केन्द्र में रखा, वह मठों तक ही सीमित रह गया, वह भी अपनी सारी ऊर्जस्विता के बावजूद। धर्म के स्थान पर अर्थ का प्रयोग तत्कालीन अर्थ केन्द्रित समाज की प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है, जहाँ धर्म दूसरी श्रेणी में चला गया था। धर्म एवं अर्थ व्यवस्था को अपनी दृष्टि से जोड़ते हुए नामदेव ने कृषक-श्रमिक संस्कृति के लिए अपनी दृष्टि से नामा भक्ति प्रस्तावित की है। उन्होंने लिखा -

“राम नाम खेती राम नाम बारी। हमारे धन बाबा बनवारी ॥1॥

या धनकी देशहु आधी काई। तसकर हारे नलगे कोई ॥2॥

दहदिसीं राम रह्या भरपुरी। सतनी नीयरे झाकत दुरी ॥3॥

नामदेव कहे मेरे करम न सोई। तकम साईसी करे न कोई ॥4॥”⁸⁹

ऐसा लगता है कि नामदेव से किसी ने पूछ लिया हो कि हमारे पास भक्ति की कितनी शक्ति है। हम अपनी आध्यात्मिकता का शमन कैसे करें, किस आधार पर भक्त बने। नामदेव ने संसार के धन के समक्ष नामा भक्ति को खड़ा कर दिया। हम खेती करते हैं, वहीं हमारी नाम के द्वारा भक्ति होती रहती है। हम एक नहीं दो तरह की खेती करते हैं, एक अनाज उपजाने की, दूसरी नाम की। यहाँ अप्रस्तुत रूप से नामदेव नामा भक्ति को एक प्रतिरोधी पद्धति के रूप में प्रस्तावित कर रहे हैं, जिसे कोई रोक नहीं सकता, कोई चुरा नहीं सकता, कोई छीन नहीं सकता, कोई लूट नहीं सकता, क्योंकि अनाज तो हमारा नहीं है, सामंत-जमींदारों का है, लेकिन इस नाम के खेती की सारी-की-सारी उपज हमारी है। जितना पाओगे उतनी ही बढ़ेगी। मध्यकाल में मन्दिरों का और मन्दिरों द्वारा लूटा जाना प्रसिद्ध है ही। नामदेव यहाँ इसी धर्माक्रान्ताओं के समक्ष चुनौती के रूप में भी नामा भक्ति पर इतना जोर दे रहे थे। तुम्हारे पास धन है तो हमारे पास नाम का धन है। हम इसकी खेती बाड़ी करते हैं, इसके लिए हमें किसी विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं है। सर्वव्यापी को पाने से तुम क्या रोकोगे हमें। इस धन को पाकर हम बनवारी अर्थात् बनिया से अधिक धनवान हो गए हैं। उनकी नामा भक्ति को न छिपाया जा सकता है और न ही कतम (खत्म) किया जा सकता है।

नामा भक्ति को प्रस्तावित करने के क्रम में नामदेव ने कई स्थानों पर पारम्परिक भक्ति पद्धतियों की भी खुलकर आलोचना की है। उनके अनुसार वे लोग निराले होते हैं जो वेद-पुराण पढ़कर तरते हैं, हम उनमें से नहीं हैं। ऐसे में क्या आवश्यक नहीं था कि वे स्वयं नामा भक्ति में भी समावेश

होने वाले दिखावे से परिचित न हो। क्योंकि उन्होंने नामा भक्ति में आनेवाले दिखावे की भी खुलकर आलोचना की है और उसकी अपेक्षाओं को भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार -

“काहेकु कीजे ध्यान जपना। जो मन नाह सुध अपना ॥1॥

साप काचली छांडे बीसही न छांडे। उदकमे बक ध्यान मांडे ॥2॥

स्यभके भोजन कहा लुकाना। तैसे बछटे देवपुजाना ॥3॥

तेरी पूजा सेवा एरे। प्रोली पराई काठी देरे ॥4॥

नामदेव का स्वामी भानी लई न्हागरा। रामभाई न परी भगरा ॥5॥”⁹⁰

अर्थात् भक्ति स्वार्थ साध्य या दिखावे के लिए नहीं अपितु अपने आप को पहचानने के लिए, बाहर-भीतर धोने के लिए की जाती है। उनका स्पष्ट मत है कि पाखण्ड की भक्ति से राम नहीं रीझते उसके लिए चित्त लगाना पड़ता है। जल में खड़े बगुले की तरह ध्यान नहीं लगाया जाता बल्कि मन की सुध से किया जाता है।

इस प्रकार उन्होंने उन श्रोताओं और वक्ता का भी धिक्कार किया है जो नाम नहीं लेते।⁹¹ उसी प्रकार नाम सुनने या किसी के द्वारा नाम का उच्चारण करवाने से भी तुझे कैसे मुक्ति मिलेगी। यहाँ नामा भक्ति में पुरोहिती के लिए कोई स्थान नहीं। स्वयं भक्ति और खुद ही पुरोहित बनना पड़ता है। उन्होंने लिखा है - ‘किसी और के घर नगाड़े बजते हैं और बिना श्रवण के ही घर में हरी का नाम गूँजता है, चलो ठीक है। किन्तु बिन बादल वर्षा होती है, उसे कौन पूछता है। क्योंकि दूसरों के नाम उच्चारण में तेरा भाव कैसे आएगा।’⁹² एक अन्य पद में उन्होंने लिखा है -

“पाडपडोसन पुछले नामा। काप है छानछवाई हो।

तो पै दुगुणी मजुरी देउ। मोको बेडी देउ बताई हो ॥1॥

रिवाई बेडी देनन जाई। देख बेडी रह्यो मसाई ॥धृ॥

हमारे बेडी प्राण धारा बेडी प्रत। मजुरी मागे जो कोई छान छवाने हो।

लोक कुटुंब सब हूते तोरे। तो आपन बेडी आवे हो ॥2॥

ऐसा बर्णन साकू। सब अंतर सब ठायी हो।

गुंगे महा अमृत रस चाख्या। पुछे कहन न जाई हो ॥3॥

बेडीके गुण सुनरी बाई। जलद बाण ध्रुव थाप्यो हो।

नामेके स्वामी सिया बहोरी लंका बिबिखन आप्यो हो ॥4॥”⁹³

विभीषण को राम द्वारा अपनाना एक मूल्य बन गया है, जो जन्मतः किसी के ऊँच-नीच होने के मिथ को तोड़ता है। विभीषण भी रावण के ही कुल में जन्मा था, किन्तु अपने कर्मों से राम द्वारा अपनाया गया, इसी कारण निर्गुण कवियों ने उसे अपने उदाहरण के रूप में चुना। ध्यातव्य है कि निर्गुण कवि मिथकों से उन्हीं पात्रों का चुनाव करते हैं, जो उनके विचारधारा का आधार बनने योग्य हो और उन्हीं पात्रों या प्रसंगों को अपनी कविता में स्थान देते हैं, जो कविता के कथ्य को सम्प्रेषित करे। यहाँ मिथकीय पात्र उनकी कविता को सामान्य जन के लिए अधिक प्रेषणीय बनाने के काम में आते हैं। इससे अधिक कोई हेतु इन कवियों का मिथकीय पात्रों या घनटनाओं के उपयोग का शायद ही कोई होगा। भक्ति में स्वयं को उतारना पड़ता है, तभी अपना छप्पर छवाया जा सकता है। किसी और द्वारा यह कार्य हमारे लिए नहीं किया जा सकता, जैसा कि कबीर ने कहा है, जो घर फूँके आपणा होवे हमारे साथ

। नामदेव भी यहाँ वही बात कर रहे हैं। यदि किसी और द्वारा भक्ति दुगनी मजदूरी देकर करवायी जाती या उसका उपाय पाया जाता तो सारे धनी लोग तर गए होते, अर्थात् भक्ति पर सामंतियों का अधिकार होता और रावण जैसे लंकापति तर जाते, जिसके पास अमाप धन था, सोने की लंका थी। भक्ति की बेड़ी में रहे बगैर भक्ति को जाना नहीं जा सकता, न इसे किसी से पूछा जा सकता है, यह आत्मानुभूति का विषय है, जिसे खरीदा, बताया, पूछा नहीं जा सकता है।

नामदेव की नामा भक्ति निर्गुण पंथीय कवियों, वारकरियों इतना ही नहीं सगुण, शैव-वैष्णव, नाथ आदि सभी को मान्य हो सकती है। क्योंकि नामदेव ने ध्यान और सुध को ही अनिवार्य मानते हुए सभी प्रकार के नामों का प्रयोग अपनी इस पद्धति में किया है। उनके यहाँ किसी भी नाम से परहेज़ नहीं किया गया है और सभी प्रकार के नाम उन्होंने हिन्दी कविताओं में प्रयुक्त किए हैं। यदि वे किसी विशिष्ट पंथीय अथवा वैचारिक नामों तक अपने-आप को सीमित रखते तो यह एक प्रकार का एक्सक्लूज़न होता। वारकरी भी राम-कृष्ण-हरि के समतुल्य हर को भी महत्व देते हैं। नामदेव अल्लक भी पुकारते हैं।⁹⁴ बैकुंठनाथ से लेकर विठ्ठल, राम से लेकर निरंजन का प्रयोग अपने अराध्य के लिए करते हैं। कई नामों के प्रयोग के बावजूद राम के नाम को सबसे अच्छा माना है -

“माली के घर केले अच्छे। केल बेल तेल गो।

संतांमध्ये गोविंद अच्छे। गोकुलमध्ये श्याम गो।

नामेमध्ये राम अच्छे। राम स्याम गोविंद गो।”⁹⁵

इस प्रकार नामदेव की कविताओं में आयी नामा भक्ति का प्रस्तावित रूप मात्र किसी भक्त हृदय या भाव विह्वलता का ही परिणाम नहीं था। प्रतिरोधी संस्कृति का निर्माण अपने निर्मूल का मूल के माध्यम से करने का प्रयास उन्होंने हिन्दी कविताओं के माध्यम से किया है। इसे भक्ति मूल्यों को व्यापक करने का प्रयास समझना चाहिए। आन्दोलन को सर्वसम्मत एवं सर्वव्यापक बनाने का प्रयास मानना चाहिए। नामा भक्ति व्यापकता का एक माध्यम है। सुमिरन से वे संसार की श्रेणीबद्धता से भी पार होना चाहते हैं, करना चाहते हैं।

4) जो गुरु देव बुरा भला एक - नामदेव की कविता में गुरु की छवियाँ

हिन्दी आलोचना में नामदेव के समाजदर्शन एवं भक्तिदर्शन में गुरु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है। यही स्थिति मराठी आलोचना में नहीं है। मराठी वैचारिक क्षेत्र में नामदेव की वैचारिक दृढ़ता एवं व्यापकता को ज्ञानदेव के आस-पास के सन्त-भक्तों से भी जोड़कर देखा जा सकता है। ऐसे में उनकी हिन्दी कविताओं में आयी गुरु एवं सन्तों की छवियों को देखना अत्यन्त आवश्यक है।

नामदेव के पुरखों से उनके परिवार में विठ्ठल भक्ति की परम्परा रही है। उसी को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने भी विठ्ठल भक्ति को अपनाया था। अत्यन्त कम आयु में उनके द्वारा विठ्ठल मूर्ति द्वारा दूध पीने की घटना ने उन्हें एक भक्त के रूप में प्रसिद्ध कर दिया था। ऐसे में भक्ति का पूर्ण मर्म न जानकर वे स्वयं को भक्तश्रेष्ठ मानते थे। इस समय निवृत्ति-ज्ञानदेव आदि सन्त-भक्तों की भी ख्याति भी हो चली थी। समाज से बहिष्कृत सन्तों का यह वर्ग अपने समाजदर्शन को अभी भक्ति की दृष्टि समझने और उसे बदलने का प्रयास कर रहा था। ऐसे में गर्विले भक्त नामदेव इन सन्तों से मिलने आए और इनसे आयु में बड़े होने के नाते अपेक्षा करने लगे कि सभी मेरे चरणस्पर्श करे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

निवृत्ति ने तो चरणस्पर्श किए किन्तु ज्ञानदेव ने ऐसा नहीं किया, जिसका नामदेव को बहुत दुःख हुआ। इसके बाद वह घटना घटी जिसका आचार्य शुक्ल ने कहीं किसी सुदूर गाँव में तीर्थयात्रा के दौरान घटित होना बतलाया। आचार्य शुक्ल के अनुसार, “एक बार ज्ञानदेव इन्हें साथ लेकर तीर्थयात्रा को निकले। मार्ग में ये अपने प्रिय विग्रह विठोबा (भगवान) के वियोग में व्याकुल रहा करते थे। ज्ञानदेव इन्हें बराबर समाझाते जाते थे कि भगवान क्या एक ही जगह हैं, वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की अनुभूति तुम्हें न होगी, तब तक तुम पक्के न होंगे। ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के कहने पर एक दिन संतपरीक्षा हुई। जिस गाँव में यह संतमंडली उतरी थी, उसमें एक कुम्हार रहता था। मंडली के सब सन्त चुपचाप बैठ गए। कुम्हार घड़ा पीटने का पिटना लेकर सबके सिर पर जमाने लगा। चोट पर चोट खाकर भी कोई विचलित न हुआ। पर जब नामदेव की ओर बढ़ा तब वे बिगड़ खड़े हुए। इस पर वह कुम्हार बोला नामदेव को छोड़ और सब घड़े पक्के हैं। बेचारे नामदेव कच्चे घड़े ठहराए गए। इस कथा से यह स्पष्ट होता लक्षित हो जाता है कि नामदेव को नाथपंथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिए ज्ञानदेव की ओर से तरह तरह के प्रयत्न होते रहे।”⁹⁶ यह सही है कि यह संतपरीक्षा मुक्ताबाई के कहने पर हुई किन्तु यह किसी तीर्थयात्रा के दौरान नहीं हुई थी। ज्ञानेश्वर आदि सन्तों के साथ नामदेव की तीर्थयात्रा करने की घटना प्रामाणिक नहीं मानी जाती है। जिस कुम्हार का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है, वह गोरोबा काका थे। यह मुक्ताबाई का नामदेव की अहंकार वृत्ति पर काबू पाने का उपाय था। इसके बाद निवृत्ति और मुक्ताबाई ने सभी संत मंडली के साथ मिलकर नामदेव को विसोबा खेचर के पास भेज दिया। किसी को संदेह हो सकता है कि स्वयं निवृत्ति, ज्ञानदेव या गोरोबा ने नामदेव को अपना शिष्य क्यों नहीं बनाया। इसे मनोविज्ञान के द्वारा समझना आवश्यक है।

नामदेव को यहाँ काफी बुरा लगा, क्रोध आया। वे गए औढ़ा नागनाथ। अपने भावी गुरु के पास। जाकर देखा तो क्या विसोबा शिवलिंग पर पैर रखकर सो रहे हैं। नामदेव को यह दृश्य देखकर काफी बुरा लगा। उन्हें एकबारगी यह भी महसूस हुआ कि कहाँ फँस गया। विसोबा को जगाने से बेहतर उन्होंने शिवलिंग को ही बगल करना आरंभ किया। किन्तु यह क्या हो रहा है! जिधर भी शिवलिंग रखो, वह विसोबा के चरणों के नीचे ही आ रहा है। अन्त में नामदेव थक गए और चुपाचाप बैठ गए। तब जाकर उन्हें गुरुदेव ने जागकर समझाया कि भाव पत्थर में नहीं हृदय में होता है। यही बात ज्ञानदेव समझाते तो गुस्साए नामदेव को समझने में संभवतः समय लगता। एक पूर्ण गुरुदेव की मूर्ति नामदेव ने अपनी कविताओं में खड़ी करते हुए गुरु को अपने जीवन का मार्गदर्शक बताया है। “यही बात सुनकर नामदेव सावधान हो गया और गुरु के चरणों से लिपट गए।”⁹⁷ गुरु से उन्होंने न केवल आध्यात्मिक ज्ञान पाया अपितु समाज को देखने की दृष्टि भी पायी। “प्रेम से भगत को भी हृदय में धरने की सीख पायी।”⁹⁸ इतना सब देनेवाले गुरुदेव में भी नामदेव ने सुई में धागा पिरोए जाने की भाँति मन लगाया।⁹⁹ किन्तु एक अत्यज द्वारा एक ब्राह्मण से गुरुपद को प्राप्त करना कुछ लोगों को रास नहीं आया। कुछ ने आपत्ति भी जताई होगी। ऐसे लोगों को नामदेव ने ‘भोंदु’ कहा है, जो उन्हें देखकर रोने लगे हैं।¹⁰⁰ एक पद में उन्होंने लिखा है - “हमेशा नाम गाते रहिए जिससे नामदेव को धीरज मिलता रहेगा। उसका नाम अपने में समा लो आपको सद्गुरु मिला है। जो सन्तों से मिलकर कार्य करता है, उसे अनहद शब्द सुनाई देता है। ज्योत ज्योति में ही समा जाती है। मैंने इस बात को गुरु के प्रसाद से जाना

है। रतन कमल की कोठरी है जिसमें बिजली की चमकार दूर नहीं होती है। उसमें मेरी अपना आत्मा बहुत रही है। जहाँ अनहद सूर खुलता है वहाँ दीपक खुब जलता है। गुरुप्रसाद से मैंने जाना। नामा के जैसे जन सहज समा जाते हैं।”¹⁰¹

यहाँ नाथों जैसी अभिव्यक्ति है। यहाँ नामदेव पहली बार रहस्यवादी होते दिखाई देते हैं। निःसंदेह विसोबा खेचर की यह मुद्रा नहीं थी। यह किस गुरु की वे बात कर रहे हैं। यह कविता किसी नाथपंथी कवि कविता लगती है। नाम, गुरु, रहस्यवाद, जोति जोति समानी...आदि निर्गुण कविता के पूर्ण लक्षण यहाँ दिखाई देते हैं। किन्तु गुरु प्रसाद के लिए जाति आड़े नहीं आती, यह बात भी उन्हें स्पष्ट हो गई थी। उन्होंने लिखा है - “छिपि के यहाँ जन्म लेकर भी मैंने गुरूपदेश पाया और संत प्रसाद से हरी को पाया।”¹⁰² यह बात ध्यान देने योग्य है कि नामदेव के गुरु खेचरी मुद्रा भी सिखाते हैं और वारकरी संस्कारानुरूप गाते भी हैं। निर्गुण-सगुण, वारकरी-नाथ, शैव-वैष्णव आदि पद्धतियों को नामदेव ने अपनी दृष्टि से खेचरी मुद्रा कहा है। सामाजिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का बहिष्कार उनकी इस ‘खेचरी मुद्रा’ में नहीं है, वह एक समन्वित दृष्टि और अराधना पद्धति है।

नामदेव के अनुसार, “गुरु ने सुफल जनम किया है।”¹⁰³ “नामा जिसे प्रणाम करता है, वह परमतत्व है, जिसे सद्गुरु ने दिखाया है।”¹⁰⁴ नामदेव ने अपने एक पद में लिखा है -

“सुफल जनम मोको गुरु किना। दुःख बिसार सुख अंतर दिना ॥1॥

ग्यान जन मोको गुरु दिना। रामनाम बिन जीवन मन हिना ॥2॥

नामदेव स्मरण कर जाना। जग जीवन से जीव समाना ॥3॥”¹⁰⁵

गुरुप्रसाद को याद कर रहे हैं, जिन्होंने उन्हें घट के भीतर सुखको पाने की राह दिखाई, नामस्मरण का मंत्र दिया और ज्योति-ज्योति समानी का ज्ञान दिया, और सबसे प्रमुख जन के पास पहुँचाया।

इसके अतिरिक्त नामदेव का एक ऐसा पद है, जो गुरु के प्रति उनकी भक्ति से ओत-प्रोत है। यह सम्पूर्ण पद गुरु की आदर्श स्थिति की ओर इशारा करता है। यह पद न केवल गुरु के गुण गाता है, अपितु गुरु से भी वे अपनी अपेक्षाओं को प्रस्तुत करते हैं। गुरुदेव के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी आशाएं-आकांक्षाएँ और आदर्श स्थिति का शब्दांकन करते हुए लिखा है - “गुरुदेव वही है जो मुरारी से मिलाए, जो पार उतारे, जो बैकुंठ तारे, जो जीवन भर रहे, या जिवितमरे, और वही सत सत सत सत होता है। बाकी सब देव झुट झुट झुट होते हैं। सच्चा गुरु देव जो नाम को दृढ़ करे, जो दस दिशाओं में दौड़े, जो पंच विकारों से दूर रहे, जो झूट पर न मरे अर्थात् साथ दे, जिसकी वाणी अमृत के समान हो, जिसकी कहानी अकथ हो, जो अमृत देह हो, जो नाम जप देता हो, जिसे भुवनत्रय सुझे, जो उच्च पद को समझता हो, जिसका सिस अकाश की ओर हो, जिससे सदा वास होता हो, जो सदा बैरागी होता हो, जो परनिंदा को त्याग चुका हो, जो बुरा भला में समानता देखता हो, जिसके ललाट पर उसके सद्गुणों के बारे में दिखता हो, जो गुरुदेव कंद को अधिक महत्व देता हो हीरे की अपेक्षा, जो देहुरा घुमा देता हो, जो छप्पर छाता हो, जो सहजता से समझाता हो, जो अडसठ नाया हो, जिसने चक्र लगाया हो, द्वादश सेवा की हो, जो सब दुखों में मेवा खाता हो, जो संशयों को तोड़ता हो, जो यम से भी झूठ बोले, जो भवजाल से तरे, जिसे जन्म न मरण हो, जिसे अडसठ बिबहार हो, जो पार उतारे। ऐसा यदि कोई मिल जाता है तो गुरुदेव बिन और दुजा कोई नहीं। ऐसे गुरु को नामदेव सर नवाता है।”¹⁰⁶

नामदेव के आदर्श गुरु में वारकरियों, नाथों, महानुभावीय, निवृत्ति, प्रवृत्ति, सगुण, निर्गुण, कापालिक, शैव, वैष्णव आदि सभी प्रकार के गुरु समाहित दिखते हैं। इस गुरु के प्रति दृष्टि को समकालीन शिक्षा के व्यापारिकरण के दौर में आध्यात्मिक से परे दृष्टि से देखना भी आवश्यक है, जहाँ शिक्षकी एक पेशा बन गया है, वहाँ नामदेव एक ऐसे गुरु की कल्पना को प्रस्तुत करते हैं, जो आज की आवश्यकता बन गई है। इस प्रकार नामदेव आधुनिक शिक्षाविदों से आगे निकल जाते हैं।

इस प्रकार नामदेव के जीवन में गुरु के स्थान को कायम करते हुए मात्र उन्हें सगुण से निर्गुण तक शिफ्टिंग में ही उनके योगदान को सीमित कर देना उचित नहीं है। गुरु के प्रति उनकी दृष्टि कई अधिक व्यापक इसलिए भी है कि उन्हें विसोबा जैसे गुरु को मिले थे। इसके साथ ही उन्होंने अपने समकालीन पंथों के गुरुओं पर नज़र भी रख रखी होगी। ऐसे में आवश्यक हो गया था कि नामदेव ने गुरु के आदर्श रूप को अपनी इन कविताओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का बिड़ा उठाया। नामदेव स्वयं चोखामेळा, बंका महार, जनी दासी के गुरु थे। ऐसे में उन्होंने इन गुरुमूल्यों को अपने परवर्ती पीढ़ी तक व्यावहारिक रूप में पहुँचाया था, जिसे तुकोबा तक युगानुरूप प्रसारित होते देखा जा सकता है।

5) 'कहत नामदेव सुन भई साधु, साधु संगत धरना रे' : नामदेव का संत्संग और संतमंडल

नामदेव के जीवन एवं काव्य को दिशा देने का कार्य वास्तविक रूप में उनकी संगति को दिया जाना चाहिए। नामदेव एक लम्बी एवं विविधांगी सन्त परम्परा को जोड़ते और उससे जुड़ते दिखाई देते हैं। पारम्परिक धार्मिक आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण ज्ञानेश्वर, नाथ सम्प्रदाय की अराधना पद्धति से पूर्णतः परिचित अपेक्षाकृत अधिक विद्रोही निवृत्तिनाथ, अनुभवी गोरोबा कुम्हार, अतिशूद्र कही जाने वाली जातियों के चोखामेळा, बंका महार, शैव-ब्राह्मण किन्तु सबसे ऊपर उठ चुके गुरु विसोसा खेचर, सावता माली, नरहरी सुनार, स्त्री सन्त-भक्तों में दासी विशेषण से प्रसिद्ध जनाबाई, सोयराबाई, बुद्धिमान मुक्ताबाई आदि नामदेव का सन्त परिवार था। तो उत्तर भारत में रैदास, कबीर, त्रिलोचन, सेना नाई के साथ अपने शिष्य लब्धा और जल्ला का साथ मिल 'जिनके साथ उन्होंने पंजाब का भ्रमण किया'।¹⁰⁷ यह था उनका उत्तर भारत का संतमंडल। इसके अतिरिक्त नामदेव के अनुसार कुछ 'पराए सन्त' भी थे जो 'दूर से ताकते रहते थे और चोरी-चोरी देखते रहते थे'।¹⁰⁸ इन कई मतों को नामदेव विभिन्न रंगों की तरह और व्यक्ति को पानी की तरह देखते हैं, जो इन रंगों में मिलकर उससे एकाकार हो जाता है। उन्होंने लिखा है -

“लोक एक अनंत वाणी। सही जावन सारंगपाणी ॥1॥

जिहीं जिहीं रंगे लोकराता वाहा रंगी जन नरा चाला।

जिहीं जिहीं मारग संसार जाइला सोपथ देरे वचिला ॥2॥

नीबो नई कोई एक चिन्हें झुटे भ्रमी भुली इला।

प्रणवत नामो परम तंतरे सद्गुरु निकट बताईला ॥3॥”¹⁰⁹

अर्थात्, लोगों में अनंत वाणी पायी जाती है। सही जीवन सारंगपानी ही की तरह होता है। पानी की तरह जिस रंग में मिलो उस जैसा हो जाओ, यहाँ अद्वैतवाद के साथ-साथ सभी मतों को मान्यता देने की लोक प्रवृत्ति की ओर ईशारा किया गया है, जिसे नामदेव सही जीवन कहते हैं। अर्थात् वे विरोधों के सामंजस्य के हिमायती दिखाई देते हैं। जिस मार्ग पर संसार जाता है वह पथ देर से समझता है। जहाँ किसी एक से नहीं निभती है वहाँ भ्रमी झूठे से भूल जाते हैं अर्थात् सभी मार्गों को वे

अलग अलग मानकर एक पर नहीं टिकते। नामदेव परम तंतरे को प्रणाम करता है जिन्होंने सद्गुरु की बाट समीप ही बता दी। परम तंतरे से अभिप्राय ज्ञानेश्वर या निवृत्तिनाथ ही नहीं, बल्कि वह तमाम 'संतपरिवार' से है, जिन्होंने नामदेव के घर के समीप ही उन्हें गुरु पाने में सहायता की थी। यहाँ नामदेव किसी एक मार्ग पर टिके रहने का उपदेश देते हैं।

नामदेव ने भले ही गुरु बिसोबा से दृष्टि पायी और अपने भी शिष्य बनाए हैं, किन्तु उन्होंने गुरु-शिष्य परम्परा को उसी परम्परा के रूप में आगे नहीं बढ़ाया जैसी वह चली आ रही थी। नामदेव के बाद के किसी भी मराठी सन्त-भक्त कवि ने (एकनाथ और रामदास की परम्परा को छोड़कर) गुरु के पास आसन लगाकर गुरुदीक्षा नहीं ली। न तो मठ संस्था को स्थापित करने का प्रयास किया और न गद्दी स्थापित की। वारकरी सम्प्रदाय गाँवों-कस्बों में फैले किसानों-मज़दूरों-कारीगरों का सम्प्रदाय था, जो अपने रोजमर्रा के काम के साथ भक्ति को संभव बनाता था। इस अर्थ में उसने गुरु-शिष्य की परम्परा में भी अमूलचूल परिवर्तन ला दिए। इस कारण इस सम्प्रदाय ने उस दृष्टि का विकास ऐतिहासिक विकास-क्रम में स्वाभाविक रूप से किया, जिसके तहत प्रत्येक सन्त समानधर्मा, समान पूजनीय, गुरुसमान माना गया। इस कारण अपने-आप वारकरियों के मूल्यों में सन्तों का महत्व बढ़ गया, बगैर किसी भेदभाव के। यही कारण है कि नामदेव ने लिखा है 'छिपि के यहाँ जन्म लेकर भी संत प्रसाद से मैंने हरि को पा लिया है'।¹¹⁰ उनके अनुसार 'उन्होंने कुसंगियों के साथ भी काम किया'¹¹¹ किन्तु 'साधुओं की संगति में रहकर ही पहचान मिली'।¹¹² नामदेव की प्रायः प्रत्येक कविता में सन्तों के उल्लेख मिलते हैं। उनकी एक कविता में ऐसे भी उल्लेख आते हैं, जहाँ वे कहते हैं 'मेरे कोई संगी साथी नहीं हैं'।¹¹³ इसके विपरित एक पद में उन्होंने लिखा है - 'मेरे सभी साथी पक्के हैं और नाम्या उनके साथ मिलकर गाता है'।¹¹⁴ इन दोनों विरोधी परिस्थितियों का सामना नामदेव को अपने जीवन में करना पड़ा होगा, इसमें कोई अचरज नहीं। वारकरी सम्प्रदाय आज लोकप्रियता के जिस चरम शिखर पर है, उसके आरंभिक समय में नामदेव उसके मूल्यों को परिवर्द्धित-परिवर्तित करने के लिए कार्य कर रहे थे। ऐसे में विरोधों से उनका सामना होना स्वाभाविक कहा था।

संतसंग एक मूल्य के रूप में भक्ति आन्दोलन में स्वीकृत था। नामदेव ने अपने समय के ऐसे साधुओं को भी फटकारा है, जो साधुत्व-संतत्व का ढोंग करते हैं। उन्होंने बार-बार साधु संगत धरने की सलाह सामान्य पाठक-श्रोता वर्ग को दी है। उनकी साधु की व्याख्या ही में दो अनिवार्यताएँ हैं - एक गुरु उपदेश और दूसरा साधु की संगत। इस प्रकार नामदेव की हिन्दी कविताओं में भक्ति आन्दोलन के एक मूल्य के रूप में 'साधु संगत धरना रे' का प्रस्ताव है। संतसंग अपनी सामाजिक दृष्टि के विकास पर्याय उनकी विचार प्रक्रिया में दिखाई देता है और यह नामदेव अपनी कविताओं के माध्यम से स्थापित कर रहे थे।

6) सभ्यता समीक्षा

नामदेव अपने परिवेश और उस के मनो-विचारों में चले आते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संघर्ष की उपज थे। उन्होंने अपने समय-समाज को संतमंडल के परिचय के बाद अपनी दृष्टि से देखना आरंभ किया, रूढ़ दृष्टि को त्यागकर। उन्हें अपने समाज हो रही गतिविधियों का ज्ञान था। उन्होंने लिखा -

“काल भई बापा सह्या न जाई । महा भैभीत जगत कृत खाई ॥1॥

अनेक मुनेश्वर उझो जाई । सुरनर थाके करत उपाई ॥2॥

कंपे पीर पेगंबर देव । रीखी कंपे चौरासी देव ॥3॥

चंद सुरज घर पवन आकाश । पाणी कंपे अगनीगरास ॥4॥

कंपे लोक लोकांतर खंड । तेभी कंपे असथीर प्यंड ॥5॥

अवीचल अभै नारायण देव । नामदेव प्रणवे अलख अभेव ॥6॥”¹¹⁵

ऐसे माहौल में जहाँ महानुभाव पंथ के संस्थापक चक्रधर निर्गुणोपासना का दावा करते हुए भी मठाधीश की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे । अपनी सीमित दृष्टि का परिचय देते हुए तत्कालीन लोकप्रिय देवताओं की दुर्भावनापूर्ण शब्दों में आलोचना करना प्रारंभ कर दी थी । उन्होंने श्री विठ्ठल के सन्दर्भ में कुछ ऐसी ही कथाएँ प्रचलित करने का प्रयास किया है ।¹¹⁶ नामदेव-चोखामेळा की मराठी कविताओं से पता चलता है कि वारकरी सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख एकमात्र श्रीविठ्ठल के देवालय पर पुरोहिती आधिपत्य स्थापित हो गया था । धार्मिक-आध्यात्मिक पद्धतियों में इतनी खाँचाबन्दी हो गई थी कि वहाँ व्यक्ति किन्हीं सामाजिक रूढ़ियों के कारण भक्ति के दायरे से बाहर किया जाता था । किसी भी व्यक्ति को अपनी भक्ति पद्धति के चुनने का अधिकार नहीं था । निवृत्ति, सोपान, ज्ञानदेव और मुक्ताबाई के संघर्ष से पता चलता है कि धर्म के दरबार में करुणा नहीं, तानाशाही स्वार्थपरक कानूनों का पलड़ा भारी था । इस परिवार के संघर्ष और त्रासदीय अन्त का नामदेव के मन-मस्तीष्क पर भी गहरा असर हुआ होगा, आहत कर दिया होगा । ज्ञानेश्वर परिवार के सामाजिक-धार्मिक संघर्ष ने नामदेव में धर्म के प्रति क्रिटिक को प्रस्तुत किया । इससे बढ़कर उन्हें निवृत्ति-गोरोबा आदि मंडल के साथ व्यापक दृष्टिकोण के प्रति अग्रसर किया । अपनी पूर्वपरम्परा प्राप्त भावधाराओं से मुक्ति पाने में बड़ी वेदनाओं का अनुभव होता है । गोरोबा काका के पीटने से पिटने से नामदेव को इस वेदना निजात पाने में सहायता मिली, बौद्धिक विमर्श के लिए उन्हें तैयार किया और इन आध्यात्मिक-सामाजिक संघर्षों के दौरान विवेक का दामन थामे रहने लिए ढाढस बाँधा ।

यही सामाजिक-ऐतिहासिक परिवेशगत कारण है कि नामदेव के इस ट्रान्सफर के दौर में उनकी कविताओं में ध्रुवीय विलोमता वाली कई प्रकार की धारणाओं का उपयोग यथावत दिखाई देता है । एक तरफ उनकी कविताओं में इन ध्रुवीय विलोमता वाली धारणाओं को दार्शनिक नहीं, अपितु सामाजिक और व्यावहारिक स्तर पर समझने-समझाने का प्रयास किया गया है तो दूसरी तरफ उन्हें जस-का-तस भी स्वीकार करना आवश्यक है । उन्होंने ‘जाति’ की सामाजिक मान्यता या सामाजिक स्तरीकरण को भले ही सामाजिक और आध्यात्मिक समस्या के रूप में रेखांकित करते हुए उसकी आलोचना की है, जिसमें व्यापकता भी दिखाई देती है । कई बार कर्मों के आधार पर समातना, मनुष्यत्व के आधार पर समानता की बात नामदेव ने अपनी हिन्दी कविताओं में की है और जातिगत ऊँच-नीच की धारणा का जमकर विरोध भी किया है । कई बार उसे नामदेव की नीरी भावात्मकता ने इस स्तरीकरण को स्वीकार भी किया है । जैसे अपनी एक कविता में उन्होंने अपने अराध्य से शिकायत करते हुए लिखा है -

“हीन दिन जाति मोरी पंढरी के राया ।

ऐसा नामा दरजी तूने कायकू बनाया ।”¹¹⁷

इसी के साथ पूर्वजन्म की धारणा को भी नामदेव ने दोहराया है। उनके अनुसार चौरासी लाख के फेरों में घुमते-घुमते जीव थक जाता है, इसमें तन की सूध कौन लेता है। जिस माता की कोख से तू जन्म लेगा उसे भी तू कष्ट देगा, क्योंकि गर्भ की यातना तेरे कारण तुझे ही नहीं तेरी माता को भी होती है। इस प्रकार नामदेव पूर्वप्रचलित धारणाओं का उपयोग अपनी क्षमता एवं अपने ऐतिहासिक परिवेश के अनुसार करते दिखाई देते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि मात्र जीव की ही नहीं उस माता पर भी जाती है, जो गर्भ की यातना सहती है।

वैचारिक विकास के साथ-साथ नामदेव की कविता तत्कालीन सभ्यता की समीक्षा में भी खड़ी होती है। नामा भक्ति को स्थापित करने के लिए आवश्यक था कि उन्हें धार्मिक आडंबरों एवं पूर्वप्रचलित साधना पद्धतियों की निस्सारता को बयाँ करे और सामाजिक समता स्थापित करने के लिए सामाजिक विभेदीकरण पर प्रहार किए। नामदेव की कविता पहला कार्य तो खूब जमकर करती है और दूसरा उसी के सहायक रूप में कभी-कभार करती दिखाई देती है। उनके द्वारा जाति का किया गया विरोध इस दृष्टि से देखा जा सकता है, जिसे कई आलोचकों ने भक्ति काव्य में व्याप्त आराधना की समानता की माँगों के साथ जोड़कर देखा है। ऐसे में एक प्रश्न खड़ा होता है कि यदि इन सन्त-भक्तों ने आराधना की समानता के लिए आन्दोलन खड़ा किया था और ऐसी माँग वे प्रस्तुत कर रहे थे, तो वे प्रचलित साधना पद्धतियों की खुलकर आलोचना क्योंकर कर रहे थे? यदि उनका उद्देश्य ऐसी समानता की स्थापना करना था, तो क्या वे ऐसा करते? नामदेव ने भी तत्कालीन प्रचलित आराधना पद्धतियों की खुलकर आलोचना की है। इतना ही नहीं, जिस वारकरी सम्प्रदाय से उन्हें जोड़ा जोता है, उसकी आराधना पद्धति की भी उन्होंने समीक्षा की है। यह आलोचना पद्धति अपने में आराधना पद्धतियों तक ही सीमित नहीं थी, उसने तत्कालीन सम्पूर्ण सभ्यता को अपने केन्द्र में रखा था, जो धर्म या सामाजिक रचना के रूप में असमानता को प्रश्रय दिया करती थी। नामदेव के यहाँ यह सभ्यता समीक्षा न सिर्फ आराधना की पद्धति की समानता के लिए अपितु सामाजिक समानता के साथ-साथ नामा भक्ति को तमाम प्रचलित आराधना पद्धतियों के पर्याय रूप में स्थापित करने के प्रयास रूप में की है। उन्होंने इसी प्रयास के रूप में लिखा है -

“ज्यो कोई वसुधा दान दे आवे । पूर्ण जज्ञ करें करावे ॥

तीरथ बरथ कर स्नान । नही नही हरी नाम समान ॥1॥

ज्यो कोई ज्यावे हीमालय गले । काशी करवत लेकर मरे ॥

दसवे द्वारे काढे प्राण । नही नही हरिनाम समान ॥2॥

काया कष्टवे कलेवर जीवे । ना कुच खावे ना कुछ पीवे ।

गगन मंडळमों जोग ध्यान । नही नही हरिनाम समान ॥3॥

अगली पिछली बात बनावे । नेम धरममें मन छुपावे ।

च्यारो बेद पढे पुरान । नही नही हरिनाम समान ॥4॥”¹¹⁸

अपने द्वारा प्रस्तावित नामा भक्ति को स्थापित करने के लिए भी नामदेव ने पारम्परिक आराधना पद्धतियों की आलोचना कई रूपों में की है। इसके पश्चात धर्म के क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न रूढ़ियों की आलोचना की ओर भी ध्यान दिया। अपने आप को साधु कहनेवालों को भी उन्होंने ‘भोंदु’ कहा है। यह ऐसे साधु थे जो नामदेव के गुरुदीक्षा लेने और उनके समाज से विद्रोह करने वाले सन्तों के

साथ रहने वाले सन्तों एवं उनकी भक्ति पद्धतियों पर प्रश्न चिन्ह लगाते थे। नामदेव ने लिखा है, “ठीक है हम ठाकुर को भूल गए हैं, लेकिन इसे जानकर तुम क्यों दिवाने हुए जा रहे हो। हम यदि गंदे नाले थे और बगैर तुम्हारी कृपा के शुद्ध कुँआ होते जा रहे हैं तो तुम अपने आप को शुद्ध कहनेवाले क्यों रो रहे हो। चन्दन के साथ यदि नीम का पेड़ भी चन्दन हुआ जा रहा है, तुम निरर्थक हिंगनों, क्यों रोना रो रहे हो। गुरु के मेहरबानी से नामा साधु बना है, तुम्हारी नहीं और इसे देखकर यह भोंदुओं की दुनिया रोने लगी है।”¹¹⁹ इससे पता चलता है कि नामदेव-निवृत्ति आदि कवियों को अपनी भक्त मंडली स्थापन कर, अपनी विचारधारा का विकास करने के प्रयास में काफी चुगलियों, बातों का सामना करना पड़ा था। नामदेव आदि के गुरुदीक्षा लेने की नवीन परम्परा को भी काफी मुसीबतों से गुजरना पड़ा होगा, क्योंकि यह पारम्परिक किसी भी व्यवस्था को नकारते हुए शूद्रों-अतिशूद्रों को तक अपने में समानेवाली व्यवस्था थी, जिसमें चोखा, बंका, जनी आदि उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत थे। इन नवीन विचारों का विरोध करनेवाली मठसंस्था का प्रतिरोध नामदेव ने अपनी इस प्रकार की कविताओं में किया है।

चूँकि नामदेव का उद्देश्य नामा भक्ति के रूप में एक प्रतिरोधी और वैकल्पिक भक्ति पद्धति को सर्वव्यापी तथा पाखंडरहित भक्ति पद्धति के रूप में अपना एवं उसे प्रस्थापित करना था। ऐसे में पूर्व-परम्परा से चली आती हुई, नाम स्मरण वाली परम्परा से अपनी इस पद्धति को अलगाने के लिए उन्होंने इसके कुछ मूल्य तय किए हैं। मसलन उसे पहले की तरह दिखावे के लिए न किया जाए। जैसे बगुले को देखने पर लगता है कि वह ध्यान लगाकर एक स्थान पर जल में खड़ा है, किन्तु उसकी दृष्टि जल की मछली पर टिकी रहती है और वह उसे अपना शिकार बनाता है। वैसे ही कुछ भक्त दिखावे की भक्ति करते हैं और सुधरने का ढोंग करते हैं। नामदेव ने ऐसे ढोंगियों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि यह ऐसे साँप होते हैं, जो मात्र केंचुल छोड़ते हैं, विष नहीं। वह भक्ति का दिखावा करते हुए अपना विष समाज में फैलाने की फिराक में रहते हैं, और समय मिलते ही ऐसा वह कर भी देते हैं।

नामदेव की कविताओं का अधिकांश पाखण्ड-खण्डन का हिस्सा धर्म की समीक्षा में खर्च हुआ है। उन्होंने इसमें भी अधिकांश समीक्षा नामाभक्ति का दिखावा करनेवाले ढोंगियों की है। यह ध्यान देने की बात है कि जिस भक्ति पद्धति को नामदेव स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, वह है तो परम्परा से चली आती हुई नाम स्मरण की, किन्तु वे उसे पूर्व-परम्पराओं से प्राप्त आडंबर से मुक्त करके एक प्रतिरोधी शक्ति के रूप में पहचान गए थे। इसी कारण वे उसे पूर्ण मन से अपने रोजमर्रा के काम करते हुए भी करने का प्रयास कर रहे थे। उन्होंने स्वयं लिखा है -

“सीवणा सीवणा सीउ सिऊ। राम बिना हूं कैसे जीऊं ॥3॥

अनंत नाम का सिऊ बागा। जा सीवत जमका डर भागा ॥4॥

सुरतकी सुई प्रेम का धागा। नामेका मन हरिसो लागा ॥5॥”¹²⁰

अर्थात् नामदेव नामा भक्ति को श्रमिक जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयास कर रहे थे। इसी प्रयास में उन्होंने प्रचलित साधना पद्धतियों की आलोचना की है। निर्गुण कवियों की प्रचलित धर्म की आलोचना को हिन्दी में प्रायः उनके धर्म सम्बन्धी अधूरे ज्ञान, कभी-कभार तो अज्ञान के रूप में भी देखा गया है। किन्तु इसी रूप में देखा जाए तो स्थिति ठीक विपरित दिखाई देती है। वास्तविक रूप में इन कवियों ने प्रचलित धर्म साधनाओं या आराधना पद्धतियों की आलोचना इनके आडंबरों एवं इसके साधारण मनुष्य अथवा श्रमिक वर्ग की अनुपलब्धता और उनके आर्थिक क्षेत्र के बाहर होने के कारण की

है। साथ ही उनके लिए भक्ति पद्धति का एक ऐसा रूप विकसित करने का प्रयास किया है, जो श्रम के साथ, जीविका के कार्यों के साथ, भक्त हृदय को भी आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करे, बगैर किसी बाधा के। नामदेव भी नामा भक्ति का विकास इसी रूप में करने का प्रयास कर रहे थे, जिसका विकास कबीर, रैदास आदि कवियों में दिखाई देता है।

नामदेव के यहाँ धार्मिक रूढ़ियों के साथ सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना को इसी के एक भाग के रूप में देखा जा सकता है। एक ऐसे सामाजिक संरचना की आलोचना जो श्रमिक वर्ग को अपने कार्य की बाध्यता और पूर्वप्रचारित शर्तों पर भक्ति करते रहने की अनिवार्यता पर टिकी थी। इस प्रतिरोध में जाति प्रथा का विरोध, अराध्य से निजी संबंध एवं प्रचलित धर्म की आलोचना इन कवियों ने की है। मूर्ति पूजा का विरोध भी इसी के चलते भक्ति काल के आरंभिक कवियों में इतने प्रखर रूप में दिखाई देता है। इसे कई इतिहासकार एवं आलोचक इस्लाम का प्रभाव मानते हैं, किन्तु यह उस श्रमिक वर्ग से आए कवियों का प्रचलित धर्म की उपरोल्लेखित व्यवस्था के प्रति न सिर्फ विरोध का भाव था, अपितु उसके समकक्ष पूर्ण व्यवस्था खड़ी करने की जद्दोजहद थी। अकारण ही नहीं कि बाद के एकनाथ, सूरदास, रामदास, तुलसीदास आदि कवियों ने भक्तिकाल के इन आरंभिक कवियों की विचारधारा का इतना जमकर विरोध किया और खंडन-मंडन की प्रवृत्ति ने फिर से इतना जोर पकड़ लिया। एकनाथ का विरोध मुखर नहीं था, किन्तु उसमें पूर्वपरम्परा को स्थापित करने का भाव रहा है, रामदास में वह खुलकर आता है और अपने चरचमोत्कर्ष पर भी पहुँचता है।

7) नामदेव की 'कलिकाल' की अवधारणा

कई सामाजिक अवधारणाओं को अपनाने के बावजूद नामदेव ने उसमें अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप आवश्यक परिवर्द्धन किए थे। इनमें से नामदेव द्वारा प्रयुक्त 'जाति' की अवधारणा पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार नामदेव की दो कविताओं में 'कलिकाल' का स्पष्ट उल्लेख तथा कुछ स्थितियों का वर्णन किया गया है। 'कलयुग' भारतीय उपमहाद्वीप की केवल एक कालगणना ही नहीं, अपितु इसके पीछे मूल्यदृष्टि काम करती दिखाई देती है। कुछ विशिष्ट धार्मिक नियमों से प्रचालित जीवन मूल्यों के ह्रास को कलीकाल का नाम दिया गया है। नामदेव ने इसे परम्परा प्राप्त अर्थ के साथ अपनी दृष्टि से भी उपयोग किया है। इससे न सिर्फ नामदेव की मूल्य-दृष्टि का पता चलता, बल्कि उनके काव्य-विकास एवं उनकी विचारधारा की शिफ्टिंग को लेकर जो विवाद खड़ा किया गया है, उसका भी उत्तर मिलते हैं। जो नामदेव को सगुण से निर्गुण बने हुए कवि मान बैठे हैं, उनका मात्र इन दो पदों से समाधान किया जा सकता है। इन पदों में पहला है -

“काल भई बापा सह्या न जाई। महा भैभीत जगत कृत खाई ॥1॥

अनेक मुनेश्वर उझो जाई। सुरनर थाके करत उपाई ॥2॥

कंपे पीर पेगंबर देव। रीखी कंपे चौरासी देव ॥3॥

चंद सुरज घर पवन आकाश। पानी कंपे अगनीरास ॥4॥

कंपे लोक लोकांतर खंड। तेभी कंपे असथीर प्यंड ॥5॥

अवीचल अभै नारायण देव। नामदेव प्रणवे अलख अभेव ॥6॥”¹²¹

इसके ठीक बाद की कविता है -

“कैसें तीरत बहु कुटील भयो। कली कह चीहन देसी नहीं नडीयो ॥1॥

कैसी सेवा कैसे ध्यान । जैसे उजल बग उनमान ॥2॥

भाव भुजंग भणयो हारी । सुरतीसी बाणा मती मजारी ॥3॥

नामदेव भणे बहु इही गुणी बाध्य । डाईणी ग्रभ सकल गजर बाध्य ॥4॥¹²²

सबसे पहले हमें दोनों पदों की भाषा पर ध्यान देना चाहिए । यह दोनों हिन्दी कविताएँ मराठी पाठ परम्परा से ली गई हैं, फिर भी इनमें कोई भी मराठी शब्द नहीं है । यह दोनों पद 'आदिग्रंथ' में भी संग्रहित हैं । इसका यह अर्थ लिया जा सकता है कि नामदेव ने यह पद उत्तर भारत में अपनी यात्रा के दौरान, अपनी मातृभूमि छोड़ने के काफी बाद में रचे हैं । नामदेव के समय तक महाराष्ट्र की धार्मिक और राजनैतिक परिस्थिति इतनी गंभीर नहीं हुई थी, जितनी इन कविताओं में चित्रित की गई थी । नामदेव को यदि गुरुदीक्षा के बाद निर्गुण कवि माना जाए, तो उनकी कलिकाल की धारणा में समा नहीं पाएंगे । इनमें जहाँ एक ओर तीर्थों के कुटिल होने का, मुनेश्वर, सुरनर, पीर-पैगंबर उल्लेख किया गया है, वहीं दूसरी ओर उजल बग ध्यान, प्रणवे अलख अभवे का उल्लेख है इन कविताओं को उनकी अवधारणाओं के अतिरिक्त इस रूप में भी देखा जाना चाहिए कि मन्दिरों तथा अन्य धर्मस्थलों की हो रही दुर्दशा को नामदेव कलिकाल का नाम दे रहे हैं और अपने धर्म में आयी बुराइयों को भी इसी के अन्तर्गत समाहित कर रहे हैं । इस पूर्णत्व से उनकी कलिकाल की अवधारणा बनती है । किसी विशिष्ट वर्ग के लिए कलिकाल का आरोप उनके यहाँ नहीं है । इसके अतिरिक्त निर्वैक्तिक करके देखे तो एक ऐसे काल का वर्णन है, जो कहा नहीं जा सकता था, जो भयभीत करता था । क्या इसी प्रकार की कविताओं को देखकर जॉर्ज ग्रियर्सन ने हमारे यहाँ 'डर पर आधारित भक्ति' की कल्पना नहीं की होगी? ऐसे में सारे भक्ति काल में कलिकाल शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई कविताओं को देखना रोचक होगा । इससे प्रत्येक समाज की मूल्यदृष्टि का विकास एवं उसका विशिष्ट परिस्थितियों का नज़रिया स्पष्ट होगा, जो सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए अनिवार्य है ।

सारांश

नामदेव ने अपने जीवन में कई समाजों, उनके रीति-रिवाजों, मान्यताओं, संरचना पद्धतियों को देखा । उनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा भी होगा । उनकी दृष्टि में किसी भी धुरी पर जाने की जल्दी नहीं है । वास्तविक रूप में उन्होंने किसी भी अन्तिम धुरी को कभी नहीं चुना । चाहे वह निर्गुण-सुगुण हो, शैव-वैष्णव हो, खंडन-मंडन हो या कोई विशिष्ट मतवाद हो । नामदेव की यही दृष्टि उनकी कविताओं में व्याप्त है, चाहे तो कोई उन्हें विरोधाभास कह सकते हैं । उन्होंने 'सीवणा' का श्रम करते हुए 'सुमरी सुमरी उतरे पार' का अनन्त मार्ग सुझाया, जहाँ 'मन हरि सो लागा' के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं है । अपने 'पीव' से मिलने के लिए 'बहुरिया' ने 'कहां कर जाती कहां कर पाती' की घोषणा तक कर दी ।

नामदेव की कविताओं में तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों के प्रति धर्म समीक्षा के माध्यम से आलोचना की गई है । उन्होंने अपनी प्रत्येक धारणा के पीछे परम्परा का आधार भी पाया और संभवतः इसलिए उसे अधिक सामाजिक बनाने के लिए उसमें नीतिमत्ता और सामाजिक मर्यादाओं को भी ध्यान में रखा । नामदेव की कविता सीधे सामाजिक रूढ़ियों से कम ही टकराती हैं, किन्तु उसकी परतें खोलने पर वह एक व्यापक तबके की बात करती नज़र आती है । उसने कई स्थानों पर तलख टिप्पणियाँ भी की

है, किन्तु एक परदे में अपनी आग को छिपाकर। अपनी ऐतिहासिक स्थितियों को समझकर नामदेव ने कई मर्यादाओं का पालन किया तो कई बार चुनौतिपूर्ण भाषा में भी अपनी बात प्रस्तुत की। 'नामा भक्ति' को स्थापित करने का उनका प्रयास ही उनकी कविताओं में अन्य बातों को आधार रूप में ग्रहण किया गया है। उन्होंने कहीं दावा नहीं किया कि यह भक्ति पद्धति उनकी अपनी देन है। उन्होंने इसे परम्परा से प्राप्त किया और वैसा उल्लेख करते हुए, नामा भक्ति को श्रमिक-किसान-कारीगर वर्ग के अनुकूल सर्वव्यापक बनाकर परम्परा को सौपते हुए विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में अपना सामाजिक दायित्व बखूबी निभाया। जैसा कि शिवकुमार मिश्र ने सुझाया है, हमें भक्ति आन्दोलन के विरोधाभासों को भी समझना चाहिए। इसी कथन को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि हमें सन्त-भक्त कवियों की उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को भी समझना चाहिए जिसने इन विरोधाभासों को जन्म दिया था। इसी प्रकाश में सम्पूर्ण भक्ति काल को समझने का प्रयास आगे भी किया जाना चाहिए।

4.2.7 भानुदास एवं सेनानाई

भानुदास ने अपनी हिन्दी कविताओं में अपने भक्ति-भावों को बड़ी ही सादगी से अभिव्यक्त किया है। उनके दोनों पद कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित हैं, जो वारकरियों के तर्ज पर ही लिखे गए जान पड़ते हैं। इनमें से एक पद में "प्रातः यशोदा कृष्ण को प्रभाती गाकर जगा रही है -

उठो तात मात भये प्रात रजनी सो तीमीर गई
मीलत बाल सकल गुवाल सुंदर कन्हारि ॥
जोगो गोपाल लाल जागो गोविन्द लाल जननी बलि जाई ॥2॥
संगी सब फिरत बिमन तुम बीन नहीं छुटत दयन ।
त्यजो शयन कमल नयन सुंदर सुखदाई ॥3॥
मुखते पट दूर कीजौ, जनन कु दर्ष दीजो ।
दधी खीर मांग लीजो, खीर खांड मिठाई ॥4॥
जपत जपत शाम राम सुंदर मुख सदा राम
थाटी की छुट कछु भानुदास पायी ॥¹²³

दूसरे पद में जमुना के तट धेनु चरानेवाले मोहन का चित्रण किया गया है। दोनों पदों में भानुदास ने अपने निजी भक्ति भावों की अभिव्यक्ति की है।

'आदिग्रंथ' में जिस सैण के नाम से एक पद संकलित है, यह वही सेनानाई हैं। उनकी एकमात्र कविता आरती है। इस पद में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि स्वामी रामानन्द से उन्होंने रामभक्ति का मार्ग प्राप्त होने का उल्लेख किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे रामानन्द के समकालीन थे। त्रिलोचन की तरह उनकी एकमात्र रचना भी वैयक्तिगत भक्ति का शब्दांकन है।

4.2.8 एकनाथ की हिन्दी कविताओं का विवाधांगी अध्ययन

बहुरंगीयता एकनाथ की कविताओं प्राण है। उन्होंने काव्य के क्षेत्र में लोक से शास्त्र मिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनकी हिन्दी और मराठी में लिखित कविताओं में जितनी विविधता

मिलती है, उतनी किसी भी मराठी सन्त-भक्त कवि की कविताओं में नहीं मिलती है। यह विविधता काव्य की विषय-वस्तु और रूप के स्तरों पर मिलती है। लोक और शास्त्र का, दर्शन और काव्य का, धर्म और व्यवहार का ऐसा संगम उन्होंने किया है, जो काव्य में दुर्लभ माना जाता है। उन्होंने मराठी में जब प्रबंध काव्य लिखे तो उसमें भी शिखर को छूने का प्रयास किया और जब उन्होंने हिन्दी-मराठी मुक्तक लिखे तो उसे निश्चित ऊँचाई पर पहुँचाया, जिस तक पहुँचना आज भी कष्टसाध्य है। विषय वस्तु के स्तर पर उन्होंने सामान्य जन से लेकर मुल्ला-मौलवी, पंडित पुरोहित, साधु, फकीर, भांड, जोगी, सपेरा, गोसाँई, भविष्यवेत्ता, गोप-गोपियों, राज दरबार के प्रतिनिधी ही नहीं, विविध प्राणियों को अपनी बात रखने का माध्यम बनाकर कविताओं के पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया। उनका हरेक पात्र उनके द्वारा स्वीकृत विचारधारा का वाहक है। उन्होंने अपनी इन कविताओं द्वारा सामान्य जन को दृष्टि में रखकर उन्हें दार्शनिक-आध्यात्मिक रूप से शिक्षित करने का प्रयास किया है। इसी कारण उनके प्रायः सभी पात्र लोकधुनों में बात करते देखे जा सकते हैं। ऐसा लगता है एकनाथ गद्य से अधिक पद्य में और उससे भी अधिक गीतात्मकता में विश्वास रखते थे। उनकी गेय कविताएँ शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त नहीं हैं, किन्तु वह अधिक लोकधुनों की ऋणी हैं। उन्होंने तत्कालीन समाज में संवाद को स्थापित करने का प्रयास अपनी कविताओं के माध्यम से किया, भले ही वह संवाद सामाजिक समस्याओं से अधिक दार्शनिक मान्यताओं को लेकर किये गये हों। उनकी कविताओं का रूप और भाषा उनके पात्रों द्वारा निर्धारित की गई है, किन्तु पात्रों के संवाद एकनाथ ने स्वयं रचे हैं और प्रचलित संवादों में नया अर्थ भरा है। उनकी कविताओं की इन विभिन्न रंगछटाओं का अध्ययन निम्न बिन्दुओं में विभाजित करके किया जा सकता है।

1. एकनाथ का पात्र चयन

एकनाथ की हिन्दी कविताओं को समझने के लिए उनके द्वारा चयनित पात्रों का अध्ययन भी आवश्यक है। यह पात्र चयन उनकी मूल्य दृष्टि, साहित्यिक सूझ-बूझ, लक्ष्य श्रोता-पाठक और दार्शनिक पीठिका की जानकारी देता है। भले ही एकनाथ ने अपनी सारी हिन्दी कविताएँ मुक्तक के रूप में लिखी हैं और उनकी प्रायः प्रत्येक हिन्दी कविता में पात्रों की उपस्थिति बनी हुई है। यही पात्र उनकी कविताओं का कथ्य, रूप, कहन शैली आदि काव्य-तत्वों के निर्णायक बने हुए हैं। एकनाथ ने हिन्दी में भारूड काव्यरूपों में गवळण (गौळण), फकीर, मुंडा, भांड, नानक, जोगी, बैरागी, बुलबुल और संवाद शीर्षक कविताओं की श्रृंखलाएँ लिखी। इनमें से सर्वप्रथम गवळण पर चर्चा।

मराठी की ही तरह एकनाथ ने हिन्दी में गवळण के माध्यम से कृष्ण की बाल लीलाओं, बाल क्रीडाओं, बाल सुलभ चंचलताओं, बाल मन पर होनेवाले प्रभावों एवं बालक के स्वाभाविक शरारतों का चित्रण किया है। उनके द्वारा चित्रित ग्वाल वधुएँ अथवा ग्वाल बालाएँ दूध, दही आदि बेचने मथुरा हाट जा रही हैं अथवा हाट से लौटकर आ रही हैं। कहीं-कहीं वे अपनी भटकी गऊँ ढूँढते हुए कृष्ण के ग्राम तक आ पहुँची हैं। कुछ कविताओं में वे अपने रोजमर्रा के कार्य-कलापों में व्यस्त हैं और कृष्ण उन्हें तंग कर रहे हैं। पारम्परिक कथा की तरह कई स्थानों पर वे पानी भरने के लिए यमुना जा रही हैं या पानी की गगरिया भरकर लौट रही हैं। एक कविता में तो वे पड़ोस के गाँव से भूली-भटकी कृष्ण के गाँव आ पहुँची हैं। एकनाथ की अधिकतर मराठी कविताओं की तरह ही हिन्दी कविताओं में भी चित्रित कृष्ण बालक के रूप में ही हैं। वे प्राचीन कथा प्रसंगों के अनुसार ही इन ग्वालनों को विभिन्न पद्धतियों

से परेशान कर रहे हैं। कभी हाट-बाज़ार जाती हुई इन बालाओं की दूध-दही भरी मटकी तो कभी यमुना से जल भरकर लाती हुई मटकी फोड़ रहे हैं। कभी ग्वालनों का आँचला पकड़कर फाड़ रहे हैं तो कभी अपने रूप से मोहित करते हुए उनकी गऊओं को गायब कर रहे हैं। वे माखन चोर भी हैं। अपनी तुतली बोली में कुछ बोलने का भी प्रयास कर रहे हैं और ग्वालनें भी चुटकी लेते हुए कह रही हैं,

“देखे देखे गे जशोदा माय छे

तोरे छोरीयाने मुझे गारी देव छे ॥1॥

जमुना के पनीया में ज्यावछे

बीच मील के घागरिया फोड़ छे ॥2॥

मैंने ज्याके हात पकर छे

देखे आपही रोव छे ॥3॥

एका जनार्दनी गुन गाव छे

फेर जनम नहीं आव छे ॥4॥¹²⁴

अर्थात् ग्वालनें माता यशोदा से शिकायत करने जा रही हैं, यह कहकर वे बालक कृष्ण की चुटकी ले रही हैं। यहाँ तक तो ठीक है कि उन्होंने अपनी पारम्परिक कथा को अपनी भक्ति भावना व्यक्त करने के लिए कृष्ण कथा के इस विशिष्ट भाग को चुना। इस सर्वश्रुत कथा में एकनाथ ने कोई भी नई उद्भावना नहीं की है या ऐसा प्रयास तक नहीं किया। ध्यातव्य है कि इन मुक्तक कविताओं को जोड़कर पूर्ण कथा का पता भी नहीं लगाया जा सकता है। जब तक की पाठक इस कथा से पूर्णतः परिचित न हो और वह यह कविताएँ समझने में असमर्थ होगा तथा ऐसे अनभिज्ञ पाठक-श्रोता के लिए यह कविताएँ लिखी भी नहीं गई हैं। वास्तविक रूप में एकनाथ ने कृष्ण की बाललीलाओं के कुछेक प्रसंगों को अपनी कविता का विषय बनाकर अपनी दार्शनिक विचारधाराओं के बिन्दु उसमें रेखांकित करने चाहे और इन प्रसंगों को उसी रंग में रंगकर प्रस्तुत किया है। ‘गवळण’ शीर्षक से लिखी गई इन ग्यारह कविताओं के प्रसंगों में कोई आन्तरिक तारतम्यता नहीं है और न ही क्रमवारिता है। इन कविताओं में कोई आन्तरिक सम्बन्ध है तो केवल इन पात्रों के बीच और कथा के पारम्परिक होने में। इन कविताओं में एकनाथ ने अपने दृष्टिकोण को ही सर्वोपरि मानकर गोपियों का माध्यम के रूप में चुनाव किया। उन्होंने इस पारम्परिक कथा में बालकृष्ण के स्वाभाविक शरारती चरित्र को महत्व न देते हुए गोपियों के भक्तिभाव को अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्व दिया है।

बालकृष्ण बालक से अधिक साक्षात् परब्रह्म हैं। ये ग्वालाएँ इन कविताओं में आयी हैं कि वे एकनाथ की दार्शनिक विचारधारा के माध्यम बन सके। न तो इन कविताओं में इन ग्वालाओं का प्रेम अभिव्यक्त हुआ है और न ही कोई भाव पूर्णतः आ पाया है। वे जहाँ कहीं अपने भावों को अभिव्यक्त करती हैं, वहाँ एकनाथ के दर्शन की मुखरता उसे दबोच डालती है। इस कारण ग्वालाओं की भक्ति और उनके भाव अन्ततोगत्वा कवि के ही भाव लगते हैं, जिस पर विशिष्ट दार्शनिक रंग चढ़ चुका है। वैसे तो गोपियाँ इन कविताओं में मर्यादित भावों की ही अभिव्यक्ति करती हैं। जिस एक कविता में सर्वाधिक उनके भावों की अभिव्यक्ति हुई है उस कविता को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है -

“यहाँ की बात नहीं मेरी आवछे।

तोरे चरण कमल मैं ध्याव छे ॥1॥

सुंदर तु नंद नंदन लाल छे ।
 गलां शोभे वैजयंती माल छे ॥2॥
 पीत पीतांबर घोंगरी याछे ।
 गोपाल नाचती तोरे सात छे ॥3॥
 एका जनार्दनीं रखत गावडी छे ।
 चित्त जड़े पावडी छे ॥4॥¹²⁵

इस कविता में मात्र कहने को अपनी बात गोपियाँ कह रही हैं, किन्तु सर्वत्र कवि का दृष्टिकोण ही हावी दिखाई देता है। अन्तिम दो पंक्तियों के कारण ऊपर की अन्य पंक्तियों का सम्पूर्ण सन्दर्भ बदल जाता है। साथ ही कई भावों का मिश्रण भी दिखाई देता है। कुछ पंक्तियों में सगुण भक्ति के अनुसार चरण वन्दना की गई है, तो कुछ पंक्तियों में रूप वर्णन किया गया है तथा कुछ स्थानों पर साथ नाचने की बात की गई है। अन्त की पंक्तियों में चित्त जुड़ने और गावडी रखने की बात एक साथ की गई है। इस कविता की ही तरह कई स्थानों पर लगता है कि गोपियाँ एकलाप कर रही हैं। कहीं-कहीं बालकृष्ण की क्रीडाओं का चित्रण किए बगैर ही अस्वाभाविक रूप से गोपियाँ शिकायतों का अम्बार लगा देती हैं। जबकि कवि के पास बालोचित व्यवहार का चित्रण करने का पर्याप्त अवकाश था।

इस कविता ही तरह अन्य स्थानों पर भी दार्शनिकता इतनी प्रबल हो जाती है कि कथा या प्रसंग अतिगौण हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि इन कविताओं में एकनाथ मानवीय पात्रों के भावों को लाने में कम ही सफल हुए हैं। विचार भावों को कुचलते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। इस कारण इन कविताओं में आए पात्र और प्रसंग अपनी विचारधारा प्रेषित करने के लिए मात्र ही चुने गए जान पड़ते हैं। गवळणों में एक भी ऐसी हिन्दी कविता नहीं है, जिसकी दार्शनिक व्याख्या न की जा सकती हो या जिस पर कवि ने दार्शनिकता लबादा न डाला हो। ऐसा लगता है एकनाथ भक्ति और दर्शन के अन्तर को भूल गया था। भक्ति में भावतत्व अपेक्षाकृत प्रबल होता है, दर्शन में भावतत्व होता तो है, किन्तु विचारतत्व उस पर सदा हावी रहता है। अतः एकनाथ द्वारा चित्रित गोपी पात्र मात्र वैचारिकता का वहन करने के लिए उपयोग में लायी गई हैं। एक कविता में गोपी स्वयं का परिचय देते हुए कहती है -

“मारी गावडी चुकली छै भाई ।
 देखत देखत त्रिभुवन आई ॥
 उत शोधन लागछे भाई ।
 अब कैसी गत करूछे आई ॥1॥
 मथुरा लमानीन मारो नाम छे ।
 गावडी देखत आई गाँवछे ॥
 दृष्टि देखन नहीं मन छे ।
 कैसे भुलाय कान्हा नयानछे ॥2॥
 भुली भुली आई मान छे ।
 कही मीलन मोरे ध्यान छे ॥
 एक जनार्दन से पग छे ।
 अखंड चित्त जड़े गावडा छे ॥3॥”¹²⁶

इस कविता में 'गावड़ी' अर्थात् 'गऊ' उस मन का प्रतीक है जो बार-बार भटकता रहता है, जो सत्य या ईश्वर का सच्चा स्वरूप देखने में आँखों की सहायता नहीं करता, जो अंधा हो गया है। कविता में यह प्रतीक व्यवस्था आद्यन्त टिकी रहती तो एक सार्थक रूपक की निर्मिती होती, किन्तु अपने दार्शनिक अर्थ को कविता की दूसरी ही पंक्ति में जग जाहिर करने की बेचैनी के कारण कविता न तो रूपक का निर्माण कर पायी है और न मथुरा लमानीन के भावों का निर्वहन कर पाने में सफल हुई है। यदि 'दृष्टि देखत नहीं मनछे' पंक्ति को भी रूपक का निर्वहन करने की दृष्टि से लिखा जाता तो काव्यसौन्दर्य दुगना हो जाता और कविता दो स्तरों पर अपना अर्थ देती। सामान्य पाठकों को सामान्य अर्थ और दर्शन चाहने वाले को उसी प्रकार का अर्थ। इस प्रकार रूपक का निर्वहन भी हो जाता। इस पंक्ति के कारण कविता वाच्यार्थ प्रधान बनकर रह गई है, जिससे काव्यसौन्दर्य की हानि तो हुई ही है, तिस पर काव्य में आए पात्र नाममात्र के लिए रह गए हैं। विचार और विचारधारा के महत्त्वपूर्ण होने से कथांश को भी हानि पहुँची है। मथुरा लमानीन कविता में आती है तो एकनाथ के विचारों का भार ढोने के लिए, किन्तु सांस्कृतिक पृष्ठभूमि या सामाजिक विशेषता का कहीं संकेत रूप में भी उल्लेख नहीं है। यह पात्र एक प्रकार से एकनाथ की नयी उद्भावना कही जा सकती है।

अन्ततः इस कविता में विचारों, दर्शन और भावों का ऐसा घाल-मेल है कि कविता का अर्थ तो ठीक से लगता है किन्तु अन्ततः कवि कहना क्या चाहता है, इसका कोई ठिकाना नहीं मिलता है। कविता में आयी मथुरा लमानीन घुमंतु जनजाति की महिला है, जो इस कविता के काव्य नायक के रूप में आयी है। लमानी अर्थात् बंजारा समाज की स्त्री को कहा जाता है। यह समाज व्यापार के लिए विभिन्न प्रदेशों में प्रवास किया करता था। अन्य समाजों की तरह ही इनमें भी श्रेणिबद्धता पायी जाती है, जिसके अनुसार मथुरा लमानी अपने-आप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और वे सधन भी होते हैं। ऐसे में आज के विमर्शवादी समय में एकनाथ एक घुमंतु जाति की महिला को काव्यनायक बनाने वाले आरंभिक कवियों में गिने जा सकते हैं। भले अपने दार्शनिक विचारों को उस पर थोपने के लिए।

इस प्रकार अधिकांश गौळण काव्य में वाच्यार्थ में ही दर्शन की अभिव्यक्ति होने के कारण पात्र अपने-आप गौण हो जाते हैं। किन्तु एक बात लक्षणीय है कि इस काव्य प्रकार में एकनाथ ने अपनी बात प्रस्तुत करने के लिए स्त्री पात्रों का चुनाव कर उनके मुख से दर्शन जैसे विषय की अभिव्यक्ति की, जो कम-से-कम मध्यकाल तक तो मराठी साहित्य में विरल है। चूँकि मराठी में बालकृष्ण की मर्यादित भाव की भक्ति होती रही है, इसलिए गोपियों के प्रचलित कथांश को कवि ने काव्य का विषय यहाँ नहीं बनाया। इसी कारण मराठी भक्ति काव्य में रूक्मिणी है, राधा नहीं। दार्शनिक मत के वहन के लिए ही सही एकनाथ ने गोपियों को अपने काव्य में स्थान दिया। साथ ही कहीं भी मर्यादा भाव का उल्लंघन किए बगैर, क्योंकि उनके कृष्ण प्रेम के नहीं, भक्ति के आलंबन हैं। वे कहीं-कहीं साधारण बालक जैसी क्रीड़ाएँ अवश्य करते हैं, किन्तु हैं वे अवतार और भक्ति के ही आलंबन।

एकनाथ की हिन्दी कविताओं में दो तरह के पात्रों की ही प्रमुखता है - एक तो उपरोल्लेखित पारम्परिक कथाओं के पात्र, दूसरे सामान्य जन-जीवन से लिए गए पात्र। पहले प्रकार के पात्र गवळणों में आए हैं तो दूसरे प्रकार के पात्र उनकी गवळण के अतिरिक्त अन्य हिन्दी कविताओं में आए हैं। ये पात्र अधिकतर निम्न वर्गीय और वर्णीय हैं। इन पात्रों को एकनाथ ने अपने जीवन में विचरण करते हुए देखा-सुना और अपने महतोद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने काव्य का विषय बनाया। साथ ही यह पात्र

उनकी यथार्थ दृष्टि के परिचायक भी हैं। यह पात्र उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण के भी परिचायक हैं। इन पात्रों ने ही इन कविताओं को साहित्यिक प्रतिमान, रूप, भाषा और कहने का ढंग दिया है। गारूडी, फकीर, मुंडा, जोगी, नानक शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई कई दीर्घ कविताओं में एकनाथ ने मात्र अपनी दार्शनिक दृष्टि को चरपा करने का कार्य किया है।

अधिकांश विद्वानों ने गारूडी का अर्थ सपेरा लगाया है। यह सही है किन्तु इसमें अव्याप्ति दोष है। इसका अर्थ होता है किसी भी प्रकार का करतब, चमत्कार आदि का तमाशे दिखानेवाला और उसके बदले अपने उदरनिर्वहन के लिए पैसे माँगनेवाले। इस खेल में वह भालू, बन्दर, साँप-नेवला आदि प्राणियों की मदद भी लेता है। गाँव-गाँव घूमकर मनोरंजन करना इनका काम हुआ करता था। सपेरा का अर्थ साँपों का खेल दिखानेवाला होता है, जो गारूडी के समकक्ष में सीमित अर्थ देता है, इसलिए हम यहाँ 'गारूडी' शब्द का ही प्रयोग करने जा रहे हैं। इस गारूडी के साथ और एक व्यक्ति हमेशा रहा करता, जो इसका शिष्य और मददगार हुआ करता था, जिसे जम्हुरा कहा जाता है। खेल में जम्हुरा मुखतापूर्ण प्रश्न पूछता है, फिर उस्ताद उसे चमत्कारपूर्ण या चालाकीभरे व्यावहारिक उत्तर देकर श्रोताओं की तालियाँ बटोरता है। प्रायः इनका काम मनोरंजन करना होता था, किन्तु ये कभी-कभार अलौकिक शक्तियों के सन्दर्भ में भी वन्दना आदि कर लेते होंगे, जिसमें भावभीनी श्रद्धा के अतिरिक्त कोई दार्शनिक अर्थ शायद ही हुआ करता होगा।

हास्य निर्माण कर, चमत्कारों से अचंभित करते हुए मनोरंजन करनेवाले इन पात्रों को एकनाथ ने सामान्य जन-जीवन से जस का तस उठा लिया और अपने दर्शन को प्रेषित करने का साधन बनाया। जम्हुरा उनकी कविताओं में न होने के कारण गारूडी के अधिकांश कथन एकालाप भी लगते हैं। सराहनीय पक्ष यह है कि गारूडियों की कथन शैली, कहने का ढंग, उतार-चढ़ाव, भंगिमाओं आदि को एकनाथ ने अपनी तमाम दार्शनिकता को लादने के बावजूद जीवित रखने में सफलता प्राप्त की है। यह भी कहा जा सकता है कि इसी रूप में गारूडी इन कविताओं में उपस्थित है। कथ्य के स्तर पर वह अनुपस्थित। गारूडी के मुख से दर्शन की बातों को सुनकर ऐसा लग सकता है कि दर्शन तो बच्चों का खेल है! इन कविताओं से ऐसा लगता है कि एकनाथ भले ही साधारण बुद्धिमत्ता वाले पाठक-श्रोता के कवि नहीं हैं, किन्तु वे उन तक इन पात्रों के माध्यम से पहुँचना चाहते हैं, अपनी बात पहुँचाना चाहते हैं। उदाहरणस्वरूप इस कविता को देखा जा सकता है -

“यारो देखो गयबी गारूडी आया ॥धृ॥

पहिला पहिला कछु नहीं देखे, निराकार निजरूपा।

अलख हात मो पलख बतावे, माया सगुण रूपा ॥1॥

चल चल चल चल, री री री री, गा गा गा गा बा बा बा बा ॥2॥

सात सैली ऊपर विवेक समला शम देम छोड़ा।

ग्यान ध्यान सों बांधा कमाल समला सबही जोड़ा ॥3॥”¹²⁷

इस कविता में आगे इसी प्रकार ईश्वर की उत्पत्ति और उसका रहस्य बताते हुए उसे ही सृष्टि का पिता बताया गया है। दर्शन और भक्ति में जो सूक्ष्म रेखा होती है उसे पार करते हुए यहाँ दोनों का मेल कराने का प्रयास गारूडी शैली के माध्यम से किया गया है। साधारण जनो में लोकप्रिय इस धुन को जन-सामान्य तक अपने विचार पहुँचाने के लिए मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पूरी

कविता के दर्शन के सन्दर्भ में आगे हम चर्चा करेंगे, किन्तु यहाँ ऐसा लगता है कि चींटी हाथी का बोझ उठा ले जा रही हो।

एकनाथ ने 'फकीर' शीर्षक से भी हिन्दी में कविताएँ लिखी हैं, जिसमें फकीर अथवा दरवेश पात्र के रूप में आए हैं। फकीर उनकी कविताओं में आने का कारण उनके द्वारा दीक्षित सम्प्रदाय और उसका दर्शन है। शीर्षक से यह नहीं समझना चाहिए कि यह कोई मुसलमान धर्मावलम्बी सूफी या फकीर होगा। एकनाथ की कविताओं में चित्रित फकीर आध्यात्मिक एवं धार्मिक अवश्य है, किन्तु उसकी किसी धर्म विशेष से पहचान नहीं की जा सकती है। वह दरवेश है किन्तु कहीं भी भिक्षा माँगता हुआ चित्रित नहीं किया गया है, या वह भिक्षावृत्ति की वकालत भी नहीं करता है। वह संसार से परे है किन्तु वह संसार छोड़कर सन्यास लेने की बात भी नहीं करता है। वह किसी खास स्थान पर नहीं अपितु ईश्वर को चराचर में व्याप्त मानता है।¹²⁸ विठ्ठल नाम लेकर जनम सार्थक करने के लिए कहता है।¹²⁹ ईंट पर खड़े साईं (विठ्ठल) को देखने के लिए कहता है।¹³⁰ सत्संग करके बोध की भंग खाने के लिए कहता है।¹³¹ वह 'फकीर' की सच्ची संकल्पना को भी व्याख्यायित करता है।¹³² अल्ला अल्ला जपने और जप का 'सोंग' (ढोंग) करनेवाले फकीर को भी खरी-खोटी सुनाता है।¹³³ उस फकीर की संकल्पना धर्म और जाति से ऊपर उठ चुकी है और कोई भी व्यक्ति 'फकीर' बन सकता है। उनका यह फकीर "बीठल-अल्ला" का एक साथ इसलिए भक्त है, क्योंकि वह इनमें कोई अन्तर ही नहीं मानता है। "गुरु पीर" में उसके लिए कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि उसने इन दोनों शब्दों में संकल्पनात्मक समानताएँ पायी हैं।

एकनाथ का यह फकीर अपने आदर्श रूप में चित्रित किया गया है, जो समन्वय की प्रतिमूर्ति कहा जा सकता है। फकीर सैद्धान्तिक समन्वय तक ही अपने-आप को सीमित रखता है। उसका समन्वय सामाजिक मान्यताओं, कु-प्रथाओं, रूढ़ियों आदि की आलोचना नहीं करता और न ही वह इन्हें स्पर्श करने का प्रयास करता है। यह समन्वय पंथीय एवं धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र का ही समन्वय बनकर रह जाता है। वह सैद्धान्तिक स्तर पर भक्ति की समानता इसलिए मानता है क्योंकि सबका जन्मदाता एक है। वह तत्कालीन धर्म के क्षेत्र में चल रहे व्यावहारिक मान्यताओं के खिलाफ कहीं भी नहीं बोलता है। वह कहीं भी किसी भी धार्मिक मान्यता की आलोचना तक नहीं करता। वास्तव में वह गलत-सही होने का फैसला सिर्फ सैद्धान्तिक स्तर तक ही करके रह जाता है, व्यावहारिक जीवन की किसी भी वस्तु को वह स्पर्श तक नहीं करता है। संभवतः इसलिए वह फकीर है। इस अर्थ में एकनाथ नामदेव की नहीं दामोदर पण्डित की परम्परा में हिन्दी काव्य का सृजन कर रहे थे। जिस महानुभाव सम्प्रदाय की उन्होंने खुलकर आलोचना अपनी मराठी कविताओं में की है, उसी दामोदर पण्डित की परम्परा में।

एकनाथ की 'हिन्दू-तुर्क संवाद' कविता में सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावहारिक स्तर पर भी धर्म में व्याप्त कुरीतियों की आलोचना करके समन्वय साधने का प्रयास किया गया है। इस कविता में पात्रों का चुनाव करते समय एकनाथ की दृष्टि ऐसे पात्रों के चुनाव की ओर रही है, जो धर्म संबंधी चर्चा व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों स्तरों पर कर सके। यहाँ चयनित दोनों पात्र धर्म के क्षेत्र में विशिष्ट शिक्षित दिखाई देते हैं और साथ ही वे एक-दूसरे के धर्म के सन्दर्भ में काफी कुछ दोनों स्तरों पर जानते हैं। अन्यथा वे एक-दूसरे के धर्म की इतनी खुलकर आलोचना कर ही नहीं सकते थे। यह पात्र भी सामान्य-जन जीवन से लिए जाने के बावजूद सामान्य लोग नहीं हैं और इन्हें सामान्य-जन के प्रतिनिधि

कहना सामान्यीकरण होगा। ठीक यही बात 'जोगी' के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। जोगी का आदर्श रूप इन कविताओं में प्रस्तुत किया गया है।

'मुंडा' एकनाथ द्वारा निर्मित पात्र है। यह पात्र एक प्रकार से उनके श्रोता-पाठक वर्ग ही हैं, जहाँ वे उनसे सीधे इन कविताओं में संवाद स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं। इन कविताओं में एकनाथ ने विभिन्न दृष्टियों, आध्यात्मिक-दार्शनिक मान्यताओं को सामान्य पाठक-श्रोता के आगे रखने का प्रयास किया है। इस शीर्षक से लिखी गई कविताओं में वे भक्ति की विभिन्न परिस्थितियों एवं पद्धतियों की बात मात्र करते हैं। इन कविताओं में पात्रों का इतना भर महत्व है कि वे सामान्य-जन के स्थान पर सर्वनाम का कार्यभार सँभालते हैं। इसी प्रकार 'भांड' शीर्षक कविताएँ भी एकनाथ द्वारा साहित्यकारों एवं भजन मंडलियों को संबोधित करने के लिए लिखी गई हैं। भांड के पारम्परिक अर्थ को बगल करते हुए उन्होंने उसे सकारात्मक सामाजिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ देने का प्रयास किया है। इन कविताओं के माध्यम से उन्होंने आदर्श व्यक्ति को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है।¹³⁴ भांडों में कहीं पूर्व प्रचलित मान्यताओं को चुनौती दी गई है, तो कहीं उसके विरोधाभासों को स्वीकार किया गया है।

'नानक' एकनाथ द्वारा निर्मित एक बहुरंगी पात्र है। यह पात्र फकीर और जोगी से कई मायनों में भिन्न है। पहली बात तो यह है कि 'नानक' शीर्षक से लिखी गई इन कविताओं में नानक कोई पात्र नहीं बल्कि काव्यनायक है। यहाँ प्रयुक्त 'नानक' गुरु नानक देव के लिए प्रयुक्त है भी और नहीं भी है। कुछ कविताओं में 'नानक' टेक की तरह प्रयोग किया गया है। सिक्खों के शौर्य प्रदर्शन के कारण नानक इतने लोकप्रिय बन गए थे कि उन्हें प्रतिरोध का पर्याय बनाकर यहाँ प्रयुक्त किया गया हो। साथ ही गुरु नानक देव की विचारधारा के अनुसार कोई भी नानक हो सकता था, इसलिए एकनाथ संभवतः नानक का प्रयोग सामान्य-जन के अर्थ में किया हो, जो उच्चादर्शों को प्राप्त करना चाहते हो। यह इसलिए भी सही लगता है, क्योंकि इन कविताओं का लहजा सीधे-सीधे संवाद का अधिक है, जो खड़ी चोंट बात करने के अन्दाज़ में है। ऐसा सामान्य-जन से ही एकनाथ संवाद स्थापित करने के प्रयास में कर रहे थे। इनमें से कुछ कविताओं में सामान्य-जन को ईश्वर की मर्जी का भी पाठ पढ़ाते दिखाई देते हैं तो विरोधाभास के माध्यम से सामान्य-जन के जीवन का चित्र भी जाने-अनजाने प्रस्तुत कर देते हैं।¹³⁵ ऐसे में यह कविताएँ मात्र सैद्धान्तिक खंडन-मंडन तक सीमित न रहते हुए, सीमित रूप में ही सही सभ्यता समीक्षा करने का प्रयास करती हैं और अपने समय-समाज को प्रस्तुत करने का प्रयास करती हैं।

इस प्रकार एकनाथ ने पारम्परिक कथाओं से स्वीकृत पात्रों, स्वनिर्मित एवं समाज में देखे गए पात्रों को अपनी कविताओं में विभिन्न कारणों से स्थान दिया। उनका लक्ष्य कथा कहना आवश्यक नहीं था, किन्तु इन प्रचलित कथाओं के अंशों के माध्यम से उन्होंने अपनी विचारधारा को प्रस्तुत रूप में सम्प्रेषित करने का प्रयास किया। समाज से स्वीकृत पात्रों के माध्यम से भी उन्होंने यही काम लेने का प्रयास किया। उन पात्रों की आत्मा को जीवित रखने का श्रेय कवि को दिया जाना चाहिए, जिस कारण तत्कालीन लोकजन के माध्यमों को अविरल रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया जा सका है।

2. एकनाथ की हिन्दी कविताओं में समाज एवं सामाजिक इतिहास की झाँकी

सन्त-भक्त कवि भी सामाजिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। राजकीय इतिहासों में भाटों, चारणों एवं दरबारी मसख़रों के नाम आते हैं, सन्त-भक्त कवियों के नहीं। सामाजिक इतिहास लिखनेवाले ही सन्तों का उल्लेख किया करते हैं और इनमें से हरेक सन्त भी अपने समकाल का इतिहास

अपने काव्य में लिखने के कारण उनका काव्य सामाजिक इतिहास का प्रामाणिक स्रोत है। भले ही सारा-का-सारा काव्य इतिहास लेखन के स्रोत होने की कसौटी पर खरा नहीं उतरता हो, किन्तु करीब से पाठ करने के पश्चात् हमें नाराज़ होने का अवसर कम ही मिलते हैं। अपनी तमाम दार्शनिकता के बावजूद एकनाथ ने भी जाने-अनजाने सन्त-भक्त रचनाकारों का इतिहास ही अपने काव्य में लिख दिया है। एक ओर इससे एकनाथ की इन सन्त-भक्त कवियों की ओर देखने की दृष्टि का पता चलता है तो दूसरी ओर इन सन्त-भक्त कवियों की प्रामाणिकता का।

एकनाथ ने अपनी एक हिन्दी कविता में कई हिन्दी-मराठी सन्तों को गिनाया है। इस कविता में सन्तों के कृतित्व को गिनाते हुए उसका सारांश बताया गया है। यह कविता नानक शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई कविताओं में एक महत्त्वपूर्ण कविता है। कविता में ज्ञानेश्वर को विष्णु का अवतार, निवृत्ति को बाबा आदम अर्थात् शिव का अवतार, सोपानदेव को ब्रह्मा का अवतार माना गया है। साथ ही कविता में 'चांगदेव', 'नामा दरजी', 'कबीर', 'सावता माली', 'सज्जन कसाई', 'गोरोबा कुंभार', 'दादू पिंजारी', 'प्रल्हाद', 'विभीषण', 'विसोबा खेचर', 'नरहरी सोनार', 'रोहिदास चंभार', 'चोखोबा' आदि सन्तों को विभिन्न कारणों से याद किया गया है। ज्ञानेश्वर को भैसे के मुख से वेदोच्चार करवाने और दीवार को चलवाने के लिए, नामदेव को देव भुलाने के लिए, सांवता माळी को पेट चीरने के लिए, सज्जन कसाई को मुसलमान होकर भी भजन अपनाने के लिए, गोरोबा कुम्हार को अपने ही हाथ तोड़ने के लिए, दादू पिंजारी को मुसलमान होकर भी नाम जपते रहने के लिए, विसोबा खेचर को शिव लिंग पर पैर धरकर सोने के लिए और रैदास को कठौती में गंगा दिखाने के लिए याद किया गया है। स्मरण रहे कि यह चमत्कार इन सन्तों के नाम के साथ जोड़े जाते रहे हैं। कबीर के नाम के साथ किसी भी चमत्कार का उल्लेख एकनाथ ने नहीं किया है। उनके अनुसार कबीर का होना ही 'दूजा कमाल' है।¹³⁶

इन सन्तों के नाम गिनानकर वे जिस बात को प्रस्तुत करना चाहते हैं, वह इस प्रकार आयी है -

“ऐसे नानक बहुत हुवे,
अंत न लागे देख ॥28॥
ऐसे नानक नाम जपके,
बैकुंठ जावे देख ॥29॥
कासी गया, प्रयाग गया
कर्वत लिया देख ॥30॥
मथुरा गया, द्वारका गया
छापा लिया देख ॥31॥
उसका नाम लेवे नहीं तो
दोश लागे देख ॥32॥
उसके नाम चढ़के
बैकुंठ चढ़े देख ॥33॥
एकनाथ तो, एकहि जाने,
एका जनार्दनी देख ॥34॥”¹³⁷

एकनाथ के अनुसार नाम स्मरण ने ही इन सन्त-भक्तों को बनाया है, इनकी जाति या इन चमत्कारिक घटनाओं ने नहीं। इसी कारण वे बैकुंठ पहुँचे हैं, अपनी जाति-पाति को पीछे छोड़ते हुए। इस दीर्घ कविता में इन सन्त-भक्तों को उनकी जाति और चमत्कारिक कथाओं के साथ याद करने के पश्चात् भी उन्होंने तुलसीदास, सूरदास आदि कई कवियों को याद नहीं किया। एकनाथ की मराठी सन्त-भक्तों में भी मुक्ताबाई, जनाबाई, बंका महार, आदि के अतिरिक्त किसी भी स्त्री सन्त को इस कविता में याद नहीं किया गया है, जबकि ज्ञानेश्वर की बहन मुक्ताबाई के सन्दर्भ में कई चमत्कारिक कथाएँ प्रचलित हैं। एकनाथ का समय सन 1533 से 1596 है और तुलसीदास का समय सन 1497 से 1623 है। कई सन्तों के नाम इसमें गिनाए जाने के बावजूद, हिन्दी सन्त-भक्त कवियों के नाम भी लेने के बाद भी तुलसीदास का नाम भक्तश्रेष्ठों में न लेने के क्या कारण हो सकते हैं? तुलसीदास का 'मानस' भी इस समय तक उत्तर भारतीय विद्वत् समाज में स्वीकृत हो चुका था। इतने लोकप्रिय एवं उत्तर भारतीय जनमानस का कंठहार होने के बाद भी क्या इसलिए तुलसीदास का नाम नहीं लिया गया है, क्योंकि कविता में 'बैकुंठ जाने' की बात की गई है? तो फिर सूरदास (1478-1581) तो क्या किसी भी कृष्णभक्त या 'अष्टछाप' कवि-गायक का नाम इस कविता में नहीं है, जबकि एकनाथ स्वयं कृष्ण भक्त कवि के रूप में भी जाने जाते हैं।

उन्होंने हिन्दी-मराठी में कृष्ण भक्ति परक रचनाएँ लिखी और कहा तो यह भी जाता है कि एकनाथ की अन्तिम रचना काशीवास के दौरान तुलसीदास से प्रभावित होकर लिख रहे थे। ऐसे में यह संभव नहीं है कि जानबूझकर तुलसीदास एवं सूरदास का नाम उन्होंने न लिया हो। अर्थात् कवि ने उन्हीं रचनाकारों का नाम लिया हो जो उसके पूर्ववर्ती हो चुके हैं और भक्ति एवं नाम स्मरण के बल पर 'बैकुंठ गए' हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सन्त-भक्तों को याद करते हुए उनके माध्यम से भक्ति के महत्त्वपूर्ण मूल्य को समाज में सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है और सामाजिक इतिहास को लिखने का प्रयास किया है। चमत्कारिक कथाएँ तो सन्त-भक्तों के जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं, आवश्यकता है उनमें छिपे इतिहास को जानने की, जो शुद्ध इतिहास की दृष्टि से अनावश्यक बातें हैं।

सन्त-भक्तों के जीवन के अतिरिक्त एकनाथ की कविताओं में तत्कालीन जीवन की विसंगतियों का चित्रण अनायास हुआ है। उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा धर्म के व्यापरीकरण की प्रथा का खुलकर विरोध किया, जो अवश्य ही उस समय भी प्रचलित रहा होगा। एकनाथ ने लिखा -

“चारो बरन मो ब्रह्मन बड़ा
घर घर कथा करता है ॥10॥
नाम बेच कर दाम लेवे
उसका करनी हराम है ॥11॥”¹³⁸

धर्म की आड़ में नाथों, महानुभावियों, जंगम, गोसांई आदि द्वारा किए जा रहे पाखंडों को भी उन्होंने खुलकर अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है।¹³⁹ इतना ही नहीं अपने समय में सेठ-साहुकारों द्वारा शोषण के माध्यम से किए जा रहे धन संचय को भी उन्होंने उजागर करते हुए सच्चे 'साहा' (शाह) का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हुए लिखा -

“शेठेसावकार माल खजीना
उनमे मगन रेहेता है ॥17॥

जोरु लड़के कोई नहीं साती
आखेर मूमे मट्टी है ॥18॥

- - - - -

साहा फेंके सो साहु बनेगा
नहीं तो सारो गव्हार है ॥25॥¹⁴⁰

- - - - -

“इस नगरी में सटे सावकार
बडे मतलबी रहते हैं ॥37॥¹⁴¹

अपने समय की कई मान्यताओं एवं प्रथाओं का उल्लेख भी एकनाथ की हिन्दी कविताओं में जाने-अनजाने हुआ है। ‘भांड’ कविता में स्त्री की काम भावनाओं को ही सभी दुर्गुणों का कारण माना गया है, किन्तु इसमें पुरुष कामुकता पर भी नियंत्रण की बात जोर देकर की गई है, जो तत्कालीन समय में महत्वपूर्ण है। इसमें माया कारण भले ही हो किन्तु पुरुष देवता भी उसकी ओर आकर्षित होकर गलती करते हैं और दुर्गुणों का शिकार हो जाते हैं। इस कारण एकनाथ अपनी काम भावना पर नियंत्रण रखने की बात करते हैं।¹⁴² भले ही यह ऊपर से मर्यादावाद लगे किन्तु इससे तत्कालीन सामाजिक सोच का पता चलता है, जिसे सामान्यकरण करके नहीं समझना चाहिए, किन्तु जो मध्यकाल के सन्दर्भ में हमारी सोच को प्रभावित करता है। इस तरह अपने समय की दो विरोधी स्थितियों का चित्रण भी एकनाथ की कविताओं में आया है -

“अल्ला रखेगा वैसा भी रहना,
मौला रखेगा, वैसा भी रहना ॥धृ.॥
कोई दिन सिर पर छतर उड़ावै
कोई दिन सिर पर घड़ा चढ़ावै
कोई दिन तुरंग ऊपर चढ़ावै
कोई दिन पाव से खासा चलावे ॥ अल्ला ॥1॥
कोई दिन शक्कर दूध मलीदा
कोई दिन अल्ला मारत गदा
कोई दिन सेवक हात जोड़ खड़े।
कोई दिन नजीक न आवे धेड़े ॥ अल्ला ॥2॥
कोई दिन राजा बड़ा अधिकारी
एक दिन होये कंगाल भिकारी
एका जनार्दन कहत करतारी
गाफल केंव करता मगरुरी ॥3॥¹⁴³

स्पष्टतः इस कविता में दो विरोधी स्थितियों का ही नहीं बल्कि दो विभिन्न समाजों का भी चित्रण किया गया है। कुछ ऐसी ही वस्तु-शैली में बाबा नागार्जुन की कविता ‘अकाल और उसके बाद’ में भी दिखाई देती है, जहाँ अकाल और उसके बाद में कोई रेखांकित भेद नहीं दिखाई देता है। दोनों कविताएँ अपने गठन में यथार्थवादी कही जा सकती है, किन्तु दोनों कविताओं में अन्तर है। जहाँ

नागार्जुन की कविता में एक ही वर्ग-समाज के चित्रण द्वारा इसे प्रस्तुत किया गया है, वहीं एकनाथ की इस कविता में दो भिन्न वर्ग-समाजों के चित्रण द्वारा समाज के विरोधाभासों को प्रस्तुत किया गया है। नागार्जुन की कविता एक ही परिवार की दोनों स्थितियों में एक ही दशा का वर्णन करती हैं। अकाल और उसके बाद की स्थितियों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है, घर में आते भी है तो क्या बस 'दाने भर'। एकनाथ की कविता दो अलग-अलग वर्ग समाजों की दशा का वर्णन करती है। दोनों कविताओं में यथार्थ को चित्रित करने की सूक्ष्मता तो है, किन्तु पद्धति मात्र की भिन्नता है। नागार्जुन ने पूरी कविता में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि 'देखो एक परिवार भूख से बिलख रहा है, उनको खाने, ओढ़ने पहनने को नहीं है, कि देखो बच्चे दूध के अभाव में मरे जा रहे हैं, माता को खाने नहीं है तो शिशु भी भूखा है, देखो इस परिवार को दर-दर की ठोकें खानी पड़ रही है, धन-धान्याभाव के कारण इन्हें समाज में उपेक्षा झेलनी पड़ रही है, आदि आदि।' अपितु इस कविता की कलात्मक कुंजी वहीं पर है, जहाँ कवि बहुत कुछ नहीं कहता है। न बोलकर भी कह जाना भी काव्य-कला का एक अंग है।

एकनाथ की कविता में भी सीमित रूप में यह विशेषता दिखाई देती है। नागार्जुन ने पहले एक स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट किया फिर दूसरी स्थिति को पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया। एकनाथ ने इससे भिन्न पद्धति चुनी। उन्होंने प्रत्येक परिस्थिति के विपरित दूसरी परिस्थिति को एक के साथ दूसरी रख दी। संभवतः यही कारण है कि एकनाथ की कविता में नागार्जुन के चित्रण की संवेदनशीलता का अभाव दिखाई देता है। नागार्जुन ने जहाँ इन विपत्तियों के मूल में और बाद में भौतिक परिस्थितियों को देखा-दिखाया है, वहीं एकनाथ ने अद्यतन आसमानी-आध्यात्मिक संकेतों को। भाग्यवाद एकनाथ की इस कविता को प्रगतिवादी कवियों से भिन्न कर देता है, इस कविता को सूक्ष्म यथार्थवाद से दूर लेकर जाता है, जो नागार्जुन की कविता का प्राण है। इस प्रकार एकनाथ की यह कविता एक आधुनिक प्रगतिवादी कवि के समीप आती दिखाई देती है।

इस कविता में तत्कालीन कई सामाजिक-सांस्कृतिक धारणाओं की अभिव्यक्ति हुई है। जैसा कि कहा जाता है कि कुछ मध्यकालीन कवियों में सामंतवाद के अनुकूलन के कारण श्रम के प्रति घृणा का भाव अभिव्यक्त हुआ है, तो कुछ सन्त-भक्त कवियों ने श्रम की महिमा के महत्व को अभिव्यक्त करते हुए अपने निजी जीवन में वैसा आचरण भी किया है। एकनाथ की इस कविता में यहाँ विरोधी स्थितियों का चित्रण करने के क्रम में एक तरफ राजशाही ठाठ, सामंती जीवन का चित्रण है तो दूसरी तरफ सामान्य जन-जीवन की त्रासदियों को अभिव्यक्त किया गया है। यह सारी स्थितियाँ भौतिक हैं, किन्तु इसका जिम्मेदार किसी व्यक्ति या प्रवृत्ति को नहीं, अपितु ईश्वर या अल्ला को माना गया है। साथ ही श्रम को एक दुःस्थिति के रूप में दर्शाया गया है। किसी दिन सर पर घड़ा चढ़ना, किसी दिन बहुत पैदल चलना स्पष्ट रूप से सामंती विचारधारा के अनुसार ही श्रम को कमतर करके आँकना है। इसके बरअक्स तुरंग पर चढ़कर चलना, दूध मलीदा खाना, सर पर छत्र होना कवि की दृष्टि में बेहतर स्थिति है, जो अल्ला की मर्जी से आती है। विश्लेषण के अन्त में यहाँ एक और शब्द की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इस कविता में 'धेड़' शब्द आया है, कवि के अनुसार जो विषम परिस्थितियों में अपने पास भी नहीं आने देता। यह एक तिरस्कार जतानेवाली सामाजिक धारणा है। धेड़ उस जाति को कहा जाता है, जो अछूत मानी गई है। कविता के अनुसार इससे विषम परिस्थिति क्या हो सकती है। कवि ने इस धारणा को

जस-का-तस स्वीकार कर यहाँ सामाजिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। कोई चाहे तो इसे कवि की विश्वदृष्टि कह सकता है।

इस प्रकार एकनाथ की कविताओं में अपने समय-समाज की कई धारणाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपने समाज का निरीक्षण एक कवि के नाते किया और जो-जो उन्हें काव्य में उपयुक्त लगा उसे उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत किया। सूक्ष्मातिसूक्ष्म सामाजिक-सांस्कृतिक धारणाओं को अपने काव्य में स्थान देकर मध्यकालीन समय को समझने का एक मार्ग एकनाथ ने अपनी हिन्दी कविताओं के माध्यम से भी प्रस्तुत किया है। कई स्थानों पर उन्होंने इन धारणाओं को जस-का-तस तो कई स्थानों पर अपनी विचारधारा एवं भावधारा के अनुसार मोड़कर भी प्रस्तुत किया है और सामाजिक इतिहास लेखन के आवश्यकता की पूर्ति अपनी कविता के माध्यम से की है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम एकनाथ की कविताओं को तत्कालीन सामाजिक इतिहास की दृष्टि से देखते हैं, केवल उन्हें स्रोत के रूप में देखने और विवेक एवं प्रमाणों के साथ उनका प्रयोग करने के हम पक्ष में हैं। एकनाथ के काव्य से सामाजिक इतिहास लेखन की काव्यात्मक सामग्री प्राप्त हो जाए तो एकनाथ का काव्य हमारे लिए और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाएगा, जिसकी संभावनाएँ हैं।

3. एकनाथ की हिन्दी कविताओं में भक्ति-भाव एवं विचार-दर्शन

एकनाथ का सम्बन्ध दत्त सम्प्रदाय से था। “हमने पहले ही संकेत किया है कि एक ओर एकनाथ की गुरुपरम्परा दत्त सम्प्रदाय से जोड़ी जाती है तो दूसरी ओर उनकी गुरु परम्परा चांद बोधले से होते हुए सूफी सम्प्रदाय से जोड़ी जाती है।”¹⁴⁴ भक्ति आन्दोलन में एक सनातन धारा के रूप में दत्तसम्प्रदाय की स्थापना नृसिंहसरस्वती (1378-1458 ई.) ने की। इन्होंने ही दत्त सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक ग्रंथ ‘गुरुचरित्र’ की रचना की। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि हसन गंगू बहामनी आदि राज्यकर्ताओं के माध्यम से हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के पुरोहितवादी तथा सामंतवादी मूल्य आपस में मेल-जोल करते हुए शासनकर्ताओं के हित में कार्य कर रहे थे। ऐसे समय में अपेक्षाकृत असहिष्णु दत्त सम्प्रदाय ने इसी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने का कार्य विशिष्ट पद्धति से किया। दत्त सम्प्रदाय का सम्बन्ध तत्कालीन दो सबसे बड़ी शक्तियों से था, धर्म और शासन। भले ही शासन से उसका सम्बन्ध आरंभिक दिनों में न रहा हो किन्तु यह अकारण नहीं कि जनार्दन स्वामी शासन के उच्च पद तक पहुँच गए थे और उसे अपने पुरातन मूल्यों द्वारा परिचालित भी कर रहे थे। हिन्दू धर्म के सनातन एवं कट्टर मूल्यों के अनुसार अनुकूलन किसी भी धर्म के शासकों के लिए फायदेमंद ही था, क्योंकि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्म राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने की शिक्षा देते आए हैं और दत्त सम्प्रदाय का इसी समय उभार संभवतः इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ था। आगे के समय में सूफी सम्प्रदाय के महंतों (औलियाओं) से भी दत्त सम्प्रदायिकों की खूब बनने लगी थी। इतना ही नहीं दोनों में कई बार अपने ज्ञान का आदान-प्रदान भी होता रहा है। यही कारण है कि सूफी सम्प्रदाय से भी एकनाथ की गुरु परम्परा जोड़ी जाती है। इस प्रकार राजनैतिक और धार्मिक समन्वय के साथ यह सम्प्रदाय अपना प्रोजेक्ट कार्य करने लगा।

भक्ति आन्दोलन के मूल्यों के अनुसार देखा जाए तो दत्त सम्प्रदाय ने अपने उदय से लेकर एकनाथ के समय तक काफी प्रभाव जमा लिया था। एकनाथ के सम्पूर्ण कृतित्व की एक विशेषता की ओर इशारा करते हुए गं.बा.सरदार ने सही लिखा है - “एकनाथ ने ज्ञानेश्वर का अधूरा कार्य अधिक

प्रभावत्मक एवं व्यापक स्वरूप देकर आगे बढ़ाया। पैठण जैसे सनातनियों के गढ़ में उन्होंने भागवत धर्म की पताका लहरायी। कट्टरवादियों के राजधानी में स्त्री-शूद्रों का उद्धार करते हुए उन्होंने देशी भाषा का पुरस्कार किया और महाराष्ट्र की विचारसंपदा में अमूल्य बढ़ोतरी की। एकनाथ महाराष्ट्र में उदारमतवाद एवं नेमस्त सम्प्रदाय के जनक थे। उनका जीवनक्रम समन्वयवाद का उत्कृष्ट आदर्श है।¹⁴⁵ यही विशेषता उनके हिन्दी काव्य में भी दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने यह समन्वय आचार और विचार दोनों स्तरों पर बड़ी कुशलता से किया है। समन्वय की आँधी में उन्होंने अपने समय में व्याप्त संघर्षों को अनदेखा नहीं किया। उन्होंने अपने समय में प्रचलित वाद, विवाद के माध्यम से संवाद की स्थिति पैदा की। इसके उदाहरण स्वरूप उनकी बहुचर्चित 'हिन्दू-तुरक संवाद' कविता देखी जा सकती है।

एकनाथ को दोनों धर्मों का पुस्तकीय एवं व्यावहारिक ज्ञान होना कोई अचरज की बात नहीं थी। श्रीराम शर्मा ने दक्षिण में इस्लाम के प्रवेश और यहाँ की धार्मिक स्थिति का संक्षिप्त वर्णन करते हुए कहा है - “यहाँ यह बता देना आवश्यक है, कि एकनाथ से बहुत पहले दक्खन में इस्लाम के धर्म प्रचारक पहुँच चुके थे। खाजा बन्देनवाज से पहले के एक प्रचारक गंजुल इस्लाम की कब्र बीजापुर में है। खाजा बन्देनवाज (मृ.1423 ई.) गुलबर्गा पहुँच चुके थे। 1568 ई. में इस्लाम धर्म का एक प्रचारक नासिक में था। इसका नाम शाह मुहम्मद सादिक सरमस्त था। यह मदिना से यहाँ पहुँचा था। इसके बाद तो मुस्लिम धर्म प्रचारकों का तो ताँता ही बँध गया। मराठवाड़ा में इन धर्म प्रचारकों ने कई केन्द्र स्थापित किए। खुल्ताबाद (औरंगाबाद) उनका प्रमुख केन्द्र था। ये धर्म प्रचारक सामान्य जनता में इस्लामी विचारधारा का प्रचार करते थे। इस पृष्ठभूमि के साथ एकनाथ की निम्नलिखित कविता पर विचार होना चाहिए। एकनाथ इस कविता में कई स्थलों पर कहते हैं कि मुसलमान स्वयं अपनी धार्मिक पुस्तकों से परिचित नहीं हैं। एकनाथ ने दौलताबाद में रहते समय इस्लाम के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की होगी-

“हिन्दू कू तुरक कहे काफ़र। तो म्हेणे विटाळ होईल परतासर।

दोहींशी लागली कर कर। विवाद थोर मांडला।¹²

सुन रे ब्राह्मण मेरी बात। तेरा शास्तर सब कू फरात।

खुदा कू कहते पाऊँ-हात। ऐशी जात नवाज़े।¹³”¹⁴⁶

एकनाथ ने इस कविता के माध्यम से तद्युगीन प्रचलित धर्म के संबंध में चर्चा ही प्रस्तुत नहीं की है, बल्कि अपनी पैनी कहन शैली के माध्यम से दोनों धर्माचार्यों की जमकर आलोचना भी की है। यह वाद-विवाद एकनाथ ने शास्त्रीय शैली में प्रस्तुत किया है, जहाँ पहले विपक्षी के मतों का खण्डन किया जाता है और फिर अपने मत या विचारधारा को स्थापित करने वाले तर्क दिए जाते हैं। एकनाथ ने अपनी इस कविता के आरंभ में ही इन उभयधर्मियों की चर्चा को ‘कर कर’ और ‘विवाद’ कहा है। अर्थात् यह दो धर्मों के विशिष्ट लोगों का ‘कर कर’ अर्थात् झगड़ा है, विवाद है।

एकनाथ ने यहाँ जो पात्र प्रस्तुत किए हैं, वह एक-दूसरे के धर्म के आचरण के सन्दर्भ में ही नहीं, उसकी भावधारा, विचारधारा, भक्ति की पद्धतियाँ, आचरण एवं इन सबके विरोधाभासों से भी परिचित हैं। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि कविता की प्रस्तावना और शीर्षक में तो एकनाथ इन विवाद करने वाले पात्रों को ‘हिन्दू’ और ‘तुरक’ (तुर्क) कहते हैं, किन्तु ‘संवाद’ में यह पात्र एक-दूसरे को

क्रमशः 'ब्राह्मण' एवं 'तुर्क' कहकर संबोधित करते हैं। ऊपरोद्धृत पंक्तियों में 'ब्राह्मण' का उल्लेख हो चुका है, इसके उत्तर में 'तुर्क' को 'ब्राह्मण' उत्तर दिया -

“एक तुर्क परम मुर्खा। सर्वा भूति दबो देखा।

हा सिद्ध सांडूनि आवां का। शून्यवाद का झालासी॥”

एकनाथ ने साधारणीकरण करते हुए ब्राह्मण पात्र को हिन्दू, तो तुर्क पात्र को मुसलमान के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। जिसे एलिनॉर झॉलेट ने भी फिर साधारणीकरण करते हुए मध्यकालीन दो धर्मों के सदस्यों के रूप में देखा है। प्रतीक रूप में इन आए पात्रों को एक ही दृष्टि से देखते हुए मध्यकालीन समाज में सम्पूर्ण हिन्दू-मुसलमान समाज में इसी प्रकार के धार्मिक संघर्ष की कल्पना झॉलेट अपने लेख 'A Medieval Encounter Between Hindu and Musleem : Eknath's Drama-Poem *Hindu-Turk Sa'Evāḍ*' में की है, जो नितान्त गलत है। उन्होंने अपने लेख में 'तुर्क' का अंग्रेजी अनुवाद 'मुस्लिम' करते हुए, उसे सारे मुसलमानों का प्रतीक मानकर मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का प्रारूप बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने इस सम्पूर्ण कविता को प्रत्येक पात्र के संवादों के रूप में विभाजित करते हुए, प्रत्येक संवाद को एक क्रमांक दिया और कविता को 66 भागों में विभाजित किया। झॉलेट ने कविता में आए दर्शन, पात्रों के स्वरूप-प्रारूप और शब्दावली के सन्दर्भ में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालते हुए लिखा है - “What sort of Muslim appears in this Hindu-Turk dialogue? The 'Turk' can mean either an ethenic Turk or simply a Muslim. Certainly no order of Sufis is clearly indicated, although verses 10 and 11 indicate a mendicant faqir is involved in the conversation, either as a new voice or as a fact of the character of the Turk. The term the Hindu uses for the Turk are many, and only a few indicate Sufism. He addresses the Turk chiefly as Turk, but also call him brother, using the Hindi word *bhāī*, and in verse 60, *swāmī*! When speaking of Muslims, the Hindu uses the term *avalia* (Sufi saint or holy man), *maulānā* (in connection of killing of animals), *pir* (in its proper usage regarding the *dargāh* or saint's tomb) and ones *yavan* (stranger or foreigner). Only in verses 55 and 56 when the Hindu speaks about the crime of conversion does Eknath the Persian (and Marathi) word *Musalman*. Both call each other 'fools' in a rich variety of Hindi and Marathi ways which English cannot match!

Sufi technical terms do not appear in *Bhāruḍ*, although the faqir and the Turk both express Sufi ideas. The idea of *wahadatu'l-wajūd*, the unity of all beings, divine and human, is certainly behind the faqir's hymn to Allah in verse 11. 'Allah you exists everywhere ...you are the seing and th seen ...the knower and the known.' Toward the end of poem, the Turk says 'There is no separation between devotee and God even though prophet has said God is hidden' (verse 61). This is not the orthodox Islamic thought, but it is the common theme in Indian Sufism.” (Pg.77)

एलिनॉर ने यहाँ कविता में आये दर्शन, पात्रों के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण आदि लगभग सारी विशेषताएँ गिना दी है। उन्होंने अत्यन्त विनम्रता से स्वीकार भी किया है कि ये दोनों पात्र जिस पद्धति से एक-दूसरे को मुर्ख कहते हैं, उसका अंग्रेजी में अनुवाद नहीं किया जा सकता है। उनके द्वारा इस लेख में किए गए अनुवादों में त्रुटियों के कारण कई गलतफ़हमियाँ पैदा हुई हैं। जैसे उन्होंने निर्गुण का

अनुवाद 'Without qualities', 'पीर' का अनुवाद दरगाह या मक़बरा किया। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जो तुर्क पात्र कविता में विवाद करता हुआ दिखाया गया है, वह एक सूफी है। कविता में उसे कहीं भी इस नाम से नहीं पुकारा जाता है, किन्तु उसके सारे तर्क सूफी विचारधारा के अनुरूप हैं। यह संभव है क्योंकि पारम्परिक इस्लाम से अधिक एकनाथ का परिचय सूफीवाद से होना स्वाभाविक है।

एकनाथ की कविता में आए मुसलमान और हिन्दू पात्र साधारण जन तो है ही नहीं। एक तो यह हिन्दू पात्र ब्राह्मण है। अब जब पूरी कविता में उसे ब्राह्मण से सम्बोधित किया जा रहा हो, ऐसे में इस कविता का शीर्षक 'ब्राह्मण-तुर्क संवाद' होना चाहिए था। क्योंकि इसमें तुर्क पात्र द्वारा किसी भी लोक-देवता का खण्डन नहीं किया जाता है। दूसरी बात इसके द्वारा यदि हिन्दू मानकर तब के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता विठ्ठल या दत्त का खण्डन करवाया जा सकता था, किन्तु तुर्क पात्र केवल पारम्परिक प्राचीन कथाओं से अपने उदाहरण चुनता है। दूसरी ओर ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मण पात्र सुन्नी या शिया धर्म की आलोचना नहीं करता, बल्कि सर्वाधिक उदार मानेजाने वाले सूफी पंथ के विचारधारा की आलोचना करता है, जिस पर एलिनॉर झॉलेट ने भी उपरोद्धृत गद्यांश में प्रकाश डाला है। संवाद के बीच में दोनों पात्रों द्वारा जिस अक्षील भाषा का उपयोग किया गया है, वह न प्रतिदिन सम्बन्ध रखनेवाले साधारण जन की है और न शास्त्रार्थ करनेवालों की। यह भाषा दोनों धर्मों के नवसिखों की लगती है, जिसके माध्यम से एकनाथ को दोनों धर्मों की आलोचना करने बहाना का मिल गया। एक बात तो एकनाथ सबसे सही चित्रित की है, चाहे यह पात्र अपने-अपने मतों को पहचानते-जानते हो या नहीं, किन्तु एक-दूसरे को इन्होंने सही पहचाना है, दोनों मुख है। संभवतः यही दिखाने के लिए एकनाथ ने इस कविता की रचना की हो।

कविता में किन मतों का खण्डन-मण्डन हुआ है, इससे आगे बढ़कर श्रीराम शर्मा ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह महत्वपूर्ण और सही है। उन्होंने लिखा है - "विवाद कितना ही तीव्र क्यों न हो उठा हो, एकनाथ का अपना विश्वास था कि ईश्वर और अल्लाह अभिन्न हैं। इनमें किसी प्रकार का भेद अनुचित है, वचन के अन्तर से वाच्य नहीं बदलता। हिन्दू-मुसलमान सन्तों की संगत से उन्होंने यह परम ज्ञान प्राप्त किया था। एकनाथ जहाँ कहीं ईश्वर-अल्लाह की एकता की बात प्रतिपादित करते हैं, उनकी भाषा कलन्दरों की भाषा बन जाती है। एकनाथ इस चर्चा में अपने मनोभाव नहीं छिपाना चाहते। महाराष्ट्र की जनता पंढरपुर के विठ्ठल पर अपार श्रद्धा रखती है। एकनाथ ने विठ्ठल और अल्लाह की एकता प्रतिपादित करते हुए लिखा है -

“हजरत मौला मौला। सब दुनिया का पालनवाला।

सब घट मो सांई बिराजै। करत है बोलबाला।

गरीब नवाज मैं गरीब तेरा। तेरे चरण कू रतवाला।

अपना साती समज के लेना। सलील वो ही अल्ला।

जिन रूप ते हैं जगत पसारा। वो ही सल्लाल अल्ला

एका जनार्दनी निजवद अल्ला। असल वो ही बि विट पर अल्लाह।¹⁵¹”¹⁴⁷

ऐसी ईश्वरीय एकता का प्रतिपादन उन्होंने अपनी अन्य हिन्दी कविताओं में भी किया है। उनके यहाँ ईश्वर की एकता के साथ-साथ ईश्वर और गुरु की एकता भी प्रतिपादित की गई है। इसका कारण

है उनका दत्त सम्प्रदाय में दीक्षित होना। दत्त सम्प्रदाय को गुरु सम्प्रदाय भी कहा जाता है, क्योंकि इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार दत्तात्रेय गुरु के अवतार में आते हैं और अपने शिष्यों को दर्शन देते हैं। उसी प्रकार श्रीदत्त के भी अपने शिष्य थे। इसके अतिरिक्त एकनाथ ने भी कहा है कि 'जिस किसी से मैंने एक भी गुण लिया है, उसे मैंने गुरु मान लिया है' (जो जो जयाचा घेतला गुण। तो तो म्यां गुरु केला जाण)। उनकी हिन्दी कविताओं में भी यही बात देखने को मिलती है, जब हर बार गारूड़ी अपनी बात आरंभ करने से पहले कहता है -

“अव्वल याद करो वस्ताद की। गुरु पीर पैगंबर की।

और याद करो करतार की, जिन्ने मंडान पैदा किया।”¹⁴⁸

तो वह 'वस्ताद' (गुरु) और 'करतार' (सृजनकर्ता) में कोई अन्तर नहीं मान रहा होता है। एकनाथ के अधिकांश हिन्दी भारूड इसी भाव की पंक्तियों से आरंभ होते हैं। उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में सन्यास का खुला विरोध किया और धर्म के नाम पर ढोंग रचकर उसका पालन न करनेवालों को खरी-खोटी सुनाई है। इसी क्रम में उन्होंने नाथ पंथी, महानुभावी, जंगम, गोसाँई आदि के साथ-साथ जन-सामान्य को भी अपने अनुसार अचरण करने की सलाह दी है। इसका सीधा अर्थ यह है कि एकनाथ को इन सभी पंथों की दार्शनिक विचारधारा का पूरा ज्ञान रहा होगा। उन्होंने न केवल शास्त्रीय संस्कृत साहित्य और पूर्ववर्ती मराठी सन्त-भक्तों के साहित्य का गहन अध्ययन किया था, अपितु हिन्दी सन्तों में कबीर, रैदास, नानक, सेना नाई आदि के लेखन का भी अध्ययन-मनन किया था।

उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में अपने ज्ञान को सविस्तार प्रस्तुत करने की जहमत न उठाते हुए उसे संकेत रूप में ही प्रस्तुत किया। एकनाथ किसी भी मिथक, प्राचीन कथा, सन्त-भक्तों के जीवन, दार्शनिक मत या विचारधारा, इतना ही नहीं अपना मूल कथ्य आदि के विस्तार में न जाते हुए उसे संकेत रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। इस रूप में उनकी हिन्दी कविताओं के भक्ति-भाव, विचार-दर्शन में विस्तार से वर्णन करने की प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि उसकी ओर इशारा मात्र है। अर्थात् वे अपनी कविताओं में दिए गए सन्दर्भों का गहराई से वर्णन नहीं करते हैं और न ही उनका पुनर्निर्माण करने का प्रयास करते हैं, अपितु उनका उल्लेख मात्र अपने उद्देश्य के लिए कर देते हैं। अपने पाठक-श्रोताओं तक अपना कथ्य मूल रूप में प्रेषित करने में उन्हें सफलता भी मिलती है, क्योंकि उन्होंने उन्हीं सन्दर्भों को अपने काव्य में चुना है जो बहुज्ञात थे, या जो उनके अनुसार उनके लक्ष्य पाठक-श्रोताओं को ज्ञात होने की संभावना थी। इस कारण उनकी कविताओं में आए पौराणिक-मिथकीय-ऐतिहासिक सन्दर्भों में संक्षिप्तता होने के बावजूद उसमें सविस्तर वर्णन का गुण आ गया है।

एक रचनाकार के रूप में एकनाथ जानते थे कि उनका लक्ष्य पाठक-श्रोता किन-किन सन्दर्भों को जानता है और किन सन्दर्भों को पूर्णतः इसी कविता में बताना है। इसलिए उन्होंने हिन्दी में कथाकाव्य नहीं लिखा होगा, इसके स्थान पर उन्होंने गवळणों में कृष्ण कथा के कुछ अंशों को चुनकर अपने भक्ति-भाव एवं विचार-दर्शन की अभिव्यक्ति की। उनके भारूडों में आनेवाली कथाएँ भी इसी रूप में आयी हैं। 11 पंक्तियों की 'भांड' शीर्षक कविता में उन्होंने ब्रह्म, माया, विष्णु, महादेव, सीता, हनुमान, विश्वामित्र, मेनका, राधा-कृष्ण-सोलह सहस्र नारी की कई कथाओं का ताना-बाना प्रस्तुत कर दिया है। ऐसा करते समय कवि की अपेक्षा है कि उसका पाठक-श्रोता इन कथाओं का सविस्तार ज्ञान रखता है-

“भाया भांड सुनो जी, आछा भांड बनोजी ॥धृ॥

ब्रह्मदेव ने वेद पढ़ाया, माया मीठी लागी
 सरस्वती के गले पड़ा उसकी कीरत भागी ॥1॥
 विष्णु के पीछे लगा है माया का धंदा
 खेल करते फिसल पड़ी, मीठी लागी वृंदा ॥2॥
 महादेव बड़ा देव, सब देवन का बाबा,
 भिल्लनी के पीछे लगा करता तोबा, तोबा ॥3॥
 सीता की चोरी करी, रावण कूं धक्का
 हनूमान ने नंगी करके, जला दी लंका ॥4॥
 विश्वमित्र तप करे भये अनुरागी,
 मेनका से वश भये हुवी धूलधानी ॥5॥
 सोला सहस्र नारी कान्हा गोकुल में खेले
 राधिका कूं छोड़के रीसनी कूं भूले ॥6॥
 जनार्दन सांई मेरा सब खेल खेला,
 एकनाथ भांड होके उनका चरण मिला ॥7॥”¹⁴⁹

इस कविता में कई सन्दर्भों के होते हुए भी उससे जुड़ी कथा को गहराई से वर्णन नहीं है। कवि ने केवल उनकी ओर इशारा करते हुए उनसे जुड़े अपने विचारों को प्रेषित किया है। इससे यह भी पता चलता है कि कवि इन कथाओं का गहराई से अध्ययन कर चुका था और उनमें समान सूत्र खोजकर उनके माध्यम से अपनी बात को अपने युग-परिस्थितियों के आलोक में पुनर्परिभाषित करने का प्रयास कर रहा था। इन सन्दर्भों या कथाओं में वही अर्थ नहीं है, जो कवि ने यहाँ उन्हें एक ही स्थान पर रखकर निर्माण करने का प्रयास कर, अपने कथ्य को सम्प्रेषित किया है। अर्थात् जो काम ‘प्रियप्रवास’ ‘साकेत’ ‘राम की शक्तिपूजा’ ‘अंधा युग’ ‘एक कंठ विषपायी’ आदि के माध्यम से आधुनिक कवि कर रहे थे, लगभग वही कार्य सीमित रूप में एकनाथ अपने समय में मिथकीय चेतना से ले रहे थे।

सारांशतः कहा जा सकता है कि एकनाथ ने अपने हिन्दी काव्य के माध्यम से अपने युगीन सत्य को, अपनी विचारधारा को, अपने आदर्श को सम्प्रेषित करने का सफल प्रयास किया है। उनके काव्य में अभिव्यक्त विचारधारा, भक्ति भाव एवं दर्शन में पूर्ण तादात्म्य देखने को मिलता है। उनकी मराठी कविताओं की ही तरह उनकी हिन्दी कविताएँ भी सामान्य से लेकर विद्वत्जन को भी कुछ-न-कुछ देती हैं। किसी भी प्रकार का पाठक उनकी कविताओं से निराश नहीं लौटता, चाहे वह भक्त हो, चाहे वह दार्शनिक हो अथवा वारकरी, दत्त सम्प्रदाय से उसका सम्बन्ध रहा हो। इतना ही नहीं उनकी कविताएँ अपने पाठकों को मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा व ज्ञान देने में समर्थ हैं, इसलिए उनकी कविताएँ उबाऊ नहीं हैं। कलावादियों को उनकी कविताएँ मध्यकालीन लोक कलाओं से लेकर शास्त्रीय प्रतिमानों की उपस्थिति दिखा सकती हैं। वस्तुवादियों को उनकी कविताएँ अपने धारदार कथ्य के माध्यम से आकर्षित करती हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के पात्र सामान्य जन-जीवन से चुने हैं और साथ ही मिथकीय पात्रों को अपने युग के अनुसार ढालने का प्रयास भी किया। उनके पात्र भले ही उनके हाथों की कठपुतलियाँ बनकर उनके दार्शनिक विचारधारा की वाहक बनकर रह जाते हैं, किन्तु उनकी स्वाभाविकता को बनाए रखना एकनाथ की काव्य दृष्टि की विशिष्ट विशिष्टता है। उन्होंने अपने

समन्वय की विराट न सही किन्तु अधिकाधिक चेष्टा अवश्य अपने काव्य के माध्यम से की है, किन्तु इस समन्वय की आँधी में उन्होंने तद्युगीन वाद एवं विवादों को अनदेखा नहीं किया और अपनी कविताओं में उन्हें भी स्थान दिया।

एक कवि एवं एक सन्त-भक्त दोनों रूपों में एकनाथ ने अपने हिन्दी काव्य के भी माध्यम से अपने युगीन सत्यों से टकराने का प्रयास किया है। उन्होंने दोनों भूमिकाओं का निर्वहन अपने हिन्दी काव्य के माध्यम से किया है। गवळणों में भावभीनी भक्ति एवं भारुडों आदि अन्य काव्य रूपों में अपने समाज के इतिहास का चित्रण एवं उससे सम्बन्धित सामाजिक अवधारणाओं को अपने काव्य में संरक्षित कर उन्होंने अपने ही समाज को अभिव्यक्त किया है। सामाजिक अवधारणों को तोड़ने के क्रम उन्होंने कहीं-कहीं उनका रूढ़ अर्थों में भी प्रयोग किया है। उन्होंने गुरु, ईश्वर, अल्ला और विठ्ठल में कोई अन्तर करने का प्रयास नहीं किया। धर्म या सम्प्रदाय के नाम पर ढोंग रचने वालों के उन्होंने कान उमेठे हैं। अपने समय के सेठ-साहुकारों की संचय वृत्ति में और धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर ढोंग रचनावालों में उन्हें कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई देता है। न उन्होंने सांसारिक जीवन का विरोध किया है और न संन्यास धर्म का। उनके अनुसार तो व्यक्ति ने जिसका स्वीकार किया है, उसका पूर्ण निर्वहन करना चाहिए।

दर्शन एवं विचारों को समझाने के क्रम में कई बार उन्होंने अपने विचारों को अनिवार्यता का रूप देने का प्रयास किया है, किन्तु ऐसे प्रसंग कम ही हैं। अपनी भक्ति के क्रम में उन्होंने 'भांड' भी बनना पसन्द किया है, किन्तु साथ ही 'भांड' की पुनर्व्याख्या कर उसे सकारात्मक अर्थ देना वे नहीं भूलते। अपने पूर्वज सन्त-भक्तों को उन्होंने उनके कार्यों के साथ स्मरण किया है, भले ही वह कार्य चमत्कारिक कथाओं से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इन सन्त-भक्तों का स्मरण करते समय उन्होंने जाति, धर्म, भाषा, व्यवसाय आदि की किसी भी मानडंड को ध्यान में नहीं रखा हो, किन्तु लिंग की दीवार तो आवश्यक उन्होंने खड़ी कर दी, क्योंकि इस कविता में उन्होंने एक भी स्त्री सन्त-भक्त का स्मरण नहीं किया है। अपने हिन्दी काव्य में वे समय के साथ चलनेवाले रचनाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने अपने युग को प्रस्तुत किया है, तथा भाषायी दीवार को तोड़ने का प्रयास किया है।

4.2.10 प्यार खुदाई रे बाबा, जिकिर खुदाई : तुकोबा

तुकोबा ने हिन्दी में सामाजिक मान्यताओं, रूढ़ियों का खण्डन-मण्डन, भक्ति पद्धति, प्रेम भावना, उपदेश आदि किसी भी विचार या भाव को केन्द्र में रखकर स्वतंत्र रूप से कविताओं की रचना नहीं है। उनकी प्रत्येक कविता में एक साथ कई तत्वों को एक साथ देखा जा सकता है। उनकी कविताओं को अध्ययन की सुविधा के लिए भले ही विभिन्न विषयों में विभाजित कर विश्लेषित किया जाए, किन्तु इस प्रकार का अकादमिक विभाजन उनकी कविताओं का नहीं किया जा सकता है। क्योंकि कई बार उनकी एक ही कविता में कई-कई विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति की गई है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने तुकोबा की रचनाओं को विषय की दृष्टि से "गोपी प्रेम, पाखण्ड-उद्घाटन और नीति तथा भक्ति उपदेश"¹⁵⁰ इन तीन भागों में विभाजित किया है। यह सही है कि इन्हें तुकोबा की कविताओं की प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में गिनाया जा सकता है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी तुकोबा के हिन्दी काव्य में भक्ति की विशिष्ट पद्धति देखने को मिलती है, जिसे निर्गुण-सगुण या साम्प्रदायिक-पंथीय दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेम के जिस रूप को अभिव्यक्त किया है और जिन सामाजिक-आध्यात्मिक मूल्यों को इसके माध्यम से सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है, उन पर भी दृष्टिक्षेप करना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए इन बिन्दुओं को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता।

तुकोबा ने अपने मराठी-हिन्दी काव्य में अर्जित परम्परा और अपने चिन्तन को अभिव्यक्त किया। उनका चिन्तन एक ओर कई परम्पराओं को उदार भाव से स्वीकार करता है तो दूसरी ओर अपनी समकालीन परिस्थितियों में मानवतावादी दृष्टि को अपनाते हुए कई रूढ़ियों को अस्वीकार भी करता है। यह स्वीकार-अस्वीकार तुकोबा के यहाँ भावनात्मक प्रतिक्रिया मात्र न होकर विवेकानुसार होता है। इसी चिन्तनजनित विवेक के कारण उन्होंने कई प्रचलित मान्यताओं की पुनर्व्याख्या की है और अपना प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया है। तुकोबा का जीवन और काव्य धार्मिक एवं सामाजिक सत्ता के प्रतिरोध में घटित हुआ है, जो प्रत्येक युग में प्रतिपक्ष के काव्य की विशेषता रही है। उपरोल्लेखित बिन्दुओं के माध्यम से तुकोबा की हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त भावों-विचारों को उनके युगीन सामाजिक जीवन एवं तुकोबा के संघर्षपूर्ण परोपकारी जीवन के आलोक में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

1 'मन में एक हि भाव': तुकोबा की भक्ति पद्धति

तुकोबा की हिन्दी कविताओं की व्यापकता कहिए या उसका सबको अपने अन्दर समेटने का प्रयास, इन कविताओं को सगुण-निर्गुण, किसी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण, लोक-शास्त्र, धर्म, वैष्णव-शैव, राम-कृष्ण, प्रेम-ज्ञान, वस्तु-रूप आदि किसी भी आधार पर विभाजित करना दुरूह कार्य है। इस बात को मानते हुए भी श्रीराम शर्मा ने तुकोबा की हिन्दी कविताओं का विवेचन 'सगुण धारा' के अन्तर्गत किया है। उन्होंने लिखा - "नामदेव, एकनाथ तथा अन्य सन्तों ने हिन्दी में लिखने की जो परम्परा प्रारंभ की, वह अधुण रूप से चलती रही। पिछली तीन शताब्दियों में महाराष्ट्र ने अनेक सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तन देखे। हम पिछले खण्ड के प्रारंभ में देख चुके हैं कि महाराष्ट्रीय सन्तों की रचनाओं को सगुण अथवा निर्गुण में विभाजित नहीं किया जा सकता। मराठी सन्त और विचारक वेदान्त से बहुत प्रभावित थे। पिछले युग में सगुण भक्ति की ओर सन्तों का उतना झुकाव नहीं था। कुछ सन्तों ने सगुणवाद का खुलमखुल्ला विरोध भी किया था। जैसे-जैसे समय बीता, सन्तों का रुझान सगुण की ओर होता गया।"¹⁵¹

तुकोबा या किसी भी मराठी सन्त-भक्त कवि की हिन्दी या मराठी कविता के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'पिछले युग में सगुण भक्ति की ओर सन्तों का उतना झुकाव नहीं था।' कुछ सन्तों ने सगुणवाद का 'खुलमखुल्ला विरोध भी किया था'। इसी कारण यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'जैसे-जैसे समय बीता, सन्तों का रुझान सगुण की ओर होता गया।' कुछ हद तक आचार्य शर्मा का साधारणीकरण का महानुभावी कवियों के सन्दर्भ में सही हो सकता है कि उनका रुझान निर्गुणवाद की ओर था और उन्होंने 'सगुणवाद का खुलमखुल्ला विरोध किया' किन्तु बाद के समय भी उनका यही दृष्टिकोण रहा। रही बात वारकरी सम्प्रदाय के सन्त-भक्ती कवियों तो उन्होंने न कभी सगुणवाद का विरोध किया है और न ही निर्गुणवाद का। मराठी भक्ति आन्दोलन में सगुण-निर्गुण का वाद कभी रहा ही नहीं। यदि ऐसा होता तो स्वयं निर्गुणवाद का समर्थन करनेवाला "महानुभाव सम्प्रदाय भी जैन विरोधी मोर्चे पर प्रमुख भक्ति सम्प्रदाय"¹⁵² नहीं होता। गं.बा. सरदार ने विशिष्ट प्रयास से यह सिद्ध किया है कि "किसी भी विशिष्ट पंथ को लेकर वैदिक या अवैदिक का विवाद निर्माण करना केवल शब्दछल है।"¹⁵³ वास्तविक रूप में मराठी भक्ति आन्दोलन में सन्यास धर्म और सांसारिक जीवन अथवा निवृत्ति-प्रवृत्ति को लेकर पंथीय बदलाव होते रहे हैं, निर्गुण-सगुण को लेकर नहीं। वारकरी सन्तों में ज्ञानेश्वर से लेकर तुकोबा एवं वर्तमान समय तक भी न निर्गुण ईश्वर को लेकर और न सगुण ईश्वर को लेकर निष्कासन की प्रवृत्ति नहीं रही है। यही कारण है कि इन दोनों का सह-अस्तित्व तुकोबा की मराठी ही नहीं, हिन्दी कविताओं में भी दिखाई देता है।

उनकी कविताओं में आया सगुण-निर्गुण का यह विचारवैविध्य परस्पर पूरक है। यह पूरकता उनकी भक्ति पद्धति को लोकतांत्रिक स्पेस मुहैया कराता है। उन्होंने किसी विशिष्ट बन्धन को इस

कारण स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह जानते थे कि किसी भी प्रकार की अनिवार्यता को समाज में स्थान नहीं होना चाहिए। इसलिए उन्होंने कहा कि “भक्ति ऐसी करो कि पूर्ण रूप से तदाकार हो जाओ, संगत ऐसी धरो कि पूर्ण एकाकार हो जाओ, नाममार्गी भक्ति और व्यवहार एक-दूसरे के पर्याय बन जाए, पूरक बन जाए। साधु संगत ऐसी धरो कि सांसारिक जीवन भी चले।”¹⁵⁴ तुकोबा द्वारा प्रतिपादित समन्वय को सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ता है। इस समन्वय को उन्होंने अपनी विचारधारा की बहुत बड़ी विशेषता बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने तो इसे साधारण-सी बात समझकर अपनी कविताओं में बड़ी आसानी से लिख दिया है। यह विरोधी-सा लगता हुआ सामंजस्य तुकोबा को संभवतः इसलिए भी साधारण बात लगती है, क्योंकि इन्हें उन्होंने स्वयं अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया था। इन कविताओं का व्यावहारिक रूप स्वयं तुकोबा का जीवन है, उनके जीवन का संघर्ष है, जिसने इन विरोधी से लगते मूल्यों को समाज-स्वीकृति दिलाने के लिए अजीवन एवं जीवनानंतर भी अपनी कविताओं के माध्यम से संघर्ष किया -

“तुका दास रामका। मनमे एक हि भाव ॥

तो न पलटू आव। ये हि तन जाव ॥१॥”¹⁵⁵

अपने तन को भी दाँव पर लगाकर प्रेममार्ग को सामाजिक सामंजस्य का हथियार बनाने का स्वप्न देखने और नाममार्गी भक्ति को सबसे प्रबल भक्ति मानने के कारण ही नहीं, बल्कि अधिक व्यावहारिक होने के कारण तुकोबा की कविताएँ भक्ति आन्दोलन की परिपक्व स्थिति को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इस परिवक्ता का पहला लक्षण हैं, सभी भेदभावों से परे होना। इसका दूसरा लक्षण है विस्तारिक दृष्टिकोण को प्राप्त करना। यह तुकोबा या वारकरी सम्प्रदाय ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन की परिपक्वता की परिचायक हैं, क्योंकि वह इसी विस्तारित दृष्टिकोण के साथ अपनी अगली पीढ़ी को भेदरहित सीख देती हैं, अपने जीवनानुभवों के साथ। यह अधिक यथार्थवादी हैं, सभी के लिए समान हैं, चिन्ता से युक्त होते हुए भी खड़ी चोट करना नहीं भूलती, अपने परवर्तियों के लिए पूँजी हैं। उनकी भक्ति पद्धति में मठ बनाना, भव्य मन्दिरों का निर्माण करना-करवाना आदि दिखावों के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्होंने इन आडंबरयुक्त प्रयासों को ‘झूठा धंदा’¹⁵⁶ कहा है।

तुकोबा के जीवन-मूल्य हैं - प्रेम और मनुष्यता तथा आध्यात्मिक-मूल्य हैं - पूर्णतः एकात्म या तदाकार होने के लिए नाममार्गी भक्ति का आलंबन। इन मूल्यों के ईर्द-गिर्द उनका तमाम हिन्दी काव्य घूमता है, किन्तु कई अधिक व्यापक दृष्टि को लिए। इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि उनके अराध्य को कोई भी किसी भी नाम से पुकारे। वे स्वयं राम, कृष्ण, गोविंद, गोपाल, ठाकुर, हरि, दीनदयाल, दीनानाथ, ईलाही, अल्लाह आदि का नाम अपनी हिन्दी कविताओं में लेते हैं, किन्तु “हिन्दी पदों में एक विशेष बात दृष्टव्य है कि तुकोबा ने अपने साम्प्रदायिक अराध्य देव विठोबा का उनमें कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह जान पड़ता है कि हिन्दी पद उन्होंने हिन्दी भाषी जनता को लक्ष्य कर गाए हैं जो विठ्ठल नाम से बहुत कम परिचित रही है।”¹⁵⁷

एक और बात उल्लेखनीय हैं कि वे नामस्मरण के लिए अपनी तमाम हिन्दी कविताओं में ‘राम को नाम’¹⁵⁸ का उल्लेख करते हैं, किन्तु इसमें किसी भी एक्सक्लुज़न के बिना सभी का समावेश हो जाता है। तुकोबा ‘रामसुं चीत बांध राषु’¹⁵⁹ और ‘तुका दास राम का’¹⁶⁰ दोनों कहते हैं। यहाँ वे प्रेमा भक्ति को छुकर दास्य भक्ति की तरफ अवश्य मुड़ते हैं, किन्तु दोनों को निर्गुण की सीमा तक ही अपनाते हैं, जबकि दास्य और प्रेमा भक्ति दोनों पद्धतियों में सगुण रूप की अनिवार्यता होती है। अपने आराध्य के कई भी रूपांकन उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं, किन्तु यह रूपांकन इतना स्पष्ट नहीं है कि इससे किसी पारम्परिक देवी-देवता का बिम्ब प्रस्तुत हो सके। तुकोबा ने पारम्परिक कथाओं के माध्यम से आराध्य का गुणगान किया और उसे अपना स्वामी माना है -

“हम दास तीन्हके सुनाहो लोकां। रावणमार विभीषण दिई लंका ॥धृ॥

गोबरधन नखपर गोकुल राखा । बर्सन लागा जब मेंहुं फत्तरका ॥1॥

वैकुण्ठनायक काल कौंसासुरका । दैत डुबाया सब मंगाय गोपिका ॥2॥

स्तंभ फोड पेट चिरीया कसेपका । प्रल्हाद के लियें कह भाई तुकयाका ॥3॥¹⁶¹

स्पष्टतः इस कविता में राम, कृष्ण, विष्णु, नृसिंह के अवतार एवं कार्यों का उल्लेख किया गया है । अर्थात् तुकोबा ने आपने अराध्य के रूप में किसी सीमा तक भी अपने को सीमित नहीं किया तथा अपनी हिन्दी कविताओं में किसी भी देवता का स्पष्ट रूप में बिम्बात्मक चित्रण प्रस्तुत नहीं किया । अर्थात् उनके आराध्य को निर्गुण-सगुण के स्वकल्पित बन्धनों में जकड़ने से हमें बचना चाहिए ।

तुकोबा के अराध्य कई नामों से पुकारे गए हैं और एकाध स्थान पर 'गोविन्द को भजने'¹⁶² को छोड़कर भले ही वे राम का ही स्मरण करने कहते हैं, किन्तु इसके लिए कोई सैद्धान्तिक दावा या अराध्य का कोई रूपांकन उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है । उनकी कुछ कविताओं के आधार पर उन्हें निर्गुणिया पंथ का कवि कहा जा सकता है । यदि तुकोबा केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी कविताएँ ही लिखते तो उन्हें 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में निर्गुण कवियों की परम्परा में कबीर के बाद सबसे महत्वपूर्ण कवि के रूप में गिने जाने में शायद ही कोई समस्या निर्माण नहीं होती । किसी भी भक्तिकालीन तथाकथित निर्गुण कवि की ही तरह उनकी निर्गुण भक्ति भी सगुण से पूर्णतः मुक्त नहीं है । उनकी हिन्दी कविताओं में अनायास ही सगुण के संकेत अवश्य मिलते हैं । यह संकेत भी वैष्णव परम्परा से ही आते हैं । भले ही यहाँ सगुण ईश्वर का पूर्ण रूपांकन नहीं किया गया हो, किन्तु 'हिरण्यकश्यपू का हंता'¹⁶³ तथा श्रीकृष्ण के अवतार कार्यों का स्पष्ट उल्लेख करके तुकोबा ने वैष्णव के पारम्पारिक अवतारों की ओर संकेत अवश्य किया है । विभिन्न कविताओं की यह पंक्तियाँ देखे -

“कहे तुका जो साईं हमारा, हिरनकश्यप जिन्हें मारहि डारा ॥”¹⁶⁴

“तुका प्रभू दीनदयाला । वारि रे तुज पर हुं गोपाला ॥”¹⁶⁵

“कहे तुका जीव तन डारू वारी । राम उपासिंह बलिहारी ॥”¹⁶⁶

“कहे तुका उपकार हि काज । सब कररहिया रघुराज ॥”¹⁶⁷

“और नामरूप नहीं गोवलिया । तुकाप्रभु माखन खाय ॥”¹⁶⁸

“कहे तुका सब हि चलणहारा । एकरामविन नहीं वासार ॥”¹⁶⁹

“माया मिथ्या मनका सब धंदा । तजो अभिमान भजो गोविंदा ॥”¹⁷⁰

“कहे तुका रामरस जो पावे । बहुरि फेरा वो कबहु न खावे ॥”¹⁷¹

इन विभिन्न कविताओं के उदाहरणों में देखा जा सकता है कि उन्होंने पारम्पारिक नामों का प्रयोग अपनी कविताओं में किया है, जिसके आधार पर उन्हें सगुण कहा नहीं जा सकता है, किन्तु इन्हीं आधारों के रहते उन्हें निर्गुण भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है । तुकोबा की कविताओं में निर्गुण-सगुण को देखते हुए यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि उन्होंने इन कथाओं को कहीं भी विस्तारित रूप जाकर प्रस्तुत नहीं किया, अपितु अपनी कुछ कविताओं के अन्त में इनकी ओर इंगित मात्र किया है ।

मराठी में कृष्ण की विभिन्न कथाओं पर आधारित काव्य लिखने की परम्परा आरंभ से ही रही है, जिसमें कृष्ण जन्म एवं विवाह अधिक कवि प्रिय प्रसंग रहे हैं । जहाँ महानुभाव पंथ के कवियों ने अधिकतर कृष्ण-रुक्मिणी विवाह को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया, वहीं वारकरी कवियों ने अपने अभंगों में कृष्ण जन्म एवं बालकृष्ण की लीलाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इस परम्परा का विकास मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं में भी देखा जा सकता है । तुकोबा की अपेक्षा बहेणाबाई ने अपनी हिन्दी कविताओं में कृष्ण जन्म की कथा अधिक विस्तार से, गिरिधर के जन्म से लेकर 'जमुना के तट धेनु चरावत' तक सुनाई है । जिसे तुकोबा ने एक ही पद में अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया है । इस पद से भी उनकी सगुण भक्ति के संकेत मिलते हैं -

“चुरा चुराकर माखन षाया । गौलनी का नंदकुमार कन्हैया ॥

काहे बराई दिषावत मोही । जानतहुं प्रभुपना ते राखो भाई ॥
 और मात सुन उषलसुं गला । बांध लिया तूं अपना गोपाला ॥
 फिरत बन बन गाऊं धरावत । कहे तुकया बंधु लकरी ले हात ॥”¹⁷²

यह पद भले ही पूर्णतः सगुण भक्ति की ओर उन्मुख है, किन्तु उस दिशा में अराधनात्मक या दास्य भक्ति परक रचना नहीं है, बल्कि कथात्मक अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है यह पद सुनाने के लिए नहीं अपितु काव्य के माध्यम से भक्ति को प्रकट करने के लिए निजी भक्ति की कविता के रूप में अपने ही अन्दाज़ में तुकोबा ने लिखा है। पद का लहज़ा भी तुकोबा की अन्य हिन्दी कविताओं की तरह भावनात्मक लगाव को प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि यहाँ तो ‘काहे बराई दिषावत मोही जानतहुं प्रभुपना ते राखो भाई’ जैसी पंक्ति भी है। एक अन्य कविता में ‘तुका प्रभु माखन खाया’¹⁷³ का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि तुकोबा निर्गुण कवि अपनी हिन्दी कविताओं में भी हैं किन्तु मराठी कविताओं की तरह सगुण के संकेत भी उनकी कविताओं में मिलते हैं। सगुण ईश्वर के संकेत कथात्मक कविताओं में अधिक मिलते हैं तो अराधनात्मक कविताओं में निर्गुणिया रूप ही प्रबल दृष्टिगोचर होता है -

“लाल कमली वोढे पेनाये । मोसु हरिथें कैसें बनाये ॥धृ॥
 कहे सखि तुम्हें करति सोर । हिरदा करिका कठीण कठोर ॥1॥
 नहीं क्रिया सरम कछु लाज । और सुनाउ बहुत हे भाज ॥2॥
 और नाम रूप नहीं गोवलिया । तुकाप्रभु माखन खाया ॥”¹⁷⁴

यहाँ तुकोबा पूर्णतः सखी के रूप में नज़र आते हैं। यह रूप सूरदास की उन गोपियों की तरह हैं, जिन्हें कृष्ण विरहाग्नि में छोड़कर चले गए हैं। जो उन्हें कठोर हृदयवाला जानकर उलाहना दे रही हैं। लोक लाज त्यागकर प्रेम करने की बात कर रही हैं।

तुकोबा के अनुसार भक्ति के लिए नाम स्मरण अनिवार्य है। इसमें किसी भी भेद के लिए स्थान नहीं है। बस आवश्यकता है उसमें पूर्णतः एकाकार हो जाने की। उससे चित से चित मिलाने की। कायिक संगति को तुकोबा व्यर्थ मानते हैं -

“चित मिले तो सब मिले । नहीं तो फुकट संग ।
 पानी पाथर येक ही ठोर । कोरन भिगे अंग ॥”¹⁷⁵

नामभक्ति को ही सर्वस्व माननेवाले, नाम को ही भक्ति के सार के रूप में स्थापित करने वाले तुकोबा नाम के अतिरिक्त कोई काज नहीं मानते। नामभक्ति को वे अपनी लाज कहते हैं -

“राम राम कह रे मन । औरणसुं नही काज ।
 बहुत उतारे पार । आघे रख तुकाकी लाज ॥”¹⁷⁶

नाममार्गी भक्ति में किसी का महल या झोंपड़ी वासी होना, काया या माया, किसी विशिष्ट जाति का होना आदि कुछ भी बीच में नहीं आता। वास्तव में नाममार्गी भक्ति के माध्यम से तुकोबा सभी भेदों को मिटा देने की उम्मीद करते थे। राम कहने वाले के वे पग लग जाने के लिए तैयार हैं, नारायण को जानने वाले को वे प्राणप्रिय मानते हैं, जीव तन धन वारने के लिए तैयार हैं। नाममार्गी भक्ति में वे किसी भी बाधा को न तो मानते हैं या देखते-पाते हैं। उसे सभी के लिए अनुकूल पाते हैं। उसमें तुका अधिक ‘जाति कुल नहीं मानते’¹⁷⁷। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है - ‘राम का नाम ज्यो लेंवे बारेबार। त्याके पाउं मेरे तन के पैजार ॥धृ॥’ इसके लिए वे सिर्फ प्रेम को आधार मानते हैं, जाति या किसी भी अन्य भेद को नहीं - “जातनसु मुझे कछु नहीं प्यार। असते की नही हेंदु धेड चंभार। ज्याका चित लगा मेरे रामको नाव। कहे तुका मेरा चित लागा त्याके पाव ॥”¹⁷⁸ इतना ही नहीं वे ‘जिस मुख में नाम नहीं उसमें धूल पड़ी हुई मानते हैं’ और जो राम का नाम नहीं लेता उससे प्रश्न पूछते हैं कि ‘क्या

उसे किसी रांड ने पैदा किया है?’¹⁷⁹ ‘उस मुख पर बलि जाना चाहते हैं, जिस मुख से राम नाम निकलता रहता हो।’¹⁸⁰

अपनी हिन्दी कविताओं में तुकोबा इसलिए नाममार्गी भक्ति पर इतना जोर देते हैं, क्योंकि वे संभवतः इसे एक प्रतिरोधी मार्ग मान रहे थे। उन्हें पता चल गया था कि भक्त को माया का डर दिखाकर भटकाया जा सकता है, किन्तु नाम स्मरण के लिए किसी माया का डर नहीं था। उनके अनुसार इस नाममार्गी भक्ति को “हांसत खेलत बाट। खाणा खाते सोवते खाट”¹⁸¹ भी संभव किया जा सकता है। जिस पर किसी का अधिकार न है, और न ही किया जा सकता है। तुकोबा की भक्ति पद्धति में अनुस्यूत समाजदर्शन को डॉ. प्रेमशंकर ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है – “तुकोबा गृहस्थ थे और इसी के भीतर वे भक्तिभाव की कल्पना करते हैं। उनका कथन है कि कर्तव्य का पालन करते हुए हरि-भक्ति प्राप्त की जा सकती है। उनकी रचनाएँ कई बार भावाकुल प्रतीत होती हैं, जैसे जीव ईश्वर से संवाद की स्थिति में है। उनके प्रार्थना भाव को चैतन्य-चण्डीदास आदि के साथ रखकर देखा जा सकता है। भावावेग के भीतर से तुकोबा जीवनानुभवों को व्यक्त करते चलते हैं और उनका आग्रह चित्त की निर्मलता पर है। वे भक्ति के मार्ग में सब वर्णों को स्वीकारते हुए कहते हैं कि शूद्र, चांडाल वैश्या को भी इसका अधिकार है। उनके लिए भेदाभेद भ्रम अमंगल है क्योंकि सारा संसार ही विष्णुमय है। शूद्र जाति में जन्में तुकोबा ने भक्ति को जाति-वर्णहीन बिरादरी के रूप में प्रतिपादित किया, जिसे उनके सामाजिक प्रदेय के रूप में देखा गया है-राम-कृष्ण का निरंतर स्मरण करने वाला अन्त्यज, ब्राह्मण से श्रेष्ठतर है।”¹⁸²

भक्ति एवं तत्संबंधी एकाधिकार क्रिया विधि के वर्ण के बंधनों की पीड़ा को स्वयं तुकोबा ने अपने निजी जीवन में भोग रहे थे, भोग चुके थे। अपने समय के बुद्धिजीवी होने के कारण उनका नैतिक दायित्व था कि स्वयं भोगे हुए कष्टों से दूसरों को बचाने का प्रयास करे। धार्मिक-आध्यात्मिक ही नहीं, किसी भी सांसारिक-सामाजिक-वैयक्तिक असमानता एवं दुखों के विरुद्ध तुकोबा ने स्वयं कमर कस रखी थी। लोगों की अन्न, पानी से लेकर दीनता-आवास आदि तक में उन्होंने निजी लड़ाई की तरह साथ दिया। अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद, कभी उनमें रहते हुए तो कभी उन्हें लाँघकर। यही कारण था कि उन्हें जीवनभर कष्ट झेलने पड़े, सामान्य लोगों की तरह और इन्हीं कष्टों-संघर्षों को उन्होंने काव्यबद्ध किया। एक संघर्षरत जीवन को सामान्य पद्धति से काव्यबद्ध करने के कारण भी उनका काव्य सभी को अपनी गाथा लगा और उनके जीवनकाल में ही वह सभी के मात्र जिह्वा पर ही नहीं अपितु हृदय में बस गया। नदी की धारा में बहा दी गई उनकी कविताओं की हस्तलिखित प्रति संत चरित्रकार महिपतिबोआ ताहराबादकर के अनुसार चमत्कारिक ढंग से यथावत तैर गई, किन्तु वास्तविकता तो यह थी कि वह डुबोई ही नहीं जा सकती थी, क्योंकि उसका अतिसूक्ष्म रूप प्रत्येक हृदय में बसा था। वह हजारों हृदयों की बात करनेवाली हृदय से निकली कविता है और जैसा कि दागिस्तानी कवि-उपन्यासकार ने लिखा है, असली कविताओं को नदी में डुबोया नहीं जा सकता, वे लोगों के दिलों में साँस लेती हैं। तुकोबा की कविताओं के सन्दर्भ में शत-प्रतिशत सही है। उसी प्रकार तुकोबा लोक हृदय के कवि होने के नाते असंख्य लोगों के हृदय की पीड़ाओं को समझते थे, इसी कारण उन्होंने अपनी इन हिन्दी कविताओं में नाममार्गी भक्ति को एक प्रतिरोधी सभ्यता की तरह स्थापित करने का प्रयास किया है। इसलिए वे बारम्बार केवल नाम और केवल नाम जपने को कहते हैं। श्रमशील समाज में निर्गुण नाममार्गी भक्ति व्यवहार तथा अध्यात्म को एक साथ कायम रखने के लिए एक सरल उपाय है, वारकरी सम्प्रदाय में यह मूल्य पहले से उपस्थित था, किन्तु तुकोबा ने इसे अपने समयानुसार सर्वोपरि माना।

2 तुकोबा की नैतिक एवं मूल्य-दृष्टि

तुकोबा को ‘वारकरी सम्प्रदाय का शिखर पुरुष’ माना जाता है। ठीक उसी प्रकार वे मराठी भक्ति आन्दोलन के भी शिखर पुरुष कहे जा सकते हैं। उनकी मराठी कविताओं की तरह ही हिन्दी

कविताएँ भी उनके अपने जीवनानुभवों एवं उससे निःसृत जीवन-मूल्यों से छनकर आती हैं। यह मूल्य ‘भारतीय चिन्तन धारा का स्वाभाविक विकास’ नहीं थे, बल्कि उस चिन्तन धारा को समय-समय पर लगे झटकों से आए थे। स्वाभाविकता और विकास में उतना सामीप्य नहीं होता, जितना स्वाभाविकता के आन्दोलित होने में होता है। चिन्तनधारा का विकास स्वाभाविकता में नहीं होता, बल्कि स्वाभाविक चिन्तनधारा को विकसित होने के लिए उसे झटकों की आवश्यकता होती है। भारतीय चिन्तनधारा में चार्वाक, आदि शंकराचार्य, बौद्ध, नाथ के बाद का भक्ति आन्दोलन स्वाभाविकता को लेकर नहीं, बल्कि इस स्वाभाविकता को विकसित करने का कार्य झटकों के साथ करता है। यह स्वीकार करते हुए हमें लज्जा का अनुभव स्वाभाविक रूप से होना चाहिए कि हमारी तथाकथित स्वाभाविक चिन्तनधारा परलोकवादी अधिक रही है, जिसे उपरोल्लेखित सम्प्रदायों या व्यक्तित्वों ने सर्वांगपूर्ण बनाया, जिसमें वास्तविक चिन्ता ने भी प्रमुख स्थान पाया। इन सम्प्रदायों-व्यक्तित्वों ने समाज में प्रचलित रूढ़ियों एवं असामाजिक मूल्यों को समय-समय पर चुनौती दी। उन्होंने अपने समय से जितना ग्रहण किया उससे अधिक उसे दिया। इस संग्रह-त्याग-प्रदान की प्रक्रिया में इन व्यक्तित्वों के अपने मूल्यों ने रूप ग्रहण किया। यही मूल्य सामुहिक रूप में भक्ति आन्दोलन के मूल्य कहलाए, जो वर्तमान समय में भी भारतीय जन-मानस का अभिन्न हिस्सा है। इन मूल्यों में मध्ययुगीन मानवीयता का सार है, जिसे प्रत्येक युग में चरितार्थ होते देखा जा सकता है।

तुकोबा ने अपने जीवन में कोई लम्बी यात्रा नहीं की थी, किन्तु उनका जीवन फलक इतना व्यापक हो गया था कि वह मध्यकालीन तमाम चिन्तन को अपने में समेटने की शक्ति रखता था। अपने पूर्ववर्ती सन्त-भक्तों के लेखन का अध्ययन तो उन्होंने किया ही था। उनके परिवार में वारकरी परम्परा के बीज पहले से मौजूद थे, जो उन्हें ज्ञानेश्वर से लेकर एकनाथ तक की परम्परा को जानने का माध्यम बने। कई प्रकार के व्यवसायों को करते हुए, अपने आस-पास कई मत-मतान्तरों को समझते हुए उन्होंने आध्यात्मिक-सामाजिक-पारिवारिक मूल्यों को आत्मसात किया था। इस ज्ञान को उन्होंने अपने चिन्तन के माध्यम से मूल्यों में परिवर्तित करने का निरन्तर प्रयास किया। उन्होंने इसी चिन्तन के माध्यम से तत्कालीन रूढ़ियों एवं मूल्यों को चुनौती दी, जिसमें से छनकर उनके अपने मूल्य आते हैं। समाजविरोधी नैतिकता को उन्होंने ‘व्यापार का माध्यम’ कहा। यही कारण है कि “तुकोबा की भक्ति की आगे ज्ञान का प्रभुत्व समाप्त हो गया। उनकी तल्लीनता के आगे शास्त्र-चर्चा मौन हो गई।”¹⁸³ अन्य सन्त-भक्त कवियों की भाँति इस संग्रह-त्याग की प्रक्रिया में तुकोबा ने भी अपने सामाजिक-आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति अपने हिन्दी काव्य में की है।

तुकोबा अपनी हिन्दी कविताओं में नीतिपरक अधिक हैं, किन्तु उनके यहाँ नीतिपरक होने का अर्थ है, जीवनमूल्यवादी होना, न कि कोरा सिद्धान्तवादी होना। इस कारण उनके जीवन मूल्य अधिक व्यावहारिक हैं, उनकी भक्ति दृष्टि की तरह। तुकोबा की भक्ति दृष्टि हो या नैतिक दृष्टि उसमें करनी और कथनी की समानता पर अतिरिक्त जोर दिया गया है। उनके अराध्य गोपियों की लाज ‘राखते’ हैं। एक गवळण में उन्होंने लिखा है -

“भला नंदजी को डिकरो। लाज राखीलीन हमारो ॥1॥

आगळा आवो देवजी कान्हा। मैं घरछोडी आहे ह्यांना ॥धृ॥

उन्हसुं कळना वेतो भला। खसम अहंकार दादुला ॥2॥

तुका प्रभु परवली हरी। छपी आहे हुं जगाथी न्यारी ॥3॥”¹⁸⁴

यहाँ उनकी कविता में उसी ‘लाज’ की बात हो रही है जो स्त्रियों पर हजारों वर्षों से बनाई गई व्यवस्था का अंग है। इसी लाज को प्रेमचन्द का होरी ‘मरजात’ (मर्यादा) के रूप में ग्रहण करता है। यह एक सामाजिक मूल्य के रूप में मध्यकाल से ही स्वीकृत है और कृष्णकथा गोपियों के माध्यम से इसके प्रतिकार के साधन गढ़ता है।

तुकोबा ने अपने जीवन में किसानी, बनियायी, मजदूरी, सन्तत्व आदि कार्य किए। इन व्यवसायों के प्रतीकों माध्यम से उन्होंने अपनी बात प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्हें पता था कि पूर्ण सच्चाई से व्यापार नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी जान लिया था कि बाजार का अर्थ लूटतंत्र होता है। बाजार आर्थिक स्थिति, खरीदने की एवं व्यय की शक्ति को देखकर मनुष्य को बड़ा छोटा मानता है। इसी को प्रतीक बनाते हुए उन्होंने अपनी एक हिन्दी कविता में लिखा है -

“सब सबरी नचाव म्याने। खड़ा अपनी सात।
हात पावों रखते जबाब। नहीं अगली बात ॥
सुनो भाई बाजार नहीं। सबहि निरचे लाव।
नन्ही बड़ा नहीं कोये। एक ठोर मिलाव ॥
एक तार नहीं प्यार। जीवतन की आस।
कह तुका सो हि मुंढा। राखलिये पायेनपास ॥”¹⁸⁵

इसी प्रकार से व्यापारिक प्रतीकों के माध्यम से तुकोबा ने कई स्थानों पर अपने जीवन मूल्यों को अभिव्यक्त किया है। ‘आवलका तो पीछें नहीं मुदल बिसर जाय। फिरते नहीं लाज रंडी गधे गोते खाय’¹⁸⁶ ‘काहे भुला एक देखत। आंखो मार तडांगो बाजार।’¹⁸⁷ ‘मर्द होये वो खडा फीर नामर्दकुं नहीं धीर’¹⁸⁸ ‘बजारका बुझे भाव। वो हि पुसता आवे ठाव। फुकट बाटु कहे तुका। लेवे सोहि लें हिसखा।’¹⁸⁹ इन सबसे ऊपर तुकोबा का एक ही मूल्य हमें उनकी सम्पूर्ण हिन्दी कविताओं में दिखाई देता है - ‘कहे तुका उपकार हि काज। सब कररहिया रघुराज।’¹⁹⁰ अर्थात् भक्ति में विश्वास कि सब काज रघुराज कर देंगे किन्तु हमें अपना परोपकार नहीं भूलना चाहिए। यहाँ तुकोबा में अस्वीकार एवं स्वीकार दोनों अपने चरम रूप में दिखाई देते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ‘अधिक याती कुलहीन नहीं ज्यानु। ज्याने नारायण सो प्राणी मानूं।’¹⁹¹ ‘जातुनसुं मुजे कछु नहीं प्यार। असते की नहीं हेंदु धेड चंभार’¹⁹² तो वे अस्वीकार एवं स्वीकार की एक साथ घोषणा कर रहे हैं, रूढ़ियों के अस्वीकार की घोषणा एवं उन रूढ़ियों के कारण अस्वीकृत किए गए लोगों के स्वीकार की घोषणा। और इस सबसे ऊपर प्रेम और उपकार की घोषणा। उन्होंने अपनी एक मराठी कविता में भी कहा है कि अब वे बस उपकार के लिए ही बच गए हैं। ऐसे में उनका समस्त काव्य मूल्य-दृष्टि देता हुआ समय के थपेड़ों में टिका हुआ है, ऐसे मूल्यों के कारण कि जिन्हें मानवीय मूल्य निर्बाध रूप में कहा जा सकता है, जिनकी प्रत्येक युग में आवश्यकता होती है। परोपकार को प्रकृति का मूल आधार मानते हुए उन्होंने इसे मानवीय मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। तुकोबा ने अपनी एक कविता में प्रकृति को परोपकार का मूल मानते हुए लिखा -

“आपे तरे त्याकी कोण बराई। औरन कुं भलो नाम घराई ॥१॥
काहे भूमि इतना भार राखे। दुभत धेनु नहीं दुध चाखे ॥१॥
बरसते मेघ फलतेंहें बिरखा। कोन काम अपनी उन्होंति रखा ॥२॥
काहे चंदा सुरज खावे फेरा। खिन एक बैठन पावत घेरा ॥३॥
काहे परिस कंचन करे धातु। नहीं मोल तुटत पावत घातु ॥४॥
कह तुका उपकार हि काज। सब कररहिया रघुराज ॥५॥”¹⁹³

यहाँ तुकोबा विभिन्न प्राकृतिक बिम्बों के माध्यम से परोपकार से ही प्राणीसृष्टि को संभव बता रहे हैं। “संसार में परोपकार ही करना चाहिए। जो व्यक्ति केवल आत्मसाधनार्थ ही है, उसके प्रति तुका की सहानुभूति है। वे कहते हैं, प्रकृति भी परोपकार में रत रहती है। भूमि भार क्यों ढोती है। दुधारी गाय अपना दूध कभी चखती है? मेघ बरसता है, वृक्ष फलता है। चाँद-सूरज क्यों फेरे देते हैं? वे क्षणभर भी विश्राम नहीं लेते। पारस स्पर्श देकर धातु को कंचन क्यों बनाता है? यह सब परोपकार के लिए ही न।”¹⁹⁴

इसी प्रकार तुकोबा ने प्रचलित कई आध्यात्मिक-सामाजिक पारिभाषित शब्दों की भी पुनर्व्याख्या करने का प्रयास किया है, जिससे उनके चिन्तन के साथ-साथ उनकी मूल्य दृष्टि का भी पता चलता है। 'शूर' के सन्दर्भ में उनका कहना है -

“तुका सुरा नहि सबद का । जब कमाइ न होये ।
चोट साहे घनकि रे । हिरा नीबरे तोये ॥1॥”¹⁹⁵
“तुका सुरा बहुत कहावे । लडत विरला कोये ।
एक पाले उंच पदवी । एक खौंसा जोये ॥1॥”¹⁹⁶

‘दरवेश’ को व्याख्यायित करते हुए उन्होंने लिखा -

“अल्ला करे सो होय बाबा । करतार का सिरताज ।
गाउ बछरे तिस चलावे यारी बाघो न सात ॥1॥
ख्याल मेरा साहेब का । बाबा हुआ करतार ।
व्हांटें आघे चढे पीछ । आपे हुवा असुवार ॥2॥
जिकिर करो अल्ला की बाबा सबल्यां अंदर भेस ।
कहे तुका जो नर बुझे सो हि भया दरवेस ॥3॥”¹⁹⁷

तुकोबा अपनी हिन्दी कविताओं में नाम स्मरण को सर्वाधिक महत्व देते दिखाई देते हैं। यह बात भी उन्होंने पूर्ण दरवेश होने के लिए आवश्यक मानी है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि “सब रसों का किया मार । भजनगोली एक हि सार ।”¹⁹⁸ नामदेव की ही तरह नामा भक्ति पर अतिरिक्त बल देकर भी तुकोबा अपने युग में प्रचलित भक्ति पद्धति को नये सीरे से व्याख्यायित कर रहे थे। इसी प्रकार उन्होंने सन्यासधर्म को भी व्याख्यायित किया है -

“देखत आँखों झुटा कोरा । तो काहे छोरा घरबार ॥धृ॥
मनसुं किया चाहिये पाख । उपर खाक पसारा ॥1॥
काम क्रोधसो संसार । वो सिरभार चलावे ॥2॥
कहे तुका वो संन्यास । छोडे आस तनकी ही ॥3॥”

वे अपनी हिन्दी कविताओं में कुछ ऐसा करने की सलाह देते हैं कि राम ही तेरे पीछे दौड़ आए। इस कारण वे अपने को भी शूरों में गिनते हैं, क्योंकि वह ‘ऐसा’ उनके अनुसार परोपकार है, जिसे तुकोबा ने अपने जीवन-कृत्यों के माध्यम से इन सिद्धान्तों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया।

तुकोबा की प्रायः प्रत्येक हिन्दी कविता धर्म से परे जाकर अपने पाठक-श्रोता को संबोधन करती है। उनका यह जीवन मूल्यों संबंधी संबोधन मानव मात्र के लिए है, न किसी हिन्दू के लिए, न किसी मुसलमान के लिए और न किसी जाति विशेष के लिए। इस अर्थ में उनकी यह कविताएँ अधिक-से-अधिक आध्यात्मिक कही जा सकती हैं। भले ही यह कविताएँ मानव मात्र को संबोधित हैं, किन्तु इनके प्रेम संदेश का प्रभाव सम्पूर्ण प्राणी सृष्टि पर होता दिखाई देता है। उन्होंने जैसे अपनी मराठी कविताओं में वृक्ष, लताओं, पक्षियों तथा सभी प्राणियों को मानव सम्बन्धी माना है, उसी प्रकार अपनी एक हिन्दी कविता में प्रकृति से निरपेक्ष एवं निःस्वार्थ भाव की प्रेरणा लेने को कहते हैं, जो वर्तमान समय में सबसे प्रमुख जीवन-मूल्य है, होना चाहिए।

3 प्यार खुदाई रे बाबा, जिकिर खुदाई : तुकोबा के प्रेम-गीत

“क्या गाऊं कोई सुननवाला । देखें तों सब जग ही भुला ॥1॥
खेलों अपने राम इसाते । जैसी वैसी करहों मात ॥धृ॥
कहांसे ल्यावों माधर वाणी । रीझे ऐसी लोक बिराणी ॥2॥
गिरिधर लाल तो भावहि भुका । राग कला नहीं जानत तुका ॥3॥”¹⁹⁹

तुकोबा ने न मराठी में और न ही हिन्दी में कोई उलटबाँसी लिखी है। किन्तु इस कविता में कुछ पक्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें उलटबाँसी कहा जा सकता है। वे अपने जीवनकाल में ही इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि उनकी कई कविताएँ गाँव-गाँव की सामान्य जनता में गाई-सुनी जाती थी। उन्होंने पत्थर-सी कठोर बातों को भी मधुर पद्धति से समझाया है, जिससे लोग न सिर्फ़ उन पर रीझ गए थे, बल्कि भक्त तक बन गए थे। इसी माध्यम से तुकोबा का लोक के प्रति प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। फिर भी उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में स्पष्ट शब्दों में प्रेम को ऐसे हथियार के रूप में प्रस्तुत किया, जहाँ भेद होकर भी, भेद नहीं होता।

तुकोबा की हिन्दी कविताओं में प्रेम दो स्तरों पर दिखाई देता है - एक तो उस परमपिता ईश्वर के प्रति और दूसरा लोक-जन के प्रति। ईश्वर के प्रति उनका प्रेम कहीं सीधे अभिव्यक्त हुआ है, तो कहीं गोपियाँ आदि पात्रों के माध्यम से। इसी प्रेम के खातिर गोपियों ने अपना 'घर छोड़' दिया है, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यह 'नंदजी को डिकरो' उनकी 'लाज' अवश्य रखेगा। तुकोबा के यहाँ भक्ति और प्रेम में बहुत अधिक अन्तर नहीं रह जाता है। उन्होंने प्रेम और भक्ति के रूप नाम स्मरण में कोई अन्तर नहीं माना, उन्होंने प्रेम को भूलकर अन्य क्रियाविधियाँ करनेवालों पर अपना प्रेम ही अभिव्यक्त करते हुए लिखा है -

“प्यार खुदाई रे बाबा जिकिर खुदाई।

उडे कुदे हुंग नचावे आगल भुलन प्यार ॥”²⁰⁰

उनके द्वारा चित्रित गोपियों का 'जिहिरा' हरि बिन रह नहीं सकता। वे उनकी राह कई युगों से देख रही हैं।²⁰¹ वे अपने अराध्य पर न्यौछावर हो जाना चाहती हैं। उनका प्रेम इतना प्रभावी है कि भक्तों के भी पीछे राम दौड़ने लगते हैं -

“दासों पाछें दौरे राम। सोवे खड़ा आपें मुकाम ॥1॥

प्रेम रसडी बांधी गळे। खेंच चले उधर ॥धृ॥

आपणे जनसु भुल न देवे। कर हि धर आघें बाट बसावे ॥2॥

तुका प्रुभु दीनदयाला। वारि रे तुज पर हुं गोपाला ॥3॥”²⁰²

जिस प्रकार लोभी के मन में धन, माता के चित में पुत्र, कामिनी के मन में काम बसता है, उसी प्रकार तुका के मन राम बसता है।²⁰³ यहाँ आकर तुकोबा का भक्त हृदय और प्रेमी हृदय एक हो जाते हैं। वे अपने शरीर में उसे भर लेना चाहते हैं और अपने तन की नांव बनाकर 'पैलतीर' (हर छोर) पार करना चाहते हैं।²⁰⁴ वे अपने प्रेम-भक्ति में इतने तल्लीन हैं कि अपने तन के जाने पर भी वे इस भाव को नहीं पलटना चाहते हैं।²⁰⁵ उन्होंने भक्ति-प्रेम की एकता को प्रतिपादित करते हुए दोनों की प्रक्रिया को चित्त से चित्त मिलने की प्रक्रिया कहा है।²⁰⁶ उनका प्रेम ऐसा है जैसे गाय-बछड़े का प्रेम। गाय चरने के लिए जंगल जाती है किन्तु दोनों का प्रेम कहीं नहीं जाता। उसी प्रकार उनके अराध्य, जो भाव के भूखे हैं, उनसे उनका प्रेम कहीं नहीं जाता।²⁰⁷ तुकोबा की कविताओं में अभिव्यक्त ईश्वरीय प्रेम और भक्ति में जिस प्रकार अन्तर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उनके लोक-जन प्रेम और ईश्वरीय प्रेम में भी अन्तर नहीं किया जा सकता है। उनका लोक प्रेम पूरी परिपक्वता के साथ मिलने की राह बताता है। इसी को तुकोबा की वैकल्पिक भक्ति माना जा सकता है कि वे प्रेम के माध्यम से समानता स्थापित करना चाहते हैं। एक ऐसी भक्ति पद्धति जहाँ कोई 'हिन्दू-धेड-चमार' में अन्तर न हो। जहाँ स्त्री-पुरुष में अन्तर न हो। जहाँ झोपड़ी, माया, महल, सन्त आदि होने, न होने में किसी भी प्रकार का अन्तर न हो। इन्हीं अन्तरों को पाटने का प्रयास तुकोबा अपने प्रेम के संदेश में करते हैं। उनके यहाँ प्रेम संदेश भी है और संदेश का माध्यम भी।

अपनी इन कविताओं में वे प्रेम का संदेश देते हैं, किन्तु उनकी इन कविताओं का स्वर कहीं भी सीधे-सीधे नकारात्मक नहीं है, जो व्यवहार में प्रचलित कई मान्यताओं के विरोध में जाकर प्रेम को

सर्वोपरि स्थान पर स्थापित करने की जल्दी में हो। ऐसा नहीं है कि उन्होंने प्रचलित रूढ़ियों का विरोध अपनी हिन्दी कविताओं में नहीं किया है, किन्तु इस नकार में भी स्वीकार का भाव है। कई बार रचनाकार के स्वीकार में नकार का और नकार में स्वीकार का भाव होता है। तुकोबा जहाँ प्रेम की बात कर रहे हैं, वहाँ भी वे बहुत-सी मान्यताओं का विरोध कर रहे हैं। वे जब नाम लेनेवाले भक्त को अपने तन की पैजार बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं, तो वे भक्ति के नाम पर प्रचलित कई मान्यताओं को नकार रहे होते हैं। जब वे प्राकृतिक बिम्बों के माध्यम से परोपकार को ही सर्वधर्मसार बता रहे हो, तब वे धर्म के नाम पर प्रचलित कई मान्यताओं को ठोकर मार रहे होते हैं। ठीक उसी प्रकार जब वे अपनी हिन्दी कविताओं में प्रेम और नाम को सार बता रहे हैं और उसे भक्ति से जोड़ रहे होते हैं, तब भी वे एक प्रकार का प्रतिरोध रूढ़िग्रस्त पद्धतियों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे होते हैं। उनके प्रेम में प्रतिरोध का ही स्वर है कि 'काफ़िर' की धारणा को भी हृदय की कठोरता से जोड़कर व्याख्यायित करते हैं, जो एक प्रकार से प्रेम का ही प्रतिनिधित्व करता है -

“काफ़र सोही आपण बुझे। आला दुनियां भर।

कहे तुका सुहें सुनो रे भाई। हिरिदा जिन्होका कठोर ॥”²⁰⁸

‘काफ़िर’ अर्थात् ‘अस्वीकार करने वाला’ या ‘ढकनेवाला’। किन्तु इस्लाम के माननेवालों में यह शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो अल्लाह को एकमात्र ईश्वर और मुहम्मद को उसका अन्तिम पैगंबर नहीं मानते। इस्लाम के माननेवालों ने भारत ही नहीं, सारे विश्व में गैर-इस्लामिक लोगों के लिए इस शब्द का गाली की तरह प्रयोग किया। यही कारण है कि आज-कल इसके स्थान पर ‘गैर-इस्लामी’ या ‘गैर-इस्लामिक’ शब्द का प्रयोग करने की सलाह दी जा रही है। तुकोबा एक ऐसे समय में इस शब्द की पुनर्व्याख्या कर रहे थे, जब इसका गाली की तरह प्रयोग अधिसंख्य जनता के लिए किया जाता था और यह प्रयोग धर्म के कट्टरपंथी शासकों की देखरेख में और उनके बलबूते पर भी होता रहा होगा। यह तुकोबा की प्रेम भावना ही है कि प्रतिक्रियावादी न होते हुए उन्होंने इस धारणा के मूल पर प्रहार किया और इसे नया अर्थ देने का प्रयास किया। उनके अनुसार जिसका हृदय कठोर होता है, वही काफ़िर होता है। इस धर्माधारित पारिभाषिकी की उन्होंने धर्मनिरपेक्ष व्याख्या करने की कोशिश की। प्रेम को सामाजिक एकता का आधार माननेवाले तुकोबा के दृष्टिकोण से यह व्याख्या पूर्णतः सही है।

तुकोबा इन कविताओं में गुरु की भाँति सीख देते हैं, पिता का दुलार देते हैं और माता की ममता देते हैं। प्रेमी-प्रेमिका की गर्माहट देते हैं। वे यहाँ सलाह देते हैं तो कहीं माता की तरह माटी न खाने की नसीहत, तो पिता की तरह डाँट भी देते हैं। वे कहीं घर के उस वृद्ध की बोली बोलते हैं, जो घर के आँगन में खंखारते हुए बोलता तो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु ‘जनरेशन गैप’ के कारण अनसुना किया जाता है और इस बात को लेकर वह वृद्ध चिढ़ता-कुढ़ता रहता है। इन सब लहज़ों में, बातों में एक बात सामान्य है, वह है-प्रेम। तुकोबा के बार-बार भूमिकाएँ बदलते रहने के कारण ही उनका प्रेम ममतामयी रहता है, माया बनने से बचता है, जैसे अपनों पर अंधत्व की हद तक प्रेम होने के कारण माया होती है, यदि तुकोबा एक ही भूमिका में बने रहते तो उनका प्रेम भी इसी में लिप्त हो जाता, संभवतः तुकोबा इसी कारण अपनी भूमिकाएँ बदलते हैं कि उनका प्रेम रूढ़ न हो जाए, अंध-प्रेम को प्राप्त न कर ले। यही कारण है कि उनका प्रेम न्याय है, आलोचनात्मक न्याय। अधिकांश मराठी कविताओं की भाँति लहज़ा आलोचना वाला नहीं है, यहाँ समीक्षात्मक है, जहाँ बूढ़ा समीक्षक चश्मे से झाँकते हुए आचार्य शुक्ल की तरह तीखी किन्तु व्याख्यात्मक टिप्पणी करता है, जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक चिन्ता गहराई तक अनुस्यूत रहती है, जिसे रचनाकार उसी अकुंठ भाव से स्वीकारता है, जिस अकुंठता से वह टिप्पणी की गई है। इस अर्थ में तुकोबा अपनी हिन्दी कविताओं में भी सभ्यता समीक्षक की भूमिका में नज़र आते हैं, किन्तु कई रूपों में, बहुरूपिया सभ्यता समीक्षक थे।

4. काहे बराई दिषावत मोही - तुकोबा का पाखण्ड-खण्डन

तुकोबा उन सन्त-भक्तों में से नहीं हैं, जो अपनी भक्ति में तल्लीन रहकर अपने समाज एवं उसकी समस्याओं से नहीं टकराते हैं। तुकोबा अपने समय की समस्याओं से न केवल टकराते हैं, अपितु अपने आस-पास के लोगों को उन्होंने मार्गदर्शन करने का कार्य भी किया है, किन्तु अपने खास अन्दाज़ में। तुकोबा हिन्दी कविताओं में सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक कुरीतियों के प्रति प्रतिरोध कई बार सीधे-सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं, तो कई बार यह विरोध-प्रतिरोध अप्रस्तुत रूप में अभिव्यक्त हुआ है। किसी भी विचारधारा, दर्शन, अर्चन पद्धति या सामाजिक मान्यताओं को इन कविताओं में त्यागने की बात या लादने की बात कहीं भी प्रस्तुत ढंग से नहीं की गई है। किसी भी बाह्याडंबर, धार्मिक अनुष्ठान, तीर्थ-हज, पूजा-पद्धति, रोजा-नमाज़ आदि का नाम लिए बगैर वे इसका विरोध कुछ इस रूप में करते हैं कि, अपनी बात भी पूरे प्रभाव के साथ कह जाते हैं और किसी भी प्रकार की कटुता के लिए भी स्थान नहीं छोड़ते। यह उनकी कथन भंगिमा की विशेषता के साथ-साथ उनकी परिपक्वता भी कही जा सकती है और कवि के रूप में वस्तु को संयम के साथ अभिव्यक्त करने की विशेषता भी। यह सब करते हुए दो बातों को वे बड़े संयम के साथ प्रेषित करते हैं- मानवता का प्रतीक प्रेम और उनके अनुसार एकमात्र अर्चन-पद्धति नाम स्मरण। भक्ति के लिए तुकोबा 'मंत-तंत्र को साक्षी नहीं मानते'²⁰⁹ अपितु 'चित्त से चित मिलाना चाहते हैं, जहाँ मन ठंडा होता है'।²¹⁰

तुकोबा ने अपने मराठी-हिन्दी काव्य में अर्जित परम्परा और अपने चिन्तन को अभिव्यक्त किया। उनका चिन्तन एक ओर कई परम्पराओं को उदार भाव से स्वीकार करता है तो दूसरी ओर अपनी समकालीन परिस्थितियों में मानवतावादी दृष्टि को अपनाते हुए कई रूढ़ियों को अस्वीकार भी करता है। यह स्वीकार-अस्वीकार तुकोबा के यहाँ भावनात्मक प्रतिक्रिया मात्र न होकर विवेकानुसार होता है। इसी चिन्तनजनित विवेक के कारण उन्होंने कई प्रचलित मान्यताओं की पुनर्व्याख्या की है और अपना प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया है। तुकोबा का जीवन और काव्य धार्मिक एवं सामाजिक सत्ता के प्रतिरोध में घटित हुआ है, जो प्रत्येक युग में प्रतिपक्ष के काव्य की विशेषता रही है।

तुकोबा ने भक्ति में किसी भी भेद को मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने सभी के लिए भक्ति की समानता पर सर्वाधिक बल दिया, जो सम्पूर्ण भक्तिकाल की विशेषता कही जाती है। किन्तु इससे आगे बढ़कर तुकोबा ने जिसका भाव जैसा वैसी उसकी भक्ति के तत्व को भी अपने हिन्दी काव्य में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति अपने हिन्दी काव्य में प्रस्तावित की है। उन्होंने नाम पर सर्वाधिक बल इसी कारण दिया है कि उससे माया, महल-झोपड़ी, अपने दैनंदिन कार्यों आदि में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो उस व्यक्ति के 'तन की पैजार'²¹¹ भी बनने के लिए तैयार हैं, जो राजा राम का नाम बार-बार लेता हो। किन्तु भक्ति के लिए अन्य उपायों को वे 'गोते खाना'²¹² कहते हैं। भक्ति में खुद पार हो जाने की बात को भी तुकोबा स्वीकार नहीं करते। भक्ति हो या सांसारिक दुख, इन दोनों के माध्यम से दूसरों को तरने में मदद करना ही उनके अनुसार सच्चा परोपकार है, मानवीय जीवन का लक्ष्य है। यह सीख उन्होंने प्रकृति से पायी है। तीरथ व्रत को भी उन्होंने व्यर्थ माना, और उस ईश्वर को खुद का दास कहा जो सिर पर भार देकर चलाता न हो -

“भले रे भाई जिन्हें किया चीज। आछा नहीं मिलन बीज ॥धृ॥

फीरत फीरत पाया सारा। मीटत लोले धन किनारा ॥1॥

तीरथ बरत फिर पाया जोग। नहीं तलमल तुटति भवरोग ॥2॥

कहे तुका मैं ताको दास। नहीं सिरभार चलावे पासा ॥3॥”²¹³

तुकोबा के अनुसार मन्दिर, महल, झोपड़ी, माया सभी राम बिन व्यर्थ है।²¹⁴ उनके अनुसार माया-मिथ्या सब मन का धंदा है।²¹⁵ अगले जन्म को लेकर रोना रोनेवाला उनके अनुसार गँवारू होते हैं।²¹⁶ राजा लोक सभी अपना-अपना कहते हैं, तन जोबन की बड़ाई गाते हैं, उस पर अभिमान करते हैं,

इस कामक्रोध के संसार को सर पर ढोते हैं और स्वयं को जोगी या संन्यासी कहलवाते हैं, उनके अनुसार वही सच्चा संन्यासी है जो अपने तन की आशाओं का त्याग दे।²¹⁷ ये सब दिखावा है, ये सभी अन्दर से मैले होते हैं। भीतर का मैला ऊपर से धोने से कैसे मिटेगा।²¹⁸ तुकोबा साधु संगत धरने की भी बात करते हैं किन्तु उनके अनुसार मिलना ऐसा होना चाहिए जो 'चित से चित' मिला दे, अन्यथा ऐसे मिलने से क्या लाभ जैसे पानी से पत्थर और पत्थर से पानी मिलता है, पत्थर की तो सतह ही भीगती है तथा उसका अन्तर तो सूखा ही रह जाता है।²¹⁹ इसलिए वे मन से मन मिलना अनिवार्य मानते हैं।²²⁰ इतना कहकर भी तुकोबा कथनी और करनी में समानता का दावा प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कहा है, 'तुका केवल शब्दों का शूर नहीं है, घन की चोट सहे बगैर हीरा भी नहीं बनता'।²²¹ अर्थात् सतत संघर्ष तुकोबा के काव्य की मूल प्रवृत्ति है। उन्होंने मठ परम्परा और संसार छोड़कर वनों में बसनेवालों की खबर लेते हुए लिखा है -

“काहे लकडा घांस कटावे । खोद हि जुमीन मठ बनावे ॥1॥

देवलवासी तरवर छाया । घर घर माई खपरि बसाया ॥धृ॥

कां छांडियें भार फेरे सीर भागें । मायाको दुःख मिटलिये अंगें ॥2॥

कहे तुका तुम सुनो हो सिद्धा । रामबिना और झुटा कछु धंदा ॥3॥”²²²

तुकोबा की हिन्दी कविताओं में आया पाखण्ड का खंडन प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत रूप लिए हुए है। ऐसे कम ही स्थान हैं, जहाँ तुकोबा ने अपनी हिन्दी कविताओं में सीधे-सीधे रूढ़ियों पर प्रहार किये हैं। इस रूप में वे हिन्दी में लिखनेवाले मराठी सन्त-भक्त कवियों में भक्ति आन्दोलन की परिपक्वता को प्रस्तुत करनेवाले सन्त-भक्त सिद्ध होते हैं। तुकोबा की हिन्दी कविता इस बात का प्रमाण है कि मातृभाषा से इतर लिखकर भी अपनी बात को प्रभावी ढंग से समझाने की कला मराठी सन्त-भक्त कवियों ने अर्जित कर ली थी। तुकोबा ने पाखण्ड खण्डन करते समय अपनी हिन्दी कविताओं में शोरगुल के स्थान पर शान्त स्वभाव से काम लिया। यह उनकी और भक्ति आन्दोलन परिपक्वता की स्थिति का परिचायक है और साथ ही उस जन-सामान्य की परिपक्वता का भी जो इस काव्य संदेश को समझती है, जिसके लिए यह काव्य रचा जा रहा था।

सारांशतः कहा जा सकता है कि तुकोबा की हिन्दी की कविताएँ कई मायनों में महानुभावीय कवियों से आरंभ होकर नामदेव, एकनाथ से होते हुए आ रही इस परम्परा में तुकोबा ने कई बातों को त्याग तो दिया किन्तु कई नई बातों के साथ आगे भी बढ़ाया। उनका हिन्दी काव्य बहुत अधिक शोर-गुल नहीं मचाता, बल्कि अपनी बात शान्त स्वभाव से कहता हुआ अपना प्रभाव जमाता है। कई स्थानों पर वह आवाज तो करता है, किन्तु शोर की हद तक नहीं। उनके द्वारा चित्रित गोपियाँ सीमित भाव में प्रेम का माध्यम बनती हैं, विरह को अभिव्यक्त करती हैं, किन्तु वह भी अपनी हृद के भीतर। नाम भक्ति को भक्ति का पर्याय माननेवाले तुकोबा ने सगुण ईश्वर को भी नकारा नहीं। भले ही उन्होंने अपने अराध्य का पूर्ण रूपांकन अपने हिन्दी काव्य में प्रस्तुत न किया हो किन्तु वैसे संकेत अवश्य दिए हैं, जो परम्परा से चले आ रहे थे। उनके काव्य में एकनाथ के हिन्दी काव्य-सा दार्शनिक लहज़ा भले ही न हो किन्तु वह कई दार्शनिक मान्यताओं-रूढ़ियों से टकराता है और उन्हें पुनर्व्याख्यायित करने का पूर्ण प्रयास करता है। धन-जोबन के गर्व को व्यर्थ मानने वाले तुकोबा नामदेव के बाद ऐसे सन्त-भक्त कवि हैं जिन्होंने अपने हिन्दी काव्य में भी सफलतापूर्वक अपने व्यापारिक बिम्बों-प्रतीकों का प्रयोग किया। उन्होंने नामदेव जितना नामा भक्ति पर बल भले ही न दिया हो, किन्तु उसे पूर्णतः उपेक्षित भी नहीं रखा। प्रेम के गायक के रूप में वे मानवीय प्रेम को सर्वोच्च स्थान देते हैं। कई स्थानों पर तो ऐसा लगता है कि तुकोबा सारे विश्व को प्रेममयी होते देखना चाहते हैं। संयम उनकी कविताओं का प्राण है। उन्होंने जिस संयम के साथ अपनी काव्य-वस्तु को अभिव्यक्त किया है, वह उनके मराठी काव्य में दुर्लभ है।

जीवनदृष्टि के प्रति अधिक-से-अधिक व्यावहारिकता उनके हिन्दी काव्य की विशेषता है। उनके यहाँ नीतिपरक होने का अर्थ है, जीवनमूल्यवादी होना, न की कोरा सिद्धान्तवादी होना। उनकी कविताओं में सिद्धान्तकथन न के बराबर देखने को मिलते हैं। उन्होंने अपनी बात सामान्य जीवन के उदाहरणों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया। इसी क्रम में उन्होंने नशीले पदार्थों एवं गालियों के प्रयोग भी किए हैं। उन्होंने धर्म से परे जाकर अपने पाठक-श्रोताओं को संबोधित किया है। उनका यह संबोधन न किसी धर्म विशेष के लिए है और न किसी जाति विशेष के लिए। राजा से लेकर रंक तक को उन्होंने अपने नैतिक दृष्टि में रखकर अपनी कविताओं की रचना की है। चिन्तनशील जीवन-मूल्यों एवं आध्यात्मिक मूल्यों ने तुकोबा की हिन्दी कविताओं का रूप ग्रहण किया। उन्होंने न अपने जीवन में और न हिन्दी-मराठी कविताओं में कभी पांडित्य का दावा किया और वैसी छाया अपनी कविताओं पर न आने दी, किन्तु वास्तव में वे जीवन के पंडित थे, व्यवहार के पंडित थे। यह भी तुकोबा के हिन्दी कविताओं की विशेषता है।

4.2.11 रामदास का हिन्दी का काव्य

कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति किसी भी साहित्यकार में ठीक वही नहीं होती, जो उसके पूर्ववर्ती या कभी-कभी समकालीन साहित्यकार में रही थी या है। रामदास के हिन्दी काव्य ने अपने पूर्ववर्ती सन्त-भक्तों की कुछ प्रवृत्तियों को अकुंठ भाव से अपनाया और उसमें बहुत कुछ नया भी जोड़ने का सफल प्रयास किया, किन्तु साथ ही बहुत कुछ उसने अपनी विशाल विचारधारा के क्रम में त्याग भी दिया। जिस प्रकार मराठी भक्ति आन्दोलन में रामदास अपनी विशिष्ट पहचान के कारण जाने जाते हैं, उसी प्रकार उनका हिन्दी काव्य भी मराठी सन्त-भक्तों द्वारा लिखित काव्य में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। भक्ति पद्धति, सामाजिकता, सीमित निर्वैयक्तिकता आदि गुण पूर्ववर्ती हिन्दी कविताओं से उनकी कविताओं में कई मायनों में भिन्न हैं। वहीं निर्गुण-सगुण, राम-कृष्ण-अल्लाह आदि भेदों से परे जाकर उन्होंने अपने निजी भक्ति संबंधी विचारों को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है।

रामदास की हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त भक्ति पद्धति को श्रीमान प्रभाकर पंडित ने “निर्गुणोन्मुख सगुणोपासना”²²³ कहा है, अर्थात् निर्गुण की ओर बढ़नेवाली सगुणोपासना। जैसा कि पहले भी संकेत किए जा चुके हैं और यह सर्वज्ञात है मराठी भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण की वैसी विभाजक रेखा नहीं खिंची जा सकती है, जैसी हिन्दी भक्ति काव्य में निर्माण करने का प्रयास किया गया है। हिन्दी भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में लगभग यह मान लिया गया है कि सगुण कविता की अपेक्षा निर्गुण कविता अपने समय-समाज से अधिक जुड़ी थी। विशेषतः मार्क्सवादी आलोचना ने इस मत को खाद-पानी देते हुए सगुण कविता के कई वर्णवादी, सत्तावादी एवं पुरुषवादी आधार प्रस्तुत किए हैं। समकालीन विमर्शवादी दौर में सगुण कविता को उद्धृत करना भी आपको मर्दवादी-वर्णवादी-परम्परावादी आदि आदि सिद्ध कर सकता है। ऐसे में यदि किसी अन्य भाषा-भाषी की हिन्दी कविताओं को आप पहले-पहल हिन्दी भक्ति आन्दोलन का हिस्सा बता रहे हैं और यदि वह कवि अपनी विचारधारा एवं काव्य में सगुण का जोरदार समर्थन करता है, तो आप में थोड़ी-सी हिचकिचाहट का आना स्वाभाविक है। (इसे कहते हैं विचार और स्थापनाओं का आतंक!) ठीक यही प्रक्रिया श्रीमान प्रभाकर पंडित जी के साथ हुई होगी। संभवतः इसी कारण उन्होंने रामदास की हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त भक्ति पद्धति को निर्गुण की ओर उन्मुख भक्ति पद्धति कहा है।

वैसे रामदास के हिन्दी काव्य में अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों की तरह निर्गुण एवं सगुण दोनों भक्ति पद्धतियों की प्रवृत्तियाँ मिल जाती है। इसी से दो प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं - पहला प्रश्न तो यह कि क्या सगुण से निर्गुण की ओर बढ़नेवाला प्रवास रामदास की इन कविताओं में है, क्या ऐसा कोई प्रवास कविताओं में अभिव्यक्त होता है? दूसरा और अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या यह निर्गुणोन्मुखता मात्र भक्ति पद्धति तक ही सीमित है या निर्गुण कविताओं के अन्य लक्षण भी इसमें दिखाई देते हैं। क्योंकि, हिन्दी साहित्य जगत में भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में 'निर्गुण कवि' अथवा 'निर्गुण कविता' पारिभाषिक के रूप में प्रचलित हो गए हैं। इनका प्रयोग अब कवि या काव्य निर्णय मात्र के लिए नहीं किया जाता, अपितु यह विशिष्ट मूल्यों के निर्धारक हो गए हैं। निर्गुण कवि अथवा निर्गुण कविता का अर्थ वह कविता जो समाज के निचले-से-निचले तबके से जुड़ी हुई हो, जो धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार का भेदभाव एवं आडंबरों के अस्तित्व को नकारती हो, जो धर्म को प्रत्येक का निजी मामला मानते हुए उस पर सबका समान अधिकार माँगती हो, जो लोक के भावनाओं को लोक तक उसकी ही बोली-बाणी में कहती हो आदि। क्या निर्गुण भक्ति पद्धति के साथ रामदास की कविता निर्गुण कविता के इन शर्तों को पूरा करती है? किस अर्थ में रामदास का हिन्दी काव्य निर्गुणोन्मुखी है, इसे श्रीमान प्रभाकर पंडितजी ने स्पष्ट नहीं किया है।

रामदास की कविता में सगुण-निर्गुण का कोई भेद नहीं दिखाई देता है, किन्तु उसकी उन्मुखता तय नहीं की जा सकती। इस दिशा में रामदास ने कोई नयी बात नहीं की, ज्ञानेश्वर-नामदेव-एकनाथ-तुकोबा आदि से होती हुई परम्परा को ही उन्होंने आगे बढ़ाया। किन्तु, कृष्ण भक्ति के साथ पर श्रीराम भक्ति का अधिक्य उनके काव्य में दिखाई देते हैं। वास्तव में रामदास ने अपनी हिन्दी कविताओं किसी भी ईश्वर स्वरूप-अरूप में कोई भेद नहीं किया है। उन्होंने अराध्य के रूप में राम, कृष्ण, अल्लाह आदि का बराबर उल्लेख किया है और ईश्वर को मन में स्थित भी माना है -

“घट घट साहिया रे। अजब अलामिया रे ॥धृ॥

ये हिन्दु मुसलमाना दोनों चलावे, पछाने से भावे ॥1॥

सुरिजन हारा बड़ा करता है, कोई एक जाने पार ॥2॥

अवल अखैर समझ दिवाने, अकलमंद पछाने ॥3॥

गरीबन काज बड़ा धनी है, बंदे कमीन कमीने ॥4॥”²²⁴

इस कविता में रामदास कई द्वैत भावों से मुक्त करने का प्रयास अपने पाठकों से करते दिखाई देते हैं। स्पष्ट रूप में कविता किसी विशिष्ट पाठक वर्ग को लक्ष्य करके नहीं लिखी गई है, क्योंकि जैसा कविता का कथ्य है, उस अर्थ में कविता सभी वर्ग के पाठकों के लिए अनिवार्य बात कहती है। रामदास के समय तक उनके आस-पास के प्रदेश में दोनों धर्मों के राज्यकर्ताओं के बीच समझौते से परे जाकर संघर्ष हो रहा था, वहीं सामान्य जनता इन लड़ाइयों-युद्धों के अर्थ को समझे बगैर अपने जीवन यापन कार्य में लगी हुई थी। वैसे रामदास की कविता को मठीय परम्परा की कविता कहा जा सकता है, किन्तु उनके अधिकांश हिन्दी काव्य की तरह यह कविता भी संभवतः सामान्य पाठकों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। चूँकि नामदेव-तुकोबा की कीर्तन परम्परा को छोड़कर रामदास ने उपदेश की परम्परा को अपनायी थी। ऐसे में उनकी कविता के सन्दर्भ में श्रोता की उपस्थिति अनिवार्य नहीं थी। उन्होंने अपने शिष्यों के लिए यह वचन सुनाए होंगे। ऐसे में राजनीतिक व्याख्याओं से परे जाकर उनकी इन हिन्दी

कविताओं के माध्यम से यह जानना काफी रोचक हो सकता है कि वे अपने मठों में शिष्यों को धार्मिक एवं सामाजिक सौहार्द की शिक्षा दे रहे थे, जो रामदास की समकालीन निर्मित छवि से नितान्त भिन्न जानकारी हमें देती है। इसी प्रकार कविता की अन्तिम पंक्ति भी रामदास को मराठी भक्ति आन्दोलन में विशेष स्थान देती है। इस पंक्ति में उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में अमीरी-गरीबी के भेद को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने अपनी हिन्दी कविता में भक्ति के क्षेत्र में तीर्थ-व्रत एवं धन-दौलत आदि की निस्सारता को भी स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है -

“राम ने जाने नर जिया तो क्या जी ॥धृ॥

धन दौलत सब माल खजाना ।

और मुलुख सर किया तो क्या जी ॥1॥

गोकुल मथुरा मधुवन द्वारिका ।

और अयोध्या कर आया तो क्या जी॥2॥

गंगा गोमति रेवा तापी ।

और बनारस न्हाया तो क्या जी ॥3॥

दर्वेश शवड़ा जंगम जोगी ।

और कानफाड़ी हुआ तो क्या जी ॥4॥

आत्म ज्ञान की खबर न जाने ।

और ध्यानन बक हुआ तो क्या जी ॥5॥

वेद पुरान की चर्चा घनी है ।

और शास्त्र पढ़ आया तो क्या जी ॥6॥

रामदास प्रभु, आत्म रघुविर ।

इस नयन नहीं छाया तो क्या जी ॥7॥”²²⁵

यह रामदास की सबसे लंबी कविता है और इसमें कविता की सारी ऊर्जा भक्ति पद्धति की शुद्धता पर खर्च हुई है। यह बात रामदास अपने स्वानुभवों के आधार पर कह रहे थे। वे स्वयं ज्ञान के भंडार और तीर्थों के दर्शक थे। उन्होंने सम्पूर्ण भारतभूमि के तीर्थों की यात्राएँ की थी। इस कविता में कही गई बातों को उनसे बेहतर कौन जान सकता था। इसी प्रकार उन्होंने इस कविता में तत्कालीन सभी प्रचलित मतों का उल्लेख करते हुए उसकी निस्सारता को उजागर किया है। “इस सन्दर्भ में इधर प्रकाशित प्रो.रा.तु.भगत ने ‘समर्थ रामदासांची हिन्दी पदावली’ शीर्षक पुस्तक लिखी है, जिसकी मराठवाडा विश्वविद्यालय के मराठी विभागाध्यक्ष डॉ.यू.म.पठान ने जो प्रस्तावना लिखी है, वह पढ़ने लायक है। डॉ.पठान का कहना है -‘अद्वैतमत ही रामदास के सम्प्रदाय का आधार है। इस सन्दर्भ में पिंड-ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में उनके द्वारा ‘दासबोध’ में किया गया विवेचन ध्यान में रखना चाहिए। पिंड-ब्रह्माण्ड में उन्हें एक ही चैत्यन्य का प्रत्यय होता हुआ और उनकी आत्माराम की संकल्पना में भी यही चैतन्य प्रतिबिम्बित हुआ है, मूर्त रूप में आया है....।”²²⁶

ध्यान देने की बात है कि उनके समय में प्रचलित कई मतों एवं लोकप्रिय भक्ति पद्धतियों का उन्होंने यहाँ उल्लेख नहीं किया है, वह हैं - वारकरी और सूफी मत। जैसाकि पहले भी सविस्तार चर्चा की गई है, वारकरियों के यहाँ वर्ष में दो बार पंढरपुर क्षेत्र की वारी करने की प्रथा रही है। इसके

अतिरिक्त सूफियों में अपने पीरों की मज़ारों पर जाकर उनका दर्शन करना और कई बार उन पर माथा नवाना अनिवार्य एवं पवित्र माना जाता रहा है। इन दोनों परम्पराओं में हिन्दू और मुसलमान दोनों लगातार सम्मिलित रहे हैं। वारकरियों में मुसलमान भक्त हुए हैं और सूफियों में भी हिन्दू भक्त, उसमें भी सामान्य जनता का क्या कहना ! तो क्या कारण थे कि अपने समकालीन कई प्रकार के भक्तों और उनकी भक्ति पद्धतियों के विरोधाभासों का उल्लेख करते हुए रामदास ने उन्हें व्यर्थ माना है, किन्तु वारकरी, दत्त एवं सूफी परम्पराओं का उल्लेख तक नहीं किया? नामदेव से लेकर तुकोबा और इतना ही नहीं एकनाथ ने तक अपने ही पंथों में प्रचलित रूढ़ियों का जमकर विरोध किया, किन्तु रामदास अपने पंथ के साथ वारकरी एवं सूफी परम्परा को पूर्णतः अनदेखा कर देते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि रामदास इन परम्पराओं से और उनकी रूढ़ियों से परिचित न रहे हो। रामदास अपने समय-समाज-राजनीति पर पूर्ण ध्यान देनेवाले सन्त-भक्त थे। ऐसे में रामदास का यहाँ अनजान बनना, कुछ कमी की ओर इंगित करता है, वह है भक्ति आन्दोलन में आत्मालोचना का क्षय होते जाना।

इसका अर्थ यह नहीं है कि रामदास ने अपनी भक्ति पद्धति अथवा अपने पंथ पर अहंकार के बोल बोले हैं, एक हिन्दी कविता में वे स्वयं को अज्ञानी और भक्ति पद्धति के क्षेत्र में अज्ञानी भी कहते हैं। उन्होंने इस कविता में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि “मैं ज्ञान और ध्यान दोनों नहीं जानता, मैंने दान-धर्म नहीं किया है, इसलिए मुझे मुक्ति पाने का क्या अधिकार है। मैं तो मुफ्त का खानेवाला हूँ।”²²⁷ किन्तु इतना होते हुए भी उन्हें अपने अराध्य पर अङ्गि विश्वास है। वे जानते हैं कि वे “दयाल” और “पतित-पावन” हैं। इसी अराध्य पर विश्वास के कारण रामदास की भक्ति उन्हें मधुरा भक्ति की सीमा तक ले जाती है। “संत रामदास जैसे परम विरक्त विदेही ने भी महाराष्ट्र के अन्य सन्तों की तरह मधुरा भक्ति को अपनाया। ‘पीरत लागी रे माधो’ कहकर माधव से अपनी पुरानी प्रीति की घोषणा करते हुए विरहिणी मीरा की तरह वे कहते हैं, ‘प्रियतम के लिए उन्होंने गृह-गृहिणी एवं धन-सम्पत्ति का त्याग कर दिया है, अतः दर्शन देकर मेरे मन की आशा पूरी करो।’”²²⁸ उन्होंने लिखा -

“पीरत लागी रे माधो पीरत लागी रे।

और पीरत से मनसा भागी, रामचरण चित लागी ॥धृ॥

तेरो नाम उच्चारै संसारमय, मोकु शुधि नहिं मेरे तनकी।

गृह दाश धन छोरि दियो, आस पुरावे मेरे मन की ॥1॥

खाना पीना मोकु कछु नहिं भावे, भावत नहीं घरबार।

न धन जोबन सो कछु नहिं पावे, वेग दिखाव दीदार ॥2॥

रामदास की पीरत की प्यारे, पीरत पीरत चढ़ावे।

रूप देखन की आस लागी, मान लिये बेगी आवे ॥3॥”²²⁹

भक्ति की तल्लीनता, संसार का त्याग, दर्शन की आस एवं प्रेम भाव के कारण आशा-मंशा का मिट जाना और राम के चरणों पर चित्त का लग जाना आदि इस कविता में स्पष्ट दिखाई देते हैं। यह प्रेम भाव रामदास के पूर्ववर्ती कवियों से संभवतः कुछ नवीन भले ही नहीं देता हो, किन्तु रामदास जैसे विरक्त और रहकर भी भक्ति की धारा को आगे बढ़ाने वाले सन्त-भक्त द्वारा मधुरा भक्ति का अपनाना और अपने अराध्य के प्रति उसकी अभिव्यक्ति कविताओं में करना, आगे आनेवाले शाहिरी काव्य (मराठी साहित्य की श्रृंगारिक कविता) के लिए द्वार खोल देना है। वास्तव में रामदास के बाद के

मराठी भक्ति आन्दोलन में लिखी जानेवाली हिन्दी कविता में निरी भक्ति कविता और श्रृंगारिक कविता दो अलग-अलग धाराओं में विकसित होती दिखाई देती हैं। श्रृंगारिकता के प्रमाण रामदास के बाद विकसित हुई, जिसे शाहिरी परम्परा में देखा जा सकता है और साथ ही भक्ति का भिन्न धारा के रूप में विकास केशव स्वामी के हिन्दी पदों में देखा जा सकता है। रामदास के यहाँ इन दोनों का संश्लिष्ट रूप देखा जा सकता है और साथ ही अगले युग का संकेत भी। इस कविता की दूसरी पंक्ति का उत्तरार्द्ध निकालकर पढ़ा जाए तो, यह कविता पूर्णतः किसी प्रेम कवि का कृतित्व लगेगी।

धार्मिक सौहार्द बनाए रखना वैसे तो प्रत्येक युग की आवश्यकता है, किन्तु रामदास के युग की यह विशेष आवश्यकता थी कि जन-सामान्य को धर्म के नाम पर हथियार उठाने से रोकना। राजसत्ता या राजनीति अपने हित में हमेशा से धर्म का प्रयोग करती आयी है। इसे रामदास ने बखुबी पहचाना था। इसलिए उन्होंने उसी धर्म के हथियार को अपनाते हुए इन दो धर्मों में एकता बनाए रखने का प्रयास किया। इस बात को ऐतिहासिक आवश्यकता की दृष्टि से देखा जाए अथवा रामदास की दार्शनिक दृष्टि का प्रतिफलन माना जाए, किन्तु यह विशेषता उनके हिन्दी काव्य की बहुत बड़ी विशेषता कही जा सकती है। प्रभाकर सदाशिव पंडित जी ने इस विशेषता को उनके अद्वैत दर्शन की परिणति मानते हुए लिखा है - “अद्वैत दर्शन की ही यह परिणति माननी चाहिए कि हिन्दुओं और मुसलमानों में अभेद भाव की उपासना को उन्होंने सहज रूप से प्रदर्शित किया।”²³⁰ साथ ही रामदास को अपने अराध्य सर्वत्र व्याप्त दिखाई देते हैं -

“जित देखो उत रामहिं रामा ।
जित देखो उत पूरण कामा ॥धृ॥
तृण तरुवर सातो सागर ।
जित देखो उत मोहन नागर ॥1॥
जल थल काष्ठ पषाण आकाशा ।
चंद्र सुरज नच तेज प्रकाशा ॥2॥
मोरे मन मानस राम भजो रे ।
रामदास प्रभु ऐसा करो रे ॥3॥”²³¹

रामदास का स्पष्ट मत है कि धर्म चाहे कितने भी चल पड़े हो, किन्तु सभी का सर्जनहारा एक ही है और वही इस सृष्टि का पालनकर्ता भी है। उनके अनुसार, “मन्दिर तोड़े जा सकते हैं, मस्जिद फोड़े जा सकते हैं, किन्तु जो टूट-फूट नहीं सकता, वही गैबी मरद होता है।”²³² उनके अनुसार ‘जो सच है, वही ईश्वर है’। रामदास की इस कविता की दार्शनिक व्याख्या करते हुए डॉ.यू.म.पठान ने लिखा है, “इसी आत्माराम को-चैतन्य को ही उन्होंने विश्व का सूत्र संचालक -‘आलम का साही’ कहा है। ‘साही सब घट’ पद में भी उन्होंने यही विचार प्रतिपादित किया है। इसलिए उनकी अवस्था ‘मेरे तो ग्यान ध्यान सब राम’ कहते हैं। इसी चैतन्य से एकरूप होना जीव का अन्तिम लक्ष्य होने के कारण वे स्वतः के मन और अन्य साधकों को ‘देना राम लेना राम’ का बोध देते हैं। तभी ‘जीत देखो तीत रामहि राम’ जैसी सर्वभूति भगवत्भाव की प्रतीति होगी। उसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। इसलिए वे रसना को दिन-रात राम नाम का जप करने के लिए कहते हैं।”²³³

क्या यह रामदास की उक्तियाँ अपने समयानुसार नहीं हैं? रामदास अपने हिन्दी काव्य में अपने मराठी काव्य की अपेक्षा एक भिन्न रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। उन्होंने अपने संक्षिप्त से हिन्दी कृतित्व में अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है और साथ ही भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों को अग्रणी करने का सफल प्रयास किया है।

4.2.12 बहेणाबाई

1. 'वो हि सत्य जान': कृष्ण कथा का सार-सार

वारकरी सम्प्रदाय में कृष्ण का बालरूप की अराधना का विषय रहा है। गोपियाँ यहाँ प्रेमिकाओं के नहीं, अपितु भक्त श्रेष्ठ के रूप में ही स्वीकृत की गई हैं। कुंज में केलि करनेवाले श्रीकृष्ण का चित्रण प्रायः किसी भी कवि ने अपने काव्य में नहीं किया है। संभवतः इसी कारण मराठी भक्ति आन्दोलन में राधा का उल्लेख नहीं के बराबर मिलता है। इसी परम्परा को कायम हुए बहेणाबाई ने भी अपनी हिन्दी कविताओं के एक अंश में कृष्ण-जन्म से लेकर उनके गोकुल पहुँचाने तक की कथा अतिसंक्षेप में गायी है। इन पदों में आयी कथा में कवयित्री ने कोई नयी उद्भावना करने का प्रयास भले ही न किया हो, किन्तु हिन्दी में लिखित इन कविताओं में उसकी मूल्य दृष्टि खुलकर सामने आयी है। कुल 11 पदों कही गयी इस कृष्ण कथा में चार ऐसे पद हैं, जो इस कथा गायन के हेतु रचे गए हैं। कथा के बीच-बीच में आनेवाले इन पदों के माध्यम से श्रोताओं-पाठकों को नीति एवं धर्म का शिक्षण देकर, भक्ति-नीति को बनाए रखने का प्रयास कवयित्री ने किया है।

प्रचलित कथा के ही अनुसार बहेणाबाई की कविता में भी पूर्ण कथा अतिसंक्षेप में आयी है। सर्वज्ञात एवं अधिक प्रचलित होने के कारण उन्होंने कथा के प्रमुख प्रसंगों एवं भावों को ही प्रस्तुत किया है। छोटे-छोटे प्रसंगों में भी अतिशय भावात्मकता को संजोने का कार्य उन्होंने बखूबी किया है। जैसे, कारागृह में कृष्ण जन्म के पश्चात देवकी अत्यन्त चिन्ताशील है, उसे भय है कि उसके अन्य बालकों की भाँति कंस इस बालक की भी हत्या कर देगा, किन्तु वह इस बात को शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, क्योंकि यदि वह कुछ भी बोलेगी तो उसकी वाणी सुनकर कंस वहाँ आ जाएगा। इसकी चिन्ता को बिना कुछ बोले ही नन्द समझ जाते हैं और भावों को समझने की इन्तहा तो वहाँ हो जाती है, जब नन्द के भी भावों को समझकर देवकी बालक कृष्ण को उनके हाथों में सौंप देती है।

बहेणाबाई की इन कथात्मक कविताओं का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है-भक्ति, धर्म एवं नीति को इस कथा के माध्यम से शिक्षा देकर उन्हें और अधिक दृढ़ करना। इसी क्रम में उनसे जाने अनजाने-भावों का बड़ा ही संवेदनशील चित्रण हुआ है। इसी भक्ति को अधिक सदृढ पद्धति से अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने बालक कृष्ण को मथुरा ले जा रहे नन्द के मार्ग में पड़नेवाली सरिता यमुना का मानवीकरण कर, उसके माध्यम से भक्ति भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। यह पूरा पद ही जमुना के मानवीकरण के माध्यम से अपनी बात कहता है। जमुना के अभिव्यक्त भावों को हरि जानते हैं।

“ये गोकुल चल हो कहत मुंहारी।

मेघतुसार निबारे फनिधर सेवा करे बलहारी ॥1॥

बसुवा अपने कर दोन्हो पालख योंही कीन्हों।

जमुना के तट आयके देखें पूरन नीर जानो ॥2॥

पुरन रूप यों देखें जमुना जानिके सबही भाव ।
 दोही ठोर भई जमुना-नीर तब जानत यों हरिभाव ॥3॥
 जैसो परवत वैसो नीर हवो जानिके आस ।
 पाव लगे जमु कहे माकु जागे सब दोस ॥4॥
 जिस चरण को तीरथ शंकर माथा रखिया नीर ।
 वो अब चरना प्राप्त भये होवे जान उधार ॥5॥
 बहेणि कहे जिसकू हरि भावे ताकू कालही धाके ।
 बसुदेवाकर आपही मुरारि काहेकु संकट वाके ॥6॥²³⁴

जिस प्रकार देवकी की मातृसुलभ चिन्ता के माध्यम से मातृप्रेम की अभिव्यक्ति की गई है, उसी प्रकार की चिन्ता वासुदेव भी अभिव्यक्त करते हैं। वासुदेव ने जब देखा कि बालक की चार भुजाएँ हैं, तब उन्होंने चिन्ता की अभिव्यक्ति कि, आपको एक बात कहता हूँ, कंस को हमसे बैर है और वो आपकी खोज में बालकों की हत्या कर रहा है। आपका यह रूप देखकर वह आपके साथ भी वही करेगा। अत्यन्त सूक्ष्म भावों का चित्रण कृष्ण जन्म के उपलक्ष्य पर ग्राम में आयोजित में हो रहे महोत्सवों के माध्यम से ग्रामवासियों के आनन्दोल्लास के माध्यम से भी किया गया।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकालीन काव्य में चित्रित पात्रों के मूलभूत अन्तरो की तुलना करते हुए बड़ी रोचक बात लिखी है। उनके अनुसार - “रीतिकालीन काव्य की विशिष्टता इस बात में है कि उसकी मूल प्रेरणा ऐहिक है। भक्तिकाल की ईश्वर-केन्द्रिक दृष्टि के सामने इस मनुष्य-केन्द्रिक दृष्टि का अन्तर साफ समझ में आता है, और तब उस दृष्टि की मौलिकता और साहसिकता की समझ भी आती है। आदिकालीन कवि ने अपने चरित-नायक को ईश्वर सदृश्य महिमावान अंकित किया था। भक्ति-काल में ईश्वर की नर-लीला का चित्रण है। रीतिकाल में कवि ईश्वर और मनुष्य दोनों का मनुष्य रूप में चित्रण करता है। यहाँ भक्तिकाल और रीतिकाल की प्राथमिकता के बीच अंतर स्पष्ट दिखाई देता है।”²³⁵ इस पूरी कृष्णजन्म-कथा में बहेणाबाई ने इस ओर बार-बार ध्यान दिलाया है कि कृष्ण कोई साधारण बालक नहीं है, वे तो परम-ईश्वर हैं। इस बात का उन्होंने पूरा ध्यान रखा कि कहीं भी बालक कृष्ण को सामान्य बालक के रूप में चित्रित न किया जाए। इसी कारण उन्होंने कई बार स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि - सुत मत कहो नन्द, ब्रह्म सो ये ही गोविंद। इसे उन्होंने शास्त्रों से भी सिद्ध किया है, ‘शास्तर की ऐसी बात’ कहते हुए।²³⁶ इतना ही नहीं उनके हरी ने यह अवतार किस लिए लिया है, इसे भी वह स्पष्ट करती हैं -

“कंटक को मल्लमर्द। द्वैतन को सिर छेद।”²³⁷

वह नन्द को यह भी जताती हैं कि -

“वो ही सत्य जान नन्द। प्रकट यो है गोविंद।

पुण्य ही तेरो अगाध। बहेणी ये कहत है ॥4॥”²³⁸

बहेणाबाई ने भले ही वारकरियों के अनुसार कृष्ण का बाल रूप अपनी कविताओं में चित्रित किया है, किन्तु उनका लक्ष्य आगे की ओर है। उनके यहाँ कृष्ण लोकरंजक के नहीं लोकरक्षक के रूप में ही हैं, वह मलमर्दक हैं। यही कारण है कि बालसुलभ चेष्टाओं के चित्रण की अपेक्षा उनकी इन कविताओं से नहीं की जा सकती है। उसी प्रकार माता के हृदय-भावों का चित्रण भी उन्होंने नहीं के बराबर किया

है, जबकि स्त्री होने के कारण वह अधिक बेहतर ढंग से ऐसा कर सकती थी। वास्तविकता यह है कि उन्होंने न तो यशोदा-नन्द को और न ही देवकी-वासुदेव को, कृष्ण के माता-पिता माना है, क्योंकि उनके कृष्ण तो बालक कृष्ण नहीं है वे परमेश्वर हैं, अराध्य हैं, ऐसे में उनके माता-पिता कैसे हो सकते हैं। संभवतः यह बहेणाबाई के कविता पर भक्त हृदय की विजय कही जा सकती है कि उनका कवि हृदय कृष्ण को एक सामान्य नायक या बालक के रूप में स्वीकर नहीं करता।

अपने बालकृष्ण को अवतार रूप में चित्रित करने के साथ ही बहेणाबाई ने तर्कपूर्ण शैली में अपनी मूल्य दृष्टि के अनुसार यशोदा और नन्द के यहाँ उनके जन्म लेने के कारणों का भी बखान किया है। इस दौरान अपनी परम्परा-प्राप्त धारणाओं को रूढ़ अर्थ में इस कथा-कथन के माध्यम पुनःप्रस्थापित करने का प्रयास उन्होंने किया है। जब वे पुण्य से ईश्वर को प्राप्त करने की बात करती हैं, तो वे पुण्य की परम्परा प्रचलित अधिकारवादी धार्मिक व्याख्या को वे स्वीकृति प्रदान करती हैं। उनके अनुसार वही दर्शन प्राप्त कर सकता है, जिसके पल्ले जप, व्रत, दान है। शान्ति और क्षमा को भी वे अनिवार्य मानती हैं। कृष्ण जन्म भी उनके अनुसार 'पुण्य की बेला' है और यह वासुदेव-यशोदा के पूर्वजन्म प्राप्त पुण्य का परिणाम है। उदाहरणार्थ, जब कविता में वासुदेव अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'न मैंने जप, तप, दान किया है, न ब्राह्मणपूजन, न भूमि और न गोदान, 'जिस गृह अर्चन वंदन नहीं' वहाँ आप कैसे प्रकट हुए। न मैंने एकादशी को अन्नदान किया है, न भाव से देवपूजा। न तिरथ यात्रा की।' तब हरि उन्हें जो कारण बताते हैं, उनमें बहेणाबाई की मूल्य-दृष्टि की या स्वीकृत मूल्यों को अभिव्यक्ति होती है। 'तुम वनधारी हो गए थे, वृक्षपत्र खाया करते थे, नंगे पाँव-देह से वन-वन भटकते थे, जोगी होकर संसार त्याग दिया था, जल की धार में बैठकर तुमने पुण्य कमाया था और वही तुमने पूनर्जन्म में प्राप्त किया था। यही पुण्य बेला है।' इसे बहेणाबाई ने बड़ी कुशलता से कई दृष्टान्तों के माध्यम से प्रेषित किया है -

“सुनो कहत है श्याम सुजानो पुण्य बिना नहीं कोई।

जिसके पल्लो जप तप दान पावै दरसन वोही ॥1॥

तुम सब बात सुनोजी चित्तकु ठोर धरोजी।

हरि के आयो पेटे येही बात कहोजी ॥2॥

फूल बिना फल, जल बिना अंकुर, बिन पुरुष नहीं छाया।

जलबिन कमलिनि, रविबिन तेज, आगे तहाँ सब आया ॥3॥

तरु तहाँ बीज. बीज तहाँ तरु. है दीपके पास प्रकाश।

नर ताँही नारी, जल ताँही थल है, पुण्य तहाँ अविनाश ॥4॥

बहेणि कहे जिसकू हरि आवे वोहि है पुण्य की रास।

शांती श्रम उसके घर सोवे संपति दास ॥5॥²³⁹

यह पद बहेणाबाई के अभिव्यक्ति कौशल का बेहतरीन उदाहरण कहा जा सकता है। कविता में आए प्राकृतिक दृष्टान्त पाठक-श्रोता तक अपनी बात को अधिक प्रभावी ढंग से पहुँचाने के लिए कारगर साबित हुए हैं। साथ ही बहेणाबाई ने अधिकतर परम्परा प्राप्त धारणाओं को कविता में अभिव्यक्त किया है। इतना ही नहीं उन्होंने मध्यकाल के सन्दर्भ में हमारी धारणा को अधिक पुष्ट करते हुए 'नर तहाँ नारी' की भी बात कही है। इसे उनके निजी जीवन में घटी वैवाहिक जीवन की त्रासदियों से भी

जोड़कर देखा जा सकता है, जहाँ उन्हें कई पारिवारिक कठिनाईयों के चलते अपने पिता-पति के साथ बंजारों-सा जीवन व्यतीत करने पर विवश होना पड़ा। जहाँ-जहाँ ये पुरुष ले जाते उन्हें जाना पड़ा। संभवतः इसी कारण उन्हें 'बिन पुरुष नहीं छाया' की अनुभूति हुई होगी। प्रायः प्रत्येक वारकरी कवि ने विठ्ठल के दर्शन प्राप्त करने के लिए पूर्व जन्म के पुण्यों की चर्चा अपनी कविताओं में की है, बहेणाबाई यहाँ भी इसी परम्परा का वहन कर रही है। उनकी पुण्य की धारणा भी उनसे भिन्न जान नहीं पड़ती।

कथा में लोकमर्यादा को लाँघनेवाला कोई भी प्रसंग नहीं है और कवयित्री ने उसे न आने देने का भरपूर प्रयास भी किया है। वस्तुतः उन्होंने इस कथा में पूर्व निर्धारित मर्यादाओं की रक्षा की रक्षा की है। उनके यहाँ गोपियाँ प्रेम की नहीं, भक्ति का आलंबन हैं। उनके कृष्ण धेनु चराने तो जाते हैं, गीत, प्रबंध, हास्य, विनोद और नृत्य भी करते हैं, किन्तु बहेणी की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। उनके कृष्ण केलि-कुंज के लिए नहीं हैं और न ही राजनीति का दर्शन देने के लिए, उन्होंने अवतार लोकरक्षण के लिए लिया है। बहेणाबाई ने उन्हीं बातों को अपने इस कथा-काव्य में स्थान दिया है, जो उनके अनुसार 'शास्त्र की बात' हैं या जिसे 'संत जानी' है।²⁴⁰ सर्वस्वीकृति उनकी इन कविताओं का लक्ष्य जान पड़ता है और उनकी यह कथा काव्य वारकरी सम्प्रदाय की सारी मर्यादाओं और काव्य-रूढ़ियों का पालन करता दिखाई देता है।

बहेणाबाई ने सर्वपरिचित कथा होने के कारण पूर्ण भक्ति भाव से कथा अति संक्षेप में कही है। उन्होंने पाठक-श्रोताओं में भक्ति-भावों और मूल्यों को दृढ़ करने का कोई प्रसंग कथा में नहीं छोड़ा है। उनकी कथा में बालक कृष्ण भले ही अवतार पुरुष हो किन्तु वे अन्त में जाकर सामान्य बालक की भाँति हास-परिहास-नृत्य आदि मर्यादा भाव से करते हैं। उनकी कविता के ग्रामवासी उत्सव भी अपने धर्म का पालन करते हुए मनाते हैं, लोकमर्यादाओं का ध्यान रखते हुए। इतना ही नहीं, स्वर्ग के देवता भी उत्सव में सम्मिलित होते हैं। किन्तु देवता, देवता रहते हैं और पुरवासी, पुरवासी रहते हैं। उनके इस कथा-काव्य का लक्ष्य साधारण पाठक-श्रोता को शिक्षित करना था, मूल्यों को परिवर्द्धित करना था, जो उन्होंने किया। इसके लिए न उन्होंने गोपियों के साथ भावनात्मक यात्रा की और न माता-पिता के साथ, उनका भक्त-हृदय तो अपने बाल-गोपाल पर ही टीका रहा। इसी क्रम में जो भक्ति-भाव उनके हृदय में आते गए उन्हें उन्होंने कभी सीधे-सीधे तो कभी यमुना आदि का मानवीकरण करके अभिव्यक्त किया। एक नीति आचार शिक्षिका के रूप में वह पाठक-श्रोता से सीधे संवाद स्थापित करती है और अपने इन कथनों को कई बार कथा, शास्त्रों एवं संतों से सत्यापित करती हैं। उनकी भक्ति दृढ़ है इसीलिए इन कविताओं में व्यक्त भाव भी पूरे आत्मविश्वास के साथ अभिव्यक्त हुए हैं, उनसे सहमत या असहमत हुआ जा सकता है, किन्तु उनकी दृढ़ता पर हमें विश्वास करना ही पड़ता है।

3. बहेणी कहे वो अपनी बात : बहेणाबाई की कविताओं में तुकोबा का स्वर

बहेणाबाई की दूसरी प्रकार की कविताओं का स्वर उनकी उपरोल्लेखित कृष्ण जन्म कथा वाली कविताओं से नितान्त भिन्न है। इन कविताओं की विषय-वस्तु, विचारधारा, कविता कहने का ढंग, कविताओं की भाषा, इतना ही नहीं भक्ति का आलंबन भी कई जगह पहले प्रकार की कविताओं से भिन्न तो क्या विपरित भी है। इन दूसरे प्रकार की कविताओं में बहेणाबाई तुकोबा की शिष्या के रूप में खुब सुहाती है। यह भी संभावना जताई जा सकती है कि पहले प्रकार की कविताएँ तुकोबा से अनुग्रह

प्राप्त करने के पूर्व की होगी और दूसरे प्रकार की कविताएँ तुकोबा से अनुग्रह प्राप्त करने या तुकोबा की कविताई से परिचित होने के बाद की होंगी, जिसमें तुकोबा की कविता और उनके व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

चूँकि मराठी भक्ति आन्दोलन में लिखित किसी भी कवि की कविता में सगुण-निर्गुण का कोई भेद निर्माण करने का अवकाश ही नहीं होता। इस कारण मराठी भक्ति आन्दोलन सम्बन्धी मराठी आलोचना में सप्रयास किसी कवि को किसी खाँचे में अँटाने का प्रयास भी नहीं दिखाई देता। हिन्दी आलोचना में भक्तिकालीन कविता को लेकर वैचारिक एवं भावनात्मकता का एक अद्भुत संतुलन दिखाई देता है। हिन्दी आलोचना के लिए यह सुखद विषय है कि वह जितनी संवेदनशील होकर भक्तिकालीन कवियों की सराहना करती है, उतना ही वैचारिक मतभेदों को खुलकर अभिव्यक्त भी करती है। मराठी आलोचना की मराठी भक्तिकालीन कविता के सन्दर्भ में प्रायः भावनात्मक दृष्टि रही है। यहाँ कुछेक वैचारिक विवादों को छोड़कर अधिकतर विवाद सन्तों की जीवनियों एवं तिथियों, किसी का कोई गुरु-शिष्य आदि को लेकर रहे हैं। रामदास-तुकोबा को लेकर जो विवाद हैं, उनमें प्रायः वैचारिकता से अधिक खेमेबाज़ी दिखाई देती है, जहाँ इन सन्तों को अपने विचारों के घोड़े बनाकर दौड़ाया जाता है। बहेणाबाई को लेकर भी यह विवाद रहा है कि वह तुकोबा की शिष्या थी या रामदास की। किन्तु अब इस विवाद में कोई बल नहीं रह गया है। अधिकांश विशेषज्ञों का मानना सही है कि वह तुकोबा की ही शिष्या थी, जिनमें बहेणाबाई के काव्य एवं जीवन की विशेष अध्येता शालिनी जावडेकर महत्वपूर्ण हैं। शालिनी जावडेकर ने कई प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है बहेणाबाई तुकोबा की शिष्या ही थी। उनके प्रतिमानों में तुकोबा एवं बहेणाबाई की कविताओं में दर्शाए गए भावों, विचारों एवं रूप की साम्यता विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ इस बात का उल्लेख इस लिए आवश्यक हो जाता है कि बहेणाबाई की इन दूसरी प्रकार की कविताओं में तुकोबा एवं रामदास इन दोनों की हिन्दी कविताओं से भाव, विचार एवं रूप साम्य है।

बहेणाबाई के द्वारा प्रयुक्त निर्गुण अराध्य के नामों के आधार पर उन्हें धार्मिक-आध्यात्मिक समन्वयवादी कहा जा सकता है। उनके द्वारा प्रयुक्ता कुछ नाम हैं - हकीम, रहमान, साहेब, गोविन्द, देव, राम, स्वामी (शिव के लिए), जगदीश, अल्ला, कृष्ण आदि। भले ही उन्होंने अभिधार्थ में शैव, वैष्णव या ईस्लामी विभिन्न नामों का प्रयोग अपनी कविता में किया है, किन्तु इनके अर्थ में कहीं भी भेद नहीं दिखाई देता है। इसके विपरित वे उसका सच्चा रूप तो एक ही मानती हैं। (सच्चांम साहेब तू येक मेरा, काहे मुजे फिकीर)। वह अन्य पीर-फकीर के पास जाने की आवश्यकता नहीं समझती हैं। उनका स्पष्ट कहना है कि “अन्य पीर-फकीर के पास जाकर मुझे क्या करना है और ‘महाल-मुलुख’ (महाल-राज्य) की मैं क्यों परवाह करूँ।” वह तो अरूप-निर्गुण एक ही है, ‘तारणहारा’ है।²⁴¹ बहेणाबाई के निर्गुण-अरूप ईश्वर ही रूप धारण कर सबकी भव-बाधाओं को हरते हैं, उसी के कारण सब कुछ संभव होता है। उनका पूर्ण विश्वास है कि वही राम, कृष्ण आदि रूप धारण करके कईयों को मुक्ति दे चुका है।²⁴² बहेणाबाई का चित्रण उन्हें एक तरफ एकेश्वरवादी आन्दोलन का हिस्सा बनाता है तो दूसरी तरफ तत्कालीन जनता में कई छोटे-मोटे पीर-फकीरों को सामान्य जनता द्वारा श्रद्धावश पूजने की जानकारी देती है। संभवतः जनता के एक बड़े हिस्से को अभी भी आराधना की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हुई थी, इसी कारण वह कई बार किसी पीर-फकीर की दरगाह को अपना अराध्य बना लेते होंगे, जिसमें कई बार इन

बाबा-फकीरों द्वारा उन्हें आर्थिक-सांस्कृतिक रूप से धोखा खाना पड़ता था। इसी की प्रतिध्वनि बहेणाबाई की इन पंक्तियों में सुनाई देती है। यही वजह है कि वह आराधना पद्धति के रूप में नाममार्गी भक्ति का पक्ष लेती हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है -

“दो दिन की है दुनिया रे बाबा। दो दिन की है दुनिया ॥धृ॥

ले अल्लाका नाम कुल धरो ध्यान। बंदे ना होना गुंग ॥1॥

नर-तन येही सार। नई आवेगा दूजे बार।

वेगी करो है फिकिर। करो अल्लाकी जिकिर ॥2॥

करो अल्लाकी फिकिर। तब मिलेगा गामील पीर।

बहेणी कहे तुझे पुकार। कृष्ण नाम तमे हुसीयार ॥3॥”²⁴³

ध्यातव्य है कि नाम स्मरण के लिए भी बहेणाबाई किसी भी नाम में भेद इसलिए नहीं करती कि उनके यहाँ यह नाम मात्र प्रतीक के रूप में अपनाए गए हैं, इन सभी का अर्थ एक ही है। इसी तरह उन्होंने नाम स्मरण के लिए ‘जिकीर’²⁴⁴ का भी प्रयोग किया है। इस ‘जिकीर’ से ‘माया’ का परदा दूर हो जाता है। वे ‘मैं पन’ (अहंकार) को बगल करके ‘साहेब के पाय पकड़ने’ की बात करती हैं। एक ही स्थान पर वे अल्ला की फिकीर या जिकिर या ‘कृष्ण नाम से हुसीयार’ होने की सलाह देती हैं। वे अपने अपने-आप को सन्त की दासी कहती हैं, जो गोविन्द पर बलि जाती है।²⁴⁵

बहेणी का अराध्य तारक है, न्यारा है और वह कई नामों के साथ एक ही है। उनका पूर्ण विश्वास है कि ‘देव कहे सो कहां न होवे, सुन रे मूढो अंध’।²⁴⁶ उसने शीला को नारी बनाय, रावण राक्षस को मारकर उसके अमरत्व दे दिया, विभीषण को लंका दे दी, सत्व की रक्षा करते हुए प्रल्हाद को बचाकर उसके पिता को जला दिया, मीरा के प्राणों की रक्षा की, स्वामी (शिव) के विषपान करने पर वही स्मरण किया गया, पत्थर को दूध पिलाया, सुदामा को सुवर्ण नगरी दी, ‘वैसे भगत बहुत राखे, तब कहां कहुजी बढ़ाई। बहेणी कहे तुम भक्त कृपाल हो, जो करे सो सब होई’।²⁴⁷ यह सारे उदाहरण उन्होंने नाम से तरने के लिए दिए हैं। अधिकतर उदाहरण मिथकों से देते हुए भी मीरा एवं नामदेव जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन से भी किवदन्तियों के दृष्टान्त यहाँ दिए जाना, तुकोबा की परम्परा को सीधे नामदेव से जोड़ने की ओर संकेत हैं। नामदेव और मीरा के अतिरिक्त उन्होंने अपने हिन्दी काव्य में किसी भी अन्य मराठी सन्त-भक्त कवि का नाम नहीं लिया। इससे स्पष्ट होता है कि वे अपना हिन्दी काव्य हिन्दी भाषा-भाषियों को दृष्टि में रखकर लिख रही थी। इसी कारण हिन्दी भाषा-भाषियों को परिचित सन्तों के ही नाम उन्होंने यहाँ दिए हैं। अर्थात् उनकी हिन्दी कविताओं का लक्ष्य पाठक-श्रोता हिन्दी भाषा-भाषी था, जिनके लिए बहेणाबाई ने हिन्दी में काव्यकर्म किया। यहाँ कुछ घटनाएँ राम कथा से हैं तो कुछ घटनाएँ कृष्ण एवं कुछ शैव कथा से, सभी को समन्वित रूप से ‘देव’ कहा गया है, जो अधिक व्यापक अवधारणा है। ‘हरि’ या ‘हर’ शब्द का प्रयोग करने से जाने-अनजाने बचते हुए ‘देव’ के तारणकर्ता रूप का ही स्मरण किया गया है। उनके अन्य सम्पूर्ण काव्य की तरह लोकरंजक रूप का स्मरण यहाँ अपेक्षित है ही नहीं। अर्थात् बहेणाबाई के सम्पूर्ण काव्य में उनके अराध्य लोकरक्षक ही हैं।

इसके अतिरिक्त बहेणाबाई की हिन्दी कविताओं में उनके नाथ पंथ पद्धतियों एवं उसकी शब्दावली से प्रभावित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। उनकी एक हिन्दी कविता तो पूर्णतः किसी नाथ पंथी की कविता जान पड़ती है। इस कविता में उन्होंने नाथ पंथ की वेशभूषा एवं बाह्याचारों को भले

ही अस्वीकार कर दिया हो, किन्तु वैचारिक तथा अराधना पद्धति के स्तर पर कई स्थानों पर नाथपंथी कविता से अपने सुर में सुर मिलाती है। उन्होंने लिखा -

“जटा न कंथा सिंगी न शंख । अलख भेख हमारा बाबू ।
झोली न पत्र कान में मुद्रा । गगनपर देख थारा ॥१॥
बाबा हम तो निरंजनवासी । साधुसंत योगी जान लो ।
हम क्या जाने घरवासी ॥१॥
माता न पिता, बंधु न भगिनी । गण गोत ओ सब न्यारा ।
काया न माया, रूप ने रेखा । उलटा पंथ हमारा बाबा ॥२॥
धोती न पोथी, जाति न कुल । सहजी सहज भेख पाया ।
अनुभव पत्रिसी सिद्ध की खाही । उन्मनी ध्यान लगाया ॥३॥
बोध बलपर बैठा भाई । देखत है तिन्हु लोक ।
उर्ध्व नयन की उलटी पाती । जहाँ प्रकाश आनन्द कोटी ॥४॥
भाव भगत माँगत भिक्षा । तेरा मोक्ष कीर रहा दिखाई ।
बहिनी कहे मैं दासी संतन की । तेरे पर बलि जाऊँ ॥५॥”²⁴⁸

यहाँ वे ‘उल्टे पंथ’ और जाति-पाँति से परे जाने की बात करती हैं। सहज साधना का उल्लेख करती हैं। निर्गुण पर बलि जाना चाहती हैं। ‘संतन की दासी’ बन जाती हैं। रहस्यात्मकता की तरफ भी मुड़ती हैं। एक अन्य कविता में नाथों की तरह गुरु द्वारा ‘ग्यान प्याला’ पिलाये जाने की बात करती हैं -

“गुरु ने मुझे ग्यान प्याला पिलाया । हुवा मस्त बंदा उन्याकू जलाया ॥
किया एकतारी दिनानाथ जीसू । रहे खेलता दील राजी उसीसू ॥”²⁴⁹

इसके साथ ही बहेणाबाई ने ज्ञानमार्गी या सारे निर्गुण कवियों से भिन्न एक अलग ही प्रश्न साधक के सामने प्रस्तुत किया है -

“बड़ा भेख शिर मुंडाया कफनी गले में है ।
वस्ताद की खून पाया तोवरी किया क्या है ॥”²⁵⁰

अर्थात्, तूने अब तो बड़ा अच्छा भेष धारण कर लिया है। सर मुंडाया, गले में कफनी डाल लिया। यह सब तो तुने गुरु की कृपा के बाद किया, गुरु मिलने तक तुने क्या किया। आगे वे कहती हैं-

“आपकु पछान । देख दाई मकान ।
पकड़ रहिमान । क्यो हुआ है हैरान ॥१॥
पटपटकर क्या किया । जिकीर नहीं प्यारी ।
वस्ताद तुझे क्या करे । किये पेटकी कामगिरी ॥२॥

— — — — —
बहिनी कहे नहीं करार । दिलमें पड़ी चुकी ।
वस्ताद तुझे क्या करे? । पेटमें वासना भूखी ॥४॥”²⁵¹

ऐसे व्यक्ति को गुरु भी मार्ग नहीं दिखा सकता, जिसके पेट (हृदय) में वासना बची है, जो ‘जिकीर नहीं करता’ जो अपने-आप को नहीं पहचानता है। बहेणाबाई ने यहाँ गुरु की अनिवार्यता से

भी अधिक शिष्य को मन की ईच्छाओं को मारकर स्वयंप्रेरणा से, स्वयं को पहचान कर नाम भक्ति के माध्यम से शान्ति को प्राप्त करने की सलाह दी है। 'दिल की सुनने' और 'आप पछानने'²⁵² को उन्होंने महत्व दिया है। इसके लिए उन्होंने अन्य सभी बाह्याडंबरों 'निमाज़' (नमाज़) पूजादि को व्यर्थ माना है।²⁵³ मुंडियों की उन्होंने जमकर खबर ली है, जहाँ उनकी भाषा में तुकोबा की कविता-सी आक्रामकता आ गई है। उनकी एक कविता इस प्रकार है -

“मुंडा मुंडा सब कहते। दिल का नहीं कोयी।
ऊपर तलखी चौघी भूजो। आप पछाने ओही ॥धृ॥
कायकु लिखा भेख। अल्लाकू फिर देख।
मनसा मुंढी न फिरे तो। गांडमें मारू मेखा ॥1॥
बगलम्याने तबल लेकर। फिरते दारोदार।
पेटके खातिर काटते मासा। दिलकी नहीं खबर ॥2॥
छुटी माया तेरी। काहेकू पकडे उसके साथ।
ढुंग से ढुंग घसना। मुंडे क्या किया शहामत ॥3॥
बहिनी कहे मर बे। मुंडे झूटा तेरा सोंग।
वासना मुंडी नहीं काफ़ीर। तो काहेकू नाडते जग ॥4॥”²⁵⁴

इस कविता के एक ही पाठ में पता चल जाता है कि इसमें एक ओर तो भाववाद है तो दूसरी तरफ तर्काधारित बौद्धिकता को प्रश्रय दिया गया है। वास्तविक रूप में भक्ति सम्बन्धी कविता में कम-से-कम भारत में तो इन दोनों का सह-अस्तित्व भक्ति आन्दोलन से पूर्व एक विरल चीज़ रही है। क्योंकि दोनों में बहुत अधिक विरोध होता है। तर्क के निर्माण होते ही भावात्मकता अपने आप समाप्त हो जाती है। ऐसा नहीं है कि बौद्धिकता में सहृदयता नहीं होती है, किन्तु उसका तर्काधारित होना भाववाद को तो समाप्त कर देता है। भाववाद मात्र भावनाओं की छाया में जीवित रह सकता है, तर्क के ताप को वह सह नहीं सकता। यहाँ बहेणाबाई बड़े तार्किक ढंग से बाह्याडंबरों के मार्ग पर चलनेवालों को खरी-खोटी सुना रही है, किन्तु साथ ही उन्हें अपने दिल की सुनने को भी कह रही है। भाषा में एक प्रकार की गति है, जिसे आक्रोश भी कहा जा सकता है। उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियों में इसे देखने पर हमें अचरज हो सकता है कि एक स्त्री इस प्रकार की भाषा का भी इस्तेमाल कर सकती थी।

सारांशतः कहा जा सकता है कि मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का वस्तु के स्तर पर अध्ययन करने के पश्चात् हमारे समाने कुछ सारांश प्रस्तुत होते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि मराठी भक्ति आन्दोलन के ही साथ मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा हिन्दी में रचनाएँ लिखा जाना आरंभ होता है। इसका सबसे प्राचीन रूप हमें चक्रधर एवं महदंबा की कविताओं में मिलता है तथा इसका सबसे बाद का रूप हमें तुकोबा-रामदास-बहेणाबाई के काव्य में मिलता है। जिस प्रकार मराठी भक्ति आन्दोलन ने अपनी लम्बी यात्रा के बीच में दो-ढाई सौ वर्षों का विराम लिया, उसी क्रम में इस क्षेत्र में हिन्दी रचनात्मकता भी प्रायः नहीं के बराबर हुई है।

नामदेव के पूर्व के रचनाकारों में भाषा का वह रूप मिलता है, जो हिन्दी प्रदेश के नाथ कवियों में मिलता है। इस क्रम में काव्यवस्तु में भी यहाँ पंथों के अनुसार भले ही बदलाव होता आया हो, किन्तु कृष्णकथाओं पर काव्य लिखने की परम्परा लगातार चलती रही। यह भी ध्यान देने योग्य है कि पंथों के

अनुसार कविताओं की काव्यवस्तु बदलती गई हो, किन्तु कृष्ण कथाओं में इन कवियों ने कृष्ण के बालक रूप एवं बाललीलाओं का लगातार चित्रण किया है। यहाँ गोपियाँ हिन्दी काव्य में बाद के समय में आती तो हैं, किन्तु उनका भी प्रायः भक्तश्रेष्ठों वाला ही रूप चित्रित किया गया है। कृष्णकथा में इन के कवियों का ध्यान कृष्ण चरित्र पर ही टिका रहा। ग्रामवासियों एवं यशोदा के भावों का चित्रण कुछ कवियों द्वारा संक्षिप्त रूप में किया गया है, किन्तु उसमें व्यापकता एवं गहराई का अभाव है। इस कारण परिवेश के प्रति उदासीनता इस कथा के क्रम में देखी जा सकती है। उनके कृष्ण अमुमन अराध्य ही है, इसका इन कवियों ने ध्यान रखा और आवश्यकता पड़ने पर उसका विशेष उल्लेख भी किया।

यहाँ कृष्ण विठ्ठल के पर्याय हैं, तो शिव में भी इन कवियों ने कोई भेद नहीं किया। उनके लिए कोई भी अराध्य कम या अधिक नहीं है। नामदेव एवं बाद के कवियों में निर्गुण ईश्वर का रूझान देखा जा सकता है, किन्तु सगुण-निर्गुण का वैसा भेद न उनकी मराठी कविताओं में है और न ही हिन्दी कविताओं में। यही कारण है कि उन्होंने शैव-वैष्णव ही नहीं, ईस्लामी परम्परा के नामों का भी प्रयोग अपनी हिन्दी कविताओं में किया है, इसके उदाहरण ज्ञानेश्वर से लेकर रामदास में देखे जा सकते हैं। नामों के प्रयोग में इसलिए भी भेद नहीं दिखाई देता है कि अधिकांश कवियों का पंथीय आधार वारकरी सम्प्रदाय से जुड़ता है और वहाँ हरि-हर ऐक्य पर अधिक बल दिया गया है। इस अर्थ में पंथीय संकुचितता को यह काव्य अपने आप ही नकार देता है।

सन्दर्भ संकेत

¹ तुळपुळे, शं. गो.: महानुभाव पंथ आणि त्याचे साहित्य, पृ. 303.

² वही, पृ. वही

³ शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 84.

⁴ शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 85.

⁵ आचार्य विनयमोहन शर्मा ने यह बात कही है कि “ इसके जन्म और मरण के सम्दर्भ में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। नागदेव स्मृति ग्रंथ से इतना ज्ञात होता है कि इसके पूर्वज वामनाचार्य देवगिरी के यादव राजा महादेवराय के यहाँ पुरोहित थे। ” शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 85.

⁶ शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 86.

⁷ देशपांडे, यशवंत खुशाल : महानुभावीय मराठी वाङ्मय, पृ. 12.

⁸ तुळपुळे, शं. गो. : महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय, पृ. 304.

⁹ शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 85.

¹⁰ देशपांडे, यशवंत खुशाल : महानुभावीय मराठी वाङ्मय, पृ.

¹¹ शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 237

¹² वही, पृ. 238.

¹³ वही, पृ. वही

¹⁴ वही, पृ. वही

¹⁵ कानडे, सु. श्री.: संत नामदेवांचा सार्थ चिकित्सक गाथा, प्रस्तावना, पृ. 14.

¹⁶ पण्डित, प्रभाकर सदाशिव : महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य, पृ.

¹⁷ शर्मा, श्रीराम : दक्खिनी का हिन्दी साहित्य, पृ. 68.

¹⁸ शोभीराम सन्त साहित्य द्वारा सम्पादित- हिन्दी के जनपदीय सन्त, भूमिका, पृ. ग

¹⁹ शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 182.

²⁰ विनयमोहन, शर्मा : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 182.

²¹ 183. पृ. वही.

²² वही, पृ. 183.

²³ विनयमोहन, शर्मा.: हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. 343.

- ²⁴ सदाशिव प्रभाकर, पंडित.: *महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य*, पृ103-102.
- ²⁵ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ190.
- ²⁶ वही, पृ. वही
- ²⁷ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ353.
- ²⁸ जावडेकर, शालिनी : *संत बहेणाबाईचा गाथा*, पद क्र, 401. पृ381.
- ²⁹ तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ304-303.
- ³⁰ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ85.
- ³¹ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ8.5
- ³² शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ86.
- ³³ शर्मा, श्रीराम : *दक्खिनी का हिन्दी साहित्य*, पृ.
- ³⁴ .ते स्वतः गायनकला चांगली जाणत व श्री चक्रधरांकडे येण्यापूर्वी कदाचित् नाथपंथाचे अनुयायी ही असावे) .वे स्वयं गायनकला अच्छी तरह जानते थे और श्री चक्रधर के पास आने से पूर्व कदाचित् नाथ पंथ के अनुयायी रहे होंगे ।(, तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ46.
- ³⁵ भावे, वि.ल. : *महाराष्ट्र सारस्वत*, पृ245.
- ³⁶ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ236.
- ³⁷ वही, पृ235.
- ³⁸ वही.पृ वही
- ³⁹ वही, पृ. वही
- ⁴⁰ वही, पृ236.
- ⁴¹ वही, पृ235.
- ⁴² वही, पृ238.
- ⁴³ वही, पृ235.
- ⁴⁴ वही, पृ237.
- ⁴⁵ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ236.
- ⁴⁶ आदिग्रंथ, रागु सिरी, पद सन्त त्रिलोचन
- ⁴⁷ नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र, 2328. पृ679.
- ⁴⁸ वही, पद क्र, 2328. पृ. वही
- ⁴⁹ वही, पद क्र, 2346. पृ283-282.
- ⁵⁰ शुक्ल रामचन्द्र, : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ18.
- ⁵¹ नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2349., पृ684-683.
- ⁵² वही, पद क्र, 2358. पृ685.
- ⁵³ वही, पद क्र, 2361. पृ686-685.
- ⁵⁴ वही, पद क्र, 2379. पृ689-688.
- ⁵⁵ वही, पद क्र 2386. और, 2415 पृ 690. तथा 697
- ⁵⁶ वही, पद क्र, 2389. पृ691.
- ⁵⁷ वही, पद क्र, 2424. पृ699.
- ⁵⁸ वही, पद क्र, 2358. पृ685.
- ⁵⁹ वही, पद क्र2366., पृ687-686.
- ⁶⁰ वही, पद क्र2366., पृ687-686.
- ⁶¹ वही, पद क्र, 2372. पृ688-687.
- ⁶² शुक्ल, रामचन्द्र : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ37.
- ⁶³ वही, पृ40.
- ⁶⁴ पेंडसे.दा.शं. : *ज्ञानदेव आणि नामदेव*, पृ327.
- ⁶⁵ पेंडसे.दा.शं. : *ज्ञानदेव आणि नामदेव*, पृ326.
- ⁶⁶ .पाषाणाचा देव बोलेचिना कधीं । हरि भवव्याधि कैसें घडे ॥
दगडाची मूर्ति मानिला ईश्वर । परि तो साचार देव भिन्न ॥
पाषाण देवाची करिती जे भक्ती । सर्वस्वा मुक्ती मूढपणें ॥
प्रस्तराचा देव बोलत भक्तांतें । सांगते ऐकते मूर्ख दोघे ॥
द्वादशीचे गांवी जाहला उपदेश । देवाविण ओस स्थळ नाहीं ॥
तो देव नामया हृदयीं दाविला । खेचराने केला उपकार हा ॥ 1391 ॥ नामदेव -
- ⁶⁷ शुक्ल, रामचन्द्र : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ39-38.
- ⁶⁸ महीप, सिंह. : *आदिग्रंथ में संग्रहीत सन्त कवि*, पृ55.
- ⁶⁹ नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2337., पृ681.
- ⁷⁰ वही, पद क्र, 2370. पृ687.

71. नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2328., पृ679.
72. वही, पद क्र, 2393.पृ691..
73. शिवकुमार, मिश्र .: भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य54.पृ ,
74. शिवकुमार, मिश्र .: भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य58.पृ ,
75. नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2330., पृ680-679.
76. वही, पद क्र, 2326.पृ679-678.
77. वही, पद क्र, 2365.पृ686.
78. वही, पद क्र.वही, पृ.वही
79. वही, पद क्र, 2374.पृ688.
80. वही, पद क्र, 2380.पृ689.
81. वही, पद क्र, 2394.पृ692.
82. वही, पद क्र, 2415.पृ697.
83. वही, पद क्र, 2418.पृ698.
84. वही, पद क्र, 2337.पृ681.
85. वही, पद क्र वही, पृ.वही
86. वही, पद क्र, 2343.पृ682.
87. वही, पद क्र.वही, पृ.वही
88. वही, पद क्र.वही, पृ.वही
89. वही, पद क्र, 2344.पृ682.
90. वही, पद क्र, 2354.पृ685-684.
91. वही, पद क्र, 2336.पृ681.
92. वही, पद क्र, 2421.पृ698.
93. वही, पद क्र, 2422.पृ699.
94. वही, पद क्र, 2328.पृ679.
95. वही, पद क्र, 2426.पृ700.
96. शुक्ल, रामचन्द्र : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ38.
97. नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2325., पृ678.
98. वही, पद क्र, 2326.पृ679-678.
99. वही, पद क्र, 2328.पृ679.
100. वही, पद क्र, 2331.पृ680.
101. वही, पद क्र, 2365.पृ686.
102. वही, पद क्र, 2366.पृ68-686.
103. वही, पद क्र, 2371.पृ687.
104. वही, पद क्र, 2410.पृ696-695.
105. वही, पद क्र, 2371.पृ687.
106. वही, पद क्र, 2404.पृ694-693.
107. महीप, सिंह .: *आदिग्रंथ में संग्रहित सन्त कवि*, पृ57.
108. नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2344., पृ682.
109. वही, पद क्र, 2373.पृ688.
110. वही, पद क्र, 2366.पृ686.
111. वही, पद क्र, 2372.पृ688-687.
112. वही, पद क्र, 2378.पृ688.
113. वही, पद क्र2378., पृ688.
114. वही, पद क्र, 2378. पृ688.
115. वही, पद क्र, 2392.पृ691.
116. पेंडसे, शं.दा .: *ज्ञानदेव आणि नामदेव*, पृ189.
117. नामदेव : *संकल संत गाथा, गाथापंचक*, सम्पा.ढेरे, रा.चिं, पद क्र2328., पृ679.
118. वही, पद क्र, 2326.पृ678.
119. वही, पद क्र, 2331.पृ680.
120. वही, पद क्र, 2349.पृ684-683.
121. वही, पद क्र, 2392.पृ691.
122. वही, पद क्र, 2393.पृ691.
123. शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ134.
124. शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पद क्रमांक, 7-पृ 281.

125. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पद क्रमांक6-, पृ 288.
126. वही, पद क्र, 02. पृ289.
127. वही, पद क्र, 12. पृ282.
128. वही, पद क्र, 22. पृ288.
129. वही, पद क्र, 21. पृ288.
130. वही, पद क्र, 20. पृ288.
131. वही, पद क्र, 19. पृ287.
132. वही, पद क्र, 19. पृ287.
133. वही, पद क्र, 25-24. पृ289.
134. वही, पद क्र, 38. पृ298.
135. वही, पद क्र, 36. पृ296.
136. वही, पद क्र, 35. पृ295.
137. वही, पद क्र, 37. पृ296.
138. वही, पद क्र, 32. पृ292.
139. वही, पद क्र, 33. पृ292.
140. वही, पद क्र. वही, पृ. वही
141. वही, पद क्र. वही, पृ. वही
142. वही, पद क्र, 37. पृ297.
143. वही, पद क्र, 36. पृ297-296.
144. गोसावी, र. रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ279.
145. सरदार, ग. बा. : संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुती, पृ90.
146. शर्मा, श्रीराम : दक्खिनी का हिन्दी साहित्य, पृ70.
147. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पद क्र, 22. पृ288.
148. वही, पद क्र, 14. पृ283.
149. वही, पद क्र, 37. पृ297.
150. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ164.
151. शर्मा, श्रीराम : दक्खिनी का हिन्दी साहित्य, पृ.
152. सरदार, ग. बा. : संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुती, पृ25.
153. वही, पृ. वही
154. वही, पृ. वही
155. http://tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र 51.
156. http://tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र62.
157. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ165.
158. http://tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र19.
159. वही, कविता क्र 13. और 52
160. वही, कविता क्र51.
161. वही, कविता क्र31.
162. वही, कविता क्र51.
163. वही, कविता क्र 12. और 31
164. वही, कविता क्र12.
165. वही, कविता क्र17.
166. वही, कविता क्र12.
167. वही, कविता क्र20.
168. वही, कविता क्र23.
169. वही, कविता क्र24.
170. वही, कविता क्र25.
171. वही, कविता क्र29.
172. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, कविता क्र, 32. पृ292.
173. www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र 23.
174. वही, पद क्र. वही
175. वही, कविता क्र54.
176. वही, कविता क्र33.
177. वही, कविता क्र12.
178. वही, कविता क्र19.

179. वही ,कविता क्र39.
180. वही ,कविता क्र38.
181. वही ,कविता क्र19.
182. प्रेमशंकर : *भक्तिकाव्य का समाजदर्शन* ,पृ68.
183. शर्मा ,श्रीराम : *दक्खिनी का हिन्दी साहित्य* ,पृ.
184. www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र03.
185. वही ,कविता क्र06.
186. वही ,कविता क्र05.
187. वही ,कविता क्र08.
188. वही ,कविता क्र10.
189. वही ,कविता क्र10.
190. वही ,कविता क्र20.
191. वही ,कविता क्र13.
192. वही ,कविता क्र19.
193. वही ,कविता क्र20.
194. शर्मा ,विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन* ,पद क्र ,24.पृ331.
195. www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र45.
196. वही ,कविता क्र46.
197. वही ,कविता क्र09.
198. वही ,कविता क्र10.
199. वही ,कविता क्र11.
200. वही ,कविता क्र04.
201. वही ,कविता क्र01.
202. वही ,कविता क्र17.
203. वही ,कविता क्र35.
204. वही ,कविता क्र36.
205. वही ,कविता क्र51.
206. वही ,कविता क्र53.
207. वही ,कविता क्र52.
208. वही ,कविता क्र48.
209. वही ,कविता क्र31.
210. वही ,कविता क्र53.
211. शर्मा ,विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन* ,कविता क्र ,19.पृ329.
212. वही ,कविता क्र ,18.पृ329.
213. www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र22.
214. वही ,कविता क्र24.
215. वही ,कविता क्र25.
216. वही ,कविता क्र26.
217. वही ,कविता क्र28.
218. वही ,कविता क्र32.
219. वही ,कविता क्र54.
220. वही ,कविता क्र56.
221. वही ,कविता क्र46.
222. वही ,कविता क्र62.
223. सदाशिव प्रभाकर ,पंडित.: *महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य* ,पृ103.
224. विनयमोहन ,शर्मा.: *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन* ,पृ344.
225. शर्मा विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन* ,पृ343.
226. कुलकर्णी ,एस.के.: *आनंदववभुवन* ,पृ24.
227. ॥धृ॥ हो पावन-पतित तुम दयाल.
- ज्ञान न जानुं ध्यान न जानुं॥ हो भावन अन्तर ,॥
- दान न दीया धर्म न कीया॥ हो जावन तिकुमुक् ,॥
- रामदास कहे मैं तो ऐसा॥ हो खावन फुकट ,॥ ,पंडित, प्रभाकर सदाशिव : *महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य* , पृ110.
228. पंडित, प्रभाकर सदाशिवकाव्य हिन्दी का सन्तों के महाराष्ट्र : , पृ106.
229. पंडित, प्रभाकर सदाशिव : *महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य* , पृ114.

-
230. सदाशिव प्रभाकर, पंडित.: *महाराष्ट्र के सन्तों का हिन्दी काव्य*, पृ104.
231. विनयमोहन, शर्मा.: *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ343.
232. शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ343.
233. वही, पृ25.
234. जावडेकर, शालिनी : *संत बहेणाबाईंचा गाथा*, अंश क्र ,375.पृ391.
235. चतुर्वेदी, रामस्वरूप : *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास*, पृ56.
236. जावडेकर, शालिनी : *संत बहेणाबाईंचा गाथा*, पद क्र ,399.पृ380.
237. वही, पद क्र.वही, पृ.वही
238. वही, पद क्र ,400.पृ.वही
239. वही, पद क्र ,395.पृ378.
240. वही, पद क्र ,399.पृ380.
241. वही, पद क्र ,402.पृ382.
242. वही, पद क्र ,404.पृ83-382.
243. वही, पद क्र ,611.पृ471.
244. वही, पद क्र ,611 ,403.पृ 382.और471
245. वही, पद क्र ,608 ,403.पृ 382.और470
246. वही, पद क्र ,404.पृ382.
247. वही, पद क्र.वही, पृ.वही
248. वही, कविता क्र ,608.पृ470.
249. वही, कविता क्र ,665.पृ502.
250. वही, कविता क्र ,630.पृ488.
251. वही, कविता क्र.वही, पृ.वही
252. वही, कविता क्र ,631.पृ489.
253. वही, कविता क्र ,631 ,630.पृ89-488.
254. वही, कविता क्र ,631.पृ489.

पंचम अध्याय

मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : रूपगत अध्ययन

काव्य-रूप कविताओं का निर्धारक तत्व भले ही न हो, किन्तु उसकी भी अपनी सामाजिकता होती है। परिवेश से हटकर या उससे भिन्न कोई भी रचनाकार काव्यरूप का प्रयोग नहीं करता है। ऐसे में मध्यकालीन सन्तों के लोकरूप पर विशेष चर्चा की जाती है। उनकी काव्यभाषा, उनके द्वारा प्रयुक्त लय, उनके द्वारा प्रयुक्त लोकधुनों आदि को देखने से उनके सामाजिक जुड़ाव का पता चलता है। साहित्यिक रूपों की सामाजिकता पर काफी चर्चाएँ हो चुकी हैं, जिस कारण अब यह केवल सौन्दर्यशास्त्र या पिंगलशास्त्र का ही क्षेत्र नहीं रह गया है। काव्य-रूपों के माध्यम से भी कविता की सामाजिकता तक पहुँचा जा सकता है, वहीं कवि की सामाजिकता तक भी पहुँचा जा सकता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, यहाँ मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं के रूप-पक्ष पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है।

5.1 चक्रधर एवं महदंबा

चक्रधर की एकमात्र कविता को चौपदी कहा गया है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इस एक ही कविता को दो कविताएँ मानते हुए उसे विभाजित किया है। उन्होंने इस कविता के सम्बन्ध में लिखा है, “यह गुजराती-मराठी मिश्रित हिन्दी है। इसमें नाथों के सूर्य-चन्द्र-नाड़ी मेल, प्राणायाम आदि साधनों पर व्यंग्य है। महाराष्ट्र में मुसलमान संसर्ग के पूर्व यह रची गई है। इसमें ‘बांधो’, ‘करो’ जैसे विधिक्रियारूप खड़ी बोली की स्वतंत्र सत्ता के निर्देशक हैं। चक्रधर की हिन्दी में इतनी गति प्रतीत नहीं होती है, जितनी उन्हीं की समकालीन शिष्या ‘महदायिसा’ की है।”¹ यह सही है कि यहाँ हिन्दी का वह रूप नहीं है, जो महदंबा की रचनाओं में देखने मिलती है। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि महानुभाव सम्प्रदाय सीधे-सीधे नाथों से लड़-भीड़ रहा था, क्योंकि सम्प्रदाय के प्रमुख व्यक्ति के रूप में भी यही कार्य कर रहे थे।

शं.गो.तुळपुळे ने महदंबा कविता में भाषायी मिश्रण के लिए इसके छन्द को जिम्मेदार ठहराया है। चक्रधर और महदंबा की कविताओं को उद्धृत करने के पश्चात् उन्होंने लिखा है—“उपर्युक्त दोनों चौपदियाँ सम्मिश्र भाषा में हैं और उनमें हिन्दी, मराठी तथा गुजराती इन तीन भाषाओं का मिश्रण दिखाई देता है। अर्थात् चौपदी पद्य प्रकार मूलतः पराया होने के कारण उसकी भाषा भी सम्मिश्र हुई है।”² विनयमोहन शर्मा ने भी “महदायिसा के हिन्दी पद की भाषा खड़ी बोली और ब्रज के मिश्रण” को मानते हुए उसकी भाषा में “चक्रधर स्वामी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ता, अधिक हिन्दीपन”³ होने की बात को माना है। यहाँ तुळपुळे जी संभवतः “हो” और “बापुडे” पदबंधों के देखकर गुजराती का मिश्रण होने की बात कर रहे हैं। शर्मा जी की बात को माना जा सकता है। “हो” सम्बोधन प्रायः प्रत्येक भाषा में देखने को मिलता है, वैसे ही यह ब्रज भाषा में भी है। “बापुडे” वस्तुतः गुजराती में अधिक उपयोग में आता है किन्तु यहाँ प्रयुक्त गुजराती का शब्द नहीं है। यह “बापुरे” का एक रूप है, जहाँ “र” के स्थान पर “ड” का उपयोग होता है। हो सकता है, यह गुजराती हो भी जो श्रीचक्रधर के संगत में रहकर

महदंबा की कविता में आ गयी हो। एक शब्द के आधार पर गुजराती मिश्रण की बात नहीं कही जा सकती है, जिसके गुजराती होने पर संदेह है। निर्विवाद रूप से “मोरी” गुजराती शब्द है। इस प्रकार यह पद ब्रज, गुजराती और खड़ी बोली के मिश्रण से पूर्ण हुआ है।

शं.गो.तुळपुळे के अनुसार महदंबा की यह प्राप्त कविता चौपदी छन्द में लिखी गई है, “जो मूलतः पराया पद्यप्रकार है, इसलिए उसकी भाषा में स्वाभाविक मिश्रण दिखाई देता है।”⁴ “चौपदी मूलतः ब्रजभाषा का पद्य प्रकार चतुष्पदी है। किन्तु इस सन्दर्भ में डॉ. ढेरे का मत भिन्न है, वे चौपदी का सम्बन्ध सिद्धों और नाथों के चर्यापद से जोड़ने का प्रयास करते हैं। चौपदी और और चर्यापद में आशय की दृष्टि से साम्यता है, क्योंकि दोनों अध्यात्मगोचर होते हैं। किन्तु व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से चर्यापद>चौपदी, यह व्युत्पादन समर्थनीय नहीं हो सकता है। इसके विपरित चतुष्पदी>चौपदी व्युत्पत्ति सीधी व शास्त्रोक्त है। इसलिए चौपदी का मूल चर्यापद में ढूँढना दूर की कौड़ी है। चौपदी मात्र एक पद्य प्रकार नहीं है, बल्कि उसकी भाषा भी हिन्दी की तरफ मुड़ी हुई है।”⁵ इस प्रकार तुळपुळे जी ने हिन्दी भाषा की रचनात्मकता के लिए छन्द चयन को जिम्मेदार ठहराया है, जो उचित नहीं लगता है। बल्कि यह प्रश्न खड़ा कर देता है कि यह छन्द यदि हिन्दी या ब्रज का है तो वह मराठी भाषी क्षेत्र तक कैसे पहुँचा। इसका कोई उत्तर तुळपुळे जी के पास नहीं है। उन्होंने महानुभाव पंथ के सर्वाधिक चौपदी लिखने वाले कवि दामोदर पण्डित के हिन्दी में चौपदी लिखने के लिए जो कारण दिए हैं, वे भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकते हैं।

अत्यधिक पास से देखने पर पता चलता है कि यह कोई चौपदी नहीं है, न तो चौपाई-छन्द। इसका चौपाई से शायद ही कोई संबंध स्थापित किया जा सकता है। न तो तुळपुळे द्वारा उद्धृत चक्रधर के पद में चौपाई के अनुसार मात्राओं आदि का क्रम देखने को मिलता है और न ही महदंबा के पद में। चौपाई एक सममात्रिक छन्द है। जो प्राकृत-अपभ्रंश के 16 मात्रा के वर्णनात्मक छन्द के आधार पर विकसित हुआ हिन्दी का सर्वप्रिय छन्द है। यह प्राकृतपैंगलम के 15 मात्राओं वाले चउपइया से भिन्न है। इसके अन्त में जगण (ISI) और तगण (SSI) वर्जित माने गए हैं। इससे भिन्न स्थिति चौपाई से शिथिल हुए चौपाई-छन्द की बताई जाती है। 15 मात्राओं के इस छन्द में ग ल (SI) अनिवार्य माना गया है, किन्तु ल ग (IS) का भी प्रयोग मिलता है।⁶ इन आधारों पर देखने से पता चलता है कि महदंबा ने संभवतः चौपाई लिखने का आरंभ किया हो, किन्तु वह इसके नियमों का निर्वहन नहीं कर पायी अथवा लिपिकारों की भूल के कारण उसकी कविता का रूप बिगड़ गया हो। जो हो, उसकी पहली दो पंक्तियों में कुछ छोटे-से बदलाव करने से चौपाई की 16-16 मात्राओं का निर्वहन चरितार्थ होता दृष्टिगोचर होता है। पहली पंक्ति से “हो” एवं दूसरी पंक्ति से “न” की आवृत्ति को हटाने से इसमें चौपाई के नियमों को इन दो पंक्तियों में पूर्णतः देखा जा सकता है। प्रश्न यह है कि इन आवृत्तियों में से किसे हटाया जाए। कविता का बार-बार पाठ करने से इसे सुलझाया जा सकता है और इसी आधार पर हम पहली पंक्ति में दूसरी बार आए “हो” तथा दूसरी पंक्ति में पहली बार आए “न” को हटाने का सुझाव यहाँ देते हैं। दो पंक्तियों के प्रत्येक चरण में मात्राओं का क्रम ठीक करने से बात पूरी नहीं होती, इसके लिए चारों पंक्तियों की मात्राओं को नियमानुसार होना चाहिए, जो महदंबा की इस कविता में संभव नहीं है। तीसरी पंक्ति में मात्राएँ न तो चौपाई के अनुसार हैं और न ही चौपाई-छन्द के अनुसार। वास्तव में यहाँ किसी छन्द को ढूँढना ही व्यर्थ है। अन्तिम पंक्ति की भी कुछ यही “अवस्था” है।

वस्तुतः शास्त्रीय नियमों के आधार पर महदंबा की कविता को परखना उसके साथ अन्याय होगा, किन्तु साहित्य की अजस्र धारा में कृति को प्रत्येक युग की कसौटियों पर कसना अनिवार्य हो जाता है। इस कविता को भाषा के विकास के रूप में, विशेषतः अहिन्दी प्रदेश के हिन्दी लेखन की परम्परा के रूप में देखना अनिवार्य है और इस दृष्टि से इस कविता का अधिक मूल्य है। क्योंकि दक्षिण में हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा के साथ नस्तालिक लिपि में रचना-परम्परा का विकास ख्वाजा बन्देनवाज (1322 ई. से 1413 ई.) से माना जाता है। “निजामुद्दीन औलिया के शिष्य बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृत्यु 1350 ई.) देवगिरि आए और यहीं बस गए। प्राप्त जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है- ग़रीब पहले चिश्ती विचारक थे जो दक्षिण में बसे। दक्षिण में सूफ़ी परम्परा का प्रारंभ ग़रीब से हुआ।”⁷ ध्यातव्य है कि इससे पहले अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण हो चुका था, किन्तु महदंबा की रचना के बाद ही तुगलक की राजधानी देवगिरि पर आयी। इसका अर्थ यह हुआ कि दक्षिण में सूफ़ियों के अधिक प्रभावात्मक होने से पूर्व ही महदंबा ने हिन्दी या हिन्दुस्तानी में अपनी रचना प्रस्तुत कर दी थी। इसलिए उसकी भाषा दक्खिनी के सूफ़ी कवियों से नितान्त भिन्न है और प्रकारान्तर से एकनाथ, तुकोबा एवं रामदास से भिन्न है। उसकी कविता को हिन्दी, दक्खिनी और मराठी साहित्य इतिहास में स्थान मिलने पर हिन्दी-ऊर्दू एवं दक्खिनी साहित्येतिहास में अनिवार्यतः कई बदलाव देखने को मिलेंगे।

साहित्यिक भाषा के विकास के रूप में भी इस पद को देखा जा सकता है। जब दिल्ली में अमीर खुसरो सप्रयास खड़ी बोली, ब्रज एवं फारसी के मिश्रण से काव्य में एक मिली-जुली संस्कृति को अभिव्यक्त कर रहे थे, लगभग उसी समय महदंबा भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक एकता को नितान्त पूर्व की गुजराती, उत्तर की ब्रज और खड़ी बोली तथा दक्षिण की मराठी के मिले-जुले रूप से अभिव्यक्त कर रही थी। खुसरो के मिश्रण को प्रायः रचनात्मक रूप में देखा जाता है, किन्तु महदंबा जैसे रचनाकारों के मिश्रण को भाषाई खिचड़ीकरण के रूप में। हो सकता है कि सर्वसुलभ बनाने के लिए दक्खन के कवियों ने भी खुसरो की ही तकनीक को अपनाया हो। क्या महदंबा दक्खिनी के कवियों की पूर्वज नहीं थी? किसी भी रचना को कई इतिहास-प्रवाहों का सामना करना पड़ता है और इसी रूप में वह इन प्रवाहों में अपने को सिद्ध करती है तथा उसका अनिवार्यतः अंग होती है। साहित्य के अध्येयताओं को अनिवार्यतः रचनाकार के समकालीन सभी इतिहास-प्रवाहों से रचनाओं का संबंध जाँचना-परखना चाहिए, जो मात्र विभिन्न प्रवाहों के सम्यक ज्ञान से ही संभव हो पाता है।

महदंबा की भाषा में हमें मराठी सन्त-भक्त कवियों की भाषा का अब तक प्राप्त सबसे प्राचीन रूप देखने को मिलता है और साथ ही यह भी जानकारी मिलती है कि किस प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा अपना विकास प्रदेश की सीमाओं से परे कर रही थी। निःसंदेह इसमें नाथों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है, किन्तु इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि महानुभाव पंथ का विकास हिन्दी प्रदेश के पार अफ़ग़ानिस्तान तक हो चुका था, जिससे पंथीय भाषा मात्र मराठी होने से काम नहीं चल सकता था। निर्विवाद रूप से उन्हें एक ऐसी सामान्य भाषा की आवश्यकता थी, जो सारी भाषाओं की प्रकृति को अपने में समा ले। भारतीय उपमहाद्वीप में आरंभ से ही हिन्दुस्तानी रही है। इसी कारण महदंबा ने हिन्दी में लिखा और वह लिख पाई। आगे के समय में महानुभाव पंथ के पंजाब में कृष्णराज ऊर्फ पंडित कृष्णमुनि पंजाबी, विधिचन्द शर्मा, कवि कृष्णमुनि ऊर्फ खयाली बहादुर, चक्रपाणी मुनि एलंबकर (17 वीं शती) आदि कवियों ने पंथीय भाषा अपने

क्षेत्रानुसार चुनकर हिन्दी में रचनाएँ लिखी हैं।⁸ किन्तु महानुभावीय पंथ के महाराष्ट्र से बाहर लिखित साहित्य पर अभी गंभीर शोध नहीं हुआ है। इस इतिहास-प्रवाह को मराठी सन्त-भक्त कवियों में महानुभाव पंथ के संगीतज्ञ कवि दामोदर पंडित ने आगे बढ़ाया, जिनकी कविताओं पर चर्चा होनी है।

5.2 दामोदर पण्डित

दामोदर पंडित की कविताएँ संवाद एवं विवाद की उपज हैं, इसलिए उसमें सौन्दर्य के लिए अधिक स्थान नहीं मिला है। दामोदर पंडित की कविताओं के कलापक्ष पर प्रकाश डालने से पहले दो घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है, जो उनकी कविताओं को समझने में सहायक सिद्ध होती हैं। पहली घटना की ओर संकेत किया जा चुका है, जो उनके संगीत प्रेम से जुड़ी हुई है। महानुभाव पंथ की आचारसंहिता के अनुसार गायन-संगीत पर पाबंदी थी। चक्रधर ने कह रखा था ‘गीत विखो’। किन्तु दामोदर को गायन का अभ्यास करने की बहुत पहले से आदत थी। एक दिन वे एकांत में “आणिका बोल ना: लो न लागो श्रवणा: रूप तरि नयना: आवडो तुझे हे”⁹ भक्ति गीत गा रहे थे। उतने में आचार्य पीछे आकर खड़े हो गए और दामोदर का गीत सुनकर उनके अश्रु निकल आए। उन्होंने पंथीय मान्यताओं को बगल करते हुए दामोदर से गाते रहने की आज्ञा देते हुए कहा “आजि लागौनि तुज गावया अनुज्ञा”¹⁰ दिली। इस कारण दामोदर ने अपनी सारी कविताएँ राग-रागिनियों में रचने के लिए मुक्त हो गए और उनकी प्रत्येक हिन्दी कविता संगीतात्मक रचना है।

दूसरी घटना का भी उल्लेख संकेत रूप में हो चुका है। “दामोदर पंडित ने पहली चौपदी की रचना नागदेवचार्य के कहने पर एक नाथ पंथी जोगी को निरुत्तर करने के लिए हिन्दी भाषा में रची। आगे भी अपने पंथ का प्रचार करने के लिए ऐसी अनेक चौपदियों की रचना की है।”¹¹ इस प्रकार दामोदर पंडित की कविताओं की रचना को इन दो घटनाओं ने रूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पंथ के सिद्धान्तों को अन्य पंथियों को समझाने की दृष्टि से ही दामोदर पंडित ने मातृभाषा के इतर रचना की है और वे व्यापार, तीर्थाटन आदि कई कारणों से उन तक पहुँची भाषा के कारण संभव हुआ। शं.गो.तुळपुळे के अनुसार, “बहुत से अन्यपंथीय विशेषतः नाथपंथी, उत्तर हिन्दुस्तान से आया करते थे और उनका समाधान करना हो तो उन्हीं के भाषा का आश्रय लेना पड़ता था। अर्थात् यह बात भिन्न है कि ऐसा करते समय उसमें मराठी का मिश्रण होना स्वाभाविक था।”¹² विनयमोहन शर्मा द्वारा दिए गए दामोदर पंडित के पद “शके 1571 विरोधनाम संवत्सरे: श्रावण मासे सुधे नवमी: वार सोमवार: तद्दिने पुस्तक संपूर्ण (लाड़नाम तुक राजा के शिष्य अनन्त मुनि के हस्ताक्षर) ई.स.1649 शिवकाल में ऊपर्युक्त पदवाली पाण्डुलिपि लिखी गई।”¹³ इस कारण दामोदर पण्डित की भाषा के सन्दर्भ में निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। चूँकि यह पाण्डुलिपि दामोदर पंडित के तीन सौ वर्षों बाद लिखी गई है, इस कारण उसकी भाषा में लिपिकार द्वारा मिलावट की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

दामोदर की हिन्दी कविताओं की भाषा मुख्यतः खड़ी बोली है, किन्तु उसमें ब्रज और मराठी का भी यथोचित मिश्रण दिखाई देता है। मराठी से वही शब्द आए हैं, जो संस्कृत से मराठी और अन्य भारतीय भाषाओं में आए हैं। इसी कारण हिन्दी और मराठी में समान रूप से प्रचलित थे। मराठी शब्दों में ‘धंदा’ (धंधा), ‘खुणा’ ‘राजे’ आदि शब्दों को गिनाया जा सकता है। भले ही यह शब्द हिन्दी

और मराठी में समान रूप से प्रचलित रहे हो, किन्तु दामोदर की कविता में मराठी की ही ध्वनि अधिक आती है। दक्षिण की भाषाओं की विशेष ध्वनि ‘ळ’ भी उनकी कविताओं में देखने को मिलती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि इस ध्वनि का कविता में प्रयोग करने वाले वे सबसे पहले कवि हो सकते हैं। मराठी शब्द ‘म्हणे’ (कहे) का उन्होंने बार-बार प्रयोग किया है।

स्वतंत्र कारकों के रूप खड़ी बोली के अनुसार विकसित दिखाई देते हैं। कहीं-कहीं दक्खिनी हिन्दी की भी कारकों का प्रयोग किया गया है। खड़ी बोली के कारकों में ‘पर’, ‘का’, ‘के’, ‘की’,। ब्रज भाषा के कारकों में ‘सो’, ‘जेवि’, ‘नि’(में) आदि उल्लेखनीय हैं। क्रियावाचक शब्दों में ब्रज का प्राबल्य दिखाई देता है, यथा- ‘सोवे’, ‘चढ़िबो’, ‘भजे’, ‘कराइ’, ‘आवे’ आदि-आदि। ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति अत्याधिक प्रबल है। ऐसा उन्होंने छन्द के बन्धन के लिए नहीं किया क्योंकि, ऐसा करने पर भी छन्द के नियमों का पालन कहीं भी नहीं होता है। संयुक्ताक्षर को तोड़कर क्षतिपूर्ति करते हुए दो पूर्णाक्षरों को लिखा गया है। ‘क्ष’ के लिए ‘च्छ’ का प्रयोग, ‘उत्पत्ति’ के स्थान पर ‘उतपत्ति’, आदि का प्रयोग देखा जा सकता है। सर्वनामों के प्रयोग अधिकतर ब्रज भाषा से किए गए हैं। मराठी सर्वनामों में ‘तो’ (वह), ‘ते’ (वे), का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है।

व्याकरणिक कोटियों से हटकर देखा जाए तो दामोदर पण्डित की भाषा की सृजनात्मकता वहाँ दिखाई देती है, जहाँ वे ब्रज और मराठी को कुछ ऐसे मिश्रण से क्रियारूप बनाते हैं, जो दोनों भाषाओं के होते हुए भी उससे भिन्न रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। यह कवि की सृजनात्मकता हो अथवा तत्कालीन समाज में भाषा का ऐसा रूप प्रचलित रहा हो। इन दोनों स्थितियों में दामोदर अपनी कविता में प्रयोक्ता होने के कारण विशेष हो जाते हैं। उन्होंने मराठी और ब्रज का कुछ ऐसा मिश्रण किया है कि वह दोनों भाषाओं को सृजनात्मक रूप में अग्रगामी बनाता है। मराठी शब्द ‘म्हणणे’ (कहना) में ‘ई’ जोड़कर ‘म्हणाई’, ‘धरणा’ (पकड़ना) और ‘पाहने’ (देखना) में ब्रज भाषा की प्रवृत्तिरूप ‘ओ’ लगाकर क्रमशः ‘धरिबो’ तथा ‘पाहिबो’ शब्दों का निर्माण अथवा प्रयोग किया। यह उनके भाषा की सर्वोत्कृष्ट सृजनात्मकता है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि दामोदर पण्डित की भाषा में किसी भी प्रकार का पांडित्य नहीं है। वे सर्वसाधारण भाषा में अपनी बात कह रहे थे। साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा का भेद-सम्बन्ध उन्होंने अपने पंथ के लक्ष्य के अनुरूप रखते हुए दोनों में कोई भेद नहीं आने दिया, यह उनके काव्यकर्म की सर्वप्रमुख विशेषता है।

5.3 त्रिलोचन

त्रिलोचन की भाषा पर टिप्पणी करते हुए डॉ.महीप सिंह ने लिखा है, “इस पद तथा अन्य पदों से त्रिलोचन की भाषा पर कुछ प्रभाव पड़ता है। इस पर मराठी की छाया तो है ही उस समय की प्रचलित सधुक्की भाषा का पूरा प्रभाव है। साथ ही गुरुमुखी लिपि में लिखने और आदिग्रंथ में संकलित होने के कारण इस पर पंजाबी का भी रंग चढ़ गया है।”¹⁴ इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उनके पद उतने गेय नहीं रहे होंगे, गुरुमुखी में लिखे जाने के कारण उनमें पंजाबी की तत्कालीन प्रचलित लय भी समाविष्ट हो गई होगी। यह सर्वज्ञात है कि आदिग्रंथ का अधिकांश हिस्सा

प्रार्थना के रूप में गाया जाता है। त्रिलोचन के पदों की मूल लय क्या थी, इसे जान पाना आज हमारे लिए असंभव है, इस कारण उनके वर्तमान रूप को स्वीकार करना पड़ता है।

5.4 ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई

ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई के पदों की भाषा में हुए मिश्रण के कारण ही कई बार प्रक्षिप्त माने जाते रहे हैं। उनकी भाषा में वह प्राचीनता नहीं दिखाई देती है, जो उनके समकालीन नामदेवादि कवियों की हिन्दी कविताओं में दृष्टिगोचर होती है। इसे आधार बनाते हुए आचार्य विनयमोहन शर्मा ने लम्बी चर्चा की है, जिसकी आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने इन पदों में आए 'अन्य' शब्दों को 'विदेशी प्रभाव' माना है। उन्होंने अल्लाउद्दीन खिलजी के आक्रमण और अरबी व्यापारियों के सम्पर्क को इसके लिए जिम्मेवार ठहराया। यह प्रभाव उस सेवाप्रदाता वर्ग के माध्यम से आया होगा, जो खिलजी के पूर्व से यहाँ आते रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह शब्दावली उन्होंने उन नाथों से ग्रहण की होगी, जिनसे उनकी गुरु परम्परा सीधे-सीधे जुड़ती है।

5.5 नामदेव की हिन्दी कविताओं का रूप-विधान

नामदेव की कविता में अरबी-फारसी, ब्रज, दक्खिनी के शब्द देखे जा सकते हैं। इस पर चर्चा करना अनिवार्य नहीं है कि यह शब्दावली उनके यहाँ कहाँ से आयी है। वर्तमान समय में मराठी में चालीस प्रतिशत अरबी-फारसी के शब्द पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि नामदेव ने जिस भाषा में कविता लिखी है वह मिश्रित भाषा है अथवा हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषा को उन्होंने अपनी कविता के लिए चुना। इसमें दक्खिनी भाषा का गुण विशेष महत्व रखता है। यह भाषा रूप उनके कई सामाजिक समूहों से सम्पर्क में आने से बना था, इसे किसी विशिष्ट के प्रभाव रूप में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है। इसी क्रम में उन्होंने नाथ, वारकरी आदि सम्प्रदायों की शब्दावली को भी ग्रहण किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों को कई सामाजिक समूहों से ग्रहित मानना उचित होगा।

उनके पदों का गुरुमुखी संस्करण बनाते समय उनमें कई बदलाव किए जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है। उन्होंने कई बार नाथों की उलटबाँसियों में भी अपनी बात को प्रस्तुत किया है। ईडा-पिंगला, नाडी, ब्रह्मरंध्र की भी बातें कही हैं। इस क्रम में उनकी कविताओं में कई अलंकारों एवं अन्य शास्त्रीय प्रतिमानों का समावेश होता गया। उन्हें विश्लेषित करना यहाँ अनिवार्य नहीं है। उनकी कथन शैली एवं कहन पद्धति को पीछे भी विश्लेषित किया जा चुका है। उन्होंने अपनी बात को विशिष्ट लय के साथ प्रस्तुत किया, जिसने भक्ति एवं समाज में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। अपने अभंग छन्द को उन्होंने हिन्दी कविताओं में भी प्रस्तुत किया, जिन्हें सीधे-सीधे श्रोताओं तक पहुँचाया जा सकता था। इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नामदेव की तमाम हिन्दी कविताओं का रूप निर्माण हुआ है, किसी सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र को ध्यान में रखकर नहीं।

5.6 भानुदास

रूप के स्तर पर भानुदास की दोनों कविताएँ उनके समकालीन नामदेव से विशेष प्रभावित दिखाई देती हैं। उनकी इन दोनों कविताएँ अभंग छन्द में रचित होने के कारण उनकी लय भी नामदेव की कविताओं की ही तरह कीर्तन की लय लगती है। उनकी कविताओं की भाषा भी ब्रज से अधिक प्रभावित लगती है। चूँकि उनके परिवार में पहले से ही कृष्णभक्ति के संकेत मिलते हैं, ऐसे में उनके द्वारा मथुरा आदि कृष्ण भक्ति प्रदेशों की यात्रा लगातार करते रहने को नकारा नहीं जा सकता है। ऐसे में उनकी भाषा का ब्रज से प्रभावित होना स्वाभाविक था।

5.7 एकनाथ की कविताओं का पाठक-श्रोता केन्द्रीत रूप-विधान

चूँकि एकनाथ एक लक्ष्य के तहत स्फुट काव्य-लेखन कर रहे थे। विशेषतः उनका हिन्दी में काव्य रचना करना विशेष पाठकों-श्रोताओं तक अपनी विचारधारा पहुँचाने का लक्ष्य था। ऐसे में उनकी हिन्दी कविताओं का रूप निर्माण या रूप का चयन यही लक्ष्य श्रोता या पाठक कर रहे थे। कई मायनों में यह तय कर पाना दुरूह है कि एकनाथ के हिन्दी काव्य की वस्तु ने रूप का निर्माण किया अथवा रूप ने वस्तु का या पात्र ने वस्तु और रूप दोनों का। उनका लक्ष्य पाठक अथवा श्रोता वर्ग कई अर्थों में निराकार होते हुए भी या मिश्रित श्रोता-पाठक वर्ग होते हुए भी उसमें मूलभूत समानताएँ थी। एकनाथ ने इस बात का बराबर ध्यान रखा कि पाठक-श्रोता उनसे कुछ-न-कुछ लेकर अवश्य जाए। ऐसी समानताओं का शमन कर, एकनाथ ने लोक तक पहुँचने वाले काव्य-रूपों को ही हिन्दी काव्य के लिए चुना। उनके सारे मराठी प्रबंध काव्य का कथ्य, उसमें अभिव्यक्त उनकी विचारधारा एवं भावधारा पहले से निर्मित होती आ रही थी, इन नए लोक-रूपों में सफलता से उन्होंने यही सिद्ध कर दिया।

पारम्परिक वैदिक धर्म, सनातन धर्म, हिन्दू धर्म, शैव-वैष्णव धर्म के विवाद, बौद्ध-जैनों का विकृत रूप आदि के कारण बंधनों में अनुकूलित जनता इस्लामी एकेश्वरवाद से प्रभावित हो रही थी, तो दूसरी ओर दबाव में आकर भी इस्लाम को विवशतावश स्वीकार कर रही थी। एक ऐसा भी वर्ग था, जो इस नव-आयातीत धर्म को इस उम्मीद के साथ स्वीकार कर रहा था कि वहाँ तो उसे समानता मिलेगी, किन्तु हाथ लगी हमेशा की तरह निराशा। धर्मान्तरण के कई पीढ़ियों के पश्चात् भी यह वर्ग अपने हिस्से की सामाजिक और आध्यात्मिक समानता का सत्य खोज ही रहा था। तथाकथित निम्न जातियों से इस्लाम में धर्मान्तरित लोगों की वही स्थिति हुई जो रामानन्दियों के समय में निम्न जातियों की हिन्दू धर्म के अन्तर्गत रहते हुई थी। इन्हें धार्मिक पूजा-विधि अथवा अर्चना के स्थान पर तो कुछ समानताएँ बहाल की गईं, किन्तु सामाजिक स्तर में सुधार करने का मौक गलती से भी प्रदान नहीं किया गया। इस रूप में वर्तमान विमर्शवादी दृष्टिकोण से मध्यकाल में उपस्थित किसी भी धर्म या पंथ में चारित्रिक रूप से कोई अन्तर करना मुश्किल है।

भारतीय जनमानस का इस्लाम से परिचय राजाओं और सूफी सन्तों से अधिक सामान्य जन के माध्यम से हुआ है। राजाओं के साथ आए सैनिक, अन्य सेवा प्रदाताओं का वर्ग और कारीगर थे। जब अरबी, तुर्की व्यापारी भारत आया करते थे, वे अपने साथ सेवक, दास आदि भी लाया करते थे। जब लूट के ईरादे से राजकीय हमले होने लगे तब सैनिक तथा अन्य सेवा देनेवाले कारीगर भी भारत में आने लगे। यह सेवाप्रदाताओं का वर्ग उसी स्थिति में था, जिस स्थिति में भारत में तत्कालीन धर्मान्तरित

तथाकथित निम्न वर्ग था। यह आगत सेवाप्रदाताओं का वर्ग भारत के निम्न वर्ग के सीधे सम्पर्क में आया। इनमें अधिकांश सैनिक थे। यह सैनिकों एवं सेवाप्रदाताओं का वर्ग और बड़े पैमाने पर अल्लाउद्दीन के देवगिरी पर अधिकार के समय तथा दिल्ली से राजधानी दौलताबाद स्थलान्तरित करते समय औरंगाबाद के आस-पास आकर यहीं बस गया। अतः यह सेवाप्रदाताओं एवं सैनिकों का वर्ग एवं भारत का नव-धर्मान्तरित वर्ग, दोनों की सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर नहीं था। प्रार्थना मात्र के लिए दोनों स्वीकृत थे, अन्य प्रकार के बहिर्जनो (अस्वीकृतियों) में रत्ती भर भी अन्तर शायद ही रहा होगा।

विशेषतः भारतीय धर्मान्तरित वर्ग धर्म से तो मुसलमान बन गया, किन्तु प्रायोगिक तौर पर उसकी बहुत-सी मान्यताएँ पुरानी ही रही। वह एक साथ हिन्दू और मुसलमान धर्म की अस्मिताएँ धार्मिक और राजनैतिक रूप से धारण नहीं कर सकता था। परम्पराओं और रूढ़ियों का भूत आसानी से पीछा नहीं छोड़ता जोकि प्रकार के द्वैतों में था। इस प्रकार आगत सेवाप्रदाताओं-सैनिकों का वर्ग एक तरफ अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के लिए तो दूसरी तरफ धार्मिक मान्यताओं में राजनैतिक सत्ता संघर्ष के कारण उठे विवाद के बीच द्वैत की स्थिति में था। तीसरी बात यह थी कि स्वयं यह वर्ग इस्लाम के तत्कालीन प्रातिनिधिक कट्टरवाद से आतंकित हो चुका था। ऐसे में सूफी भावधारा उन्हें आकर्षित कर रही थी और इस्लाम छोड़ भी नहीं रहा था। इस आगत वर्ग एवं भारतीय धर्मान्तरित वर्ग की स्थिति को ग़ालिब ने निम्न पंक्तियों में बखूबी व्यक्त किया है, क्योंकि गाहे-बगाहे यही स्थिति ग़ालिब के समय तक भी थी -

इमाँ मुझे रोके, कूफ़ खिंचे अपनी ओर

काबा मेरे आगे है, दरिचा मेरे पीछे।

बाज़िचा-ए-अत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे ॥

इस प्रकार के समाज में अनिवार्यतः ऐसे कलारूप की आवश्यकता होती है, जो सामान्य जन में अधिकतम लोगों को समझे भी, उनकी अपनी कथा-व्यथा को अभिव्यक्त भी करे, उनके सामूहिक एवं व्यक्तिगत जीवन में आ रही भौतिक तथा आध्यात्मिक कठिनाइयों का एक सरलीकृत (जनरलाइज़्ड) समाधान प्रस्तुत करे। जहाँ तक बात रही विषय-वस्तु की उसका समाधान एकनाथ ने दार्शनिक मार्ग से कृष्ण कथा एवं निर्गुण मार्गी कथाओं में पाया। इसके अतिरिक्त ऐसे काव्य को जब वह दार्शनिक मार्ग से समाधान प्रस्तुत कर रहे हो, उसके नीरस होने की, शास्त्रीय बन्धनों में फँसने की पूर्ण संभावना थी। इन परिस्थितियों के कारण एकनाथ ने भारूड, गवळण, भांड आदि समाज में प्रचलित काव्य-रूपों का प्रयोग किया। आगे के समय में भारूड मनोरंजनात्मक पद्धति से अपनी बात को लोगों तक पहुँचाने के सशक्त माध्यम बन गया। मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी इन काव्य-रूपों के प्रयोग करने का यही उद्देश्य था कि अपनी बात अधिक-से-अधिक प्रभावी ढंग से बहुसंख्य तक पहुँचायी जाए। अपनी प्रयोगात्मकता के कारण यह कविताएँ रूप के स्तर पर अपने ही प्रकार की कविताओं से तथा समाज में प्रचलित मनोरंजन के माध्यमों से ग्रहण करते हुए भी कई मायनों में भिन्न हैं। इतना ही नहीं स्वयं एकनाथ मराठी में लिखित भारूडों से हिन्दी में लिखित भारूड अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं।

1) एकनाथ का हिन्दी भाषा-कौशल

पुत्र हरि के संस्कृताभिमानि विद्वान बनने से एकनाथ परिवार में अल्पकालीन संघर्ष निर्माण हुआ क्योंकि एकनाथ जनभाषा मराठी के समर्थक थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि “संस्कृत देववाणी है तो क्या मराठी क्या चोरों ने बनाई?” इस आधार पर एकनाथ को मराठी भाषा का समर्थक सिद्ध किया गया, यह सही है, किन्तु वह मात्र मराठी भाषा के ही समर्थक नहीं, अपितु जन-भाषा के समर्थक थे। इसी कारण उन्होंने अधिक-से-अधिक लोगों तक समाज-प्रबोधन के विचारों को साहित्य के माध्यम से पहुँचाने के लिए लोक काव्य रूपों को हिन्दी में भी लिखा।

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने एकनाथ की हिन्दी काव्यभाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है - “उनकी भाषा सन्तों की अटपटी बानी रूप है। उसमें एकरूपता नहीं है। उसमें मराठी के साथ-साथ गुजराती की भी छटा है।”¹⁵ आचार्य शर्मा की दूसरी टिप्पणी है - “एकनाथ के हिन्दी पदों में काव्य की साज-सज्जा नहीं है, उपदेशों की उबड़खाबड़ बहार है। कभी-कभी उपदेश देते समय वे अधिक उग्र हो जाते हैं। भाषा सामाजिक मर्यादा को लाँघ जाती है। वे माया और मायाग्रस्त जन पर फूहड़ गाली की अक्षील बौद्धार करने में तनिक भी नहीं झिझकते। चूँकि एकनाथ फारसी के ज्ञाता थे, इसलिए उनकी हिन्दी रचनाओं में विदेशी शब्दों की प्रचुरता है। उनके समय में महाराष्ट्र मुस्लिम सत्ता के आधिपत्य से ग्रस्त था। इसलिए बहुत से अरबी-फारसी शब्द जनता की भाषा में आ रहे थे। मराठी भाषा पर उनका प्रभाव पड़ रहा था।”¹⁶

एकनाथ की हिन्दी कविताओं पर अधिकारिक रूप से शोध-कार्य करनेवाले प्रभाकर सदाशिव पंडित का भी लगभग यही मत है। उन्होंने लिखा है - “एकनाथ जी द्वारा रचित हिन्दी पदों की भाषा में सन्तों की अटपटी बानी का रूप मिलता है। ‘अव्वल याद करो वस्ताद की’ जैसी पंक्तियों में मुस्लिम प्रभाव झलक रहा है, तो ‘दिल की गाँठ खोलो, दिल की गाँठ खोलो’ जैसी पंक्तियों में निर्गुणियों-सिद्धों की छाप दिखाई देती है। ‘माई मोरे घर आयो शाम’ में ब्रज भाषा व्यक्त हुई है, तो ‘मारी गावड़ी चुकली छे’ पंक्ति में गुजराती प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार एकनाथ जी ने लोकानुरंजन एवं लोकशिक्षा का हेतु सामने रखकर सभी प्रचलित शब्दों को अपनाते हुए हार्दिक भावों को प्रकट किया है। इस प्रयास के समर्थन में कहते हैं, ‘शुभ्र, कपिला गाय से प्राप्त दूध ही केवल दूध कहलाता है और अन्य रंग की गाय से प्राप्त दूध क्या पानी कहलाता है? (कपिलेचे म्हणावे क्षीर, मा इतरांचे काय ते नीर, वर्णस्वादे एकचि मधुर, दिसे साचार सारिखे।)’”¹⁷ एकनाथ के हिन्दी कविताओं की भाषा के सन्दर्भ में इन दोनों विद्वानों से आचार्य श्रीराम शर्मा का मत बिल्कुल भिन्न है। उन्होंने एकनाथ की विभिन्न प्रकार की कविताओं की स्वतंत्र व्याख्या की और संबंधित कविताओं का भाषायी विश्लेषण करने का सफल प्रयास किया है। इस कारण उनके मत में साधारणीकरण का खतरा टल गया है। वास्तव में यह काव्य भाषा के अध्ययन का सबसे अच्छा तरीका है कि हम कविताओं को श्रेणियों में विभक्त कर उसका भाषायी विश्लेषण प्रस्तुत करें।

यह सही है कि एकनाथ की हिन्दी कविताओं में गुजराती और मराठी के साथ दक्खिनी के रूपों का मिश्रण बड़ी मात्रा में हुआ है। इतना ही नहीं उनके शब्द चयन में मराठी और दक्खिनी की उच्चारण व्यवस्था भी आ गई है। यह एकनाथ के हिन्दी काव्य का कोई न्यून पक्ष न होकर उसकी स्वाभाविक विशेषता कही जा सकती है। चूँकि एकनाथ ने अपने समय-समाज में प्रचलित गारुडियों, फकीरों, भांड,

कलंदरों की तर्ज पर काव्य लिखकर अपने को लोककाव्य के समीप ले जाने का प्रयास किया है। ऐसे में तत्कालीन साधारण जन एवं उन्हीं पात्रों के अनुसार भाषा का होना स्वाभाविक है। एकनाथ की काव्यभाषा उनके काव्य विषय एवं काव्य-पात्रों के अनुरूप बदलती है। उनके ‘गवळणों’, ‘भारूडों’ एवं ‘भांड’ की भाषा में वैसा ही अन्तर है, जैसा कि निराला के ‘कुकुरमुत्ता’, ‘राम की शक्तिपूजा’ और ‘तोड़ती पत्थर’ में है। ऐसे में उनकी भाषा को ‘कलंदरों की भाषा’ कहा जाना गलत न होगा। रही बात उच्चारण विशेषताओं की तो प्रत्येक पात्र के अपने उच्चारण की विशेषताएँ होती हैं और एकनाथ ने उसका विशेष ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ -

“मैं दधी बेचन चलि मथुरा

तुम केंव थारे नंदजी के छोरा।

इसमें ‘दधि’ के स्थान पर ‘दधी’, ‘चली’ के स्थान पर ‘चलि’, ‘क्यों’ के स्थान पर ‘केंव’, ‘ठाढ़े’ के स्थान पर ‘थारे’ रूप मिलते हैं। इस प्रकार तुकबन्दी का भी गठित रूप प्रायः नहीं मिलता है।¹⁸ वास्तव में यहाँ भाषा को आधुनिक लेखन दृष्टि से देखने पर वर्तनी में कुछ अन्तर दिखाई देते हैं। मराठी भाषी प्रदेश में मूल ब्रज भाषियों के आकर बस जाने के कुछ वर्षों पश्चात् उनका उच्चारण स्वाभाविक रूप से मराठी से प्रभावित हो गया होगा और उसी का सच्चा रूप यहाँ हमें देखने को मिलता है। ‘चली’ का उच्चारण उस समय और उस प्रदेश में ‘चलि’ हो गया हो। ऐसे में स्वाभाविक समाज भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखे जाने पर एकनाथ ने अपनी काव्यभाषा तत्कालीन समाज से चुनी थी। इसी प्रकार दक्खिनी की उच्चारण पद्धति भी पर्याप्त मात्रा में उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। ‘कुं’, ‘बाज्या’, ‘करो’, ‘हुन्नैर’, ‘जिन्नै’, ‘मोहरा’, ‘तुमकु’, ‘चिपीच’, ‘मंतर’, ‘बच्या’, ‘ऊदर’, ‘रह्या’, ‘दील’, ‘सफेद’, ‘वोही’, ‘मो’, ‘कूच’, ‘दिवाल’, ‘खासा’ आदि शब्द दक्खिनी के उच्चारण प्रभाव से उनकी कविताओं में आए हैं। इसी प्रकार हिन्दी की आधारभूत या सामान्य शब्दावली को मराठी ने भी प्रभावित किया है। ‘गयबी’, ‘सावकाश’, ‘मंडान’, ‘दवडो’, ‘मोहरा’, ‘शिक्का’, ‘जनावर’, ‘खजीना’, ‘गुणी गुणवंत’, ‘साहेब’, ‘आबी’, ‘तमाशा’, ‘मुंडी’, ‘बाजेगरी’, ‘धनि’, ‘मावशी’ इत्यादि शब्द स्पष्ट तौर पर मराठी उच्चारण के अनुसार अपना रूप बदलते दिखाई देते हैं।

इस रूप में देखा जाए तो एकनाथ ने अप्रस्तुत रूप से मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं को समृद्ध करने का प्रयास किया है। एक अन्य दृष्टि से देखा जाए तो उनकी कविताओं में आए यह शब्द हिन्दी और मराठी में समान अर्थों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द हैं, जिन्हें एकनाथ ने हिन्दी और मराठी भाषा के स्वभावानुसार अनुकूलित करने का प्रयास किया है। गाहे-बगाहे वर्तमान हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में यह शब्द इन्हीं अर्थों में उपयोग में लाए जाते हैं। आवश्यकता है इनके रचनात्मक साहित्य में रूढ़ होने की, ठीक वैसे ही जैसे आचार्य शुक्ल द्वारा मराठी वाक्प्रचार ‘गड़बड़ झाला’ का हिन्दीकरण करके प्रयोग किया गया और यह आज सर्वपरिचित होकर रूढ़ हो गया। इस प्रकार हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएँ आदान-प्रदान के माध्यम से अपना विकास करती आयी हैं। पता नहीं क्यों आधुनिक भाषाविदों को हिन्दी को कार्यालयीन भाषा के रूप में विकसित करने के लिए विदेशियों का मुँह जोहना पड़ता है !! हिन्दी अपनी संगिनी भारतीय भाषाओं से ही समृद्ध होती आयी हैं, इसका प्रमाण एकनाथ की हिन्दी कविताएँ हैं।

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने सही कहा है कि एकनाथ की काव्यभाषा में “एकरूपता नहीं है।”¹⁹ और यह एकरूपता न होने का कारण उनके विभिन्न काव्यविषय हैं। यह कैसे संभव है कि गली-मोहल्लों-नुक़्कड़ों पर खेल और बाज़ीगरी दिखाकर उदरनिर्वाह करनेवाला गारूड़ी, अपने प्रेमभाव एवं भक्ति को अभिव्यक्त करनेवाली गोपियाँ, रूप-अरूप ईश्वर का मर्म समझाकर लोगों को तत्वज्ञान बतानेवाला फकीर, अपने जगत की सच्चाईयों से परिचित करवाने वाला नानक, शिव-शक्ति के मर्म को समझने-समझाने वाला मुंडा एक ही प्रकार की भाषा बोलते? यदि एकनाथ के प्रत्येक काव्यरूप को स्वतंत्र रूप से देखा जाए तो उसमें काफी एकरूपता मिलेगी और सारी कविताओं को एक ही दृष्टि से देखा जाए तो एकरूपता कैसे दिखाई देगी? यही कारण है कि आचार्य विनयमोहन शर्मा को एकनाथ की काव्यभाषा में एकरूपता दिखाई नहीं देती है। एकनाथ की कविताएँ काव्यभाषा को अधिक यथार्थवादी बनाने में एकरूप दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त लोकोक्तियों, मुहावरों एवं सूक्तियों के प्रयोग में भी इसमें एकरूपता के दर्शन होते हैं। सभी प्रकार की कविताओं में यह विशेषता पायी जाती है।

एकनाथ ने अपनी सभी प्रकार की हिन्दी कविताओं में लोकोक्तियों, मुहावरों और सूक्तियों का प्रयोग किया है। यह तत्व उनकी काव्यभाषा में यथार्थवादी गुण लाने के अतिरिक्त उनकी सारी कविताओं को एकसूत्र में बाँधने का भी काम करते हैं। इससे भाषा अधिक सम्प्रेषणीय होने के साथ-साथ मनोरंजक भी हो गई है। इससे इन काव्यरूपों का मूल गुण सुरक्षित रखने में कवि को सहायता मिला है। एकनाथ की हिन्दी कविताओं में ‘नंगी नार उधारी’, ‘खोड़ तोड़ुंगी’, ‘खबूतर का तमाशा’, ‘सौंसार के बाजार में बड़े बड़े डूबते हैं’, ‘जम का सोटा बाजे पीठ पर’, ‘आशा छोड़ धीर न छाँड़ीयो’, ‘अल्ला अल्ला कर कर खावन मागे मीठा’, ‘मुमे पड़ेगी खाक’, ‘दो दिन का बाजार यारो कायकु करता बात’, ‘कुइ नहीं आव सात, मुंडे कायकु करता बात’, ‘नेकी करम आछा है’, ‘प्रेम कटारी लियो हात में’, ‘संसार मो तो फत्तर है’, ‘मूपर जूता खाता है’, ‘नाम बेचकर दाम लेवे’, ‘उसका मू काला है’, ‘आखेर मूमे मट्टी है’, ‘एक दिन आना एक दिन जाना’ आदि कई मुहावरों, कहावतों एवं सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। अतः इन प्रयोगों द्वारा एकनाथ ने अपनी भाषा को बोलचाल की भाषा के अधिक-से-अधिक समीप लाने का सफल प्रयास किया है।

एकनाथ ने अपनी हिन्दी कविताओं का शब्दचयन बड़ी सावधानी से किया है। उन्होंने दर्शन को कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि सामान्य जनता में वह आसानी से सम्प्रेषित भी हो जाए और विशिष्ट पाठक में दार्शनिक गूढ़ता का भी आभास भी बना रहे। इसके लिए उन्होंने दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का कम-से-कम अपनी कविताओं में प्रयोग किया है। इस कारण दार्शनिक आधार होते हुए भी उनकी हिन्दी कविताओं में दार्शनिक क्षेत्र की पारिभाषिकी न के बराबर देखने को मिलती है। जो दार्शनिक शब्दावली आयी है, या तो वह सामान्य जन के समझने लायक है, या फिर एकनाथ ने उसकी व्याख्या करने का प्रयास अपनी कविताओं में किया है। यही कारण है कि उनकी कविताएँ दर्शन की व्याख्या करने और उसे समझाने का प्रयास करते हुए भी विचारों के बोझ तले दबने की बजाए भावनों को अधिक प्रश्रय देती दिखाई देती हैं।

2) एकनाथ की कविताओं की लय एवं धुन

लोकगीतों की सारी विशेषताओं को अपने में समेटने का प्रयास करना एकनाथ की हिन्दी कविताओं की अनन्य विशेषता है, जिसकी ओर आचार्य श्रीराम शर्मा ने भी संकेत किया हैं। लोक में प्रचलित उच्चारण के अनुसार शब्दप्रयोग की विशेषता उनके हिन्दी काव्य में देखने को मिलती है, जो प्रायः दुर्लभ है। एकनाथ ने अपना अधिकांश हिन्दी काव्य किसी पात्र के संवाद या किन्हीं पात्रों के वाद-विवाद के रूप में लिखा है। ऐसे में उनकी कविताओं में वाद-विवाद-संवाद एवं वाक् की विशेषताएँ स्वाभाविक रूप में आयी हैं।

एकनाथ ने अपनी कविताओं में गारुडियों, स्त्रियों, फकीरों आदि पात्रों के अनुसार लय का प्रयोग तो किया ही है किन्तु यह लय एवं धुन स्थितियों के अनुसार भी बदलती है। संगीत की विशेषता है, जो लय-शब्द एवं अर्थ दोनों पर निर्भर करती है। एकनाथ ने अर्थलय एवं शब्दलय दोनों का सफल प्रयोग अपनी कविताओं में किया है। इसके उदाहरणस्वरूप उनकी यह दीर्घ कविता देखी जा सकती है -

आदि पुरुष निराधार की याद कर
मेरे गुरु परवरदिगार की याद कर, जिन्ने अजब बनाईयी
उस उस्ताद की याद कर, गैबी खजीना बामना दिया,
उस साहेब याद कर, संत महंत की याद कर
गुणी गुणवंत की याद कर, जोग, जुगुत का बांधा तोड़ा
शम दम का सीरपर जमला छोड़ा, समता जोही सुहावे तुरा
गुरु गारुडी पीर पुरा ॥
नैन चीर के पैन्ही मुद्रा, कान फाड़के खाए निद्रा,
अनुहात ध्वनी धुमक बाजे, नाग सुर घुनक गजें
चल चल चल चल, निरंजन जंगल के जिवड़े,
खेलना हो तो उलट दृष्टि से खेल ॥
आबी करंगा तेरा तमाशा, पैल तरी मुंढी काटुंगा
साप सब भुले बिचु किड़े प्रपंचके कोठरी में आके पड़े
बड़े बड़े जनावर पाले, हारे लाल सफेत
उजले काले, पिले भले बे भला, हांडी बाग
अभिमान जिवड़े, झुट मुट चिपीच लठ्ठे,
नहिं कहूं तो ब्रह्मांड काटने दौरे, देखो मिया हाय, हाय हाय। डंख मारा
बे डंख मारा, सो बड़े बड़े कु नहीं उतारा
देखो मिया बाजेगरी का खेल, हांडी बाग आलबेला
हात हलावे पांव हालावे भाले भोले लोक भुलावे
आवे हांडी बाग बाप बड़ा क्या बेय बड़ा
बेटे आगे बाप खड़ा, गुरु बड़ा क्या चेला बड़ा
चेले आगे गरु खड़ा, चेला तो प्रेम महल पर चढ़ा
धनि बड़ा क्या चाकर बड़ा, चाकर आगे धनि खड़ा²⁰

सास बड़ी क्या बहु बड़ी, बहु के आगे सास खड़ी
 बिबी बड़ी क्या बाँदी बड़ी, बाँदी के आगे बिबी खड़ी
 निराधार की लेकर छड़ी, बिबी खसम की छाती पर चड़ी
 तैं बड़ा क्या मैं बड़ा, मेरे आगे तैं खड़ा
 तैं नहीं मैं नहीं आलम छाया मेरे गुरु ॥²¹

इस कविता में हम चार से पाँच बार कविता की अन्तर्लय को बदलता हुआ देख सकते हैं। ‘गुरु गारुड़ी पीर बुरा’, ‘खेलना हो तो उलट दृष्टि से खेल’, ‘देखो मिया बाजेगरी का खेल’, ‘हात हलावे पांव हलावे भाले भोले लोक भुलावे’ के बाद हम विषय को बदलते हुए स्पष्टतः देख सकते हैं। एकनाथ की काव्यकला ही है कि उन्होंने इन विभिन्न से दिखाई देनेवाले विषय-वस्तु को एक साथ रखकर नए अर्थ की सृष्टि की है। साथ ही हर बार वस्तु के साथ-साथ लय को बदलते हुए देख जा सकता है। पहले बन्द (स्टानझा) एक प्रकार से प्रस्तावना के रूप में लिखा गया है। दूसरे बन्द में अन्य मतों के आचरणों की आलोचना की गई है। तीसरे बन्द में माया की महिमा और उसे ललकारा गया है। चौथे बन्द में मायाग्रस्त जीव की दशा का वर्णन किया गया है और उद्धृत अन्तिम बन्द में ‘ईश्वर के आगे न कोई बड़ा न कोई छोटा’ को सिद्ध करने के लिए विभिन्न उदाहरण दिए गए हैं। यह कविता आगे भी चार बार अपनी लय एवं धुन बदलती है। जैसी विषय-वस्तु बदलती जाती है उस प्रकार से कविता की कहने की शैली तो बदलती है और साथ ही कहते समय श्वास के अनुसार लय एवं धुन में भी बदलाव आता है। जैसे यहाँ उद्धृत पहले ही बन्द को देखा जा सकता है। पहली पंक्ति तो एक ही बार में एक विशेष लय के साथ बोली जा सकती है। दूसरी पंक्ति अपेक्षाकृत पहली से बड़ी होने के कारण उसे दो भागों में विभाजित किया गया है और साथ ही दूसरी पंक्ति के बीच ही में लय के लिए तुक का प्रबंध किया गया है, तत्पश्चात् आगे पूर्ण की गई है। इसमें यदि आचार्य विनयमोहन शर्मा को तुकबन्दी का अभाव दिखाई देता है। एकनाथ तुकबन्दी नहीं कर रहे थे बल्कि अर्थलय एवं शब्दलय के साथ शब्दकर्म में सलग्न थे।

साथ ही साधारण पाठक भी समझ सकता है कि यह इन कविताओं में गद्य की नहीं पद्य की लय है। इन हिन्दी कविताओं में श्रीराम शर्मा को गद्य दिखाई देता है। उन्होंने एकनाथ की कुछ कविताओं को गद्य कहा और उनका स्वतंत्र रूप में विवेचन किया। उन्होंने लिखा है - “यहाँ एक सपेरे से सम्बन्धित कृति का कुछ अंश उद्धृत है। कृति तुकान्त गद्य में है। यह कृति हिन्दी के प्राचीनतम गद्यों में गिनी जानी चाहिए। सपेरा दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कहीं वाक्य लम्बा करता है और कहीं छोटा। सपेरे की बोलचाल, उसके लटके, नाज-नखरे, दीनता-विवशता सभी कुछ इस कृति में समाविष्ट हैं। साँप छोड़ने से पहले ईश्वर का अवाहन करता है -

अव्वल याद करो वस्ताद की। गुरु, पीर पैगम्बर की।

और याद करो करतार की, जिन्ने मंडाम पैदा किया है।”²²

इसी प्रकार उन्होंने ‘फकीर’ एवं ‘गारुड़ी’ शीर्षक कविताओं को गद्य श्रेणी में विवेचित विश्लेषित किया। वास्तव में इस कविता को प्राचीनतम गद्य सिद्ध करने की जल्दी में श्रीराम शर्मा जी ने इसकी लय की ओर ध्यान ही नहीं दिया। संभवतः इसी कारण उन्होंने इस कविता में गद्य का आभास हुआ और इन कविताओं की लोकधुनों को वे देख नहीं पाए। इन कविताओं को कोई उनके शीर्षक के अनुसार पढ़कर देखे तब इन कविताओं में संगीत तत्व की उपस्थिति का ज्ञान होगा।

सारांशतः कहा जा सकता है कि एकनाथ की कविताओं का उद्देश्य लोकरंजन, लोकशिक्षण या दर्शन का सम्प्रेषण, इनमें से जो चाहे रहा हो, किन्तु उन्होंने अपने दर्शक, काव्य-पात्र एवं काव्य-वस्तु को ध्यान में रखते हुए काव्य के विभिन्न रूपों को चुना और उसी पाठक-श्रोता वर्ग को दृष्टि में रखकर शब्दचयन एवं उसकी लय-धुन, उच्चारण चुनकर काव्य को सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया। उनके द्वारा किया गया शब्दचयन दक्खिनी, मराठी और हिन्दी का मिलाजुला रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है, जो भारतेन्दु युग और महात्मा गाँधी जी के पुरस्कार के साथ हिन्दुस्तानी भाषा के विकास में सहायक हुआ। इसी का निखरा हुआ रूप हिन्दी भाषा की प्रगतिवादी काव्य की विशेषता बनी। उनकी हिन्दी कविताओं में उनकी भाषा दृष्टि एवं काव्य-रूप सम्बन्धी दृष्टि निःसंदेह अपने समय से बहुत आगे थी।

भाषा एवं अन्य काव्य-रूपों द्वारा समन्वय साधने का प्रयास उनके काव्य की अनन्य विशेषता कही जा सकती है। एक ओर दक्खिनी में विकसित हो रही काव्य परम्परा से वे जुड़ते हैं तो दूसरी ओर ब्रज-हिन्दी की परम्परा से। अपने लोककाव्य रूपों के माध्यम से लोक से जुड़ते हैं तो दूसरी ओर शास्त्रीय विषयों को उसमें अनुस्यूत करते हुए शास्त्रीय परम्परा से। एकनाथ अपने मराठी काव्य के साथ-साथ हिन्दी काव्य के माध्यम से समन्वय का प्रयास अपने स्तर पर कर रहे थे, क्या यह एक प्रकार के राष्ट्रीयता का विकास नहीं है, जो मध्यकाल से ही दक्षिण और उत्तर को जोड़ने का प्रयास कर रहा था। क्या तत्कालीन राजाओं की सीमाओं को एकनाथ जैसे सन्तों ने तोड़कर जन को एक ही स्तर पर देखने की दृष्टि का विकास करने में अपना योगदान नहीं दिया? इस प्रश्न के सकारात्मक उत्तर में ही एकनाथ के काव्य के ऐतिहासिक महत्व को समझा जा सकता है और समाझा जाना चाहिए। इन आँचलिक प्रयासों को अनदेखा कर हिन्दी साहित्य का अविरल इतिहास कैसे लिखा जा सकता है? आवश्यकता है इन सूत्रों को जोड़ने की।

5.8 'राग कला नहीं जानत तुका': तुकोबा की हिन्दी कविताओं का रूप-विधान

तुकोबा ने मराठी हो या हिन्दी, दोनों भाषाओं में लेखन करते समय रूप के प्रति कोई सतर्कता नहीं बरती। उन्होंने मराठी में लेखन के लिए नामदेव के समय से प्रचलित अभंग छन्द एवं अपने समय समाज की भाषा को चुना, तो वहीं कबीर की परम्परा से चला आता हुआ दोहा और तुलसीदास द्वारा लोकप्रिय किया गया चौपाई छन्द भी। हिन्दी में लिखते समय उन्होंने एकनाथ की ही भाँति विभिन्न काव्यरूपों के लिए अलग-अलग प्रकार की भाषा का प्रयोग भले ही न किया हो पर उनके रूप पक्ष में विभिन्नता को कम ही स्थान मिला है। तुकान्त, छन्द, आदि रूप प्रतिमानों में वस्तु की भाँति बहुत अधिक विभिन्नता होते हुए भी उन्होंने शब्द चयन में अपने पाठक-श्रोता को बराबर ध्यान में रखा है। उनकी भाषा उनके काव्य-वस्तु के लिए मार्ग बनाती है, तो कविताओं में पद एवं दोहा सदृश्य छन्द उन्हें मुहावरों में ढलने का मार्ग बनाता है। यह भी कारण है कि उनकी मराठी कविताओं की तरह ही हिन्दी कविताएँ भी लोकोक्ति बनने की शक्ति रखती हैं।

तुकोबा ने अपनी हिन्दी कविताओं में स्पष्ट कर दिया है कि 'मैं कोई राग कला नहीं जानता, बस अपने अराध्य के प्रति भावों को अभिव्यक्त कर रहा हूँ।' ²³ इसका अर्थ स्पष्ट है कि उन्होंने अपने काव्य में काव्य-रूप को नहीं, अपितु भावों-विचारों को अधिक महत्व दिया है। अपने लहजे में, अपने जीवन की तरह अपने कविताओं में अभिव्यक्त किया है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने तुकोबा की भाषा के सन्दर्भ

में टिप्पणी करते हुए कहा -“नामदेव तथा एकनाथ की हिन्दी की अपेक्षा तुकोबा की हिन्दी अधिक परिनिष्ठित है।”²⁴ किसी भी रचनाकार की भाषा को उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं उसके कविताओं में अभिव्यक्त भावों-विचारों के आलोक में देखा जाना आवश्यक है, न कि उसके पूर्ववर्ती रचनाकार के काव्य द्वारा निर्मित प्रतिमानों के आलोक में। अवधी का ही प्रयोग करते हुए जायसी एवं तुलसीदास की भाषा में इतना अन्तर क्यों है? कबीर और सुन्दरदास की भाषा क्या एक-दूसरे से पूर्णतः मेल खाती है। लगभग समान ऐतिहासिक परिस्थितियों में रहकर रचनारत होते हुए भी क्या तुकोबा और रामदास की मराठी काव्यभाषा एक ही है? यही कारण है कि उन्हें नामदेव तथा एकनाथ की तुलना में तुकोबा की हिन्दी बेहतर लगती है। अपने समयानुसार होने के कारण इन कवियों के काव्य भाषा की इस प्रकार तुलना नहीं की जा सकती, जैसी आचार्य शर्मा ने की है। आचार्य शर्मा ने तुकोबा की भाषा को “मराठी हिन्दी”²⁵ कहा है। दूसरी ओर प्रभाकर सदाशिव पंडित ने तुकोबा की भाषा को “टूटी फूटी सधुक्की हिन्दी भाषा”²⁶ कहा है।

वस्तुतः दोनों का अर्थ यही हुआ कि तुकोबा की हिन्दी में मिश्रण हुआ है, चाहे वह मिश्रण मराठी का हो या ब्रज, अवधि आदि विभिन्न बोलियों के शब्दों का हो। तुकोबा की हिन्दी को उसी अर्थ में सधुक्की भाषा नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा को कहा था। यहाँ उनकी भाषा को मिश्रण के अर्थ में सधुक्की भाषा भले ही कहा गया हो। इस अर्थ में उसे ‘मराठी हिन्दी’ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी हिन्दी में मराठी के भी अतिरिक्त ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि के शब्दों के साथ-साथ उन भाषाओं की प्रवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं। जैसे ‘से’ के स्थान पर ‘सुं’, ‘सु’ और ‘सू’²⁷ ‘यौवन’ के स्थान पर ‘जोवन’²⁸ ‘यम’ के स्थान पर ‘जम’ ‘किसे’ के स्थान पर ‘कीसे’ ‘लिया’ के स्थान पर ‘लीया’ ‘बेचारा’ के स्थान पर ‘बिच्यारा’ ‘जीने की’ के स्थान पर ‘जीवने की’²⁹ ‘चरण’ के स्थान पर ‘चेरण’³⁰ ‘जग’ के स्थान पर ‘जेग’³¹ ‘गुंडळणे’ मराठी शब्द का हिन्दीकरण करके ‘गुंडलिये’ लिखना³² ‘बात’ के लिए ‘मात’ ‘भूखा’ का दक्खिनी रूप ‘भूका’³³ ‘इतना’ का दक्खिनी रूप ‘येतना’³⁴, ‘तमळमल’ ‘बापुरे’ आदि मराठी शब्द उनकी भाषा में कई भाषाओं की मिलावट के साथ-साथ उनके समय में उनके आस-पास प्रचलित भाषा के रूप की ओर भी संकेत करते हैं।

इसके अतिरिक्त तुकोबा ने एकनाथ की तरह हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में प्रचलित समान शब्दों का प्रयोग भी अपनी कविताओं में किया है। इससे उनके सामान्य पाठक के सन्दर्भ में पता चलता है, जो उभय भाषाओं को जानते थे। काफर, दुनिया, भर, हीरिदा, कठोर, लोक, जग, धेनु, प्रेम, थंड, चित्त, पानी, कोर, दुख, मुख, संग, काल आदि शब्दों के माध्यम से उन्होंने अपने पाठक-श्रोताओं तक पहुँचने का प्रयास किया।

तुकोबा की भाषा में एक प्रकार की लय है, जो उनके पदों को गेयता प्रदान करती है। यह लय अर्थ एवं शब्द दोनों स्तरों पर कार्य करती स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। ध्यान रहे कि तुकोबा मात्र एक सन्त-भक्त रचनाकार नहीं थे, वरन् वे एक कीर्तनकार थे। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है, कीर्तनकार न केवल उसी पद का रचनाकार होता है, अपितु उस पद का कंपोजर, गायक, अभिनयकर्ता, संगीतकार, वाद्यवादक भी होता है। इस अवश्यकता को ध्यान में रखकर ही तुकोबा ने अपने अधिकांश हिन्दी पदों की रचना की है। ऐसा लगता है तुकोबा ने अपने अमराठी दर्शक-श्रोता पाठकों के सामने

कीर्तनस्वरूप प्रस्तुत करने के लिए इन पदों की रचना की होगी। ऐसे में उन्होंने छन्दादि उपादानों पर ध्यान नहीं दिया हो तो कोई अचरज का विषय नहीं। तुकोबा की कविता में छन्द भंग के कारणों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य विनमोहन शर्मा ने लिखा है - “उनमें छन्दोभंग जो पल-पल पर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि तुकोबा को मराठी अभंगों के रचने का अभ्यास अधिक रहा है और अभंगों में मात्रा की क्रम रक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वे स्वच्छन्द छन्द हैं। इसी कारण हिन्दी में उपदेश देते समय वे छन्द-रक्षा का स्मरण नहीं रख सके।”³⁵ यह कारण सही भी हो सकता है किन्तु इतना ध्यान रखने की आवश्यकता है कि तुकोबा ने जितने छन्दों का प्रयोग किया है, वह कीर्तन गायन के रूप में लिखे गए हैं और उनकी प्रायः प्रत्येक कविता में छन्दोभंग देखा जा सकता है। साथ ही उसमें लय पर बराबर ध्यान रखा गया है, इस कारण उसमें तुकान्त पर बराबर ध्यान दिया गया है। उदाहरणस्वरूप उनकी यह कविता देखी जा सकती है -

“मंत्रयंत्र नहीं मानत साखी। प्रेमभाव नहीं अंतर राखी ॥1॥

राम कहे त्याके पगहूं लागूं। देखत कपट अभिमान दूर भागूं ॥धृ॥

अधिक याती कुलहीन नहीं ज्यानु। ज्याने नारायन सो प्राणी मानूं ॥2॥

कहे तुका जीव तन डारू वारी। राम उपासिंह बलियारी ॥3॥”³⁶

इसी क्रम में तुकोबा ने दोहे, चौपाई छन्दों का भी प्रयोग किया है। उनके कीर्तन से ही उनकी सम्पूर्ण हिन्दी काव्य प्रभावित है। आचार्य शर्मा के अनुसार “साषी और दोहरों में कबीर का अनुकरण लक्षित होता है, परन्तु उनमें उनकी अनुभूति का अंश भी कम नहीं है।”³⁷ यदि इन दोहों में तुकोबा के अनुभूति का अंश है तो उस पर कबीर की छाया किस रूप में है, उसे आचार्य ने स्पष्ट नहीं किया है, क्योंकि काव्य रूप के स्तर पर दोहों का प्रयोग तो कई रचनाकारों ने किया है। तुकोबा के दोहे रूप के स्तर पर दोहे की शर्तें प्रायः पूर्ण नहीं करते। भाव के स्तर पर कबीर के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु इन दोहों में तुकोबा की तुकोबियत झलकती है। तुकोबा की विशिष्ट कथन भंगिमा, पूर्ण अधिकार के साथ अपनी बात को प्रस्तुत करना, अधिकारयुक्त उपदेश एवं नाम पर बल देते हुए भी सगुण-निर्गुण के विवाद में न पड़ना आदि के माध्यम से इसके रचनाकार का स्पष्ट पता चलता है। यह सही है कि तुकोबा के दोहे हिन्दी के भक्तिकालीन दोहों की परम्परा को अपने में समा लेते हुए, उसका अंग बनते हैं -

“लोभी के चित धन बैठे। कामीन के चित्त काम ॥

माता के चित्त पुत बैठें। तुका के मन राम ॥”³⁸

“तुका सुरा बहुत कहावे। लड़त विरला कोये ॥

एक पावे उंच पदवी। एक खौंसा जोये ॥”³⁹

“तुका संगत तीन्हसें कहिये। जिनथें सुख दुनाये ॥

दुर्जन तेरा मू काला। थोता प्रेम घटाये ॥”⁴⁰

इसी प्रकार “तुकोबा की कविताओं में अनायास अलंकारों का प्रवेश भी हो गया है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं -

तुका रामसुं चीत बांध राषु तैसा आपणी हात
धेनु बछरा छीर ज्याव प्रेम न छुटे सात ।

अर्थान्तरन्यास-

चीत मीले तो सब मीले नहीं तो फोकट संग,
पाणी पत्थर येक ही ठोर को रण भीजे अंग ।

रूपक-

प्रेम रसडी बाँधीगले, ऐंच च्यले उधर ।⁴¹

सारांशतः तुकोबा की हिन्दी कविता के रूप-पक्ष के सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि “सन्तों की वाणी को किसी शास्त्रीय कसौटी पर नहीं कसा जा सकता । उनका लक्ष्य कला-श्रृंगार न होकर ज्ञान संचार होता है ।” और तुकोबा भी सन्त भक्त-कवि के रूप में ही अपने काव्य का सृजन कर रहे थे, चाहे वह मराठी काव्य हो या हिन्दी काव्य । तुकोबा की कविताओं में गेयता और लयबद्धता के साथ एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण उनमें लोकोक्ति या सूक्ति बनने की क्षमता है । उन्होंने काव्य में अपने जीवन मूल्यों को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया, जो गाहे-बगाहे हमारे लिए भी अनिवार्य जीवन मूल्य बनकर कायम हैं । यही उनके कविताओं के वस्तु और रूप दोनों का सामर्थ्य हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं । इस रूप में तुकोबा की हिन्दी कविताएं विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में लिखी जाने के बावजूद समकालीन समाज में लिए भी अपनी अर्थवत्ता रखती हैं, सामान्य पाठक-श्रोता के लिए भी और हमारे आज के रचनाकारों के लिए भी ।

5.9 ‘हिन्दुस्तानी’ का विकास और रामदास के हिन्दी काव्य का रूप विधान

रामदास एक सजग रचनाकार हैं । उन्होंने मराठी ही नहीं, अपने हिन्दी काव्य में भी काव्य के प्रत्येक उपादान पर ध्यान देते हुए काव्य की मीनाकारी की है । भाषायी स्तर पर देखा जाए तो रामदास का हिन्दी काव्य उस परम्परा का पूर्वाभास है, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग से प्रारंभ होकर प्रगतिवादी कवियों तक आते-आते पूर्वतः विकसित होती है । यूँ भारतेन्दु युग में इसे लेकर काफी विवाद एवं संशय की स्थिति बनी रही । भारतेन्दु युग में हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान का नारा लगाया गया और साथ ही ऐसी भाषा की भी मुखालिफ़त की गई जो न तो संस्कृत प्रधान हो और न फारसी के अल्फ़ाज़ों से दबी-दबाई गई हो, जिसे हिन्दुस्तानी नाम दिया गया है । ‘हिन्दी’ के महानतम लेखकों में गिने जानेवाले रचनाकारों ने इसी भाषा में अपना रचनात्मक उत्कर्ष दिखाया, चाहे वे प्रेमचन्द हो या नागार्जुन या अन्य कई-कई लेखक । इसके साथ ही महात्मा गाँधी भी इसी हिन्दुस्तानी के पक्षधर रहे हैं ।

रामदास के काव्य के सन्दर्भ में हिन्दुस्तानी की चर्चा इसलिए अनिवार्य हो जाती है कि उनका सम्पूर्ण काव्य इसी भाषा में लिखा गया है । अर्थात् जब भारतेन्दु ने अपने नाटकों की भाषा हिन्दुस्तानी चुनी थी और काव्य में नए भावों को स्थान देते हुए भी भक्तिकाल से चली आती हुई ब्रज भाषा को ही स्थान दिया था, ऐसे में यह जानना रोचक होगा कि भाषा की दृष्टि से रामदास ने उनसे बहुत पूर्व हिन्दुस्तानी का प्रयोग कर लिया था । वही हिन्दी गद्य में भी ब्रज के अवशेष भारतेन्दु युग में भी देखे जा सकते हैं । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली का संस्कार कर उसे काव्योपयोगी बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु फिर भी तत्कालीन भाषा में मराठी के ही प्रभाव से इतिवृत्तात्मकता बनी

रही, जो काव्य को नीरस बनाने में भागीदार रही। ऐसे में उसी मराठी में रामदास ने अपने ठीक पूर्ववर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों से हटकर एक ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जो सरस एवं काव्योपयोगी थी। उन्होंने इस भाषा के प्रयोग में किसी भी प्रकार का निष्कासन नहीं किया। जो शब्द उन्हें अपने काव्य के लिए उपयोगी लगे, उन्होंने उसे अकुंठ भाव से स्वीकार कर, अपना काव्यकर्म किया।

आचार्य विनमोहन शर्मा ने रामदास की काव्यभाषा को तत्कालीन जनभाषा मानते हुए लिखा है, “उसकी भाषा तत्कालीन जन-भाषा प्रतीत होती है जो खड़ी बोली का दक्षिण में व्यवहृत बाजारू रूप है।” यह उसी ‘जन’ या ‘लोक’ से समय के साथ विकसित होती हुई भाषा है, जो तेरहवीं शताब्दी में तुलुक के साथ दक्षिण में आए थे। इस बीच व्यापारियों, तीर्थयात्रियों के साथ-साथ सेवाप्रदाता वर्ग के विभिन्न कारणों से हुए स्थलान्तर के कारण इस भाषा का विकास हुआ। इसका विकास मुख्यतः निजाम सल्तनत में आनेवाले भूभाग और उससे सटे हुए इलाके में हुआ। महाराष्ट्र के मराठवाड़ा, तेलुगु भाषा-भाषी प्रदेश तेलंगाना और उत्तरी कर्नाटक के अधिकांश जिले इस भाषा के विकास के क्षेत्र थे। वास्तव में यह खड़ी बोली का रूप न होकर दक्षिण में दक्खिनी कहलाता है। इसे भी विभाजनवादी मानसिकता ने दो खेमों में बाँट दिया है - एक दक्खिनी और दूसरा दक्खिनी हिन्दी। दक्खिनी उसे कहा गया जिसमें ऊर्दू से अधिक शब्द आयत हुए थे और बाद में इसे देवनागरी में लिखने के कारण दक्खिनी हिन्दी कहा जाने लगा। वास्तव में ऐसा कोई भेद नहीं है। यह बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत से आए सेवाप्रदाताओं के भाषाओं में मराठी, तेलुगु, कन्नड के मिलने से विकसित होती हुई, जोकि दक्षिण भारत के एक प्रमुख संचार भाषा है। क्षेत्रानुसार इसके भी कई रूप विकसित हुए हैं - हैदराबाद, गुलबर्गा-बिदर आदि क्षेत्रों में बोली जानेवाली, महाराष्ट्र के मराठवाड़ा में बाली जानेवाली दक्खिनी। ध्यातव्य की यह भाषा किसी भी क्षेत्र में बोली जाती रही हो, इसका व्यवहार सामान्य-जन के भीतर ही होता आया है। इसलिए इस इलाके के सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में इसका खुलकर प्रयोग किया, जिसे रामदास ने भी सामान्य जन से संवाद स्थापित करने के लिए अपनाया। इस कविता में सामान्य जन से संवाद स्थापित करते उन्हें देखा जा सकता है -

“घट घट साहिया रे। अजब अलामिया रे ॥धृ॥

ये हिन्दु मुसलमाना दोनों चलावे, पछाने से भावे ॥1॥

सुरिजन हारा बड़ा करता है, कोई एक जाने पार ॥2॥

अवल अखैर समझ दिवाने, अकलमंद पछाने ॥3॥

गरीबन काज बड़ा धनी है, बंदे कमीन कमीने ॥4॥”⁴²

सामान्य तौर पर भी देखा जाए तो यह ज्ञात होता है कि रामदास ने अपना हिन्दी काव्यकर्म अपने मठों में रहने वाले शिष्यों को दृष्टि में रखकर नहीं किया था। यह काव्यकर्म मराठी भाषा-भाषी प्रदेश के बाहर के पाठकों के लिए था। ऐसे में उनकी भाषा को देखकर अन्दाज़ा लगाना कठिन नहीं होगा कि यह पाठक मराठी भाषी पाठकों के अतिरिक्त रहे होंगे, क्योंकि उनकी हिन्दी काव्यभाषा में मराठी शब्दों की उपस्थिति अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों की अपेक्षा ही क्या, एक भी मराठी शब्द नहीं मिलता। यह अचरज का विषय नहीं है कि रामदास ने एक भी ठेठ मराठी शब्द का प्रयोग अपने हिन्दी काव्य में नहीं किया है।

रामदास सामान्य जनता से अधिक घुलने-मिलने वाले सन्त-भक्त नहीं थे। वे अपने समय-समाज से अपने मठों और उसमें बसनेवाले शिष्यों के माध्यम से सम्मिलित होते थे। उनके मराठी काव्य में विषय की माँग के अनुसार पुरुषता और खड्डग की खनखनाहट अधिक है। इसके स्थान पर हिन्दी काव्य में कोमलता और संवेदनशीलता अधिक है। उन्होंने अपने सबसे रचनात्मक समय में उत्तर भारत की विभिन्न यात्राएँ कर भाषा एवं समाज का अनुभव लिया था। ऐसे में उनका भावानुरूप भाषा का चुनाव उनके साहित्यिक संस्कार के अतिरिक्त सामाजिक जिम्मेवारी का प्रमाण है। जैसाकि उनके काव्य की वस्तु पर चर्चा करते समय उनके काव्य में आए मधुरा भक्ति, अराध्य की सर्वव्यापकता, सर्वसमानता आदि पर चर्चा की गई है। उनके हिन्दी काव्य में समझाने का स्वर अधिक देखने को मिलता है। मराठी काव्य की तरह वे अपने हिन्दी काव्य में उपदेश कम ही देते दिखाई देते हैं। ऐसे में इस काव्य की भाषा में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग विषयानुरूप कहा जाएगा। किन्तु यह बात तो माननी पड़ेगी कि जिस कोमलकान्त पदावली की चर्चा हम छायावाद के सन्दर्भ में करते हैं, उसका विषयानुरूप प्रयोग बहुत पहले रामदास ने अपने काव्य में किया है। भाषा के स्तर पर उनका काव्य अपने समाजदर्शन की भूमिका का निर्वहन करता दिखाई देता है।

रामदास के हिन्दी काव्य में लय का भी बहुत महत्व है। उन्होंने अर्थलय एवं शब्दलय पर बराबर ध्यान दिया है। उनके कुछ पद तो राग-रागिनियों में भी गाए जा सकते हैं और वैसे निर्देश भी पद के नीचे दिए गए हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि रामदास को शास्त्रीय संगीत का ज्ञान था, किन्तु इन हिन्दी कविताओं को देखकर ऐसा लगता है कि उन्हें संगीत की आरंभिक जानकारी तो रही होगी, अथवा उनके किसी शिष्य ने इन पदों को शास्त्रीय लय-धुनों में ढालकर गाया होगा और तत्पश्चात् लिपिकारों ने उसी क्रम में राग-सुर-लय का निर्देश कर दिया होगा। यह पद देखिए इसमें कैसी सुन्दरता के साथ अर्थ एवं शब्द लय का निर्माण किया गया है -

“रघुवर के दरबार घमडी दे गाजतु है। ॥धृ॥

तथ्यै थै थै पखवाज बाजतु है।

सुश्वर मुनिश्वर देखन आवतु है ॥1॥

नारद किन्नर सुरवर गावतु है।

शंख भेरी सुनिकै राम थरकतु है ॥2॥

लाल धुसर तबके उडावतु है।

रामदास तहाँ बलि जावतु है ॥3॥”⁴³

कविता में ‘घमडी’ अर्थात् नगाडे की धुन निर्माण की गई है। इसके लिए दो बार तुकों का आयोजन किया गया है। ‘तु’ एवं अन्त में ‘है’ के माध्यम से दो-दो तुकों का निर्माण किया गया है। अन्य वाद्यों की अपेक्षा नगाडे की ध्वनि अधिक कर्कश एवं पुरुषता लिए होती है। इसी कारण कविता में दन्त्य एवं तालव्य स्वरों का अधिक्य देखने को मिलता है। यही कारण है कि इस कविता को नगाडे की ध्वनि रचना जैसी लय आ पायी है। विशेषतः इस कविता के साथ राग-रागिनियों का निर्देश भी नहीं मिलता है।

रामदास के कविताओं की लय कविता की वस्तु के अनुरूप बदलती है। मधुरा भक्ति में वह कोमल हो जाती है, तो संदेश देते समय कभी-कभी वह सख्त हो जाती है। इसका रहस्य रामदास के

शब्द चयन में है। रामदास जानते थे कि उन्हें अपने भावानुरूप शब्दों का चयन करना पड़ेगा इस कारण उन्होंने अपने समय में प्रचलित फारसी शब्दों से भी परहेज नहीं किया और साथ ही देशज शब्द तो उनके साथ परम्परा में मौजूद थे ही। इस पर आश्चर्य हो सकता है अपनी मातृभाषा के शब्दों का कोई भी असर उनकी कविताओं पर दृष्टिगोचर नहीं होती है, किन्तु अपने समय-समाज में प्रचलित दक्खिनी के शब्दों का खुलकर प्रयोग उन्होंने किया है। रामदास की हिन्दी कविताएँ शब्द चयन में उनके अकुंठ भाव का परिचय देती हैं, वहीं उनका शास्त्रीय कसौटियों पर खरा उतरना उनके बहुज्ञता की ओर इंगित करता है। उनका शब्द चयन के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण ही उन्हें हिन्दुस्तानी लेखकों के इतिहास में आरंभिक प्रयोक्ताओं में लाकर खड़ा कर देता है।

5.10 बहेणाबाई की भाषा एवं शैली

एक तरफ यह माना जाता है कि सन्त-भक्त कवियों की कविताओं को संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिमानों पर मूल्यांकित नहीं किया जा सकता है और दूसरी तरफ ऐसा करने का बराबर प्रयास किया जाता है। कुछ इसी प्रकार का सफल प्रयास सौ. शालिनी जावडेकर ने बहेणाबाई की मराठी कविताओं के साथ-साथ हिन्दी कविताओं के सन्दर्भ में किया है। उन्होंने बहेणाबाई की कविताओं में शब्द योजना एवं अनुप्रास, सुन्दर चलच्चित्र, यमुना का व्यक्तिकरण, मनोहर शब्दचित्र, अनुप्रास, उपदेशपरक रचना आदि प्रतिमानों के अतिरिक्त विभिन्न अलंकारों के उदाहरण ढूँढ निकाले हैं जो निम्नवत हैं -

सुत मत कहो नंद । ब्रह्म सो येहि गोविंद है । (399) इसमें अपहनुती अलंकार है। 'आयेंगे कसबिखार' (390), 'माया परदा हुवा दूर' (403) में रूपकों की योजना अत्यन्त स्वाभाविक है। 'सूरज के बिंब अंधारे सोवे' एवं 'सुमिंदर तान्हों पीरत' में सूर्य व समुद्र पर चैतान्यारोप (पर्सनिफिकेशन) है। 'जनन मरन ये दोनो भाई, मोकले तन के साथ' (402) में कल्पना की नवीनता देखने मिलती है। (पृ.171) 'मरनधर' (402), 'तारनहार' (वही), 'हम तो निरंजनवासी' यह नागरबंध हैं।⁴⁴

हमारी दृष्टि में ऐसे सफल प्रयास किये जाने पर कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु इसे निर्धारणवादी दृष्टि से देखकर उसके काव्यत्व पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित करने नहीं चाहिए। जिन्हें श्रीमती जावडेकर नहीं किया हैं, जो सराहनीय है। जैसाकि बहेणाबाई के काव्य की विषय-वस्तु पर विचार करते समय सविस्तार उल्लेख किया है, उनकी सम्पूर्ण हिन्दी कविताओं में दो स्वर प्रमुखतः देखने को मिलते हैं - पहला कृष्ण कथा का संक्षिप्त रूप और दूसरा जहाँ वे अपनी बातों-अपने विचारों को बिना किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत करती हैं। इन दोनों काव्य-प्रकारों के अनुसार उनकी कविताओं के रूप पक्ष में भी स्वाभाविक अन्तर आ जाता है, जिन्हें केवल शास्त्रीय प्रतिमानों के आधारों पर समझना संभव नहीं हो पाता है।

कृष्ण कथा कुल 11 पदों कही गयी है। इस कृष्ण कथा में चार ऐसे पद हैं, जो कथा गायन के हेतु रचे गए होंगे। परिणामतः उसमें कोलमकान्त पदावली के समीप वाली शब्दावली का प्रयोग देखने को मिलता है। यह दिखाया जा चुका है कि बहेणाबाई ने मूल कथा में कोई नयी उद्भावना नहीं की है और पूर्ण कथा अतिसंक्षेप में आयी है। इस क्रम में उन्होंने कथा में अत्यन्त सूक्ष्म भावों का चित्रण भी किया है। कृष्ण जन्म के उपलक्ष्य पर ग्राम में आयोजित हो रहे महोत्सवों के माध्यम से ग्रामवासियों के

आनन्दोल्लास की ओर भी इंगित किया है। बहेणाबाई ने तर्कपूर्ण शैली में अपनी मूल्य दृष्टि के अनुसार यशोदा और नन्द के यहाँ उनके जन्म लेने के कारणों का भी बखान किया है।

बहेणाबाई के दूसरी प्रकार की कविताओं का रूप-विधान उनकी कृष्ण-जन्म-कथा वाली कविताओं से नितान्त भिन्न है। इन कविताओं की विषय-वस्तु, विचारधारा, कविता कहने का ढंग, कविताओं की भाषा, इतना ही नहीं भक्ति का आलंबन भी कई जगह पहले प्रकार की कविताओं से भिन्न तो क्या विपरित भी है। इन दूसरे प्रकार की कविताओं में बहेणाबाई तुकोबा की शिष्या के रूप में खुब सुहाती है। भाववाद मात्र भावनाओं की छाया में जीवित रह सकता है, तर्क के ताप को वह सह नहीं सकता। यहाँ बहेणाबाई बड़े तार्किक ढंग से बाह्याडंबरों के मार्ग पर चलनेवालों को खरी-खोटी सुना रही है, किन्तु साथ ही उन्हें अपने दिल की सुनने को भी कह रही है। जिस कारण भाषा में एक प्रकार की गति है, जिसे आक्रोश भी कहा जा सकता है। उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियों में इसे देखने पर अचरज हो सकता है कि एक स्त्री इस प्रकार की भाषा का भी इस्तेमाल कर सकती थी। दिल की सुनने में आर्थी व्यंजना है। कविता की किस पंक्ति में कितनी गहराई हो सकती है, यह उसके प्रयोग में आनेवाली सारी पंक्तियों के साथ पता चलता है। इसलिए कविता में शब्दों का सह-अस्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। बहेणाबाई हो या तुकोबा इनकी कविता में आए तथाकथित अक्षील शब्दों को उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ कविता के सम्पूर्ण सन्दर्भ में देखकर ही निर्णय करना होगा कि क्या उनके स्थान पर दूसरे शब्द रखे जा सकते हैं। संभवतः यह कविता के सन्दर्भ में रूपवादी रूझान हो सकता है, किन्तु क्या इससे इस कविता का समाजिक पक्ष और खुलकर सामने नहीं आएगा !

इसके अतिरिक्त बहेणाबाई की हिन्दी कविताओं में उनके नाथ पंथ पद्धतियों एवं उसकी शब्दावली से प्रभावित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। उनकी एक हिन्दी कविता तो पूर्णतः किसी नाथ पंथी की कविता जान पड़ती है। इस प्रकार बहेणाबाई की कविताएँ उनके विषय-वस्तु को पूर्णत्व प्रदान करने एवं उनकी सहायता के रूप में आती है। ऐसा किसी भी कविता को देखकर नहीं लगता है कि उन्होंने कहीं भी रूप-पक्ष पर विशेष ध्यान देकर अपनी कविताओं में नक्काशी करने का प्रयास किया हो। जो रूपगत विशेषताएँ उनकी कविताओं में आयी हैं, वह अनायास एवं प्राकृतिक स्वरूप में आयी हैं। संभवतः यही कारण हैं कि उनकी कविताएँ स्वाभाविकता लिए हुए हैं।

अध्याय का सारांश

मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का वस्तु एवं रूप के स्तर पर अध्ययन करने के पश्चात् हमारे समाने कुछ सारांश प्रस्तुत होते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि मराठी भक्ति आन्दोलन के ही साथ मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा हिन्दी में रचनाएँ लिखी जानी आरंभ होती हैं। इसका सबसे प्राचीन रूप हमें चक्रधर एवं महदंबा की कविताओं में मिलता है तथा बाद का रूप हमें तुकोबा-रामदास-बहेणाबाई के काव्य में मिलता है। जिस प्रकार मराठी भक्ति आन्दोलन ने अपनी लम्बी यात्रा के बीच में दो-ढाई सौ वर्षों का विराम लिया, उसी क्रम में इस क्षेत्र में हिन्दी रचनात्मकता भी प्रायः नहीं के बराबर हुई है।

नामदेव के पूर्व के रचनाकारों में भाषा का वह रूप मिलता है, जो हिन्दी प्रदेश के नाथ कवियों में मिलता है। इस क्रम में काव्यवस्तु में भी यहाँ पंथों के अनुसार भले ही बदलाव होता आया हो, किन्तु

कृष्णकथाओं पर काव्य लिखने की परम्परा लगातार चलती रही। यह भी ध्यान देने योग्य है कि पंथों के अनुसार कविताओं की काव्यवस्तु बदलती गई हो, किन्तु कृष्ण कथाओं में इन कवियों ने कृष्ण के बालक रूप एवं बाललीलाओं का लगातार चित्रण किया है। यहाँ गोपियाँ हिन्दी काव्य में बाद के समय में आती तो हैं, किन्तु उनका भी प्रायः भक्तश्रेष्ठों वाला ही रूप चित्रित किया गया है। कृष्णकथा में इन के कवियों का ध्यान कृष्ण चरित्र पर ही टिका रहा। ग्रामवासियों एवं यशोदा के भावों का चित्रण कुछ कवियों द्वारा संक्षिप्त रूप में किया गया है, किन्तु उसमें व्यापकता एवं गहराई का अभाव है। इस कारण परिवेश के प्रति उदासीनता इस कथा के क्रम में देखी जा सकती है। उनके कृष्ण अमुमन अराध्य ही है, इसका इन कवियों ने ध्यान रखा और आवश्यकता पड़ने पर उसका विशेष उल्लेख भी किया।

यहाँ कृष्ण विठ्ठल के पर्याय हैं, तो शिव में भी इन कवियों ने कोई भेद नहीं किया। उनके लिए कोई भी अराध्य कम या अधिक नहीं है। नामदेव एवं बाद के कवियों में निर्गुण ईश्वर का रूझान देखा जा सकता है, किन्तु सगुण-निर्गुण का वैसा भेद न उनकी मराठी कविताओं में है और न ही हिन्दी कविताओं में। यही कारण है कि उन्होंने शैव-वैष्णव ही नहीं, ईस्लामी परम्परा के नामों का भी प्रयोग अपनी हिन्दी कविताओं में किया है, इसके उदाहरण ज्ञानेश्वर से लेकर रामदास में देखे जा सकते हैं। नामों के प्रयोग में इसलिए भी भेद नहीं दिखाई देता है कि अधिकांश कवियों का पंथीय आधार वारकरी सम्प्रदाय से जुड़ा है और वहाँ हरि-हर ऐक्य पर अधिक बल दिया गया है। इस अर्थ में पंथीय संकुचन को यह काव्य अपने आप ही नकार देता है।

काव्य भाषा के स्तर पर इन कवियों को किसी भी एक भाषा या बोली क्षेत्र के काव्य से नहीं जोड़ा जा सकता है। इनमें से कई कवियों को दक्खिनी, अरबी, फारसी, ब्रज, मराठी, गुजराती आदि परम्पराओं के शब्दों को अकुंठ भावों से स्वीकारते हुए देखा जा सकता है। भक्ति आन्दोलन के विकास के साथ-साथ इन कवियों के रूप-पक्ष में विकास होता गया। आरंभ में नाथों द्वारा प्रयुक्त लय एवं छन्द का प्रयोग लक्षणीय है। बाद के समय में अभंग से लेकर दोहा तक का प्रयोग देखा जा सकता है, अपनी तमाम असफलताओं के साथ। एकनाथ ने लोकधुनों एवं काव्य प्रकारों का प्रयोग करते हुए पहली बार कवि एवं श्रोता-पाठक के बीच पात्रों को खड़ा करने का प्रयास किया। उनसे पहले के काव्य में रचनाकार एवं पाठक-श्रोता के बीच में कोई धुरी नहीं थी, उन्होंने पात्रों के माध्यम से बात कहने का प्रयास किया है, किन्तु यह प्रवृत्ति बाद के कवियों ने स्वीकार नहीं की है। इसी प्रकार एकनाथ ने अपने पात्र चयन के माध्यम से अपने युगीन उन पात्रों का चुनाव किया, जो मनोरंजन के माध्यम मात्र माने जाते थे। तुकोबा ने अभंगों के साथ-साथ दोहा छन्द का प्रयोग कर काव्य रूप के स्तर पर इसे सफल बनाने का प्रयास किया। उन्होंने एकनाथ से हटकर गौळणों में बिना किसी लाग-लपेट के अपनी बात को प्रस्तुत किया, तो अपने मराठी काव्य के ताप को कायम रखते हुए दोहों में युगीन चेतना को जागृत करने का प्रयास किया। बहेणाबाई ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। तुकोबा-रामदास-बहेणाबाई के बाद लिखित हिन्दी काव्य में भक्ति तो देखी जा सकती है, किन्तु उसकी आन्दोलनधर्मिता यहीं-की-यहीं रह गई।

सन्दर्भ संकेत

- ¹ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.84
- ² तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ.304
- ³ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.86
- ⁴ तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ.304
- ⁵ वही, पृ.वही
- ⁶ वर्मा, धीरेन्द्र : *हिन्दी साहित्य कोष, भाग-1*, पृ.248 के आधार पर यह विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अधिक जानकारी के लिए देखें 'भारत कोष' में "चोपाई"।
- ⁷ शर्मा, श्रीराम : *दक्खिनी का हिन्दी साहित्य*, पृ.92
- ⁸ इस सन्दर्भ में संक्षिप्त जानकारी यशवंत खुशाल देशपांडे ने अपने ग्रंथ '*महानुभावीय मराठी वाङ्मय*' में दी है।
- ⁹ नसिराबादकर, ल.रा. : *प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास*, पृ.45
- ¹⁰ वही, पृ.वही
- ¹¹ तुळपुळे, शं.गो. : *महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय*, पृ.197
- ¹² वही, पृ.वही
- ¹³ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.238
- ¹⁴ सिंह, महीप : *आदिग्रंथ में संगृहित सन्त कवि*, पृ.50
- ¹⁵ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.140
- ¹⁶ वही, पृ.142
- ¹⁷ पंडित, सदाशिव प्रभाकर : *मराठी सन्तों का हिन्दी काव्य*, पृ.86
- ¹⁸ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.140
- ¹⁹ वही, पृ.138
- ²⁰ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.284
- ²¹ वही, पृ.285
- ²² वही, पृ.283
- ²³ www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र.16
- ²⁴ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.168
- ²⁵ वही, पृ.165
- ²⁶ पंडित, प्रभाकर सदाशिव : *मराठी सन्तों का हिन्दी काव्य*, पृ.46
- ²⁷ www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र.17
- ²⁸ वही, कविता क्र.17
- ²⁹ वही, कविता क्र.18
- ³⁰ वही, कविता क्र.19
- ³¹ वही, कविता क्र.19 और 20
- ³² वही, कविता क्र.25
- ³³ वही, कविता क्र.20
- ³⁴ वही, कविता क्र.24
- ³⁵ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.167
- ³⁶ www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र.13
- ³⁷ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.167
- ³⁸ www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र.34
- ³⁹ www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र.46
- ⁴⁰ www.tukaram.com/hindi/tukaramji_hindi.asp, कविता क्र.55
- ⁴¹ शर्मा, विनयमोहन : *हिन्दी को मराठी सन्तों की देन*, पृ.166-67
- ⁴² वही, पृ.344
- ⁴³ वही, पृ.वही
- ⁴⁴ जावडेकर, शालिनी : *संत वहेणाबाईचा गाथा*, पृ.172

षष्ठम अध्याय

परवर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाएँ : विविधांगी अध्ययन

यह कोई 'फुटकल खाता' नहीं है। यहाँ परवर्ती कवियों से तात्पर्य है, वे कवि जिन्होंने हिन्दी में अपनी रचनात्मकता प्रस्तुत की और उन्हें कई मायनों में सन्त-भक्त कवि कहा जा सकता है, किन्तु उनका भक्ति आन्दोलन से वही संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता है, जो तुकोबा या रामदास का है। यही कारण है कि इन परवर्ती कवियों की कविताओं के वस्तु और रूप का विश्लेषण अलग से किया जा रहा है।

6.1 दासपंचायतन का हिन्दी काव्य

श्रीजयरामस्वामी वडगावकर, रंगनाथस्वामी निगडीकर, आनन्दमूर्ति ब्रह्मानाळकर, केशवस्वामी भागानगरकर और समर्थ रामदास को 'दासपंचायत' कहा जाता है। इनमें से श्रीजयरामस्वामी वडगावकर की शिष्यपरम्परा जंगमों में गिनी जाती हैं। इनके गुरु का नाम कृष्णस्वामी था। कृष्णस्वामी के गुरु शांतलिंगाप्पा कट्टर शैव थे जिन्होंने शैव-वैष्णव कलह को शान्त किया था। आनन्दमूर्ति ब्रह्मानाळकर के गुरु कोई रघुनाथ स्वामी थे। अन्य दो कवियों रंगनाथस्वामी निगडीकर एवं केशवस्वामी भागानगरकर ने हिन्दी में रचना की है, अतएव हम इनके सम्बन्ध में सविस्तार जानकारी आगे लेने ही वाले हैं, किन्तु ये दोनों भी रामदास के शिष्य नहीं थे। अर्थात् ये चारों सन्त-भक्त रचनाकार समर्थ रामदास के न तो शिष्य थे और न ही उनकी मठ परम्परा से सम्बन्धित थे। ऐसे में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि इन चारों कवियों को मिलाकर समर्थ रामदास के साथ मिलाकर 'दासपंचायतन' क्यों कहा जाता है?

इसी प्रश्न का विचारधारा की दृष्टि से भिन्न उत्तर मराठी साहित्य के आद्यइतिहासकार विनायक लक्ष्मण भावे ने इन शब्दों में दिया है - "जयराम, रंगनाथ, आनन्दमूर्ति व केशवस्वामी इन चारों को रामदास स्वामी के साथ कल्पना कर पाँचों को 'रामदासपंचायतन' कहने की प्रथा महाराष्ट्र में है। किन्तु इन चारों को इस प्रकार क्यों मिलाया गया, इसका पता नहीं। रामदास की तरह स्वदेश और स्वराज्य के लिए प्रयासपूर्ण कार्य इनमें से किसी के भी द्वारा किया जाना प्रसिद्ध नहीं है। रामदास का रूबाब इनमें नहीं है और रामदास जैसी भाषा तो इनकी है ही नहीं। इनमें से किसी ने मठों का जाल नहीं फैलाया या फिर शिष्य-प्रशिष्यों की फसल भी नहीं उगाई। लेखन व्यवसाय में भी ये पीछे ही दिखाई देते हैं। रामदास के वाङ्मय की पोथियों से कई अलमारियाँ भरेंगी, किन्तु इन सभी के ग्रंथों का पोथा बना दिया जाए तो एक बड़ी सी अलमारी का एक भाग भी नहीं भरेगा।"¹

इतिहासाचार्य के इन तर्कों के आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह सही है कि साहित्यकार का स्वराज्य और स्वदेश के लिए बहुत कुछ करना अनिवार्य होता है, किन्तु यह तर्क यदि प्रस्तुत रूप से कबीर, जायसी, तुलसीदास, निराला, प्रेमचन्द आदि रचनाकारों पर लगाया जाए तो, हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह रचनाकार सबसे निचले क्रम में रखे जाएँगे, क्योंकि प्रस्तुत रूप से इन्होंने राजकीय इतिहास में शायद ही कोई भागीदारी की है। इतिहासाचार्य इस तथ्य से बेहतर वाकिफ़ होंगे कि एक राजनेता और एक साहित्यकार के सामाजिक अवदान में काफी अन्तर होता। एक राजनेता या राजकीय कार्यकर्ता राजनीति के माध्यम से सामाजिक

कर्तव्यों का पालन कर सकता है, किन्तु वही कार्य रचनाकार सांस्कृतिक मार्ग से करता है। गाँधी, अंबेडकर, भगतसिंह जैसे विरल लोगों में यह दोनों रूप देखने को मिलते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ इतिहासाचार्य रामदास के रचनाकार रूप की अपेक्षा उनके राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप से दासपंचायतन के अन्य चार कवियों के रचनाकार रूप से तुलना कर रहे हैं। रही बात 'शानदारपना' और रचना में 'भाषा' की, क्या भूषण, केशव आदि रीतिकालीन कवियों की काव्यभाषा कबीर, तुलसीदास से किस मायने कम है? किन्तु हम इन सारे कवियों को एक ही खाँचे में डालकर उनकी तुलना नहीं कर सकते हैं, और न ही इनकी तुलना करना हमें अपेक्षित होगा। सामाजिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक इतिहास में इन कवियों का योग अपने-अपने स्थान पर रखकर मूल्यांकित किया जाना चाहिए, न कि इनके साहित्य, व्यक्तिगत और राजकीय जीवन का घालमेल कर इन कवियों के आवदान की तुलना करनी चाहिए।

तुलना साहित्येतिहास की अनिवार्यता है। इसी से साहित्य के इतिहास में हम कवियों का स्थान निर्धारण कर अन्य समाज के आगे हम अपना साहित्यिक प्रतिनिधि चुनते हैं। रचनाकारों की तुलना में हमारे मूल्यों का हावि होना भी स्वाभाविक है, किन्तु मूल्यों के कारण साहित्य की सामाजिक जड़ों पर चोट करना, जिस डाल पर बैठे उसी को काटने के समान होता है। व्यक्तिगत राग-द्वेष या राजनीतिक प्रतिबद्धता के चलते किसी रचनाकार को निचा दिखाने के या किसी विशिष्ट रचनाकार को बहुत महान दिखाने के क्रम में तुलना करना ओछी मानसिकता का परिचायक है और इसे हम मिश्र बन्धुओं तक ही छोड़ दे तो बेहतर होगा। तुलना रचनाओं और रचनाकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों के आलोक में होनी चाहिए, रचनाकार के वैयक्तिक जीवन के आधार पर नहीं। फलौ रचनाकार को बचपन में गुड़ खाने नहीं मिला इसलिए उसने ऐसी कविता लिखी और फलौ को चीनी खाने मिली इसलिए उसने ऐसी कविता लिखी, जैसे वाक्य बीमार मानसिकता से उपजते हैं। इससे वैयक्तिक स्वार्थ तो पूरा किया जा सकता है, किन्तु साहित्य का शायद ही कोई भला हो सके। इतिहासाचार्य वि.ल.भावे द्वारा यहाँ रामदास से की गई रंगनाथ और केशवस्वामी की तुलना हो या अन्यत्र तुकोबा से की गई तुलना हो, यह दोनों प्रसंग उनके इतिहासग्रंथ में नहीं भी होते, तो इससे मराठी साहित्येतिहास लेखन में कोई कमी न रह जाती।

एक अन्य बात वि.ल.भावे ने 'मठों के स्थापना और शिष्यों-प्रशिष्यों की फसल उगाने' की कही है। इस सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ज्ञानेश्वर-कबीर-तुकोबा के कितने मठ थे? रैदास-जायसी-सूरदास-तुलसीदास के कितने शिष्य थे? मठों की स्थापना और शिष्यों की संख्या के आधार पर सन्त-भक्त कवियों का नहीं, राजनेताओं और प्रोफेसर्स का मूल्यांकन किया जाता है, जो सामाजिक से अधिक आर्थिक कार्य हैं। कबीर और तुकोबा जानते थे कि यही मठसंस्था हमारे जड़त्व का कारण है। ज्ञानेश्वर यदि चाहते, तो महामठ की स्थापना कर सकते थे। तुकोबा इतने लोकप्रिय थे कि यदि वे चाहते, तो सारे समाज को मठ में तब्दिल कर सकते थे। भले ही रैदास आज मन्दिरों में कैद कर दिए गए हो, किन्तु उन्होंने अपनी कोई गद्दी नहीं चलाई। नानक के पंथ को आज भले ही सम्प्रदाय का रूप दे दिया गया हो, किन्तु उन्होंने किसी मठ या गुरुद्वारा कमेटी की स्थापना नहीं की थी। ऐसा नहीं था कि ये सन्त-भक्त मठों के सन्दर्भ में जानते नहीं थे। मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में महानुभावों ने मठों की परम्परा को जिलाकर विकसित किया था। उत्तर में भी रामानन्दी और बाद में विठ्ठलनाथ के मठों के

उल्लेख मिलते हैं। तुकोबा ने जिस मन्दिर की स्थापना की थी, उसे भी वे सार्वजनिक क्षेत्र के रूप में ही विकसित होते देखना चाहते थे और अपने जीवनपर्यन्त उन्होंने ऐसा किया भी। यदि तुलसीदास चाहते, तो उनके चाहनेवाले उनके लिए राम का भव्य-दिव्य मन्दिर बनवा देते। यह सन्त-भक्त कवियों की तरफ देखने के वह दृष्टिकोण है, जिसके तहत ये रचनाकार या तो राजनेता थे या फिर धर्म की सेवा करनेवाले मठाधीश या महन्त। भक्तिकाव्य ने हमेशा रूढ़ियों का विरोध किया है, जिसमें रूढ़ प्रतीक व्यवस्थाओं का विरोध भी सर्वप्रमुख है। यदि इस बात को इतिहासाचार्य ध्यान में रखते, तो संभवतः ऐसा विचार उनके मस्तिष्क में मठाधीश बनकर न बैठता।

एक अन्य प्रतिमान के रूप में इतिहासाचार्य ने यह प्रस्तुत की कि रामदास ने बहुत सारा साहित्य लिखा और अन्य चार कवियों ने उनकी अपेक्षा बहुत ही कम। यदि इसे मान लिया जाए तो उनकी अपेक्षा एकनाथ ने अधिक साहित्य लिखा और उनसे भी अधिक तुकोबा ने लिखा। इतना ही नहीं तुकोबा से भी अधिक शाहिरी परम्परा के कवियों ने लिखा, तो क्या इस आधार पर उन्हें क्रमशः बड़ा कवि मान लिया जाए? किन्तु वे इन सारे प्रतिमानों को किसी और कवि में चरितार्थ होते देखते भी हैं, तो भी उन्हें अनदेख कर देते हैं, क्योंकि उनकी आँखों पर अंधराष्ट्रवाद का चष्मा और उनके विशिष्ट संस्कारों की पट्टी जो बँधी थी।

‘दासपंचायतन’ के ये अन्य चार रचनाकार रामदास के साथ इसलिए जोड़ दिए गए हैं क्योंकि इनमें कुछ समान सूत्र थे। जैसे इन सबकी विचारधारा में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। आनन्द सम्प्रदाय रामदासी सम्प्रदाय से केवल अपने नाम के क्षेत्र में ही मौलिकता लिए हुए था। इनमें से केशवस्वामी के चार गुरुपरम्पराओं के होने का उल्लेख र.रा.गोसावी ने किया है।² वि.ल.भावे के अनुसार, “कहा जाता है कि इन्हें काशीराज स्वामी का अनुग्रह प्राप्त था।”³ इनमें से एक भी रामदास के शिष्य न होते हुए भी दासपंचायतन में इन्हें स्थान दिया जाना और स्वयं रामदास के एक भी शिष्य को इसमें सम्मिलित न किया जाना, इसी ओर इंगित करता है कि यह मात्र एक रूढ़ि के रूप में प्रसिद्ध हो गयी घटना है कि यही रचनाकार इस समूह में शामिल किए गए हैं। इसका उत्तर इस प्रकार भी दिया जा सकता है कि “दासपंचायत में समाविष्ट होनेवाले साधुपुरुष समर्थ साम्प्रदायिक न होकर समर्थ के नित्य सहावासी, समर्थ को पूज्य माननेवाले सहृदय थे। उनकी गुरुपरम्पराएँ भी भिन्न थी। समर्थ की प्रभाव छाया में उनका साधुत्व और कवित्व सिद्ध हुआ। इसलिए दासपंचायतन की संकल्पना रूढ़ हुई।”⁴ अतः इन दोनों रचनाकारों का एक-एक हिन्दी पद प्राप्त होता है। हम इनमें से सर्वप्रथम रंगनाथ स्वामी का परिचय प्राप्त करेंगे और तत्पश्चात् केशवस्वामी का। इसके बाद क्रमशः दोनों रचनाकारों की मराठी-हिन्दी रचनात्मकता पर दृष्टिक्षेप करेंगे।

6.1.1 रंगनाथ स्वामी

रंगनाथ स्वामी को आनन्द सम्प्रदायी मानते हुए उनकी गुरुपरम्परा वि.ल.भावे ने इस प्रकार बताई जाती है : “विष्णु-विधि-अत्रि-दत्त-सदानन्द-रामानन्द-अमलानन्द-गभीरानन्द-ब्रह्मानन्द-सहजानन्द-पूर्णानन्द-निजानन्द-रंगनाथ।”⁵ श्रीमान भावे जी के साक्ष्य के आधार पर आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भी यही गुरु परम्परा दी है।⁶ निजानन्द का पूर्वश्रमी का नाम बोपाजी था, जो रंगनाथ स्वामी के पिता भी थे। निजानन्द के गुरु पूर्णानन्द एकनाथ के समकालीन थे, उन्होंने “शिवपार्वती परिणय” नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें उन्होंने पौराणिक कथा का आधार लेकर

उसे आध्यात्मिक अर्थ में प्रस्तुत किया है। पूर्णानन्द के शिष्य निजानन्द का भी थोड़ा-बहुत साहित्य उपलब्ध है।⁷ वि.ल.भावे ने रंगनाथस्वामी के जीवन का सविस्तार परियच दिया है। उन्होंने लिखा है, “रंगनाथ स्वामी के पितृपरम्परा के मूल पुरुष का नाम राघोपंत और कुलनाम खडगे था। वे मध्यदिन शाखा के वसिष्ठ-गोत्री ब्राह्मण थे। राघोपंत बिजापुर के दरबार में सिपाही का काम करते थे। उनके पुत्र दत्तात्रय ने सन्यासी दीक्षा ग्रहण की थी। इस दत्तात्रय के पुत्र का नाम रंगोपंत था, जिसे चार पुत्र थे। इन्हीं चारों में से दूसरा पुत्र बोपाजी था। बोपाजी की पत्नी का नाम अर्थात् रंगनाथ स्वामी की माता का नाम बयाबाई था। पूर्णानन्दस्वामी के प्रसाद से इस दंपत्ती को यादव, रंगनाथ और विठ्ठल नामक तीन पुत्रों का लाभ हुआ, जिनमें से मँझले रंगनाथ का जन्म शके 1534 मार्गशीर्ष शु. दशमी (सन 1612) को हुआ। बचपन से ही रंगनाथ को सिपाही बनने का शौक था और इसी कारण उन्होंने विवाह करने से मान कर दिया। चौदह वर्ष की आयु में ही उन्होंने गृहत्याग कर दिया। कई वर्षों तक बद्रीकाश्रम में रहकर विद्यासंपादन कर घर लौट आए। इनके घर लौटते ही बोपाजीपंत के मन में आया कि अपने सभी आश्रम पूर्ण हो गए हैं, अतः मुझे चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर जीवन को सार्थक कर लेना चाहिए। इसी विचार को मन में रखकर श्रीक्षेत्र करहाटक अर्थात् कर्हाड ‘जाकर पुत्रसहित। आश्रम चतुर्थ किया संपादित। (जावोनि पुत्रासहिते। आश्रम चतुर्थ संपादिला) और उसके बाद वे अपने देह को निजानन्द कहने लगे। कुछ ही दिनों बाद रंगनाथ आदि त्रिवर्गबन्धुओं ने अपने पिता अर्थात् निजानन्द से दीक्षा ग्रहण की। रंगनाथ स्वामी की आयु तीस वर्ष की होने के पश्चात्, अर्थात् शके 1564 (सन 1642) के मार्गशीर्ष महिने में निजानन्द ने अपने पुत्रों के अनुमोदन से कृष्णा व कोयना नदियों के संगम घाट पर जिवित जलसमाधी ले ली।”⁸

“पिता के जलसमाधी लेने के पश्चात् रंगनाथ स्वामी अधिकतर निगडी (जिला सातारा) में ही रहने लगे। उनके थाट ऐश्वर्यपूर्ण थे। साथ में लंगोटबंद शिष्यसमुदाय और भागम्मा और चन्द्रम्मा शिष्या सदा रहती। इनकी मनोहर नाम का एक बेहतरीन घोड़ा था। ये कभी सुखपाश में जकड़े नहीं गए।”⁹ रंगनाथ स्वामी के जीवन सन्दर्भ में ठीक यही जानकारी मराठी के आधुनातन इतिहासकार प्र.न.जोशी ने अतिसंक्षिप्त रूप में दी है। उन्होंने इसमें केवल तीन तथ्यों में परिवर्द्धन किया है - एक ‘रंगनाथ स्वामी को बचपन से सिपाही बनने का शौक था’ के स्थान पर उन्होंने लिखा, ‘रंगनाथ स्वामी को आरंभ से ही घोड़े पर बैठने का बहुत शौक था।’ दूसरा तथ्य उन्होंने जोड़ा कि ‘पूर्णानन्दस्वामी का मठ कल्याणी में था’।¹⁰ अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् रंगनाथ स्वामी ने अपने मठ और शिष्यसमुदाय निगडी के स्थलान्तरित कर लिया था, जिसके कारण उनके नाम के आगे ‘निगडीकर’ (निगडीवाले) भी जुड़ गया। ध्यान देने की बात है कि इससे पूर्व किसी भी सन्त के नाम के आगे अपने गाँव या कुल का नाम नहीं लगाया था, हरेक सन्त का नाम एकल ही था। ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकोबा हो या हिन्दी के कई सन्त-भक्त कवि हो, उनके नाम के आगे या पीछे कोई विशेषण नहीं लगा है। इसका कारण है सन्त-भक्त कवि सारे समाज के थे, किसी विशिष्ट वर्ग, जाति या स्थान विशेष तक वे सीमित नहीं थे। न उनके चाहने वालों ने, न उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने और न उनके भक्तों ने उनके नाम के साथ कोई अन्य संज्ञा जोड़ी। यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता किन्तु रंगनाथ स्वामी, केशवस्वामी अपने नामों के साथ स्थानों की संज्ञा जोड़नेवाले पहले-पहल रचनाकार हैं। उन्होंने ऐसा

कर एक नई परम्परा का आरंभ किया, जो मराठी साहित्य में आज भी एक रूढ़ी के रूप में उपस्थित है। किसी भी आधुनिक रचनाकार का पूर्ण नाम लिखने की रूढ़ी यहाँ प्रचलित हो गई है।

प्रायः प्रत्येक सन्त-भक्त रचनाकार की भाँति रंगनाथ स्वामी के सन्दर्भ में विशिष्ट मूल्यों को सम्प्रेषित करनेवाली कथाएँ मौजूद रही होंगी, जिनमें से एक का उल्लेख श्री भावे ने किया है और उन्हीं के साक्ष्य के आधार पर बाद के समय में आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भी किया है। वह कथा इस प्रकार है, “एक बार एक स्त्री ने इनसे एकान्त में मिलने आयी और इसने प्रियसी भाव से मिलन-कामना का हठ करने लगी। स्वामी जी ने अनेक प्रकार से समझाया, पर उसे इनकी कोई भी बात समझ में नहीं आयी। अन्त में स्वामीजी ने उससे कहा कि मैं तुझसे अमुक समय में मिलूँगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता, वह व्याकुल होती जाती। व्याकुलता में वह इतनी तन्मय हो गई कि उसे भान ही न रहा कि कब रंगनाथ उसके पास आकर बैठ गए। जब उसकी दृष्टि महाराज पर पड़ी, तब उसका सारा विकार चला गया और वह स्वस्थ हो गई। रंगनाथ स्वामी ने उसे अपनी शिष्या बना लिया।”¹¹

इस पूरे प्रसंग की व्याख्या करते हुए श्री भावे ने इसमें अभिव्यक्त मूल्यों को रंगनाथ स्वामी के साहित्य से जोड़ते हुए लिखा है, “कुछ भी हो इसमें कोई शंका नहीं कि रंगनाथ की कान्ति सतेज थी और यही कान्ति और तेज उनकी वाणी में भी मिलता है। रामजन्म के पूर्व कौशल्या के गर्भवती होने के पश्चात् राजा दशरथ ने उनसे पूछा, तुम्हें कैसा महसूस हो रहा है, तब कौशल्या ने कहा, ‘सुरों को उनके सही स्थान पर स्थापित करेंगे, असुरों को दंड देंगे। पाखण्डियों, विद्रोहियों, मदमस्त तथा कुमतों को मिटा देंगे। सत्कर्म हरिभक्ति विरक्ति का संपादन करेंगे। शोक, अविवेक समूल तोड़ देंगे। सत्य के लिए छत्रछाया देंगे, दुष्टों को जला देंगे। गो ब्राह्मणों के मूल्यों का पूर्णतः पालन करेंगे। दीन, अनाथ और गतिहीनों के लिए कृपालू। देकर अन्न-धान्य-कंचन आतिवाद को टाल देंगे। पीड़ित प्रजा को मुक्त करेंगे। वेदानुवादक और विधि को दुषित करनेवालों को मार देंगे। माता-पिता सुजन, भाविक और भक्तों की निंदा करनेवाले अघोरियों को यमपुरी भेज देंगे।’ कौशल्या की गर्भावस्था को कारण बनाकर रामचरित्र का सरस चित्रण किया गया है। रचना का यही ठाठ रंगनाथ के ‘गजेन्द्रमोक्ष’ में भी आया है।”¹² वि.ल.भावे ने रंगनाथ के “गुरुगीता, सुदामचरित्र, शुकंभासंवाद, पंचीकरण, भानुदास चरित्र व योगसिष्ठसार आदि अनेक ग्रंथ”¹³ होने का उल्लेख किया है। प्र.न.जोशी ने इनके अतिरिक्त “राजजन्म, गजेन्द्रमोक्ष, निजानन्दसाधने, मिथ्यामायस्वरूप, एकाखडी, बद्धमोक्षविवरण, गरुडसत्यभामागर्वहरण”¹⁴ ग्रंथों का उल्लेख किया है। श्री भावे ने तो यहाँ तक लिखा है कि “उनके वंशजों के अनुसार उनका बहुत सारा कृतित्व निगडी के मठ में आग लग जाने से अग्निमुख में समा गया। बहत्तर वर्ष की आयु में शके 1606 (सन 1684) रक्ताक्षी संवत्सर मार्गशीर्ष वद्य दशमी को रंगनाथ स्वामी समाधिस्थ हुए।”¹⁵

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने स्रोत का उल्लेख किए बगैर रंगनाथ स्वामी का एक पद दिया है। उनके अनुसार रंगनाथ स्वामी का एक ही पद प्राप्त होता है। यदि श्री भावे की बात मान ली जाए तो मठ की अग्नि में रंगनाथ स्वामी की और भी हिन्दी रचनाएँ रही होंगी, जो अब अग्निमुख में समा गई हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा दिया गया पद इस प्रकार है -

“देखा नाथ गोपाला जग मो (ध्रुवपद)

कुलयुग स्थाने ले अवतार, आप रूप अविनाशी

चारो मुक्ति सेवा करती, होकर उनकी दासी
घट पर घट मों आप रमें हैं, आप गुरु आप चेला
जोग जुगत में हमेसा खेले, झूठे घर में झूले
छह अठरा का विचार लेकर, पंडित होकर भूले ?
सब संतन मो नाथ रंगेली ।
रंगनाथ जन गुरु बन ले, आप दुजा नहि कोई
अंदर बाहिर भज ले भाई, रूप रेखा नाहीं ।
गुरु नाम का धोंसा बाजे, निरगुन खेल खेला जग मो ॥¹⁶

संभवतः इस पद में आए विभिन्न विचारों के मिश्रण को देखते हुए आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इसके सन्दर्भ में कोई मत प्रकट नहीं किया है। पद के पूर्वार्द्ध में ईश्वर की सर्वव्यापकता, उसके अविनाशी होने का, अवतार लेने का, सबका मालिक होने का, आप ही गुरु-चेला होने का उल्लेख किया गया है। चार पंक्तियों के बाद कथ्य अचानक बदल जाता है, जैसे यहाँ से दूसरी कविता आरंभ हो रही हो। आरंभिक चार पंक्तियों को एक पद मानकर उन्हें अलग से पढ़ा जाने पर भी सम्पूर्ण पद के कथ्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ेगा। आगे की दो पंक्तियों का न केवल कथ्य पहली चार पंक्तियों से भिन्न है, अपितु उसके लहजे एवं पाठकोन्मुता में अलगाव आ गया है। यह दो पंक्तियाँ भी अलग से एक स्वतंत्र कविता के रूप में पढ़ी जा सकता हैं। इन दो पंक्तियों का लहजा ऐसा है कि वह सीधे पाठक से संवाद स्थापित कर रही हों, जो आरंभिक चार पंक्तियों से नितान्त भिन्न है। जहाँ आरंभिक चार पंक्तियों में निजी भक्ति भावों एवं विश्वासों की अभिव्यक्ति की गई है। उसके ठीक बाद की दो पंक्तियाँ पाठकों को संबोधित कर रही हैं, उनसे प्रश्न पूछ रही हैं कि योग आदि में जो तुम खेल खेल रहे हो वह बेकार के पचड़े में पड़ना है, यदि तुम्हें ऐसा लगता है कि षट् विकारों आदि विचारों को जानकर यदि तुम पंडित हो गए हो तो तुम भूल कर रहे हो। इसके बाद आनेवाली एक पंक्ति स्वतंत्र रूप में एक मुहावरे की तरह सम्पूर्ण भक्तिकाल में उपयोग में लायी गई है। सभी सन्तों में अराध्य का रंग मिलता है। वारकरी सम्प्रदाय ने तो साधारण-असाधारण सभी भक्तों, सन्तों एवं ईश्वर के अन्तर को ही मिटाने का प्रयास किया गया। इसी को सन्तों तक सीमित कर यहाँ रंगनाथ ने प्रस्तुत किया है।

इसके बाद की दो पंक्ति में रंगनाथ फिर से अपने पाठकों की ओर मुख करते हैं और उन्हें गुरु बना लेने की सलाह देते हैं। आप से दुजा कोई नहीं होता है, क्योंकि अन्दर और बाहर वही समाया हुआ है, जिसकी कोई रूप-रेखा नहीं है। यहाँ आकर कविता में विरोध का भास होने लगता है, क्योंकि आरंभिक चार पंक्तियों में जिस प्रकार अवतारवाद पर विश्वास जताया गया है, उसी क्रम में अन्तिम तीन-चार पंक्तियों में स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है कि उस अराध्य की कोई रूप-रेखा नहीं है !! इसलिए आरंभ में ही कहा गया है कि कविता में विचारों की एकता का नितान्त अभाव है। कवि किस परम्परा से जुड़ना चाहता है, यह स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है विचारों एवं विचारधारा से वह आतंकित होकर या तो उससे वह बचना चाहता है या फिर वह अपनी समकालीन तमाम विचारधारों से एक साथ जुड़ना चाहता है। संभवतः यही कारण है कि कविता के आरंभ में प्रकट किए गए विचार को वह सैद्धान्तिक स्तर पर उसी कविता में दूसरे विचार के द्वारा नष्ट कर रहा है। कवि ने कविता के अन्त में स्पष्ट कहा है कि 'निरगुन खेल खेला जग मो'।

एक ही कविता में एक ओर निजी भक्ति भावों के लहजे में अपने अराध्य सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है, तो दूसरी ओर पाठक को उपदेश देने का भी प्रयास किया गया है। दार्शनिक स्तर पर सगुण एवं निर्गुण को भी एक साथ कविता में प्रस्तुत किया गया है। स्पष्ट रूप से कविता में आया 'गोपाला' विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है। गुरुपरम्परा एवं पंथीय परम्परा के रूप में भी रंगनाथ वैष्णवों में राम भक्ति शाखा से सम्बन्धित माने जा सकते हैं और उन्होंने अपनी एकमात्र हिन्दी कविता में 'गोपाल' का उल्लेख भी विष्णु के अर्थ में किया है।

पंजाबी सूफी कवि फरीद ने एक कविता में अप्रस्तुत अराध्य को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। फरीद ने अपनी 'हुस्ने हकीकी' शीर्षक कविता में 'हुस्ने हकीकी नूर-ए-अज़ल' को क्या-क्या कहा जा सकता है, इसका बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण किया है। फरीद ने स्वयं अराध्य से प्रश्न पूछा है कि तुझे क्या-क्या कहूँ, हैवान-इन्सान-ईन्सान की रूह-शिव-पार्वती-विष्णु-मनुष्य का धर्म-अविनाश-गुरु-मंत्र-कलमा-अर्श-अबलाक-मन्दर-मस्जिद-दैर-पोथी-कुरआन-कुफ्र-ईमान-बादल-बरखा-गाज-बिजली-शरथ-लच्छमन-राम-सीता की जननी-बलदेव-जसोदानन्द-किश्र-कन्हैया-कान्हू-बरहमा-बिश्र-गनेश-महादेव-भगवान-बेद का भेद-ज्ञान-अज्ञान-नूह-ईबराही-बावशीष-मूसा बिन ईमरान-हर दिल दा दिलदार-रहेमत आली शान-सुरती-बिड़ा-पान-तबला-तंबुर-मोदक-सुर-तान-हुस्न का हर सिंगार-ईश्क-ईल्म-गुमान-हैरत और हैरान-तस्लिम और तल्विन-हरगिज़ ना फरमान-तीर और कमान-बेरंग-बेसुरत-रहेमान-सम्भान-अर्शें नूँ पर नुक्कार-अलख-बेऐब-भक्त पै नाम निशान आदि-आदि बता तुझे क्या कहूँ?'¹⁷ फरीद ने कई विरोधी वस्तुओं-व्यक्तियों की संज्ञाओं से अपने अराध्य संबोधित किया है। निर्माता और निर्माण, जननी-जनक और आपत्य सभी कुछ वही है, सबमें वही है।

ठीक इसी प्रकार कबीर ने भी अपनी एक कविता में अपने अराध्य को सर्वव्यापी मानते हुए लिखा है -

‘इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
खाली पूर्ण जगत के माही व्यापे तू का तू,
हाथी में हाथी बन बैठा, किड़ी में है छोटा तू,
होय महावत ऊपर बैठे हाकण वाला तू का तू,
चोरों के संग चोरी करता, बदमाशों में बैठो तू,
चोरी करके तू भग जावे, पकड़नेवाला तू का तू,
चोरों के संग चोर बण जावे, डाकू को भी भेळो तू,
चोरी करके तू भग जावे, पकड़नेवाला तू का तू,
इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
खाली पूर्ण जगत के माही व्यापे पूरा तू का तू,
दाता के संग दाता बन गया, भिकारी में भेळो तू,
मंगतो होकर माँगण लागे, देने वाला तू का तू,
इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
खाली पूर्ण जगत के माही व्यापे तू का तू,
नर नारी में एक बिराजे, दो दुनिया में पीसे क्यों,

बालक होकर रोवन लागे, राखण वाला तू का तू,
इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
खाली पूर्ण जगत के माही व्यापे तू का तू,
जल थल जीव में तू ही बिराजे, खादे कुँआ तू का तू,
कहे कबीर सुनो भई साधो, गुरु मिल्या है तू का तू।¹⁸

ध्यान देने की बात है कि रंगनाथ ने भी इसी तर्ज में अपनी एकमात्र हिन्दी कविता में लिखा है - 'घट पर घट मों आप रमें हैं, आप गुरु आप चेला'। और इस प्रकार रंगनाथ ने अपनी एकमात्र हिन्दी कविता में कई बातों को अभिव्यक्त करते हुए विचारभिन्नता को अपनी कविता में स्थान दिया है।

कविता की भाषा पर विचार किया जाए तो रंगनाथ ने अपने समकालीन और उनके प्रेरणास्रोत रामदास की तुलना में फारसी शब्दों का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया है। उनकी कविता में एकनाथ-तुकोबा के जितना ब्रज या गुजराती का छाया भी नहीं है। ध्यान से देखने पर पता चलता है मराठी के प्रभाव से वे अपनी कविता को बचा नहीं सके। 'करती' 'बाहिर' 'नाही' में स्पष्ट मराठी प्रभाव देखा जा सकता है। 'मो' का प्रयोग 'में' के अर्थ में हुआ है, जिसे ब्रज भाषा की परम्परा में माना जा सकता है, 'पंडत' को भी इसी क्रम में रखकर देखा जा सकता है। समकालीन होते हुए भी रंगनाथ ने तुकोबा-रामदास से भिन्न भाषा का प्रयोग किया है, इससे पता चलता है कि इतिहास क्रम में एक ही समय में काव्यभाषा के रूप में ब्रज मिश्रित भाषा, हिन्दुस्तानी और खड़ी बोली उपस्थित थी और काव्यभाषा के रूप में विकसित हो रही थी। तुकों पर विशेष ध्यान दिया गया है। उन्होंने अपने भावों के अनुसार कोमल शब्दों का प्रयोग किया है, जो तुकान्त के साथ मिलकर कविता में अर्थलय का निर्माण करते हैं। 'रंगनाथ जन गुरु बन ले, आप दुजा नहीं कोई, अंदर बाहिर भज ले भाई, रूप रेखा नाहीं।' में अर्थ एवं शब्द दोनों स्तरों पर पद्य लय को देखा जा सकता है।

इस प्रकार रंगनाथ की एकमात्र कविता भक्ति आन्दोलन की विरोधी-सी लगती कई प्रवृत्तियों को अपने में समेटती हैं। उनकी कविता के पाठक के लिए प्रवचन है। गुरु के लिए महत्व है, तो पाठक उनका 'भाई' भी है। अराध्य सर्वव्यापी है, रूप-रेखा से परे है, तो वह 'गोपाला' है और कलयुग का अवतारी भी है। लय और तुकों की रक्षा उनके काव्य की विशेषता है। उनकी एकमात्र कविता का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि भाषा में परिष्कृतता युगीन देन है और काव्यभाषा के विकास का अगला चरण है।

6.1.2 केशव स्वामी

केशव स्वामी 'दासपंचायतन' के दूसरे कवि हैं, जिन्होंने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी अपना रचनात्मक उत्कर्ष किया। वि.ल. भावे के अनुसार, "केशवस्वामी भागानगर कल्याणी के आत्माराम नामक किसी ग्रामलेखक के पुत्र थे। आत्माराम पंत की स्त्री गंगाबाई अस्सी वर्ष की होने के बाद उन्हें यह पुत्र हुआ। उसका नाम केशव रखा गया। ये भागानगर के किसी तानाशा नाम के व्यक्ति के यहाँ खाता-वही लिखते थे। कहा जाता है कि केशवस्वामी ने काशीराज स्वामी ने अनुग्रह प्राप्त किया था।"¹⁹ जिस किसी साक्ष्य के आधार पर श्री भावे ने माता गंगाबाई की अस्सी वर्ष की आयु में पुत्रप्राप्ति का उल्लेख किया है, उसके सन्दर्भ में उन्होंने मात्र इतना ही लिखा है कि "इनके एक दूसरे चरित्र में यह लिख है कि गंगाबाई को 82 वें वर्ष में पुत्र लाभ हुआ, किन्तु यह चरित्र 'भक्तमंजरी' के आधार पर ही

लिखा गया है, इस कारण इसे भिन्न साक्ष्य नहीं माना जा सकता है।”²⁰ अर्थात् श्री भावे ने यह जीवन-वृत्त ‘भक्तमंजरी’ के आधार पर दिया है। प्र.न.जोशी के अनुसार, “केशवस्वामी संसार में रहकर भी विरक्त, निःस्पृह एवं महान भक्त थे। केशवस्वामी शके 1608 (सन 1686) में समाधिस्थ हुए। ‘भक्तमंजरीमाला’कार ने शके 1604 (सन 1684) का वर्ष दिया है।”²¹ श्री भावे ने इनका “समाधिकाल शके 1604”²² ही माना है। दोनों इतिहासकारों के अनुसार इनकी समाधी हैदराबाद में मुसा नदी के किनारे है। वैसे भी हैदराबाद मकबरो का शहर है, किन्तु (उत्तर) आधुनिकीकरण की आँधी ने इन प्राचीन मकबरो के स्थान पर मस्टिप्लेक्स और सायबर टावर खड़े कर दिए हैं, ऐसे में श्री भावे द्वारा समाधी का पूरा पता दिए जाने के बावजूद, खून सूखाकर ढूँढ़ने के बाद भी हमें वहाँ केशवस्वामी की समाधी स्थान न मिल सका।

इतिहास ग्रंथों में इनके ‘एकादशचरित्र’ ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। प्र.न.जोशी के अनुसार, “सन 1941 में भागानगर की हस्तलिखित पोथियों के आधार पर न.स.जोशी और खरशीकर ने केशवस्वामी की कविता’ (केशवस्वामींची कविता) का सम्पादन कर प्रकाशित करवाया। सम्पादकों ने इसे रूपपर, नामपर, सद्गुरुपर, संतपर, आत्मतृप्ति, प्रपंचपरमार्थ, उपदेश, भूतदया, शिव, राम, कृष्ण, विठ्ठल आदि भागों में वर्गीकृत कर सम्पादित किया।”²³ केशवस्वामी ने सुमधुर गीतों की रचना की है। “केशवस्वामी की गीतरचना भावोत्कटता, गेयता, प्रासिदकता और नादमधुर अर्थघन शब्दचयन आदि के कारण तत्कालीन और वर्तमान रसिकों को मन को मोह लेती है।”²⁴

अ) केशवस्वामी की हिन्दी रचनात्मकता

केशवस्वामी की हिन्दी कविताओं के पाठ को न.स.जोशी और खरशीकर ने सम्पादित किया था या नहीं, इस सन्दर्भ में हमें कोई जानकारी नहीं है। कई स्थानों और ग्रंथालयों की खोज लेने के पश्चात् भी ‘केशवस्वामींची कविता’ की एक भी प्रति हमें नहीं मिली। हमारी जानकारी में केशवस्वामी की हिन्दी कविताओं को सन 1957 ई. में पहली बार सम्पादित किया। उन्होंने केशवस्वामी की कुल मिलाकर 41 कविताएँ दी हैं, क्योंकि इनमें से 3 और 18 क्रमांक की कविताएँ एक ही कविता हैं, जो दो बार दे दी गई हैं। श्रीराम शर्मा ने भी सन 1954 में ‘दक्खिनी का पद्य और गद्य’ में किया। उन्होंने अपने संग्रह में केशव की 35 कविताएँ दी हैं, जो क्रमभेद के साथ आचार्य विनयमोहन शर्मा के संग्रह से ही ली गई हैं। सन 1963 में सम्पादित ‘जनपदीय सन्त’ में उनकी 28 कविताएँ दी गई हैं। ध्यान देने की बात है कि आचार्य शर्मा ने कविता क्रमांक 19, 20 और 21 के अन्तर्गत जो कविताएँ दी हैं, उन्हें इस संग्रह में एक ही कविता के रूप में दे दिया गया है। हमने जब इन कविताओं के पाठ को जाँचा-परखा तो यह तीन कविताएँ वास्तव में अलग-अलग तीन कविताएँ मानी जा सकती हैं। अतः इस संग्रह के कविताओं की संख्या वास्तव में 30 हो जाती है। आचार्य शर्मा के संग्रह के साथ तुलना करने पर पता चलता है कि इस संग्रह में केशवस्वामी की कविताओं के साथ काफी छेड़छाड़ की गई है। तत्कालीन शब्दों एवं कारकों के स्थान पर वर्तमान कारकों को स्थानापन्न किया गया है, जिससे भाषा का प्राचीनत्व नष्ट हुआ है। एक तो सर्वप्रथम संग्रहित होने और दूसरे भाषा की प्राचीनता स्वयंसिद्ध होने के कारण हम आचार्य विनमोहन शर्मा द्वारा ‘हिन्दी को मराठी सन्तों की देन’ में संग्रहित कविताओं को स्वीकार करते हैं।

मध्यकालीन समय-समाज को पुरुषवादी मानसिकता से ग्रसित समय-समाज रचना के रूप में देखा जाता है। ऐसी अभिव्यक्ति भी कई रचनाकारों ने अपने साहित्य में की है, जिससे मध्यकालीन

समय-समाज में पुरुष वर्चस्व केवल सामाजिक स्तर पर ही नहीं, मानसिक एवं संस्कारिक स्तरों के मूल तक रहा है। कई रचनाकारों ने तो खुलकर स्त्री के प्रति अपने कुंठित विचारों को अभिव्यक्त किया है। ऐसा करने के लिए उनके समय-समाज में कोई मनाई नहीं थी, जहाँ आधी आबादी को हीन दृष्टि से देखा जाता था। विशेष बात तो यह है कि ईश्वर के सामने सबको समान माननेवाले इन सन्त-भक्त कवियों ने भी स्त्रियों के प्रति ऐसी-ऐसी बातों को खुलकर लिखा है कि इन्हें प्रगतिशील मानने में हमें संकोच होता है। प्रगतिशील खेमे में स्वीकृत एवं लोकप्रिय कवि कबीर ने भी ऐसे ही उद्गार स्त्रियों के प्रति निकाले हैं, किन्तु जब अपने राम से मिलने का समय आता है, तो कबीर भी स्त्री बनकर मिलतने हैं। तुलसीदास की हाशियाकृत समाज के प्रति दृष्टि से हम सब परिचित हैं, जिसे पिछले कुछ दशकों से अधिक उभारा जा रहा है। अधिकांश स्त्री रचनाकारों में हमने भले ही स्त्रीवादी स्वर ढूँढ निकाले हो, किन्तु उनमें बसनेवाले पुरुष भी हम परिचित हैं। जिस स्त्री को कबीर डाकिनी, पापिनी और उसकी छाँह से साँप के भी अंधा होने की बात करते हैं, वही कबीर भक्ति भाव की तल्लीनता में वही स्त्री बन जाते हैं। अब इसे आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्यायित कर उचित अवश्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु इस विमर्शवादी समय में यह भाववादी पैतरा अधिक कारगर नहीं होगा। कुछ इसी तरह केशव ने भी भक्तिभाव की तल्लीनता में अपनी कुछ कविताएँ स्त्री-स्वर में लिखी हैं।

केशव स्वामी ने अपनी इन कविताओं में अपने लिए स्त्री का प्रयोग किया है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उचित होगा कि उन्होंने अपने काव्यनायक के लिए स्त्री लिंग का प्रयोग किया है। उन्होंने लगभग 11 कविताओं में स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है। यह स्त्रियाँ कोई साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं, बल्कि या तो वह गोपियाँ हैं अथवा भक्त की दृष्टि है। कबीर की ही तरह उन्होंने भी भक्ति की तल्लीनता में स्त्री का रूप धारण किया है। कृष्ण भक्ति कविता में तो गोपियाँ को माध्यम बनाकर अपनी स्त्री भावनाओं को अभिव्यक्त किया जा सकता है और कई कवियों ने किया है, किन्तु रामभक्ति काव्य में ऐसा करने के लिए कम ही स्पेस है तथा ऐसा करने का प्रयास बहुत ही कम कवियों ने किया है, जिनमें से केशव भी एक हैं। उन्होंने अपनी एक कविता में लिखा -

“मैं राम जपत हूँ माई री ॥धृ॥

आसन मुद्रा बहुत चेन्हाई के, चरण सुं पीरत लगाई री ॥1॥

पति सुत मित गृह सकल ही तजी के, सन्तन के घर आई री ॥2॥

तन धन ज्योबन कछु नहीं भावत, भावत हरि सुखदाई री ॥3॥

कहत केशव कवि शाम सुन्दर-छबी, मती गती तहां में छपाई री ॥4॥”²⁵

इतना ही नहीं केशव अपने अराध्य राम और श्रीकृष्ण प्रति ‘पिरती’²⁶ लगाते हैं, ‘मोहन के गुण गावति हूँ’²⁷ कहते हैं, उन्हें ‘तन धन ज्योबन पति सुत संपति भावत नहि तुज बिन पियारे’²⁸ कहते हैं, स्त्री बनकर कर वे ‘लालन सुं प्रित जरी हो’²⁹ की भावना व्यक्त करते हैं, उनकी ‘शाम बदन सुं निशदिन लग रही, लाज बिसर गई लोकन की हो’³⁰ कहते हैं। इतना ही नहीं कबीर के भरतार जिस प्रकार घर आते हैं, ठीक उसी प्रकार इनके भी अराध्य ‘राजा’³¹ बनकर घर आने की वे कामना करते हैं और उसे पूरी होने का भी चित्रण करते हैं।

जिस प्रकार केशव ने अपनी कविता में स्त्री का रूप धरकर अपने भक्ति-भाव को अभिव्यक्त करते हुए भक्तिकालीन एक रीति की अभिव्यक्ति की है, ठीक उसी प्रकार उन्होंने भक्तिकालीन की एक

परम्परा को तोड़ा भी है। कई भक्तिकालीन कवियों में सजग रचनाकर्म की कमी दिखाई देती है, तो कईयों ने आचार्य भामह के काव्य प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए ‘धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च’ तो कई ‘करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्य निबन्धनम्’ को ध्यान में रखकर काव्यकर्म में प्रवृत्त हुए थे, किन्तु केशव ने आचार्य भामह के प्रयोजनों के इन प्रयोजनों में से कीर्ति और प्रीति को ही ध्यान में रखा, इसलिए उनका काव्य आचार्य वामन द्वारा दिए गए काव्य प्रयोजनों प्रतिष्ठा, कीर्ति और प्रीति को ही अधिक महत्व देते दिखा देते हैं। उनकी प्रीति अपने अराध्य के प्रति है। उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से कीर्ति और प्रतिष्ठा पाने की ईच्छा रही होगी, यही कारण है कि उन्होंने स्वयं का बार-बार कवि रूप में उल्लेख किया है। इतना ही वे आत्मछवि भी निर्माण करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने अपनी छवि के निर्माण के लिए स्वयं को कई बार ‘कवि’ कहकर अभिहित तो किया ही है, इतना ही नहीं अनेक स्थानों पर स्वयं को ‘सर्वश्रेष्ठ कवि’ भी कहा है।

6.2 समर्थ शिष्यों एवं रामदासी सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य

समर्थ रामदास की शिष्य परम्परा बहुत विशाल-विशाल एवं लम्बी थी, जो उनके बहुत बाद तक मठों के रूप में जीवित रही, किन्तु उनकी साहित्यिक परम्परा का वहन उनके किसी भी शिष्य ने उतनी सफलतापूर्वक नहीं कर सका। समर्थ के शिष्यों के साहित्य का जायज़ा लेते हुए इतिहासकार्य वि.ल.भावे ने लिखा है - “रामदासस्वामी का शिष्य समुदाय अत्यन्त विशाल था, वह चारों ओर फैला हुआ था। इस रामदासी मंडली की शिक्षा बेहतर, व्यवस्थित एवं अत्यन्त दक्षता के साथ होने के कारण उनमें बहुत-से बहुश्रुत एवं बुद्धिमान व्यक्ति भी हुए और उनके हाथों बहुत-सा मराठी सारस्वत भी संभव हुआ। किन्तु जिस प्रकार एक वृक्ष की छाया में दूसरे वृक्ष का ठीक से पालन-पोषण नहीं हो पाता है, ठीक उसी प्रकार किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता एवं विशिष्टता उनके सारस्वत (साहित्य) में जन्म नहीं ले सकी। वह रामदास द्वारा खिंची गई रेखा के बाहर जाते हुए नहीं दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं, रामदास की वाणी का तेज भी उसमें नहीं दिखाई देता है। उनका वह सूत्रधार चला जाने के बाद ये रंगीन गुड़िया जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहीं। उनकी डोर पकड़कर नचानेवाला वह दरवेश चलता बनने के बाद, ये प्राणी आपस में लड़ने-भिड़ने लगे और क्षणिक मानापमान के फेर में ही अपना आनन्द मानने लगे। अन्य अनेक मराठी कवियों की भाँति साधारण स्तर की रचनाएँ उनके हाथों भी लिखी गई। वह विशाल है। कईयों की तो सुन्दर भी है। किन्तु रामदासी जीवित झरने का बहता नीर उनमें नहीं है।”³²

अर्थात् समर्थ रामदास के शिष्यों ने विशाल रचनाएँ बहुत बड़ी मात्रा में तो लिखी, किन्तु न उसमें भक्ति का भाव वैसा आ पाया और न ही आन्दोलन का तेज ही रह गया था, सम्प्रदाय की दृष्टि से भले ही उसमें नीति मूल्यों की बात हो तो हो। संभव है समर्थ रामदास के इस विशाल शिष्यसमुदाय में से कईयों ने हिन्दी में भी रचनाएँ की होंगी किन्तु उनमें से कुछेक की हिन्दी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जिनमें कल्याण ऐतिहासिक क्रम में सर्वप्रथम आते हैं।

6.2.1 कल्याण

कल्याण के जीवन क्रम के सन्दर्भ में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध होती है। ‘महाराष्ट्र सारस्वत’कार ने उनके सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि “कल्याण एवं उद्धव ये दोनों रामदास के दाएँ-बाएँ थे। वे उनके प्रिय शिष्य थे।”³³ “कल्याण की जन्मतिथि और जन्मस्थल दोनों अनिश्चित हैं।”³⁴ इस सन्दर्भ में मराठी के शोधार्थी और साहित्येतिहासकार दोनों मौन हैं। “पर इतना निश्चित है

कि शक 1567 (सन 1645) में समर्थ ने दीक्षा दी थी। 'हनुमंत स्वामी की बखर' से यही ज्ञात होता है। उनकी प्रयाणतिथि शक संवत् 1636 (सन 1714) अधिक आषाढ शुक्ल 13 है। ...उद्धव-सुत ने 'रामदास चरित्र' में अम्बाजी पंत को व्यापारी कहा है। गणेश शंकर देव ने कल्याण के दीक्षा समय की आयु 26 या 27 वर्ष मानी है और जन्म शक 1540 (सन 1618)।³⁵

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने बिना किसी स्रोत अथवा सन्दर्भ का उल्लेख किए केशव का विस्तृत परिचय दिया है। उनके अनुसार, "समर्थ के शिष्यों में कल्याण का स्थान बहुत ऊँचा है। इनका जन्म बायुल या भोगपुर नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता सन्यासी हो गए थे। वे (कृष्णाजी पंत) भोगूर के कुलकर्णी (पटावारी) थे। विवाह के उपरान्त इन्हें एक पुत्रलाभ हुआ। उसके बाद पत्नी ऋण से मुक्त हो वे संसार से निवृत्त हो गए और तीर्थयात्रा को निकल गए। उत्तर की यात्रा समाप्ता कर जब ये दक्षिण में कोल्हापुर में जगदम्बा के मन्दिर में ठहरे हुए थे, उसी समय पारगाँव के बरवाजी पंत भी वहाँ व्यापार के लिए आये हुए थे। वे मन्दिर में दर्शनार्थ गए। कृष्णाजी का भजन हो रहा था। दोनों ने परस्पर को पहचान लिया। बरवाजी कृष्णाजी को घर ले आये। उनकी एक बहण थी। वह अविवाहिता थी। उन्हें स्वप्न हुआ कि यदि तू बाबाजी की बहण से विवाह नहीं करेगा तो तुझे उसी के लिए पुनः जन्म लेना होगा। सवेरे जब कृष्णाजी तुलसी वृन्दावन के ओटले पर बैठे भजन कर रहे थे तब बरवाजी ने उनके पास जाकर उन्हें अपना स्पष्ट (दृष्टान्त) बतलाया। कृष्णाजी विवाह के लिए राज़ी हो गए। धूमधाम से विवाह हुआ। बरवाजी की बहण का नाम रखमाबाई रखा गया। वे धार्मिक वृत्ति की थी। पुत्र के लिए उन्होंने अम्बा की मनौती मानी कि मुझे, 'विजयवंत, शहाणा (चतुर) पुरुषार्थी, उभयकुलतारक, गुरुभक्त, सुकृति पुत्र प्राप्त हो'। अतः जब प्रथम पुत्र हुआ तब उसका नाम अम्बाजी-अम्बादास- रखा गया। दूसरा पुत्र दत्तात्रय की मनौती से हुआ। अतः उसका नाम दत्तात्रेय रखा गया। दो भाईयों के बीच एक बहण भी थी। कृष्णाजी पंत पुनः विरक्त हो गए और सन्यास ग्रहण कर काशी यात्रा के लिए निकल गए। उनकी पत्नी रखमाबाई संतति सहित अपने भाई के पास चली गई। अम्बाजी बाद में कल्याण के नाम से पुकारे जाने लगे।"³⁶

यह पूरी कथा पढ़ने-सुनने के बाद ऐसा नहीं लगता कि यह कथा कहीं सुनी या पढ़ी हुआ है? जी हाँ, ये ठीक वही कथा है, जो निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई के परिवार के सन्दर्भ में घटित हो चुकी थी। कल्याण के परिवार के साथ घटित इन घटनाओं का ज्ञानेश्वर के परिवार के साथ घटित घटनाओं के साथ बहुत नहीं तो अधिकांश भाग जस-का-तस है, किन्तु दोनों के प्रति दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। एक व्यक्ति के सन्यास लेने के बाद पुनः ग्रहस्थाश्रम में लोटकर आने के बाद हुई सन्ततियों को समाज ने स्वीकार नहीं किया और उन्हें अजीवन अपने हिस्से की स्वीकृति के लिए भटकना पड़ा। उन अबोध बालकों की समाज स्वीकृति के लिए माता-पिता ने अपना जीवन समाप्त कर लिया। इसके बावजूद जब उन्हें स्वीकृति नहीं मिली, तब उन बालकों ने अपनी कलाक्षमता एवं बुद्धिमता से अपने आप को सिद्ध किया। फिर भी समाज का हृदय नहीं पिघला और अपने समय की सबसे बड़ी प्रतिभा को भी अपनी जान देकर अपनी धर्म प्रतिबद्धता को सिद्ध करना पड़ा। ज्ञानेश्वर की समाधी लेने की घटना को इस रूप में भी नहीं देखा जा सकता है? कल्याण के पिता के सन्यासाश्रम के पश्चात गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात ही उनका जन्म हुआ था, फिर भी उन्हें समाज ने बिना किसी समस्या के स्वीकृत कर लिया ! भौंडे तरीके से यह कहा जा सकता है कि कल्याण के ब्राह्मण होने के कारण उन्हें समाज

स्वीकृति मिलने की बात कही जा सकती है, किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञानेश्वर का परिवार भी एक ब्राह्मण परिवार था। ऐसा क्या हुआ इन चार सौ वर्षों में कि उसी घटना पर, वही समाज ठीक विपरित पद्धति से प्रतिक्रिया देता है? क्या समाज ने धर्म और वैयक्तिक जीवन में अन्तर करना सीख लिया था? क्या ये भक्तिकाल का एक प्रभाव कहा जा सकता है? अथवा धर्म का सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन से हटाकर राजनीति से नत्थी कर दिये जाने का प्रभाव-कुप्रभाव? कुछ भी हो, जन्म की घटनाओं की समानताएँ होने के बावजूद कल्याण के साथ वही नहीं हुआ, जो ज्ञानेश्वर के साथ हुआ। इतिहास ने अपने-आप को दोहराया अवश्य, किन्तु वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक स्तर पर नहीं।

संभवतः श्री भावे के समय तक उनके साहित्य एवं जीवन पर अधिक शोध न हुआ होगा, किन्तु अपेक्षाकृत बाद या लगभग समकालीन साहित्येतिहास प्र.न.जोशी ने भी मात्र इतना ही लिखा है कि “समर्थ के पटशिष्य कल्याणस्वामी की अधिक कविता नहीं रही होगी।”³⁷ रामदास की परम्परा को आगे न बढ़ा पाने के कारण श्री भावे समर्थ शिष्यों से काफी नाराज़ थे। कल्याण एवं उद्धव के काव्य के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, “इन दोनों की थोड़ी-सी रचना उपलब्ध है, किन्तु इनमें से एक में भी गुरुजी की चमक नहीं दिखा देती है। रामदास के किसी भी शिष्य के उपलब्ध ग्रंथों में रामदास सी छनछन, आतुरता, स्वदेश प्रीति अथवा मन को छू लेनेवाला कवित्व प्रकट करने की शक्ति कदापि नहीं दिखाई देती है।”³⁸ इन प्रतिमानों पर कोई भी भक्तिकाव्य रामदास के आगे टिक नहीं पाएगा, क्या तुकोबा, क्या नामदेव, तो फिर रामदास के शिष्यों की क्या बिसात। एक रचनाकार के रचनाकर्म द्वारा निर्मित प्रतिमानों के आधार पर सम्पूर्ण इतिहास को जाँचने पर हताशा ही हाथ लगेगी, इसके उदाहरण हिन्दी एवं अन्य साहित्येतिहासों में मिल जाएँगे। अकारण नहीं कि तुकोबा एवं रामदास की तुलना में श्री भावे को तुकोबा अपने युग से पलायन करनेवाले रचनाकार लगते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ कबीर आदि निर्गुण कवियों का मूल्य कम आँका जाता है। किन्तु ‘पाँच भक्ति सम्प्रदाय’ पुस्तक के लेखक र.रा.गोसावी ने इस जानकारी में अमूल्य वृद्धि करते हुए उनकी रचनाओं का परिचय दिया है। उन्होंने अपने शोधपूर्ण ग्रंथ में लिखा - “कल्याणस्वामी समर्थ के निकटवर्ती शिष्य थे। कल्याणस्वामी के कुछ अध्यात्मर प्रकरण, चौचरणी, ओव्या, स्फुट श्लोक, अष्टखासवया, भूपाळ्या, आरत्या, पदान्तरे मिलाकर 1500 तक काव्य-रचना है। ‘महापंचीकरण’ प्रकरण सात शतकों एवं 771 ग्रंथसंख्या का है। उनके परमार्थिक अनुभवों का अविष्कार करनेवाला ‘सोलीवसुख’ प्रकरण खूब सुन्दर है। वे इतने प्रभावी पद्यकार थे कि यदि अठरहवीं शताब्दी में रचना करनेवाले कवियों में यदि उनका उल्लेख न किया जाए, उनकी कमी महसूस होगी। उनके द्वारा रचित श्लोक, सवाया, भूपाळ्या, आरतियाँ आज भी साम्प्रदायिक उपासना में गायी जाती हैं।”³⁹

कहा जाता है कि कल्याण समर्थ रामदास के साहित्य के लिपिकार भी थे। “कल्याण की गुरु-सेवा अटल थी। वे समर्थ के साथ सतत रहते थे। उनकी स्मरण शक्ति तीव्र थी और हस्ताक्षर सुन्दर। समर्थ बोलते जाते और कल्याण द्रुतगति से लिपिबद्ध करते जाते। इस प्रकार समर्थ के सभी ग्रंथ कल्याण की लेखनी से अवतरित हुए। कल्याण ने स्वयं मराठी और हिन्दी में रचनाएँ की हैं।”⁴⁰ ऐसे में उनकी रचनाओं पर रामदास की रचनाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। “उनकी हिन्दी रचनाएँ कम प्राप्त हुई हैं। एक पद है -

आलख जागे गुरु गोरख जागे।धृ॥

आलखनिरंजन भाव न भावे । सब घट व्यापक आलख जागे ॥

जो कोऊ राखे गोइ हीयाकू । सो ही गोरख आलख जागे ॥

मन की जोगिणी समजत बूझे । नाथ निरंजन कल्याण जागे ॥⁴¹

उनकी एक और रचना के सन्दर्भ में संदेह की स्थित बनी हुई है। “कल्याण ने ‘रुक्मिणी स्वयंवर’ शीर्षक एक कथा-काव्य लिखा है, जो 150 प्राचीन पाण्डुलिपि में (धुलिया के समर्थ वाग्देवता मंदिर में) सुरक्षित है। उसी मन्दिर में प्राप्त पाण्डुलिपि संख्या 549 में यह अख्यान तीन सन्तों के नाम पर मिलता है - 1) मुकुन्दराज 2) मुकुन्ददास 3) कल्याणस्वामी। मराठी प्राचीन वाङ्मय-इतिहास में तीन मुकुन्दराजों का उल्लेख मिलता है। एक मुकुन्दराज शके 1350 के लगभग विद्यमान बतलाए जाते हैं। ‘स्वयंवर’ की भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों की प्रचुरता है। इसलिए यह मुकुन्दराज की रचना नहीं हो सकती है। दूसरे मुकुन्दराज मराठी के आदि कवि बारहवीं शताब्दी में हुए हैं। तीसरे भीमस्वामी के शिष्य गोविन्दबाबा के भतीजे भी मुकुन्द के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये रामदासी हैं। पर इनका ठीक काल ज्ञात नहीं है। और न इनके नाम पर कोई रचना मिलती है। साथ ही मुकुन्ददास नामक किसी सन्त का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। हो सकता है कि मुकुन्ददास और मुकुन्दराज एक ही हों। अतः ‘रुक्मिणीस्वयंवर’ को अन्य प्रमाणों के अभाव में कल्याणकृत ही मानना चाहिए। उनकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं -

बैदर्भ येक मुलुख । वहा कौडण्यपुर देख

दरी भीम भूप नेक ।

सखि जोर जबर सारा ।

दरिम्या ने महतांब । जीतो सुरत की आब

हुई पैदा खुब बाब । उसकू रुक्मण प्यारा ॥

- -

- -

हुई रुक्मिण बेजार । तपें तपती गुलनार

तुटे मोतेन के हार । छपर-पलंग लेहटती ॥

पद्य की भाषा तत्कालीन महाराष्ट्र में प्रचलित और उच्चरित लोक-भाषा है।⁴² हमारे विचार से कल्याण के समर्थ में प्रमाण मिलने तक यह भी नहीं माना जाए कि यह रचना कल्याण की है। वैसे भी कल्याण की रचनाओं पर रामदास की परछाई बनकर रहने के कारण जितना प्रभाव पड़ना चाहिए था, उतना इस कविता पर नहीं दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त भाषा में अतिरिक्त प्राचीनता दिखाई देती है, क्योंकि रामदास की हिन्दी इससे अधिक आधुनिक हिन्दी के करीब है और रामदास के साथ रहनेवाले कवि की हिन्दी में इतनी प्राचीनता आए, यह कुछ अस्वाभाविक लगता है। अतः इनकी हिन्दी रचनात्मकता सद्य संदेहास्पद मानी जानी चाहिए। इसका दूसरा कारण उनकी ही समकालीन और रामदास शिष्या बयाबाई की भाषा रामदास के काव्य के अधिक करीब है, जो स्वाभाविक लगता है।

6.2.2 बयाबाई

बयाबाई रामदास की लम्बी शिष्य परम्परा में से एक थी। उन्होंने अपनी मराठी कविताओं में रामदास को अपना रूप में गुरु माना है, किन्तु यह रामदासी परम्परा में आनेवाली वेणाबाई की शिष्या थी। मराठी भक्तिकालीन साहित्येतिहास में इस नाम की दो स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, एक बयाबाई और दूसरी बइयाबाई। श्री भावे⁴³ ने इन दोनों को भिन्न माना है और उन्हीं की तर्ज पर आचार्य

विनमोहन शर्मा ने भी। मराठी स्त्री सन्तों के साहित्य पर आधिकारिक रूप से शोधकार्य करनेवाली शैला गावंडे⁴⁴ और मा.के.यादव ने इन भिन्न नामधारक स्त्रियों से कोई भिन्नता नहीं मानते हैं। “अजगांवकर भी दोनों को एक ही मानते हैं।”⁴⁵ अतः हम भी आधुनिक शोधों के आधार पर बयाबाई और बइयाबाई को एक ही मानते हैं। इस सन्दर्भ में भी मतैक्य नहीं है कि यह वेणाबाई की शिष्या थी अथवा स्वयं रामदास की। “समर्थ प्रताप” के ग्यारहवें समास (अध्याय) में वेणाबाई द्वारा बयाबाई को अनुग्रह देने का उल्लेख गिरिधर ने किया है, किन्तु उसके पदों में ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।⁴⁶ उसकी अधिकांश मराठी “रचनाओं में रामदास पर उसकी अगाध निष्ठा अभिव्यक्त हुई है।”⁴⁷ “उसकी गुरुभक्ति रामदास को ‘माऊली’ (माता) कहने जितनी दृढ़ थी।”⁴⁸

बयाबाई के जीवन के सन्दर्भ में जो जानकारी उपलब्ध होती है, वह अधिकतर चमत्कारिक कथाओं से गूँथी हुई है। “उसके जन्म के सम्बन्ध में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है।”⁴⁹ “जिस प्रकार नामदेव के सन्दर्भ में प्रसिद्ध है कि उन्होंने विठ्ठल को अपने हाथों नैवेद्य खिलाया था, उसी प्रकार के भक्ति सामर्थ्य को सम्प्रेषित करने वाली कथा बयाबाई के सन्दर्भ में भी प्रसिद्ध है। विवाह के बाद भी उसने अखंड रामभक्ति जारी रखी। संभवतः उसने अपने पतिगृह का त्याग कर दिया था।”⁵⁰

“बयाबाई के काव्य रचना से परिचय इतिहासाचार्य राजवाडे जी ने करवाया है।”⁵¹ “उनकी जो थोड़ी-सी कविताएँ उपलब्ध हैं, वह सभी भारत इतिहास संशोधक मंडळ के शके 1833 अहवाल (अंक) में प्रकाशित हुई है।”⁵² “बयाबाई की कविता कृष्ण-गोपी विषयक पदों के सन्दर्भ में ज.र.अजगावकर ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है, ‘उसकी कविता रामदासी ठाठ की न होकर नितान्त स्वतंत्र है’।”⁵³ बयाबाई की जितनी भी कविता उपलब्ध है, उस पर रामदासी कविता का प्रभाव देखा जा सकता है। साथ ही रामदासी सम्प्रदाय के मूल्यों का वहन उन्होंने अपनी भक्ति भावना के साथ किया है।

उनकी कविताओं में गुरु के प्रति उसके मन में अत्यन्त आदर एवं सम्मान का भाव अभिव्यक्त हुआ है, जो श्रद्धा की हृद को लांघता हुआ भक्ति की सीमा तक चला गया। उन्होंने अपनी कविताओं में किसी अराध्य की भाँति रामदास का भी चित्रण किया है, जो महानुभावीय कवियों का स्मरण करा देता है, जिन्होंने अपने मठाधीश और सम्प्रदाय के संस्थापक का चित्रण ‘लीळाचरित्र’ आदि कई ग्रंथों में किया है। “इतिहासाचार्य वि.का.राजावाडे ने उनकी कविताओं के सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है - ‘बयाबाई की कविता से रामदास के चरित्र पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। पाँचवे पद से पता चलता है कि रामदास वर्ण से साँवले थे। रामदास पर बायाबाई की गुरुभक्ति अगाध थी। इतनी की पतिव्रता की पति पर भी नहीं हो सकती। बयाबाई इतनी तल्लीन हो गई थी कि (उसकी देहबुद्धि नष्ट होने के कारण) स्त्री-पुरुष लिंगभेद वह पूर्णतः बिसर गई थी और गुरु को माता, पति, पिता, परमेश्वर, कान्हा आदि शब्दों से पुकारने लगी।”⁵⁴ गुरु और उनके मूल्यों के साथ ही उन्होंने राम तथा कृष्ण दोनों को अपनी कविताओं में अराध्य रूप में आधार बनाया है। “उसके द्वारा रचित आर्या (मराठी का एक छन्द प्रकार) मोरोपंत से पूर्व होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। उसके जितनी शुद्ध और प्रासादिक भाषा सम्पूर्ण साम्प्रदायिकों में शायद ही किसी ने लिखी है।”⁵⁵

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने वि.का.राजावाडे और ज.र.अजगावकर के अधिकांश मतों को अपनाते हुए अपनी राय प्रस्तुत की। उनके अनुसार - “बयाबाई की जो थोड़ी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, वे

हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में हैं। उनकी रचनाओं में आत्मविभोरता और प्रासादिकता है। गुरु के प्रति कितनी सनिग्ध आस्था है -

क्या कहूँ रे गुरुनाथ की बात में (मैं)
मस्त भया है दिल मेरा रंग में
लाल रंग में सफेद खुला है।
कोई नहि जाने आप भुला है।
जब सद्गुरु के पग लीन होना
रामदास गुरु पद की दासी।
दास बया फिरे देस विदेस।”⁵⁶

ऐसी ही गुरु भक्ति बयाबाई की मराठी कविताओं में भी अभिव्यक्त हुई है। जिस प्रकार यहाँ उनका हृदय गुरु के रंग में रंगकर मस्त हुआ है, उसी प्रकार के भाव उनकी मराठी कविता में अभिव्यक्त हुए हैं। उनके अनुसार - “गुरुराजा आनन्द का सागर हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। उनका वर्णन करने में वाणी आगे नहीं बढ़ पाती है। ज्ञान और अज्ञान के आगे जाकर उसका लाभ होता है। बयाबाई की रचनाओं में उसकी गुरुभक्ति और निष्ठा अभिव्यक्त होती है। उसकी निष्ठा का एक उदाहरण -

या गुरुने मज वेडचि लाविले।
अहो मन हे तप्तदी तन्मय जाले ॥३॥
सांवळी सुरत नयनांत बैसली।
पाहतां पाहणे समूळचि गेले ॥१॥ रामदास
गुरुराजकृपेने दास बया हे मीपण केले ॥४॥”⁵⁷

(अर्थात्, इस गुरु ने मुझे दीवाना बना दिया है। अजी मेरा मन उनके चरणों में तन्मय हो गया है। उनकी सांवली सूरत नयनों में बस गई है। उन्हें देखते-देखते मैं देखना ही भूल गई। गुरु कृपा से मेरा अहंकार (‘मैं पना’) चला गया।) जिस भाव से उन्होंने अपने गुरु के लिए ‘पाहतां पाहणे समूळचि गेले’ अर्थात्, ‘उन्हें देखते देखते मैं देखना ही भूल गई’ कहा है, ठीक यही पंक्ति नामदेव के समकालीन कवि चोखामेळा ने अपने अराध्य श्रीविठ्ठल के सन्दर्भ में कही थी। बयाबाई की दृष्टि में रामदास इतने महान गुरु थे कि उन्होंने, यदि उनकी दृष्टि में आयी होगी तो, चोखामेळा की पंक्ति को उनके सन्दर्भ में प्रयोग किया। दूसरी बात यह हो सकती है कि चोखामेळा ने जो अपने अराध्य के लिए अनुभूति की थी, ठीक वैसी ही अनुभूति बयाबाई ने अपने गुरु के सन्दर्भ में की थी। तो क्या लगभग चार सौ वर्ष पूर्व तथाकथित निम्नजाति से आनेवाले चोखामेळा और उनके बाद आनेवाली लगभग नीच ही माने जानेवाली स्त्री कवयित्री बयाबाई की अनुभूति में समानता थी, इस पंक्ति तक ही सही? इन ऐतिहासिक तथ्यों को सिर्फ भावनात्मक प्रतिक्रिया के तौर पर लिया जाए? यदि इतिहास को अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए उसे सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के व्यापक वृत्त में ले जाया जा सकता है, तो क्या इन सूक्ष्म अभिव्यक्तियों को नजरअंदाज़ करते हुए उसे वही व्यापकता प्राप्त होगी, जिसकी अपेक्षा की जाती है? यदि सूक्ष्म अभिव्यक्तियों पर ध्यान नहीं दिया गया, तो हमारा इतिहास लेखन और उसके सन्दर्भ में हमारी दृष्टि फिर से ‘महा’ और ‘महानताओं’ में कैद होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है।

“गुरु के अनुग्रह से वह हृदय के हिंडोले पर झूल कर विभोर हो सकी है। बयाबाई गुरु के उपकार का बखान करते-करते तनिक भी नहीं थकती -

ध्याइये गुरुपग अघमोचन । सुखदायक भवाब्धितम ॥धृ॥

चिद् गगन में आसन खूला । जापर सद्गुरु राज रमीला ॥

सूर्यचंद वो दिवटि जलत है,

जब देखा तब डूब गई तन ॥

जाकी सत्ता जगमो भरि है जां देखो तहाँ ढाड रही है,

सो सद्गुरु किरिपा सो मिलती, सब छांड के पग जा सरन ।

विद्वत्ता साथ नहीं देती, गुरु ही साथ देता है -

लिखा पढ़ा कछु संग नहि आवे,

अंतकाल में सबही जाये ।

जोर लड़के महल मजालस

यहां रहती फेरे आपत्ति जाना ।

दिल का मेहर मिल गया दिल को,

तारनहारा गुरु है सब को ।

दास बया कहे कछु नहि देखा

जब देखा तब उलटा नयन ।”⁵⁸

रामदास के जीवन, दिनचर्या, दर्शन, उनकी सूक्तियों को लेकर उनके सम्प्रदायिक-मठों में विचरण करनेवाले उनके शिष्यों ने कई ग्रंथों की निर्मिती की है⁵⁹, किन्तु बयाबाई जैसा भावनात्मक सम्बन्ध शायद ही किसी कवि-रचनाकार ने स्थापित किया हो, सचमुच उनके हिन्दी-मराठी काव्य में अगाध गुरुभक्ति अभिव्यक्त हुई है ।

बयाबाई की काव्यभाषा पर तत्कालीन हिन्दुस्तानी का अत्यधिक प्रभाव है, जिसे हम रामदास के काव्य के सन्दर्भ में दिखा चुके हैं कि किस प्रकार ‘हिन्दी’ की अपेक्षा उनका काव्य ‘हिन्दुस्तानी’ को अपनी काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत करता है । ठीक अपने गुरु की भाँति बयाबाई के काव्य में भी तत्कालीन सत्ताधारी वर्ग की भाषा का अत्यधिक प्रभाव देखा जा सकता है । रामदास में यह सीमित था, बयाबाई में असीमित हो गया । इतना ही नहीं रामदास की हिन्दी या हिन्दुस्तानी कविताओं में मराठी का प्रभाव भी सीमित है, किन्तु बयाबाई में उसका भी प्रमाण अधिक हो गया । अर्थात् बयाबाई अपनी स्थानीयता में तत्कालीन सम्पर्क भाषा के मिश्रण से निर्मित भाषा का इस्तेमाल अपनी कविताओं में कर रही थी, जो आगे जाकर हिन्दुस्तानी भाषा का सुगठित रूप धारण करती है । कोमलकान्त भावों के अनुसार जो भी शब्द उसे उचित लगे उसने उन्हें चयनित कर लिया । चाहे वह शब्द तत्कालीन लोक-भाषा से रहे हो अथवा अरबी-फारसी से या फिर मराठी से । ध्यान देने की बात यह भी है कि मराठी सन्त-भक्त कवियों में एकनाथ के बाद ब्रजभाषा से मुक्ति का एक अभियान-सा चल निकला । रामदास ने ब्रज की अपेक्षा हिन्दुस्तानी की ओर अपना रुख मोड़ लिया और बयाबाई ने भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाया । संभवतः यही कारण है कि मा.के.यादव ने बयाबाई के हिन्दी या हिन्दुस्तानी पदों को सीधे-

सीधे 'ऊर्दू पद'⁶⁰ कहा है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भी इस बिन्दु की ओर ध्यान दिया है। उनकी एक कविता को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा - "एक गीत में अरबी-फारसी का खूब रंग चढ़ा हुआ है -

अल्ला हे बेफिकीर मे कहाँ जावो रे।
जाहाता वोहि खडा येहि मेरें नैनोरे।
नजर के सदर मे खल्के हजर होरे।
रात दिन जाहा नही सोहि खुदा पायोरे।
जी लिया जान लिया मेरा मुजाका नही।
जब तो बेयान हुवा आज कुछ सुनता नहि रे।
पल पल के खेल न्यारे जिसके हजरो हुवे
रंगातीत मेरा साईदास बया को मिला रे।"⁶¹

चूँकि तत्कालीन ही नहीं आज के भी समाज में मराठी के भी कई रूप प्रचलित थे। इन्हें दो भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है - एक तो मराठी वह मराठी जो विभिन्न प्रदेशों में बोली जाती है, यथा-विदर्भ, मराठवाडा, पश्चिम महाराष्ट्र, कोंकण आदि। दूसरी मराठी इससे अधिक व्यापकता लिए हुए है, जो तमाम महाराष्ट्र के गाँवों में बोली जाती है। इनकी रूप रचना में अधिक अन्तर भले ही न हो, किन्तु लहज़ा और शब्दभंडार में यह एक-दूसरे से काफी अन्तर रखती हैं। जिसे परिनिष्ठित मराठी माना जाता है, उसमें विशेषतः फारसी शब्दों का अधिक्य है, जिसे कई भाषा वैज्ञानिकों ने रेखांकित किया है। भाषा अध्ययताओं का मानना है कि मराठी में इन शब्दों का प्रचलन पेशवाई के समय में हुआ। बयाबाई की हिन्दी कविताओं में फारसी के शब्दों की बहुतायत को देखते हुए यह माना जा सकता है कि इसकी शुरुआत रामदास और उनके परम्परा के कवियों के समय में चुकी थी। उपरोद्धृत कविता में आया 'बेफिकीर' शब्द भले ही फारसी या अरबी का रहा हो, किन्तु उसी अर्थ में वह आज की भी मराठी में प्रचलित है। भाषा के इस मिले-जुले रूप के कारण बयाबाई का काव्य रामदास के हिन्दी काव्य के अधिक समीप आता हुआ दिखाई देता है।

इस प्रकार समर्थ रामदास के की सुदीर्घ शिष्यों परम्परा में उनके इन्हीं दो परवर्तियों का हिन्दी काव्य प्राप्त होता है। स्पष्टतः इस हिन्दी काव्य में भी भक्ति आन्दोलन के अवशेष ही हमें देखने को मिलते हैं। नामदेव-एकनाथ-तुकोबा या फिर स्वयं रामदास जितनी भव्यता एवं जिसे 'भक्ति आन्दोलन' का काव्य कहने जितनी व्यापकता के बाद के किसी भी कवि में देखने को नहीं मिलती है, जिसमें यह दो रामदासी शाखा के कवि भी सम्मिलित हैं।

6.3 सम्प्रदाय निरपेक्ष कवि

रामदास शिष्यों के समकालीन ही रचना करनेवाले बहुत से ऐसे रचनाकार हुए हैं, जिन्हें किसी सम्प्रदाय विशिष्ट में समाहित नहीं किया जा सकता है। प्रमुख रूप से इस समय भक्ति आन्दोलन में तीन प्रकार के कवि अपनी रचनाएँ मराठी-हिन्दी में भी लिख रहे थे - एक, वारकरी, रामदासी, नाथ, दत्त आदि सम्प्रदायों के कवि। दूसरे, भोसला दरबार में राजाश्रय पानेवाले कवि और तीसरे कवि वे थे, जो न तो किसी सम्प्रदाय विशेष अपना सम्बन्ध जोड़ते थे और न इन्हें किसी दरबार में राजाश्रय मिला हुआ था या इन्होंने राजाश्रय की आवश्यकता नहीं समझी होगी। वैसे तो इन तीसरे प्रकार के कवियों को उनकी कविताओं के आधार पर किसी-न-किसी सम्प्रदाय के हवाले किया जा सकता है, किन्तु उनकी

कविता व्यापक अर्थों किसी भी सम्प्रदाय के भीतर नहीं आ सकती है, भले ही उनकी गुरु-शिष्य परम्परा बन गई हो। ऊपर रामदासी सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम यहाँ कुछ ऐसे कवियों की कविताओं को प्रस्तुत करेंगे, जिन्हें व्यापक अर्थों में सम्प्रदाय निरपेक्ष कवि कहा जा सकता है।

6.3.1 मध्वमुनि

मध्वमुनि का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष होना सिद्ध नहीं हो पाया है, किन्तु एक सन्त-भक्त कवि के रूप में उनकी ख्याति वारकरियों एवं रामदासी दोनों में है। मराठी साहित्येतिहासकारों ने मध्यकालीन मराठी सन्त चरित्र लेखक महिपतिबुआ के हवाले से कहा है, ‘मध्वमुनि नाशिक के रहनेवाले थे, किन्तु अपनी उत्तरायु में वे किसी सेंदुरवाड़ा नामक स्थान पर रहने लगे थे।’⁶² श्री वि.ल.भावे ने राजाराम प्रसादी के साक्ष्य पर यह माना है कि ‘निरा नदी के तट पर कळबोळी नामक ग्राम मध्वमुनि का जन्मस्थान था।’⁶³ मध्वमुनि के जन्मस्थान के सन्दर्भ में अनुमान तो लगाया जा सकता है, किन्तु उनकी जन्मतिथि के सन्दर्भ में कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा वि.ल.भावे के साक्ष्य पर शके 1611 (सन् 1689) दिया है। “उनका समाधि काल शके 1656 (सन 1734) माना जाता है।”⁶⁴

“भक्तमंजरी”कार के अनुसार मध्वमुनि का मूल नाम महादेव था।⁶⁵ उनका नाम मध्वमुनि कैसे हुआ इस सन्दर्भ में भी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। वि.ल.भावे ने किसी त्र्यंबक कवि का उल्लेख कर यह सिद्ध किया कि यह मध्वमुनि का नाम कभी नहीं था, इसके बावजूद आचार्य विनयमोहन शर्मा ने उनका एक नाम त्र्यंबक माना है। उनके द्वारा त्र्यंबक नाम से लिखित ‘प्रल्हाद चरित्र’ रचना वास्तव में उनके शिष्य की है। इसी के साथ त्र्यंबक नाम से लिखित एक हिन्दी पद भी मिलता है, जिसे आचार्य शर्मा ने इन्हीं का मानकर अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में संग्रहित किया है।

मध्वमुनि ने अपनी रचनाओं की मधुरता से अपने ‘मध्व’ नाम को सिद्ध किया है। उन्होंने “धनेश्वराची गोष्ट” नामक रचना अभंग वृत्तों में लिखी और उसमें नब्बे चौक अथवा चरण हैं। उसी प्रकार दूसरी रचना में चोल राजा की कथा ओवी वृत्तों में लिखी हुई एक पुरानी पोथी में प्राप्त हुई। पोथी पुरानी होने के कारण इसके पृष्ठ फटे हुए हैं, दो ही पृष्ठ साधारण स्थिति में हैं।⁶⁶ इन रचनाओं से अधिक मध्वमुनि अपने मुक्तक पदों के कारण जाने जाते हैं। उनके पदों की मधुरता के कारण ही वह इतने लोकप्रिय हो गए हैं कि उनकी कई कविताएँ उनके नाम के बगैर ही अमाप लोकप्रिय हो गई हैं। एक साहित्येतिहासकार के अनुसार उन्होंने अपने पदों के माध्यम से सामान्य जन को “पागल बना दिया था”⁶⁷। उनकी एक मराठी कविता “उद्धवा शांतवन कर जा, त्या गोकुळवासि जनांचे”, ‘तूं माझा यजमान ॥ रामा तूं माझा यजमान’, तो नर गति चुकला। स्वानंदाते मुकला’ यह प्रसिद्ध व लोकप्रिय पद मध्वमुनिश्वर के ही हैं। ‘माझे अचडें-बचडें छकडें वो’ यह वात्सल्यपूर्ण पद उन्हीं का। ‘त्याच्या हातिंचा वेणु कुणी घ्या गे’ यह आज भी लोकप्रिय पद मध्वमुनिश्वर का है! ‘उद्धवा, शांतवन कर जा’ इस पद के धुन पर तो मराठी में सैकड़ों कविताएँ बाद के समय में लिखी गईं। कुछ पद सीधे-साधे एवं अभंगों के स्तर के होने के कारण अतःकरण में स्थान बना लेते हैं। ‘नामदेवाचा अवतार। तुका माझा निर्विकार ॥ म्हणवी संतशिरोमणि। जाला केवल्याचा धणी ॥ बहुता जनांचा उद्धार। येवढा केला उपकार ॥ मध्वनाथाचें माहेर। पूर्ण विश्रंतीचें घर ॥’ यह तुकोबा गौरव कितना साधा किन्तु उकृष्ट है।

‘प्रातःकाळी करितां संतांचें स्मरण’ पंक्ति से आरंभ होनेवाली उनकी एक संतनामावली प्रसिद्ध है। प्रल्हाद, बोधलेबुवा, संत सखू ऐसे कुछ चरित्र इन्होंने लिखे हैं। ‘सज्जन संगति जोड प्राण्या ॥ दुर्जन संगती देईल दुर्गती ॥ दुर्मद दर्मती सोड ॥ मध्वमुनीश्वर साधुसमागम । सेऊन झाला गोड’ यह उनका अत्यन्त प्रसिद्ध पद आज भी कथा कीर्तनों में गाया जाता है। सम्पूर्ण महाराष्ट्र में गाया जानेवाला ‘साहेब सद्गुरुराया’ पद इन्हीं का है।⁶⁸

इस प्रकार मध्वमुनि एक ऐसे मराठी कवि हैं, जिनकी कविताएँ तो काफी मात्रा में प्रसिद्ध हैं, किन्तु उन कविताओं के साथ उनका नाम बहुत कम लोगों को पता है। उनके कई शिष्यों ने भी अपनी रचनात्मकता से उनकी मधुरता की परम्परा को आगे बढ़ाया।

अ) मध्वमुनि की हिन्दी रचनाएँ

मध्वमुनि की हिन्दी रचनाएँ मराठी सन्त-भक्त कवियों के परवर्ती काव्य से जुड़ती हैं, किन्तु उसी अर्थ में नहीं जिस अर्थ में बहेणाबाई की हिन्दी कविताएँ तुकोबा से या रामदास की कविताएँ दामोदर पण्डित से या अन्य किसी कवि की उनके पूर्ववर्ती कवि से। उनकी हिन्दी कविताएँ एक ओर अपने समकालीन ऐश्वर्य प्रधान होती अथवा हो चुकी संस्कृति के आगे एक नामदेव-तुकोबा से भिन्न, अपने ही प्रकार का प्रतिरोध गढ़ती हैं, तो दूसरी ओर इन कविताओं में भक्ति आन्दोलन का अब तक चला आता हुआ तेज समाप्त होता स्पष्ट देखा जा सकता है। मध्व ने अपनी कविताओं में भक्ति के साथ-साथ धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों की भी आलोचना की है, किन्तु उनकी कविताओं ने उन्हीं बातों की समीक्षा की है, जिनका सम्बन्ध धर्म से रहा है। उन्होंने सभ्यता की अपेक्षा धर्म-संस्कृति ही समीक्षा करना अनिवार्य समझा होगा, जो अन्ततः उन्हें धर्म का समीक्षक की अपेक्षा शुद्धतावादी की कोटी का कवि सिद्ध कर सकता है। उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में धर्म के नाम पर क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इसकी सम्पूर्ण सूची ही प्रस्तुत कर दी। उन्होंने प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय, पंथ और प्रत्येक आराधक के अनुसार भक्ति एवं भक्ति पद्धति को अपनाने का संदेश दिया है, जिससे उस सम्बन्धित अराध्य और आराधना पद्धति के मूल रूप दूषित न हो, उसका दिखावा न हो। इनके इस विचार का धन (Positive) पक्ष इतना ही है कि इन्होंने विभिन्न अराधकों, अराधना पद्धतियों को स्वीकार किया है। जिससे उनके यहाँ अन्य को भी स्वीकृति देने का भाव है, जो भक्ति आन्दोलन की भी एक विशेषता कही जा सकती है।

मध्व अपनी कविताओं में तत्कालीन प्रचलित धर्म सभ्यता को सही मार्ग पर लाने का प्रयास करते देखे जा सकते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में लोगों को भक्ति के मार्ग पर चलने का सन्देश दिया है। उन्होंने भक्ति के मार्ग पर न चलकर दुनियानवी झंझटों में फँसनेवालों को ‘कुफर’ माना है। वे तत्कालीन सभी धर्मों और आराधना पद्धतियों को अपनी आलोचना का शिकार बनाते हैं। इसी क्रम में इन्होंने अपनी कविताओं में ब्राह्मण, फकीर, जंगम, सूफी, नाथ, मुल्ला, पंडित, जोगी, भजनी (वारकरी), काजी, आदि को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, और आराधना कैसी होनी चाहिए और कैसी नहीं होनी चाहिए, उनकी व्याख्याएँ आदि करने का प्रयास किया है। उनकी कविताएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। एक कविता में जो करने के लिए कहा गया है, दूसरी कविता में वैसा न करने पर वह विशिष्ट न होने की शर्त रखी गई है। जैसे “वह पंडित किसी काम का नहीं जो वेदों को पढ़कर उसके भेद को नहीं समझता और पत्थर के देवताओं की पूजा करता है”⁶⁹, बल्कि उनके अनुसार तो “वह पंडित भला है जो वेदों को पढ़कर उसे समझता है और पराए देवताओं की पूजा नहीं करता हो।”⁷⁰ इसी प्रकार

उन्होंने अन्य साधना पद्धतियों के सन्दर्भ में भी अपने मत व्यक्त किए हैं। एक कविता में मुसलमान कैसा होना चाहिए, को व्याख्यायित करते हुए उन्होंने लिखा है -

“राखे असल जो इमान । बड़ा साईं मुसलमान ॥
 नहीं तो अवस बेइमान । दुनिया बीच रोते हैं ॥1॥
 करै दैबकु जो कैद । बड़ा सोही येक सैद ॥
 नहीं तो सैतान से कैद । चिकड लगा धोवते ॥2॥
 लाश मेरा महबू । उसका बंदा सोही खूब ॥
 जो नाथमाधो का कुफ । सुनकइ महजुज होते हैं ॥3॥”⁷¹

यहाँ ईमानदारी पर अत्यधिक जोर देते हुए दिखाई देते हैं, जिससे वे धर्म और व्यक्ति की धार्मिकता को भी व्याख्यायित एवं मूल्यांकित करते देखे जा सकते हैं। कुछ इसी भाव की कविता दादू ने भी लिखी है, जिसमें उन्होंने लिखा है -

“दादू सो मोमिन मोम दिल होई । साँई कू पहिचानै सोई ॥
 जोर न करे हराम न खाई । जो मोमिन भिस्ति में जाई ॥”⁷²

इसी क्रम में मध्व ने जो निवृत्तिवाद पर अतिरिक्त जोर दिया है, उसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखना भी आवश्यक है। आवश्यक नहीं कि निवृत्तिवाद हमेशा ही नकारात्मक पक्ष लेकर सामने आए। इसी दृष्टिकोण से व्यापक अर्थों में इनकी कविताएँ सामंती एवं सत्ताधारी सभ्यता की कठु आलोचना करती हैं और उनके प्रतिरोध में भक्ति ही नहीं अपनी दृष्टि में विशेष निवृत्तिवाद को स्थापित करती हैं। महल की संस्कृति से टकराती है। क्या उनकी कविताएँ तत्कालीन बढ़ती हुई ऐश्वर्यप्रधान संस्कृति के खिलाफ भक्ति को खड़ा करती है? राजा सामंत अपने महलों में भक्ति करते थे, उसके खिलाफ क्या ये निवृत्तिवाद का प्रतिरोध खड़ा कर रहे थे? क्योंकि कोई भी किसी बात पर इतना जोर क्यों देगा जितना ये निवृत्तिवाद पर दे रहे हैं। भक्ति के आगे ये सब कुछ व्यर्थ मानते हैं, गर्व का त्याग आवश्यक मानते हैं। इसी क्रम में उन्होंने कहा है, “अपने महल में ही गर्त हो गया है, गाता है, सुनता है, जो सुहाता है।”⁷³ “ये बाजिगरी का तमाशा क्या तुम देख रहे हो। हाथी, घोड़े, माल खजान, कबीला, कोई किसी का साथी नहीं है। अमीर, वजीर, साथी गए, ये तो आगे बढ़ती के साथ है। आशिकी किस करारी चीज़ का नाम है, जिस पर तुम आशिक होते हैं। यहाँ साँस लेने का वक्त नहीं है और तुम झूठे वसूख पर विश्वास कर रहे हो।”⁷⁴

इसके बरअक्स उनके फकीर की विशेषताओं को देखा जा सकता है, जिसे उनके जीवन जीने का रोल मॉडल कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी एक कविता में फकीर को व्याख्यायित किया है। फकीर कैसा होता है और वह क्या-क्या करता और उसे क्या-क्या करना चाहिए, सविस्तार बताया गया है। उन्होंने फकीर की तुलना पीपल के पत्ते से की है जो पवन जिधर है उधर जाता है। कुछ ऐसी ही फकीर की बात होती है और वह नवखंड में बसता है, अर्थात् उसका कोई घर नहीं होता पर सब खंड उसके घर होते हैं। उसकी अक्ल बहुत होती है और वह जिकिर (नाम स्मरण) चाहता है। उसे वह मीठी शर्करा की तरह खाता है और बाकी सब खट्टा फेंक देता है। गुरु के नाम का अमल पीता है और उसके लिए सम्पत्ति कुफर (अधर्म) है। उसी ने सिंहासन का निर्माण किया फिर भी वह उसके आगे खड़ा होता है, अर्थात्

उसका भोग नहीं करता है। उसका काम केवल बन्दगी (भक्ति) है। उसने किले जीते जिस पर उसने अपने मालिक का तख्त बना दिया।

महलों के मन्दिरों में कैद होती हुई भक्ति को इन्होंने नाम स्मरण को ही क्यों महत्व दिया, यह समझ आता है। आराध्य के नाम के साथ गुरु का भी जिक्र करना इन्होंने अनिवार्य माना है। किन्तु साथ ही सत्संग का इन्होंने कोई उल्लेख अपनी कविताओं में नहीं किया है। जीवन की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता का कई बार उल्लेख इनकी कविताओं की विशेषता है और ऐसा करना उनके द्वारा स्थापित निवृत्तिवाद के लिए अनिवार्य था। 'जगत् मिथ्या' की प्रतिध्वनि इनकी कविताओं में बार-बार सुनी जा सकती है। इसी क्रम में वे भाग्यवाद के भी शिकार हुए हैं। इसी प्रकार अभिमान एवं अहंकार का त्याग भी प्रत्येक प्रकार के भक्त के लिए इन्होंने अनिवार्य माना है। जहाँ इन्होंने पंडित या ब्राह्मण के लिए पत्थर के देवताओं को पूजना वर्जित माना है, वहीं फकीरों के लिए 'पीर फकीरों की बन्दगी सच' मानी है, जिससे इनके अनुसार कुफर सब भाग जाता है।

वैसे मध्व ने 'सभी घट में रब है, जैसे तसबी बीच तागा' को मानते हुए निर्गुणवाद को ही अपनी कविताओं में प्रश्रय दिया है, किन्तु एकाध स्थान पर उन्होंने सगुण कृष्ण का भी रूप अपनी कविताओं में चित्रित किया है। नकली और नकल करनेवाली भक्ति की इन्होंने खुलकर भृत्सना की है। इसी क्रम में उन्होंने नाथ सम्प्रदायी कैसा होना चाहिए, इसे व्याख्यायित करते हुए, स्वयं को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर दिया है। एक कविता में उन्होंने लिखा है "यदि मुँह में नाम है तो घर में किसी वस्तु की कमी न होगी।" इस कविता से जाना जा सकता है कि ये एक मठीधीश का जीवन जीते थे, जहाँ इनके कई शिष्य इन्हें घेरे रहते थे। पारम्परिक पूजा पद्धतियों की अपेक्षा इन्होंने नाम स्मरण एवं फकीरों से जीवन को अधिक प्रश्रय दे रखा था। इनमें कहीं-कहीं ब्राह्मणत्व के अहंकार को भी देखा जा सकता है, किन्तु उसे अन्तिम नहीं मानते हैं। इन्होंने एक प्रकार से धर्म के क्षेत्र में शुद्धतावादी आन्दोलन चला रखा होगा, जो प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने अपने नियमों के अनुसार आचरण करने पर अधिक बल देता था। इन्होंने इसे स्वीकार किया कि सभी को अपने-अपने धर्म के नियमों या पंथ के नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए, किन्तु कहीं भी वर्णाश्रम आदि का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि इनके शायद अन्य वर्ण के शिष्य न थे या फिर वे इनमें भेद ही नहीं मानते थे। पहले की संभावना अधिक है। केवल विभिन्न धर्मों और पंथों की बात वे अपनी कविताओं में करते हैं, वर्णों का कही जिक्र तक नहीं करते हैं। वैसे भी ये सामाजिक सम्पृक्तता के कवि नहीं हैं, केवल धार्मिक नियमों के कवि हैं। ये भी भक्त कवि इन्हीं सीमित अर्थों में थे, जिस अर्थ में नामदेव या तुकोबा थे उस अर्थ में कदापि नहीं। इनका यह पद इन्हीं बातों की तरफ इशारा करता है -

“माय का गुलाम न कर साईकु सलाम ॥ध्रु॥

कामी कपटी चोर तुफानी मुतफन्नी अलाम रे ॥

उसकू तंबी पहुंचावेगा हजरत का ईलाम रे ॥1॥

कवडी उपर जविडा वारे, दुनयाई हराम रे ॥

ऐसा बेईमान इसकू क्यों मिलेगा राम रे ॥2॥

नाहक सारी उमर गवाई न लिया हरिका नाम रे ॥

जहा किया शरीरीका बैकुंठ में इनाम रे ॥3॥

कहत है माधोनाथ उसका दोजख में मुकाम रे ॥४॥”⁷⁵

यहाँ कवि कह रहा है ‘तु माया का गुलाम, साईं को नहीं करता सलाम । दुनिया कामी कपटी चोर तुफानी है । उसे तु भी हजरत का इलहाम पहुँचाएगा । कौड़ी भर पर प्राण न्यौछावर करता है ऐसी दुनिया हरामी । ऐसे बेईमानों को कैसे राम मिलेंगे, जिसने नाहक सारी उम्र गँवाई हैं, जिसने हरि का नाम न लिया हो । शरीर को जिसने बैकुंठ बनाया हो, उसका नर्क में मुकाम है ।’ इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों को कम, किन्तु धार्मिक पाखण्डों की ही आलोचना की है, इन पाखण्डों का प्रायः सामान्य जन से नहीं, धर्म विशेष से ही सम्बन्ध है, ऐसा लगता है वे धर्म को शुद्ध करना चाहते हो, एक प्रकार का धार्मिक पुनर्जागरण करना चाहते हो । उनकी एक कविता में धर्म के नाम पर चल रही रूढ़ियों पर भी आघात किया गया है । एक कविता में होली के पर्व पर रंग खेलते समय दी जानेवाली गालियों के प्रतिरोध में कवि अपनी आवाज़ उठाता है । इन गालियों को भी वह ‘कुफर की बोली’ कहता है । मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में होलिका दहन के अगले दिन अबीर-रंग-गुलाल का पर्व ‘शिमगा’ मनाया जाता है । इस दिन एक-दूसरे को रंग लगाते हुए मुख और हाथ से एक विशिष्ट प्रकार का आवाज निकालते हैं और कुछ तुकान्त गालियाँ भी देते हैं, इसे ‘बोंब मारना’ कहते हैं । इस प्रक्रिया में समाज में विभिन्न प्रकार की गालियाँ खुले आम दी जाती हैं, जिसे वैयक्तिक नहीं लिया जाता है । किन्तु यह प्रथा रूढ़ी बनकर विकृत रूप धारण कर चुकी है, जिसका प्रभाव मध्व के समय में भी रहा होगा । इस गालियाँ देने की प्रक्रिया को कुछ लोगों ने वैज्ञानिक एवं शास्त्रसम्मत होने की भी बात कही है, जिसमें वे चमत्कारिक कथाओं के अतिरिक्त वैज्ञानिक भी सिद्ध करते हुए इसे कुछ-कुछ ‘विरेचन’ जैसा बताने का ढाड़स करते हैं ।⁷⁶ इसी समाज की सामान्य दिखनेवाली प्रवृत्ति पर मध्व ने कटाक्ष किया है और होली-धुलीवन्दन को सही ढंग से मनाने की सलाह दी है, जिसमें उनके रूमानी विचार भी अभिव्यक्त हुए हैं ।

इनकी कविताओं में गजब आत्मविश्वास इसलिए भी झलकता है, क्योंकि वह बगैर उल्लेख किये अपने पूर्ववर्तियों की बातों का काव्यात्मक रूप में दोहराव कर रहे हैं । उनकी अपनी ही बातों बहुत अधिक नवीनता नहीं है । जीवन की क्षणभंगुरता, निवृत्तिवाद, नाम एवं गुरु का महत्व इन चार-पाँच बातों के ईर्द-गिर्द इनकी कविताएँ घूमती हैं । इसका अर्थ यह है कि मध्वमुनि के आगे स्पष्ट था कि उन्हें क्या कहना है और कैसे कहना है । इस आत्मविश्वास एवं तुकान्तता के कारण उनकी कविताओं को एक विशेष प्रकार की लय में पढ़ा जा सकता है । इनकी कहन शैली अथवा अभिव्यक्ति में एक प्रकार का आत्मविश्वास झलकता है । कई बार तो ऐसा लगता है कि भावों या विचारों से अधिक से अधिक ये अपनी बात विश्वास के दम पर प्रस्तुत करते हुए देखे जा सकते हैं ।

लययुक्त और तुकान्त पदावली के लिए उन्होंने जाने-अनजाने हिन्दुस्तानी के स्वाभाविक विकास में स्वयं को सम्मिलित कर लिया । उन्होंने अपनी कविताओं में शब्दज्ञान का भरपूर उपयोग किया है । ऐसा जान पड़ता है कि तत्कालीन समाज में प्रचलित आम-फहम भाषा से ये खासे परिचित थे और इनकी शब्दावली भी विशाल रही होगी । देशज और फारसी के शब्दों का अनायास मिश्रण इनकी कविताओं में हुआ है । फारीश, दोजख, काफिर, खिदमत, ज़र, दौलत, कवडी, चेला, चावे (मराठी), कुफर, बन्दगी, तख़्त, वजूद, पाक, फजर, किताब, अमल, वक्त, बंदा, जुदा, रब, दिल, जिकीर, नसीहत, बख़्त, बेइमान, प्यारी आदि शब्दों के साथ-साथ कौड़ी उपर जविडा वारे, नंगे आना नंगे जाना इत्यादि

मुहावरों का प्रयोग इनकी भाषा में रवानगी भर देता है। कहीं-कहीं नाथ सम्प्रदाय की शब्दावली का भी प्रयोग इन्होंने किया है।

इनकी कविताओं में आए गरीबनवाज़ आदि शब्द नारायण के ही पर्याय मानने चाहिए और नारायण आदि शब्द आराध्यसूचक शब्द निर्गुण के ही पर्याय मानने चाहिए, क्योंकि इनमें से किसी भी शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोगों से इनके यहाँ ईश्वर के किसी सर्वथा भिन्न रूप का आभास नहीं होता है और न उसमें सगुणता के अधिक लक्षण ही हैं। हिन्दुस्तानी भाषा का सहज विकास देखा जा सकता है। बहुत बार तो ऐसा लगता है कि भावों या विचारों से अधिक से अधिक ये अपनी बात विश्वास के दम पर प्रस्तुत करते हुए देखे जा सकते हैं। उनके शिष्यों ने उनके हिन्दी काव्यत्व को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

6.3.2 अमृतराय

शिष्य वही जो गुरु से आगे निकल जाए और गुरु वही जो ऐसे शिष्य का निर्माण करे तथा उसके इस यश को बढ़ावा दे। कुछ ऐसी ही प्रसिद्धी मध्वमुनि के शिष्य अमृतराय को मिली। मध्वमुनि की कविता यदि उख है तो अमृतराय की कविता गुड या चीनी से कम नहीं, किन्तु उसमें गुड या चीनी जैसी बनावट नहीं, अपितु झरने का कलरव है। “इनका जन्म शके 1620 (सन 1698) में हुआ और ये बुलढाणा जिले के फेत्तेखेडा गाँव के रहनेवाले थे। इनके आयुष्य का कुछ समय औरंगाबाद में बीता।”⁷⁷ “उन्होंने अपनी ‘ध्रुवाख्यान’ नामक रचना में अपने माता-पिता का नाम उमा और शंकर बताया है। अमृतराय की अपने गुरु मध्वमुनि से मिलने की कथा अत्यन्त रोचक है। “ये मूलतः बुलढाणा जिले के मेहकर तालुके में पड़नेवाले फत्तेखरडा ग्राम के रहनेवाले थे। आगे ये औरंगाबाद के विसा मोरो नामक एक श्रीमंत गृहस्थ के यहाँ लेखाकार थे। किन्तु यह कार्य उनके व्यक्तित्व के साथ जुड़ न सका। अन्ततः उन्होंने संदेसा भिजवाया कि ‘जाकर कहो उस विसा मोरो से, बस हुई तेरी नौकरी’ और भिक्षावृत्ति अपना ली। उनकी कविताओं में आए विभिन्न उल्लेखों के आधार पर भी यही लगता है कि उनका मन संसार उचट जाने का कारण उनकी स्त्री थी। उन्होंने नौकरी का पेशा भी छोड़ दिया और संसार के झंझटों से भी छुटकारा पा लिया, किन्तु उनका मूल स्वभाव वहीं-का-वहीं रह गया। कहा जाता है कि एक बार इन्होंने स्वभावानुसार मध्वमुनि का मज़ाक उड़ाया। मध्वमुनि ने क्रोध को पनाह न देते हुए, शान्तता से कहा, ‘बेटा ! ईश्वर ने तुम्हें अमृततुल्य वाणी दी है, उसका उपयोग तुम ऐसे न करो। ईश्वर भजन कर ईश्वर चरणों में लीन हो जाओ !’ इस उपदेश से उनकी वृत्ति घूम गई और उनकी वाणी ईश्वर भजन की ओर उन्मुख हो गई।”⁷⁸

अमृतराय अपनी विशेष प्रकार की कविताओं के लिए काफी प्रसिद्ध हुए। गुरु की वाणी से इन्होंने मधुरता ग्रहण की और “सन्यास ग्रहण करने के बाद उन्होंने ‘कडाका’ छन्द में कटाव की रचना कर मराठी के एक अन्य पक्ष को समृद्ध किया। विशेषतापूर्ण शब्दरचना, अनुप्रासों की झड़ी, शानदार कहन शैली, प्रसंगों एवं घटनाओं का जस-का-तस वर्णन आदि के माध्यम से इन्होंने कटाव कथाकीर्तनों तथा निजी बैठकों में रंगत ला दी होगी। कपड़े, अन्नपदार्थ, वृक्षादि वणस्पति, विभिन्न अलंकार आदि की ऐसी विशेषतापूर्ण व चमत्कृत शब्दरचना की सूची कटाव में जुड़ जाती है कि सुनते ही श्रोताओं का मन प्रसन्न हो जाए। कटाव की यह विशेषताएँ कीर्तनकारों पर जाहिर होने के बाद इन्होंने अनेक कटावों की रचना की, किन्तु अमृतेश्वर के कटाव की मधुरता अपनी ही विशेषताएँ लिए हुए हैं।”⁷⁹ अमृतराय की

कविता मराठी में भक्तिकाव्य और रीतिकाल के संधिस्थल पर स्थित है। उनकी कविताओं में पारम्परिक सौंदर्यशास्त्र के सारे प्रतिमानों का यथायोग्य प्रयोग इसी ओर इंगित करता है कि साहित्य साधना लोक से रूढ़ पैमानों की ओर लौट रही थी। इन्हीं पारम्परिक प्रतिमानों के हवाले से वि.ल.भावे ने इनकी कविताओं की खूब सराहना की है। उनकी कविताओं में नक्काशियों की झलकियाँ, शब्दों की विशिष्ट बुनावट, मोतियों जैसा अलंकारों का चुनाव आदि पारम्परिक प्रतिमानों के साथ-साथ कीर्तनकारी एवं सन्त-भक्त कविताओं के गुण एक साथ देखने मिलते हैं। इतना ही नहीं “यह प्रसिद्ध है कि नानासाहाब पेशवे भी उनके कीर्तन से अत्यधिक प्रसन्न हुआ करते थे। यह किवदन्ती प्रसिद्ध है कि शनिवारवाड़े (पुणे स्थित पेशवाओं के राजदरबार) में श्रीमान के समक्ष अमृतराय का कीर्तन हुआ था।”⁸⁰ शके 1675 (सन 1753) में अमृतराय समाधिस्थ हुए। अपने पीछे उन्होंने अपनी लम्बी शिष्य परम्परा छोड़ी। उन्होंने मराठी में ‘कटाव’ छन्द पहली बार आरंभ किया था, जिसे उन्होंने हिन्दी में भी प्रयोग में लाया।

अ) अमृतराय की हिन्दी कविताएँ

अमृतराय की हिन्दी कविताओं की पाठ परम्परा हिन्दी में रचना करनेवाले अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों में केवल ‘आदिग्रंथ’ में संगृहित मराठी सन्त-भक्त कवियों से ही कम पुरानी है, अन्य सभी से अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है। अधिक नहीं तो उनकी एक ही कविता स्वयं वि.ल.भावे ने अपने साहित्येतिहास में दी है। उन्होंने लिखा है - “अमृतराय से पूर्व मराठी में कटाव रचने की पद्धति नहीं थी। यह कहना गलत नहीं होगा कि ‘कटाव’ वृत्त का आरंभ रायजी ने ही मराठी भाषा में किया। मराठी की तरह अमृतराय हिन्दी की हिन्दी भाषा भी बेहतर थी। उस भाषा में भी उनके पद आदि रचनाएँ हैं। उनका एक आशीर्वादात्मक हिन्दी पद है, इससे पता चलता है कि वे किस प्रकार की हिन्दी लिखते थे और इसका भी पता चलेगा कि उनकी सुख की कल्पना क्या थी। उन्होंने कहा है -

“तुम चिरंजीव रहो। हरिकथा सुरस पिवो ॥

हरिकीर्तनके साथी सज्जन। बहुत बरस जीवो ॥ तुम चिरंजीव ॥ध्रु॥

उच्चा मंदिर महेल सुनेरी। महल मुलुख बस्ती।

पुत्र पौत्र धन, सुंदर कामिनि। सुगुण रूप हस्ती ॥1॥

सत्ता दाना पानी निर्मल। गंगाजल गेहरा।

रंगारंग घर बाप बगीचे। रुपये होन मोहरा ॥2॥

अमृतराय के अमृतबचन। तुम सदा रहियो।

सबल पुष्ट आरोग्य अनामय। आनंदमो रहियो ॥3॥”⁸¹

इस कविता को छोड़कर 13 पूर्ण और एक अपूर्ण कविताएँ आचार्य विनमोहन शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘हिन्दी को मराठी सन्तों की देन’ के परिशिष्ट में दी हैं और इसके साथ ही कटाव को समझाते हुए उन्होंने एक कटाव उद्धृत किया है। इस प्रकार उन्होंने कुल मिलाकर मराठी साहित्येतिहासकारों की भाँति आचार्य शर्मा ने भी अमृतराय के दाय को उनके ‘कटाव’ रचनाबन्ध को केन्द्र में रखकर देखा-परखा है। उन्होंने वि.ल.भावे की उपरोद्धृत बात को दोहराते हुए अमृतराय के कटावों की प्रशंसा की है। अर्थात् अमृतराय की कविताओं की काफी लम्बी पाठ परम्परा अवश्य रही है, किन्तु उसे न तो मराठी

साहित्य परिदृश्य में और न ही हिन्दी साहित्य परिदृश्य में मूल्यांकन और इतिहास का हिस्सा बनाया गया और न तो उनकी कविताओं का सम्पूर्ण साहित्येतिहास के प्रवाह रखकर मूल्यांकित किया गया है।

आ) अमृतराय के कटाव : संगीत, शास्त्रीयता एवं कविता

अमृतराय द्वारा लिखित कटावों के पश्चात् मराठी में इस छन्द का बड़े पैमाने पर प्रचलन बढ़ गया, इसके लेखन की एक लम्बी परम्परा का उल्लेख मिलता है। अमृतराय के कटावों की उच्चता के सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि उन जैसी रचना न कोई कर पाया और न ही वैसी प्रसिद्धी किसी को भी नहीं मिली। वे ही एकमात्र रचनाकार हैं, जिन्होंने इस पद-बंध का प्रयोग हिन्दी में भी किया। कटाव छन्द प्रकार को एक प्रकार का बन्धनयुक्त मुक्तछन्द कहा जा सकता है। जिस प्रकार मुक्तछन्द भी छन्दमुक्त नहीं होता, उसकी भी अपनी अर्थलय होती है। उसी प्रकार कटाव में भी देखा जा सकता है कि यह तमाम छन्दों की शास्त्रीयता एवं नियबद्धता से मुक्त है। फिर भी इसे शास्त्रीय पद्धति से परिभाषित करने के प्रयास हुए हैं। “इसे डॉ. माधवराव पटवर्धन एक प्रकार का पद्य-प्रबंध कहते हैं। इनमें उद्धव द्विपदी के ध्रुव पद रहते हैं। ...उसके आगे पदाकुलक में किसी एक यमक से सम्बद्ध चरण क समूह होते हैं और एक समूह से दूसरे समूह पर जाने के बीच में जो पद का अष्टमात्रक अन्तरा होता है, उससे आगे के ‘समूह’ का यमक साधा जाता है। कड़ी के अंत का सम्बन्ध यमक द्वारा ध्रुवपद से जुड़ा रहता है। समूह के चरणों की संख्या निश्चित नहीं रहती। गतिशील रचना का यह एक सुविधाजनक पद्य-प्रबंध है।”⁸²

कटाव को रूपवादी दृष्टिकोण से देखने के कई कारण हैं। पहला तो कारण इस पद्य प्रकार के मूल में वस्तु की अपेक्षा लय एवं नादसौन्दर्य का होना एवं उसके लिए शब्दों का उचित प्रयोग और उनका तराशा हुआ प्रयोग। दूसरा कारण इसमें कथात्मकता का क्षीण होना और किसी प्रसंग विशेष को सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करने के लिए उसी प्रसंग विशेष पर बड़े धैर्य के साथ टिककर उसकी प्रत्येक संभावना, प्रत्येक पक्ष को शब्द की पूर्ण शक्ति के साथ चित्रित किया जाता है। यह विशेषता केवल अमृतराय के मराठी-हिन्दी कटावों में ही नहीं, अपितु इस विशेषता को परवर्ती कटाव रचनाकारों ने भी साधने का प्रयास किया है। यही कारण है कि कटावों के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण का विकास होता गया, जिसे प्रायः रूपवादी दृष्टिकोण से देखने के लिए स्वयं रचनाकारों एवं रचनाओं ने मजबूर किया। अमृतराय ने शब्दलय एवं नादसौन्दर्य की विशेषता का प्रवेश कटावों में देखी जा सकती है। इन रचनाओं को रीतिवादी इसलिए भी नहीं कहा जा सकता है कि यह किसी भी प्राचीन मतवाद का अंधानुकरण उस रूप में नहीं करते हैं। जैसा हिन्दी के रीतिकालीन कवियों द्वारा होते हुए देखा जा सकता है। वास्तव में कटाव की रचना करनेवाले कवि अपने ही द्वारा निर्मित वृत्तों में इस पद्य प्रकार की रचना करते हुए देखे जा सकते हैं। मसलन अमृतराय के कटावों में शब्दलय एवं नादसौन्दर्य के आगे विषय-वस्तु बर्फ की तरह जमी हुई दिखाई देती है, वह एक ही प्रसंग पर रुक गई है। सामान्य तौर पर विषय वस्तु का कथा के रूप में जैसा विकास मध्यकालीन भक्ति कविताओं में देखा जा सकता है, उसका कटाव में प्रायः अभाव सा है। उदाहरणार्थ अमृतराय का यह कटाव देखा जा सकता है -

श्री बृंदावन मो यदुराज बिराजत है ॥ध्रु॥

गीतनृत्यगति, हावभाव किति, धिमिकिधिंमिकिंधिमि।

मृदंग नवघन, घोर गर्ज पखवाज राज सीताज ताजकी,

आवाज गहरे, थरन होत यत, झनन झनन झनन झांजरी ।
 इतन मोल की, ढोल की गात, घुम घुम घुम घुम ।
 नाद जम रह्यो, तामो मुरली, तनन तनन ।
 उपज अलोटी, कोयल कंठी, कृष्ण कंठ सो, लपट लपट के,
 तान लपटके, निपट मुलायम, तीन ग्राम यकवीस मूर्छना,
 यक सो यक, अलाफ सवाई सुखी, होत वृखभान जवाई ।
 उप्पर थाट, विमान सुरनर, गुमान अमृत रायन ने,
 अधरांगुलि दे दे थक्किंत रहै । वृंदावन मो ना ।”⁸³

यहाँ कथाक्रम के एक बिन्दु मात्र को उठाकर प्रसंग का गहराई से चित्रण किया गया है। किसी प्रसंग को इतनी तन्मयता से अभिव्यक्त करने के लिए वस्तु पर अपार संयम की आवश्यकता होती है। इस पद को पच्चीकारी या रूपवादी इसलिए नहीं कहा जा सकता है। इसमें काव्य वस्तु के साथ उसका नादसौन्दर्य और शब्दलय स्वाभाविकता लिए हुए है, पूर्ण प्रसंग के साथ इसका तादात्म्य होता दिखाई देता है। स्वाभाविक रूप से वृन्दावन में यदुराज गीत नृत्यादि हावभाव के साथ लोकरंजन कर रहे हैं और कवि विभिन्न वाद्ययंत्रों के प्रभाव को शब्दों के माध्यम से निर्माण करता है। उन वाद्य ध्वनियों-नादों से शब्दों का निर्माण करने की क्षमता का परिचय प्रायः प्रत्येक कटाव में मिलता है। किन्तु यहाँ सम्पूर्ण कविता का प्रभाव भक्ति का पड़ने के पर भी इसमें काव्य वस्तु पर इसका नादसौन्दर्य एवं लय हावी होती दिखाई देती है। अन्ततः पाठक-श्रोता उसी नादसौन्दर्य एवं शब्दजाल का कायल होकर रह जाता है। कविता की अधिकांश पंक्तियाँ इसे ही चरितार्थ करने के लिए लिखी गई जान पड़ती हैं। कवि का ध्यान भी प्रसंग को आगे बढ़ाने की अपेक्षा वहीं रुककर उसे अधिकाधिक रोचक बनाने की ओर अधिक जान पड़ता है। ध्यान देने की बात है कि न तो यहाँ श्रीकृष्ण का रूप-सौन्दर्य वर्णन है और न भक्ति का बखान है, कवि तो बस बाहरी निरीक्षक की भाँति प्रसंग को रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का कार्य करता है।

अमृतराय के अधिकांश हिन्दी कटाव कृष्ण कथा के प्रसंगों को आधार बनाकर लिखे गए हैं। उनके एक कटाव में कृष्ण की बाललीला के प्रसंग को अपनी कविता का माध्यम बनाया है जिसमें बलभद्र उनके द्वारा मिट्टी खाने की शिकायत माता यशोदा से करते हैं और माता डाँटकर उनको मुख खोलने के लिए कहती हैं और उन्हें उसमें तीनों लोक के दर्शन होते हैं। इस कविता में भी बालक बहाने बनाने का प्रयास करता है, किन्तु सूर के बालकृष्ण सी सूक्ष्मता यहाँ नदारत है। ऐसा लगता है कि ईश्वरत्व का बखान ही कविता का मूल उद्देश्य है, ऐसी कविताओं को ही आध्यात्मिक क्षेत्र की कविताएँ कहकर काव्य क्षेत्र से बाहर रखने का प्रयास करना चाहिए। इस पद को इस प्रसंग की पुनर्रचना भी नहीं कहा जा सकता है। अन्तिम तीन पक्तियों के लिए इस सर्वज्ञात प्रसंग को उठाया गया है। अन्य एक कटाव में द्रौपदी चीरहरण प्रसंग में उसकी रक्षा एवं कौरवों के संहार की मनोकामनाओं पूरा करने की गुहार का चित्रण है। यहाँ द्रौपदी अपनी लाज बचाने के लिए गुहार लगाने के क्रम में पांडवों को ‘कपटे’ कहकर संबोधित करती है, जो उसकी दृष्टि से स्वाभाविक भी है। वह कृष्ण को अराध्य और भ्राता दोनों रूप में याद करती हैं। लगभग सम्पूर्ण मराठी कविता में कृष्ण बालक ही रहे। इतना ही नहीं, वे अमृतराय की इस कविता को छोड़कर लगभग सभी कविताओं में बालक ही रहे। यहाँ वे चीर चुराते हैं,

बंसी की धुन खूब लगाते हैं, पिय को बुलाते हैं। इनकी गोपियाँ भी छबिली, पति, पूत को छोड़कर आयी हैं। दूध दुहना, मंथन, कंडन, पिसना, पछोड़ना, खान-पिना, नहाना-धोना, देना, आना-जाना, काम-काज, रीत, भात, सब लज्जा आदि को छोड़-त्यागकर वह कृष्ण से मिलने आयी हैं। एक तो शाम की मुरत मन में बैठी है और ऊपर से शीतल शुभ चन्द्र, ऐसे में कवि भी कैसे धीर धरते और गोपियाँ भी, परिणामतः काम भर गया गोपियों के नयन और तन में। लेकिन इनके कृष्ण भी गजब के मर्यादावादी हैं वे गोपियों से कहते हैं -

“किसन कहे तब बात, पहर दस घरी हो गयी रात,
दौरते आवत क्यों ब्रजवासी।”

भावों-विचारों को पूर्णतः उद्दिप्त करने के पश्चात कवि तुरन्त अपनी कविता को समाप्त कर देता है। यह है धर्म और नैतिकता का सेंसरशील, जो कवि को अश्लील बनने से, उसका चित्रण करने से रोकता है।

एक कटाव में निर्गुण निजानन्द का सार कहकर, उसी के सगुण रूप कृष्ण को माना और उसके रूप सौन्दर्य का बाहरी चित्रण इस पद में किया गया है, जिसमें पारम्पारिता का वहन मात्र है, किसी भी नवीनता की अपेक्षा। कई बार ऐसा लगता है, अमृतराय अपने पूर्ववर्ती लिखे गए साहित्य का अपनी भाषा में अनुवाद कर रहे थे, क्योंकि इनकी कविताओं में भावों का अभाव खलता है, जहाँ कहीं भावों का चित्रण आया है, वहाँ वह शब्द एवं नाद सौन्दर्य के रूप में ही आया है। ऐसा लगता है भक्ति और पारम्पारिक रूप को कायम रखने के दबाव में अमृतराय अपनी कविताओं में नादसौन्दर्य एवं शब्दसौन्दर्य खो देते हैं, क्योंकि पारम्पारिक ईश्वर के रूप का वर्णन करनेवाली उनकी कविताओं में शब्दलय एवं अर्थलय की विशेषता तिरोहित होती हुई दिखाई देती है, जिसमें वे सिद्धहस्त हैं। क्योंकि जब वे खुलकर अपनी बात परम्पराओं का पालन न करते हुए या अपने मन-मस्तिष्क की बात कविता में कह रहे होते हैं, तब उनकी कविताएँ फसल की माफिक लहलहाती हैं, जैसा काव्यवस्तु का पवन का झोंका आता है, वैसा रूप उनकी कविताएँ पाती हैं, मानो जैसे एक साथ गेहूँ की बालियाँ नृत्य करते हुए गा रही हो। इससे तो ऐसा ही लगता है कि परम्परा के निर्वाहन में उनकी स्वाभाविक रचनात्मकता पर एक प्रकार की सेंसरशील लग जाती है। क्या इसे उनके समय के पंडितों का दबाव माना जा सकता है, जिनसे कविता पर बाबन्दी का खतरा अमृतराय नहीं उठाना चाहते थे अथवा उन्होंने अपने वर्णनों में स्वयं नवीन रूप के बजाए प्रचलित रूपों और प्रसंगों का ही वर्णन करना चाहते थे। यही बात उनके कुछ कटावों में देखी जा सकती है, किन्तु वहीं जब वे खुलकर लिखते हैं तो ऐसा।

अमृतराय के कृष्ण प्रसंगों के अतिरिक्त लिखित दो कटावों में शिव कथा आयी है। एक पद में गणाधिपति अर्थात् शिव को किस प्रकार का भक्त और किस प्रकार की भक्ति पद्धति भाति है, इसे व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों के साथ रखकर देखा जाए तो अमृतराय की यह व्याख्या हमारे सामने इस रूप में पहली बार प्रस्तुत होती हुई दिखाई देती है कि इसमें हरिकथा में रंगकर नाचने और गाने को ही भक्ति का पर्याय माना गया है। भक्त की यह अवधारणा महानुभावों, वारकरियों, दत्त, सूफियों और रामदासियों आदि किसी से भी मेल नहीं खाती है। जहाँ महानुभावों ने गायन (और प्रकारान्तर से नृत्य) पर पाबन्दी लगा रखी थी। वारकरियों ने ‘नाचू कीर्तनाचे रंगी, ज्ञानदीप लावू जगी’ का नारा आवश्यक दिया था, किन्तु उनके यहाँ यह एकमात्र

उपाय नहीं था, अपितु मन में भाव और हरी कथा (कीर्तन) श्रवण मूल में थे। दत्त और रामदासियों के यहाँ तो नाचने-गाने को भक्ति मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मन में सच्चे भाव पर वारकरियों ने बराबर ध्यान दिया। वैसे यह पद वारकरियों के मात्र 'नाचू कीर्तनाचे रंगी' के भाव को ही विस्तारित करता है और 'ज्ञानदीप लावू जगी' को भूल जाता है, इस कारण इस पद में अभिव्यक्त भक्ति निजी मुक्ति का माध्यम बनकर रह जाती है, सामाजिक मुक्ति के भाव को यहाँ रेत की तरह फिसलते हुए देखा जा सकता है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार "कटाव एक प्रकार की काव्य शैली है, जिसमें तुक की अपेक्षा पद प्रवाह भाषानुसार प्रवाहित होता है।"⁸⁴ किन्तु इस पद में सप्रयास तुक मिलाने के लिए कवि ने कई शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा है। तुकों की अपेक्षा नहीं होती तो क्या वे ऐसा करते? प्रल्हादा, आशारवादा, कर्दा आदि शब्दों के बिगड़े रूप उनकी कविताओं में देखे जा सकते हैं। इस पद में कई फारसी के शब्द भी आए हैं। हिन्दुस्तानी का विकास किस प्रकार आगे बढ़ रहा था, इसे अमृतराय जैसे कवितयों की कविताओं में देखा जा सकता है। शिव और उनके बाबा आदम होने का वर्णन इस पद में किया है। संवेदनशीलता वर्णन की विशेषता है। कई तत्कालीन अवधारणाएँ यथा मुद्रा, मोहरा, होण आयी हैं।

कई बार ऐसा लगता है कि नादसौन्दर्य एवं ऐच्छिक लय लाने के लिए इन्होंने शब्दों का तोड़-मरोड़कर प्रयोग किया है, जो अच्छा लगता है। इनकी कविताओं में लोक की अपेक्षा शास्त्रीय उपादन अधिक हैं। ऐसा लगता है कि इन्होंने साहित्य या काव्य के शास्त्रीय उपादानों की विधिवत् शिक्षा ग्रहण की होगी, किन्तु इन्होंने अपनी शिक्षा का प्रयोग काव्य वस्तु पक्ष की अपेक्षा रूप पक्ष पर ही अधिक किया। इनकी कविताओं में रूपवादी रूझान की ओर मुड़ते हुए भक्ति आन्दोलन की झलक देखी जा सकती है, जिसमें शास्त्रीयता या रीतिवादी की झलक मिलती है, जहाँ भावों एवं विचारों की अपेक्षा काव्य में रूप पक्ष में नवीनता एवं कुछ-कुछ चमत्कार का भाव सम्मिलित होता हुआ दिखाई देता है। जैसे इनके अन्य कटवों में प्रसंग का विस्तार नहीं, किसी छोटे प्रसंग को पर ही खूब संगीतमयता के संग अभिव्यक्त करने की तत्परता है, ठीक वही बात इस कटाव में भी देखी जा सकती है। इसके लिए उनके पास अपार धैर्य भी है कि काव्य वस्तु को टिकाकर, बारीकी से एवं पूर्ण लय के साथ शब्दों में पिरोया जाए। माला के एक-एक पुष्प को उन्होंने पहले अपने हाथों से चुना फिर उन्हें क्रमशः धीरज के संग घागे में इस प्रकार पिरोया कि पुष्प की कोमलता, सुगंध एवं रंगीनता न खो पाए, बल्कि सारे पुष्पों के एकत्रित हो जाने के कारण और भी अधिक बढ़ जाए, किन्तु इस प्रक्रिया में धागे का अपना अस्तित्व खो गया और वह माला में कहीं दृष्टिगोचर ही नहीं होता। यहाँ शब्द पुष्प तो धागा उनकी काव्यवस्तु है, जो कहीं पृष्ठभूमि में उपस्थित हैं, उसके अभाव में कविता संभव नहीं है, किन्तु वह शब्द रूपी पुष्पों में खो गई है।

इ) अमृतराय का हिन्दी प्रसंग काव्य

अमृतराय के कटावों में कथा तत्व अत्यन्त क्षीण होने के कारण हमने उन्हें प्रसंग काव्य कहा है, किन्तु इस कमी को उन्होंने कटावों से इतर रामजन्म, लंकावर्णन, कृष्णनृत्य, कृष्णवर्णन एवं सुदामा चरित्र नामक अपूर्ण कविता के माध्यम से पूर्ण करने का प्रयास किया है। इन कविताओं को अमृतराय की बड़े कैनवास की कविताएँ कहा जा सकता है, क्योंकि इन कविताओं में कवि ने अपनी दृष्टि को कथा

तत्व, चित्रण एवं उनकी व्यापकता के आधार पर काफी विस्तृत कल्पनाओं आधार लिया है। जैसे 'लंकावर्णन' में उन्होंने अपनी विस्तृत कल्पनाओं द्वारा लंका के दरबार की सम्पन्नता एवं वैभव का वर्णन किया है। अपने शब्दकौशल से उन्होंने लंका का बिम्बात्मक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसे मध्यकालीन किसी भी दरबार का चित्र कहा जा सकता है। लंका की अभेद्यता का भी वर्णन है। उसके बाद रावण की सेना, उसके हाथी, ऊँट, पालखी, रथ, गाड़ी, लष्कर का वर्णन है। रावण की शक्ति का वर्णन है। उसके बाद पंक्तियाँ आती हैं - 'कहा करे भाई वो राम लछिमन, भरत सत्रुघन, बाली, सुग्रीव, बंदर लंगुर, बैन बैन को धुमा चौकडे।' फिर आता है युद्ध वर्णन, जिसमें नादसौन्दर्य से कवि ने जिवन्तता लाने का प्रयास किया है, देखिए कितना संक्षिप्त किन्तु जीवन्त वर्णन है, लगता है इन्होंने किसी युद्ध का आँखोदेखा हाल सुना दिया हो -

“एतन मो जि रामचन्द्र की चढी फौज ज्या पड़ी लंका पर,
अढी आढाकर सिडी आनपर, भिडी बांधकर,
खडी बाह पर, बडी लढाई, चढी लंक पर,
चन्द्र सुरज दो डाउ डाउकर नडा छूटकर
खडा मेघ गडगडा गुमानिल लडा उठकर खडा लढा,
लाहु सनननननन्त बान छूटे छच्छननननननन,
खर्ग बाजे खक्खननननननन, तोल बाजे दछननननननन,
गगन बीच घघननननननन, मेघनाद खंकडडडडडडड,
पटे बाजे बभररररररर, बाके तीर सस्सरररररर
उडे फूल जब सुले हाती, गिरे सिपाई फते राम की,
खुले लाल गुलाल सिंधुकर, रावनमारा राकेस घेरा,
तमाम सारा, भागे लोक कुल लंक लुटाई,
निशाण चढाया दुहाई फिरे रामराजा ॥देखो रे॥३॥”⁸⁵

रावण की अभेद्य लंका भेद दी गई एवं वह मारा गया और साथ ही लंका लूटकर उस पर अपनी पताका फहराई गई। क्या हुआ उस वैभव और अपार शक्ति का परिणाम जब वह दर्प एवं अहंकारी के हाथों थी। मानो तत्कालीन शासनकर्ता को नीतिमत्ता एवं अहंकार से मुक्त होने का सन्देश कवि दे रहा हो। लंका के लूटने के वर्णन से उस धन, ऐश्वर्य एवं अपार शक्ति की निस्सारता की ओर ईशारा कवि कर रहा है। 'कृष्णवर्णन' में भी महल का वर्णन है, किन्तु वह इतना विस्तृत एवं सूक्ष्मता लिए हुए नहीं है। भक्ति से युद्ध तथा महलों के वर्णन की ओर मुड़ते हुए सन्तों की झोपडियों से महलों में जाता हुआ काव्य यहाँ देखा जा सकता है। रावण वर्णन में परम्पारिक छवि को ही बनाए रखा गया है तथा उसकी अपेक्षा उसकी लंका एवं उसके ऐश्वर्य पर कवि की दृष्टि अधिक है। रावण वध से अधिक लंका की लूटने का वर्णन यहाँ दिखाई देता है। रावण के मरने पर कवि की कोई भी धार्मिक या अध्यात्मिक टिप्पणी नहीं है, लंका के लूटने पर उसका ध्यान बराबर बना हुआ है। इनके वर्णन में व्यक्ति नहीं, वस्तु एवं धन सम्पत्ति चित्रण के केन्द्र में है।

अमृतराय ने युद्ध का जिवन्त वर्णन किया है, उसी विशेषता के साथ उन्होंने कृष्ण दरबार में हो रहे नृत्य-गीतादि का चित्रण किया है। इस कविता में कृष्ण के दरबार में हो रहे नृत्य-गायन के कार्यक्रम

का वर्णन है। यह इतना सूक्ष्म है कि मानो किसी दरबार का सीधा प्रसारण हो या नृत्य कार्यक्रम का वर्णन है। प्रसिद्ध है कि इनके कीर्तन का कार्यक्रम दरबारों में हुआ करता थे, वहाँ उन्होंने ऐसे चित्र देखे होंगे, उसी का चित्रण उन्होंने किया था। इसमें कृष्ण के राजा बनने के बाद का वर्णन है, जिसे सिद्धावस्था का वर्णन ही इनकी कविताओं में देखने को मिलता है। इसी तर्ज पर उन्होंने रावण के दरबार का भी वर्णन किया है और कृष्ण के दरबार का भी। दोनों चित्रणों में भौतिकतावादी दृष्टि देखने को मिलती है। कृष्णवर्णन में न तो कृष्ण के प्रकाशमान चरित्र का वर्णन है और न लंकावर्णन में रावण के दुष्ट या बुरी पद्धतियों या चरित्र का वर्णन है, क्योंकि कवि कोई भी विशिष्ट टिप्पणी देने से बचता है।

अमृतराय द्वारा नृत्य-गीत आदि मनोरंजनात्मक माने जानेवाले साधनों या पद्धतियों पर इतना जोर क्यों दिया जा रहा है, इसका उत्तर उनकी 'कृष्णनृत्य' शीर्षक कविता से मिलता है। इससे पूर्व उनकी सारी हिन्दी कविताओं और कटावों में जो नृत्य एवं गीतों पर सन्दर्भ अतिरिक्त जोर दिया गया है, उसका सार यहाँ बताया गया है। इससे पूर्व की सारी कविताओं में नृत्य के सन्दर्भ में जो कहा गया है, उसका सार यहाँ बताया गया है। क्यों नृत्य उनके लिए इतना जरूरी है, इससे पता चलता है। नृत्य के क्रम में सारे भेद तिरोहित हो जाते हैं। कृष्ण के साथ सभी देवता, महाभारत, रामायण तथा अन्य कई पौराणिक पात्र तो नृत्य करते ही हैं, साथ ही एक भाग ऐसा है, जिसमें अमृतराय के समकालीन कई पात्र हैं, जो सारे भेद भूलकर नृत्य करते हैं। जो काम वारकरी कीर्तन से ले रहे थे, अमृतराय वही काम नृत्य से ले रहे हैं। उनके नृत्य-गीत की व्यापकता देखिए, जो सभी भेदों के परे जाने का माध्यम बने हुए हैं -

देसदेस के अजब गजब सब, भूच सहर क बातशाह उमराव शिपाई,
सुभामृते सरदार सवाई, मुजुमदार फडनीस किरवाई,
दरखदार चिणीस उपाई, फौजदार मिल करत हवाई,
ठौर ठौर दरबार कचेरी, बड़े मुत्सदी हटघट बाजार,
बाजार बीच, अत सुखत पुखत, तज जडक, तरुखत नहीं सराकखसा,
सेट शियाना, सौदागिर करलेत मुलताना, खैच कमाना,
करत तनाना, मनु हु न भावे, आप बिराना,
तेली बनिया, बरई रिनिया, सावलुहार, जुहार कामगार
कारिगिरि बादीगिर, बढई, भाट, कुंभार, सुनार,
छीपी, रजपुत नीच उच मिल नाचत अठरा जात नसे,
सुक हंस कोक बक पच्छिन से, अहि पप्पिलिका लघुकीटन से,
बन पर्वत दह जड़ वृच्छन से, अवसानन भान कच्छुमन से,
धुन बासुरि की, सुन गान करत पुन, जितक महीमे,
जीव जंत्र, शावर जंगम तिनहू, न चले बचाया ॥ इहलीला॥

सामाजिक विभाजन से निर्मित जातियाँ, पौराणिक पात्र, ऐतिहासिक पात्र एवं विभिन्न कारीगरों को एक साथ नृत्य करते हुए इस कविता में दिखाया गया है। वैसे इनकी कविताओं में सामान्य जन का उल्लेख बहुत ही कम बार हुआ है। 'कृष्णवर्णन' शीर्षक कविता में बालक कृष्ण की लीलाओं के बीच थोड़ा सा वर्णन दो-तीन पंक्तियों में आया है।

इनके कृष्ण और राम लोकरक्षक एवं अवतारी ही हैं, उनका लक्ष्य किसी भी अर्थ में लोकरंजन नहीं है। 'रामजन्म' कविता में उन्होंने रामजन्म का संक्षेप में वर्णन किया गया है। वे त्रेतायुगतारक और कौसल्या सूत नहीं हैं, वह तो परम ईश्वर है, इसका भान कराने के लिए कविता लिखी गई है। शुद्ध भक्ति कविता का प्रचलन इधर बढ़ता गया, जिसमें तत्कालीन चिन्ताएँ और समाज क्षीण होता गया। अमृतराय की कविताएँ या तो शुद्ध कविताओं के पारम्परिक और स्वयंनिर्मित प्रतिमानों को पूर्ण करती दिखाई देती हैं या फिर उनमें शुद्ध भक्ति उन्मुखता दिखाई देती है।

उनकी 'सुदामा चरित्र' कविता अपूर्ण है। एक प्रकार से इस कविता के आरंभ में पारम्परिक कथा को मित्रता एवं गरीबी से हटाकर भूख पर केन्द्रित कर दिया गया है। सुदामा को गरीबी से अधिक अपने भूखे परिवार की चिन्ता है, उसे अधिक धन-सम्पत्ति की नहीं, अपितु अपने परिवार की भूख मिटाने की अधिक चिन्ता सताती है, इसी कारण वह अपने मित्र के पास जाता है, उसका जोरदार स्वागत किया जाता है, ठीक वैसा ही जैसा एक राजा द्वारा अपने लड़कपन के मित्र का किया जाना सामान्य जन के लिए अपेक्षित है। सत्ता पाने के बाद मनुष्य वही नहीं रह जाता, जो वह पहले था। किन्तु यह कथा आज इस अर्थ में भी पढ़ी जा सकती है कि कृष्ण का चरित्र नहीं बदलता है और वह अपने मित्र सुदामा को आदर-सत्कार कर उसे उचित व्यवहार करता है, जो सुदामा के लिए सबसे बड़ी बात है, उसे मित्र की तरह ही मिलता है, पुराने मित्र की ही तरह, न राजा की तरह न किसी धनिक की तरह, उसी मित्रता की कहानी है। इसके बाद की कविता अपूर्ण है।

'रामजन्म' में लगभग वैसी ही शब्दावली का प्रयोग किया गया है, जैसी निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' के आरंभ में की है, जिसे नामवर सिंह ने 'तार की भाषा'⁸⁶ कहा है। ऐसी ही नादमय भाषा उनकी प्रायः प्रत्येक कविता में दिखाई देता है। इसके लिए उन्होंने किसी भी प्रकार के शब्दों से परहेज़ नहीं किया। उनकी कविताओं में सभान अल्ला, वो मतवाला, खूब बना दौलता का प्याला, बाबा आदम की अजब लीला, पैगंबर एवं सुभान अल्ला जैसे शब्द अनायास आए हैं। नादमय शब्दावली में उन्होंने अपनी भक्ति भावनाओं को हिन्दी में अभिव्यक्त किया है, जिसे भक्ति आन्दोलन का एक चरण का लिप्यांकन कहा जा सकता है। वे भक्ति आन्दोलन एवं दरबारों के बीच बननेवाली कडियों में से एक थे। उनकी कविताओं में इसके पूर्ण संकेत मिलते हैं।

6.3.3 सिद्धेश्वर महाराज

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने अमृतराय के दो शिष्यों का उल्लेख किया है, पहले सिद्धेश्वर महाराज और दूसरे माधव का। "ये अमृतराय की शिष्य परम्परा में आते हैं। इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा में पूर्णानन्द और ज्ञानानन्द के पश्चात् अमृतराय का नामोल्लेख किया है। इनकी कुछ हिन्दी रचनाएँ हमें हैदराबाद मराठवाडा साहित्य परिषद के हस्तलिखित ग्रंथागार से प्राप्त हुई हैं। उनका एक पद है, जिसमें शरीर रूपी 'बंगले' का योग-परम्परागत वर्णन है -

बंगला खूब बनाया बे
उसमो माधव सोया बे ॥ध्रुवपदा॥
पंच तत्व की भीत बनाई तीन गुनन का गारा
राम नाम की छान छबाइ चानेहारा न्यहारा ।
उस बंगले कु नव दरवाजे बीच पवन का खंभा ।

आवे जावे सब कोई देखे, यही बड़ा अचंभा ।
 आशा दुराशा माय नाचे मन मो ताल बजावे
 सुरत निरत मिरदंग बजावे, राग छतीसा गावे
 बंगला खूब बनाय वे
 उसमो माधव सोया बे ॥”⁸⁷

आचार्य शर्मा ने इस कविता का मूल्यांकन तुकोबा की भाषा के साथ रखते हुए इसी आधार पर किया है। इस कविता में विषय-वस्तु के स्तर पर भी ‘तुकारामीयत’ दिखाई देती है। जो मस्ती एवं पाठकों-श्रोताओं को अपना मानकर शिक्षा देने का प्रयास सिद्धेश्वर ने किया है। घट के भीतर ही अराध्य को देखने की नाथों वाली प्रवृत्ति यहाँ दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति मराठी सन्तों द्वारा लिखित बहुत कम हिन्दी कविताओं में देखी जा सकती है। “भाषा में उच्चारण और वर्ण प्रक्रिया के जो चिन्ह तुकोबा की भाषा की विवेचना के समय हम देख चुके हैं, प्रायः वे ही इनकी भाषा में भी लक्षित होते हैं। एक तो विशेषताएँ यह हैं - ‘ब’ के स्थान पर ‘प’ यथा - खूब-खूप। ‘छ’ के स्थान पर ‘च’ यथा - छानेहारा-चानेहारा। सुदूर दक्षिण बोली जानेवाली ‘दक्खिनी हिन्दी’ में भी ‘छ’ का ‘च’ उच्चारण पाया जाता है। इनकी खड़ी बोली में प्रांजलता और छन्द में प्रवाह है।”⁸⁸ दक्खिनी में महाप्राण ध्वनि के स्थान पर अल्पप्राण का प्रयोग होता है। यह विशेषता एकनाथ और तुकोबा की कविताओं में भी देखी जा सकती है।

इनकी कविता को मराठी क्षेत्र में नाथ सम्प्रदाय के मूल्यों की विरल अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। भाषा के रूप में जिसे आचार्य शर्मा ने दक्खिनी का प्रभाव कहा है, उसे मराठी प्रभाव के रूप में भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी कोई भी कविता हमें प्राप्त न हो पायी है। हैदराबाद के मराठवाडा साहित्य परिषद के ग्रंथागार में इनकी कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं हुई है। मराठी साहित्येतिहासों में भी इनका उल्लेख हमें नहीं मिला है। इनके समय के सन्दर्भ में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इनके सन्दर्भ में हमारा अध्ययन अपूर्ण ही समझा जाए। अमृतराय के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख होने के कारण इन्हें इस ऐतिहासिक क्रम में रखा गया है। ऐतिहासिक क्रम को बाधित न करने के उद्देश्य से इनकी कविता पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है।

6.3.4 माधव

मराठी इतिहासग्रंथों में माधव का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इनसे भिन्न एक अन्य माधव का उल्लेख वि.ल.भावे ने किया है।⁸⁹ आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इन्हें “अमृतराय के तीन शिष्यों में”⁹⁰ एक माना है। उन्होंने माधव के दो हिन्दी पद परिशिष्ट में दिए हैं। उनके अनुसार, “ये भी अपने गुरु के समान ‘कटाव’ लिखने में पटु थे। इनके दो हिन्दी पद प्राप्त हुए हैं। एक में ‘रामधनी’ को भजने का प्रबोधन है और दूसरे में रघुवीर की जयजयकार है। दूसरा पद मधुर ‘प्रभाती’ में गेय है, पुष्ट ब्रजभाषा में है।”⁹¹ इनके किसी मराठी कविता का उल्लेख हमें नहीं मिला है, चूँकि इनका उल्लेख भी हमें मराठी साहित्येतिहास ग्रंथों में नहीं मिलता है।

इन कविताओं में आए कुछ शब्दों को आचार्य विनयमोहन शर्मा ने पाद-टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इनकी पहली कविता में आए ‘मगरुरि’ शब्द के सन्दर्भ में उन्होंने पाद-टिप्पणी में लिखा है, “मराठी सन्तों ने हिन्दी रचना में ह्रस्व-दीर्घ का कोई विचार नहीं किया।”⁹² वैसे

यह टिप्पणी पूर्णतः सही है। देवनागरी में लिखनेवाले तत्कालीन किसी भी सन्त ने इस नियम का पालन नहीं किया है और वैसी अपेक्षा भी हम उनसे नहीं कर सकते थे। इसके कई ऐतिहासिक कारण थे। पहली और सर्वप्रमुख बात तो यह थी कि वे जैसा बोलते थे, वैसा लिखते थे और यही कारण है कि वहाँ ध्वनि और उच्चारण महत्वपूर्ण था, न की नियम। दूसरी बात यह है कि देवनागरी लिपि का संस्कृतेत्तर भाषाओं के सन्दर्भ में मानकीकरण 1900 ई. के बाद आरंभ हुआ, नागरी प्रचारिणी सभा का इसमें महत्वपूर्ण योगदान है। भारतेन्दु युगीन साहित्य में भी ऐसी त्रुटियाँ देखी जा सकती हैं। दूसरी एक कविता में 'थै थै' का पाठान्तर 'दै दै' बताया गया है, जो कि इस कविता के सम्पूर्ण सन्दर्भ को देखते हुए त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है। यहाँ 'थै थै' ही ठीक है। इसके ठीक बाद आनेवाले पद 'तारी' को सही रूप में पाद-टिप्पणी की आवश्यकता थी। कविता के सन्दर्भ के अनुसार इसके स्थान पर 'द्वारी' होना चाहिए था, जिस पर कोई टिप्पणी नहीं की गई है।

भक्ति के क्रम में अपने समय से अनभिज्ञता एवं सम्पृक्तता इनकी दोनों कविताओं की अनिवार्य विशेषता कही जा सकती है। इनकी दोनों कविताएँ एक भक्त की सामान्य अभिव्यक्ति कही जा सकती है। भक्त के रूप में तन्मयता एवं संवेदनशीलता भी इनकी कविताओं में उतनी नहीं जान पड़ती है, जितनी इनके पूर्ववर्ती तुकोबा, बहेणाबाई, एकनाथ में थी। जितनी भक्ति का प्रतिशत इनकी कविताओं में है, उसमें स्वाभाविकता एवं तटस्थता का गुण देखा जा सकता है। इन्होंने पहली कविता में केवल पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों और उनकी कथाओं से कुछ तथ्यात्मक जानकारी को कविताओं में अपना कोई विशिष्ट मत या टिप्पणी दिए बगैर प्रस्तुत कर दिया है। जिस प्रकार जायसी ने कल्पना एवं इतिहास का आधार लेते हुए अपना महाकाव्य लिखा है, ठीक उसी प्रकार माधव ने अपनी बात प्रस्तुत करने के लिए दोनों प्रकार के पात्रों का आधार लिया है। 'क्यों करता मगरुरि काफर भजता क्यों नहीं रामधनी' को सिद्ध करने के लिए उन्होंने पौराणिक पात्रों में से वाल्मीकि, वानर सेना, शूर्पणखा, कुंभकरण, कर्दमुनि, खरदूषण, अहिमहि और रावण जैसे पूर्व शापित माने जानेवाले और बाद के समय में महान भक्तों के रूप में प्रसिद्ध हुए थे। ऐतिहासिक पात्रों में भी उन्होंने इसी विशेषता वाले भर्तृहरी और गोपिचन्द को भी अपनी कविताओं में स्थान दिया है। अन्ततः कविता का कथ्य इन उदाहरणों के माध्यम से यही सामने आता है कि - नामस्मरण कर अपना हिसाब पूर्ण कर लो। इस प्रकार उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की ही तरह नामस्मरण को अपनी भक्ति का आधार बनाया है।

उनकी दूसरी कविता का सम्बन्ध रामकथा के एक वात्सल्यपूर्ण प्रसंग से है। 'प्रातःसमय रघुवीर जगावे कौशल्या महारानी' प्रसंग उन्होंने सम्पूर्ण ईश्वरत्व एवं राजकीय वैभव के साथ चित्रित किया है। इनके द्वारा चित्रित कौशल्या माता महारानी अधिक है, इनके द्वारा चित्रित बालक राम अवतारी ईश्वर अधिक है। न वे सामान्य बालक हैं और न कौशल्या सामान्य माता। इस चित्रण में किसी भी राजकुमार या राजा की दिनचर्या का चित्रण देखा जा सकता है। बालक राम 'संतन को हितकारी' 'चितवन अभय देत भक्तन को मुक्त' करनेवाले हैं। उसी क्रम में देव गंधर्व उनके सम्मान में 'गावे नाचे' 'बेदबानी विप्रजन गावे' और 'मेवा पान लियो कर लछिमन भरकंचन की थारी' आदि कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने अराध्य के चित्रण के साथ-साथ उनके ईश्वरत्व का भान दिलाने के लिए इस कविता की रचना की है। इस कारण यह इसे मात्र 'प्रभाति' नहीं कहा जा सकता है, जैसाकि आचार्य विनयमोहन शर्मा को लगता है।⁹³

माधव ने रूप के स्तर पर कोई नवीन प्रयोग करने का प्रयास नहीं किया है। इनकी पहली कविता में एक शब्द आया है 'काफर'। इस अरबी शब्द का मूल अर्थ होता है, मूर्तिपूजक, जो बाद के समय में लगभग नास्तिक के रूप में प्रचलित हो गया। इस्लामिक जगत में इसका प्रयोग प्रायः गाली के रूप में किया जाता रहा है। यहाँ माधव ने इस शब्द का प्रयोग नास्तिक या अभक्त के अर्थ में किया है। उनकी शब्दावली प्रायः पारम्परिक ही रही है, उनमें बहुत अधिक रचनात्मकता दिखाने का प्रयास उन्होंने नहीं किया है। उनकी पहली कविता का स्वर समझाने का अधिक है, इस कारण उन्होंने उसी प्रकार की धुन का प्रयोग किया है। दूसरी कविता में भक्ति एवं अराध्य का औदार्यपूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार की शब्दावली एवं लय का प्रयोग उन्होंने किया है। रघुनन्दन के जगने में जो स्वाभाविकता है, उससे वात्सल्य का पूर्ण आभास होता है। एकाध स्थान पर छोड़कर भाषा मराठी से पूर्णतः मुक्त है। 'कोलाहल भारी' में 'भारी' शब्द का अर्थ वजनदार नहीं, बल्कि बढ़िया है। इसके अतिरिक्त किसी भी मराठी शब्द का प्रयोग इन्होंने नहीं किया है। उच्चार भी प्रायः हिन्दी परम्परा के ही हैं। उनकी कविता इसलिए भी ऐतिहासिक क्रम में काव्यत्व को कुछ नहीं देती हो, किन्तु उसे जारी रखने में अपना योगदान देती हैं।

6.4 एक लम्बी परम्परा का विस्तार

ज्ञानेश्वर के पश्चात् महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय और वारकरी सम्प्रदाय में एकता निर्माण हो गयी, इसका सविस्तार उल्लेख द्वितीय अध्याय में हो चुका है। इन दोनों सम्प्रदायों की परम्पराएँ एक-दूसरे में इतनी घुल-मिल गई थी कि दोनों की पहचान करना असंभव-सा हो गया। इसे रा.चि.ढेरे ने मराठी क्षेत्र के नाथ परम्परा की चार विशेषताओं में से एक माना है। उन्होंने लिखा है, "चौथी बात यह है कि महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय ने विविध साधना-प्रणालियों से समन्वय स्थापित किया। केवल आध्यात्मिक अधिष्ठानों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर अन्य सम्प्रदायों से आत्मीय संबंध कायम किए। ज्ञानेश्वर के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय और वारकरी सम्प्रदाय में तकरीबन एकात्मता निर्माण हो गई।"⁹⁴ दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में भी इनके भिन्न होने के अधिक सन्दर्भ नहीं प्राप्त होते हैं। कहीं कोई प्रवृत्ति हावी होती तो कहीं कोई।

ज्ञानेश्वर के बाद नाथ सम्प्रदाय या यों कहे कि वारकरी सम्प्रदाय की कई परम्पराएँ विकसित हुई। इनमें पहली गहिनीनाथ की परम्परा⁹⁵, दूसरी ज्ञानेश्वर की शिष्य परम्परा⁹⁶, तीसरी सोपानदेव की शिष्य परम्परा⁹⁷, चौथी मुक्ताबाई की शिष्य परम्परा⁹⁸, पाँचवी सत्यामलनाथ की शिष्य परम्परा आदि कई परम्पराओं को विकसित होते हुए देखा जा सकता है। मुक्ताबाई तक की परम्परा का उल्लेख द्वितीय अध्याय में किया गया है। आगे जाकर सत्यामलनाथ की परम्परा का भी विकास दो शाखाओं में हुआ। एक "सत्यामलनाथ-दीनानाथ-अनन्तराज-अमळनाथ-भूमानन्द-गोपाळ-विश्वनाथ-अण्णाबोवा-हुपरीकर-रघुनाथबोवा के रूप में विकसित हुई। दूसरी परम्परा सत्यामलनाथ-गैबीनाथ-गुप्तनाथ-उद्धोधनाथ-केसरीनाथ-शिवदीननाथ"⁹⁹ से होकर आगे बढ़ी। श्री वि.ल.भावे ने यही परम्परा बताई है। उन्होंने इसके भी आगे नरहरि और उनके शिष्य महिपति का उल्लेख भी किया है।¹⁰⁰ केशवनाथ का उल्लेख करने से पूर्ण उन्हें 'महाराष्ट्र की एक बड़ी परम्परा' के रूप में समझने-समाझाने का प्रयास किया। उन्होंने उनकी सारी परम्पराओं का उपरोल्लेखित रूप में वर्णन किया है।

6.4.1 शिवदीन केसरी

शिवदीन केसरी का “जन्म शके 1620 में हुआ। पिता का नाम कृष्ण यादव जोशी एवं माता का नाव सरस्वती था। ये पैठण के रहनेवाले थे। आयु के आठवें वर्ष में इन्हें केसरीनाथ का अनुग्रह प्राप्त हुआ। वेरुळ के एक मुसलमान औलिया ने इनके कीर्तन पर खुश होकर इन्हें ‘दीन’ (धर्म) की उपाधि दी, इसलिए इनके नाम में ‘दीन’ शब्द समाविष्ट हुआ। 12 वर्ष के होने पर उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया।” केसरीनाथ का अनुग्रह इन्हें किस प्रकार प्राप्त हुआ, इस सन्दर्भ में रोचक जानकारी देते हुए श्री भावे ने लिखा, “शिवदीननाथ यजुर्वेदी, कौशिकगोत्री ब्राह्मण। इनके पिता का नाम कृष्णाजीपंत था। ये पैठण में रहकर ज्योतिषाचार्य का कार्य किया करते थे। इस कृष्णाजीपंत का ‘बारह वर्ष का एक रंगीला और शरारती पुत्र था। जो भी वस्तु देखता उसकी मिठाई खरीदकर खा जाता और सब में बाँट देता।’ कुछ ऐसी शरारतें थी। इस शरारती बच्चे की शरारतों को देखते हुए उसकी माँ ने उसे केसरीनाथ के स्वाधीन किया। केसरीनाथ ने उसे अपने मठ में आश्रय दिया और उसे स्नान के पश्चात् खड़ाउ सामने रखने की जिम्मेदारी दी। एक दिन केसरीनाथ ने भोर में ही स्नान किया, किन्तु वहाँ उनके खड़ाउ रखे नहीं दिखे। इस गलती के लिए उस दिन उन्होंने ‘खड़ाउ से खूब पिटाई की और उसके माथे पर गहरी चोट लग गई। उसके माथे से खूब खून बहने लगा।’ सर पर लगी चोट से उसका अशुद्ध रक्त बह गया और उस अशुद्धता के बह जाने से उस शिष्य का चित्त शुद्ध हो गया तथा उस दिन के बाद वह अपनी सब शरारतें छोड़कर निर्मल मन से मठ में रहने लगा। आगे केसरीनाथ ने उससे विद्याभ्यास करवाकर शके 1628 में गुरुमंत्र देकर उपदेशदीक्षा दी। यही आगे शिवदीन केसरी उर्फ शिवदीननाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।”¹⁰¹ “शिवदीन ने नरहरिनाथ एवं गदाधरनाथ नामक अपने पुत्रों को गुरुपदेश देकर अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बनाया। इनमें नरहरिनाथ और उनका पुत्र लक्ष्मीनाथ का अधिकार अधिक था। शके 1696 में 76 वर्ष की आयु में शिवदीननाथ समाधिस्थ हुए। उनकी समाधि पैठण में गोदावरी नदी के किनारे है, वहाँ उनके नाम से चलनेवाला मठ भी है।”¹⁰²

“शके 1696 में समाधिस्थ हुआ। अर्थात् इसने मराठेशाही के अच्छे दिन देखे और उस पर पानीपत में खाया हुआ धक्का भी देखा। इस पानीपत के प्रसंगोपरान्त महाराष्ट्र के क्या हाल हुए, इसका वर्णन शिवदीन केसरी ने एक पद में किया है।” शिवदीन केसरी के ‘बहुत से पद’ होने का उल्लेख ‘महाराष्ट्र सारस्वत’ के लेखक ने किया है। प्र.न.जोशी के अनुसार, “शिवदीननाथ के कुछ पद हैं। ‘विवेकदर्पण’, ‘ज्ञानप्रदीप’ ग्रंथ हैं। ‘भाव धरा रे। आपुलासा देव करा रे’, तोंवरी हळहळ रे हीं भक्तिबळ रे’, माझी देवपुजा देवपुजा। पाय तुझे गुरुराजा’ आदि पद आज भी गाए जाते हैं।”¹⁰³ उनके सम्पूर्ण साहित्य की जानकारी देते हुए रा.चिं.ढेरे ने लिखा है, “ज्ञानप्रदीप’ शीर्षक प्रकाशित ग्रंथ और लगभग 500 पद शिवदीननाथ का रचनात्मक अवदान है। ज्ञानप्रदीप में 1256 ओवियाँ हैं। इस ग्रंथ की रचना इ.स. 1692 में की गई है। इस ग्रंथ की रचना शिवदीन ने अपने अन्तिम दिनों (72 वे वर्ष) में की। आरंभ की 27 ओवियों में किए गए गणेशस्तवन में ‘ज्ञानेश्वरी’ के गणेशस्तवन का अनुसरण किया गया है। ग्रंथ में ‘जैसें मुळिं उदक पावें। वृक्ष सर्वांगिन वोल्हावे।’ अथवा ‘अनुतापतीर्थी न्हाला’ जैसे स्थानों पर ज्ञानेश्वर के पदचिन्ह दिखाई देते हैं। ओवी क्रमांक 896 से अन्त तक सम्प्रदाय विचार प्रस्तुत किया गया है। बीच के 875 ओवियों में कुछ संस्कृत श्लोकों के आधार पर दार्शनिक विचार-विमर्श किया गया है। इस ग्रंथ में शिवदीन ने मराठी का जोरदार पक्ष प्रस्तुत किया है। शिवदीन का पद्य वाङ्मय सरस है।

उनके 'भाव धरा रे, अपुलासा देव करा रे' अथवा 'अजि तुम्हि ऐका, सखा सहोदर पैका' इत्यादि पद लोकप्रिय हैं।¹⁰⁴ इस प्रकार उनका अधिकांश साहित्य 'सम्प्रदाय विचार' और 'दार्शनिक विचार-विमर्श' के ही आधीन आता है, किन्तु साथ ही उसमें 'सरसता' भी देखने को मिलती है, जो एक दुर्लभ गुण है। संभवतः यही कारण है कि उनका सबसे प्रमुख योगदान गिनाते समय इतिहासकार ने लिखा है, "इस परम्परा के सभी पुरुषों में शिवदिननाथ का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध होने का कारण यह हो सकता है कि इन्होंने मठों का प्रबंधन बेहतर ढंग से करते हुए उन्हें स्थायित्व प्रदान किया और उत्सव आदि की उत्तम व्यवस्था की। उनकी पद्य रचना की विपुलता भी एक कारण है।"¹⁰⁵ उन्होंने जितना साहित्य लिखा, वह उनके मठों में संरक्षित रहा, और उन्होंने जिस परम्परा को आगे बढ़ाया उसका संवर्धन भी मठों को सुचारु रूप प्रदान कर पूर्ण करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने नाम के आगे गुरु केसरीनाथ का नाम जोड़कर परम्परा का ऋण स्वीकार किया तो 'दीन' जोड़कर उसे उदार रूप प्रदान करने का प्रयास किया। यही कारण है कि उनके नाम में आनेवाला 'दीन' दीर्घ लिखा जाता है, ह्रस्व 'दिन' नहीं। इसका अर्थ होता है धर्म। धर्म को उदारता में व्याख्यायित करने का प्रयास उनके मराठी ही नहीं हिन्दी काव्य में भी दिखाई देता है।

अ) शिवदिन केसरी का हिन्दी काव्य

शिवदीन केसरी की 13 कविताएँ उपलब्ध हुई हैं। "उनमें उनके कवित्व की अच्छी झलक मिलती है। संसार की असारता और क्षणभंगुरता, ईश्वर की सर्वव्यापकता, नर में नारायण का वास, आडम्बर का विरोध, ये परम्परागत सन्त विषय हैं, जिन पर शिवदिन केसरी ने लेखनी चलाई है।"¹⁰⁶ इस रूप में अभी हम पीछे जिन मराठी सन्त-भक्तों के हिन्दी काव्य का अध्ययन करते आए हैं, उनके समकक्ष रखने पर इनका हिन्दी काव्य कुछ रूढ़ियों में फँसता हुआ दिखाई देता है। काव्य-वस्तु का नवीनीकरण इस युग के कवियों में वैसे भी कम ही मात्रा में दिखाई देता है, किन्तु इनके काव्य में वह संकुचित भी होता हुआ दिखाई देता है। इनकी कविताएँ न तो पूर्णतः ज्ञानमार्गी कही जा सकती हैं, न निर्गुणमार्गी, न सगुणमार्गी, न वारकरी सम्प्रदाय से सम्बन्धित और न ही नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित। वास्तव में इसे विशेषता के रूप में लिया जाना चाहिए, किन्तु इनके काव्य में यह विशेषता के स्थान पर सबसे बड़ी न्यूनता इस अर्थ में बनकर उभरी है कि उसने अस्पष्टता एवं समाज से कटने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। उनकी एखाद-दो कविताओं को छोड़कर उनकी किसी भी कविता में समाज से सीधे जुड़ाव कम ही अभिव्यक्त हुआ है। उनकी अधिक चिन्ता सामाजिक बुराइयों को लेकर नहीं है। उन्होंने अपना ध्यान व्यक्ति के धर्म से जुड़ी भावनाओं के सन्दर्भ में ही देखना आवश्यक समझा।

निवृत्तिवाद या संसार की निस्सारता का बखान उनकी कविताओं की सामान्य विशेषता है। उन्होंने कई स्थानों पर परिवार, घर, सम्पत्ति आदि को व्यर्थ की माया बताते हुए भक्ति में लीन होने और गर्व का त्याग करने का सुझाव दिया है। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कई स्थानों पर प्राचीन ग्रंथों का हवाला भी दिया है। इस क्रम में उन्होंने दान में भी सम्पत्ति आदि लेने से मना कर दिया है। शिवदीन द्वारा चित्रित फकीर कहता है -

“हम फकीर जनम को उदासी निरंजनवासी ॥ध्रु॥

सत क भिच्छा दे मेरी माई मन का आटा भरपूर।

वारवार हम नहि आने के हरदम हार खुसी ॥ हम फकीर.....

सोना रूपा धेला पैसा ओ कुच हम ना चाहे ।

प्रेम कि भिच्छा ला मेरी माई, हम पंची परदेसी ॥ हम फकीर.....

सिर फोड जलाली करते मगनहार वो न्यारे ।

शिवदीन के प्रभु केसरि साहेब चरनो के रहिवासी ॥ हम फकीर.....”¹⁰⁷

“केसरी संसार से कुछ नहीं चाहते, केवल प्रेम चाहते हैं।”¹⁰⁸ उनका साईं सब घट में समाया हुआ है, इसलिए उन्होंने सभी को प्रेम से रहने की सलाह दी है। उनकी यह चिन्ता आध्यात्मिक अधिक है, सामाजिक नहीं, जिसका मूल और निष्कर्ष दोनों आध्यात्मिक है।

उनका अध्यात्म धर्म के बाह्याडंबरों पर भी अपनी टिप्पणी करने से नहीं चुकता। उन्होंने धर्माधारित किसी पद्धति विशेष की आलोचना नहीं की है, किन्तु उन्होंने ‘केवल नाम जप’ पर अतिरिक्त जोर देते हुए, अन्य पद्धतियों को प्रतीकात्मक रूप में नकारा है। नाम जप भी उनके अनुसार दिखावे के लिए नहीं होना चाहिए, वह तो कबीर की भाँति ‘मन का मनका’ फेरने से अपने आप होता रहता है। “वे कहते हैं, उसका स्मरण करने के लिए माला फेरने की क्या आवश्यकता है। जब मन में वह समा जाता है, तब अजपाजप होने लगता है - अजपाजप करता है, कर बिन मन मनका फिरता है। मन बिना हाथ के ही मन के फेरता है और इस तरह अखंड जाप जारी रहता है। उसे यहाँ वहाँ देखने के लिए भटकने की क्या आवश्यकता है ?

नैन आरसा देख दिवाने कर साहिब मो मेहेरा ।”¹⁰⁹

उनकी कविताओं में विविधता भले ही कम हो, किन्तु वह अपने आरंभ और अन्त में ही विविध विषयों को समोए हुए है। इन्होंने अपनी कविताओं में आरंभ की पंक्ति में प्रेमा या माधुर्य भाव की भक्ति से किया है, किन्तु आगे वह इसका वहन न कर पाए। संभवतः ऐसा उनके सम्प्रदायिक विचारों के दबाव के कारण हुआ होगा। इस कारण उनके अपने विचारों पर साम्प्रदायिक विचार हावी होते गए और वे उसे अभिव्यक्त करने लगे हों। उन्होंने अपनी एक कविता में लिखा “उस पर बलि जाएँ। प्रेम प्रीति से रहिए। अलख पलख में सार, सब घट में साईं हमारा। अजपा जप करता है। कर बिन मन मनका फिरता है। आसक केसरी का घर शिव दिन बंदा उसके घर का।”¹¹⁰ इस कविता के सन्दर्भ में आचार्य विनयमोहन शर्मा ने लिखा है, “परदेसी निरंजनवासी के हृदय में प्रेम की कितनी गहरी पीर है। वह झोली लेकर उसकी घर-घर भीख माँगता है। इन सरल शब्दों में भावों की कितनी सरल व्यंजना है।” इसी प्रकार अपने माशुका के प्रेम में पगलाए आशिक की भौतिक अवस्था एवं उसकी वेष-भूषा का चित्रण किया है। एक अन्य कविता में उन्होंने शिष्य कैसा नहीं होना चाहिए इसे बताया है। सो कच्चा है जो गुरु का बच्चा नहीं होता है। दुनिया का त्याग कर अंग पर बभूत लगाता है और वन में जाकर बैठता है, खेचरी मुद्रा इंद्रिया निग्रह का ध्यान मन में धरता है, कुंडली को खूब चढ़ाता है और उसे ब्रह्मरथ तक लाता है, पानी पर चलता है जो गायब होकर प्रकट होता है, मथुरा गोकुल में वास करता है, प्राण निकालकर सिद्ध होता है सत्य लोक के वासी, वेदशास्त्र में कुछ नहीं रखा है और जिसने पूर्ण ज्ञान पा लिया हो, और इन्हीं वेद विधियों पर चलकर जिसने अपने शरीर को ऐंठकर चलता है, ऐसा व्यक्ति गुरु का सच्चा शिष्य नहीं हो सकता है, अपितु गुरु का सच्चा शिष्य वह हो सकता है, जिसकी कथनी और करनी एक हो, जिसने अपने आप को पहचाना हो वही सच्चा गुरुज्ञानी है।

शिवदीन केशरी ने अपनी अधिकांश कविताओं में नाथ सम्प्रदाय की दृष्टि से आराधनात्मक अभिव्यक्ति की है, इस कारण उनकी अधिकांश कविताएँ आध्यात्मपरक कविताएँ कही जा सकती हैं। आध्यात्मेत्तर विषयों में उन्होंने 'भूख' को अपनी एक कविता की विषय बनाया है। यह इनकी भौतिक विषय पर लिखी सर्वोत्तम कविता कही जा सकती है और पूर्ण कविता के रूप में एकमात्र भी। भूख पर कविता। पेट का मारा बड़ा टेढ़ा होता है और वह कहीं भी वार कर सकता है। इसी कारण घर-घर टुकड़े माँगता है, चोर से छिनाल तक को भी इसी पेट ने पैदा किया। आदमी में ढोंग और धतूरा भी इसी पेट ने पैदा किया। इस पेट के ही कारण राजा सिपाही रखता है और प्रजा भी इसी में मरती है। इस पेट के ही कारण ही अमीर उमराव मुलुख मुलुख फिरते हैं। शिवदिन का तो यही कहना है कि जग में बैठे नहीं पेट से न्यारा है। गरीब बेचारे पशु पक्षी सभी पेट से घिरे हुए हैं। एक आसन पर क्या बैठता है, तेरे पीछे तो काल पड़ा हुआ है। यदि यह कविता भक्तिकाल में नहीं लिखी जाती तो आधुनिक विमर्शवादी कविता कही जाती। "भुभुक्षितः किं न करोति पापम् (भूखा कौन सा पाप नहीं करता) इस उक्ति की सार्थकता केसरी ने अनुभव की है।"¹¹¹ उन्होंने लिखा है -

“मारो पेट का बड़ा वांका सब से लगा दिया ठोका
देख सन्यासी देख फकीरा घर-घर माँगे टूका
एक आसन पर क्या बैठेगा पीछे काल का डंका
ईस पेट से चोर छिनाला ईस पेट से पैदा
ईस पेट से ढोंग धतूरा किया पेट ने पैदा
इस पेट से रख शिपाई राजा परजा मरते
ईस पेट से अमीर उमराव मुलुख-मुलुख पर फिरते
शिवदीन को मन जग बैठे नहीं पेट से न्यारे
गरीब बिरे पशु पक्षी सोई सबहि पेट ने घेरे”¹¹²

जिस प्रकार शिवदिन केसरी अपनी एक ही कविता में काव्य-वस्तु पर लगातार टिके नहीं रहते, उसमें विविधता अनायास आ जाती है, ठीक उसी प्रकार रूप के स्तर पर भी उनकी कविताएँ किसी एक विशेषता पर टिकी नहीं रहती हैं। “कबीर की भाँति केसरी ने 'अलख' का कान्ताभाव से स्मरण किया है

किन बइरी ने बैर कियो री
साजन को बहिराय री।

पर इस प्रतीक का अन्त तक निर्वाह नहीं हो पाया। वह ध्रुवपद की स्थायी पंक्तियों में ही रह गया। क्योंकि उसी के बाद साजन की बहुरिया का रूप बदल गया है। बहुरिया के स्थान पर योगी सन्मुख हो जाता है -

पेहरी मुद्रा भस्म चढाया।
कान मो कुंडल अलख जगाया।
खांदे पखारी, हात मो झोली
गल बिच निर्गुण माला, सैली।

और तब उसे अलख खलक में ज्योतित दीख पड़ता है।¹¹³ इसी प्रकार उनकी भाषा में भी काफी विविधता है, जिसे आचार्य विनयमोहन शर्मा ने उनके समय को देखते हुए 'स्वाभाविक भाषा' कहा है।

इसी क्रम में उन्होंने शिवदीन केसरी के काव्य में “उपमा, रूपक, विभावना आदि अलंकारों की अच्छी योजना” को भी सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शिवदीन केसरी की भाषा के सन्दर्भ में उनका कहना है कि “केसरी की भाषा में मुसलमान-राज्य में बसने के कारण स्वभावतः दक्खिनी हिन्दी की छटा है, पर उसमें ऐसी अरबी-फारसी शब्द नहीं हैं जो दुरूह नहीं हो, जनता की जिह्वा पर न चढ़ सके।”¹¹⁴ भाषा का सम्बन्ध मुसलमान-राज्य में बसने से नहीं लगाया जा सकता। इस प्रदेश यदि किसी और की सत्ता भी इस समय होती, तब भी इस प्रदेश की भाषा वही होती, जिसका प्रयोग शिवदीन केसरी ने किया है। भाषा का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष के लोगों से होता है, न कि किसी जाति-धर्म विशेष के लोगों से। जिस भाषा का विकास उस समय तक समाज में हुआ था, उसका प्रयोग शिवदीन केसरी ने किया है। उनकी प्रत्येक कविता तुकान्त है। इसलिए उनकी कविता में उनका समय भले ही न बोलता हो, किन्तु उनकी भाषा में उनका समाज स्वाभाविक रूप में आ गया है और साथ में अपने सम्प्रदाय की शब्दावली का प्रयोग कर उन्होंने नाथों की काव्य परम्परा को आगे बढ़ाया।

6.4.2 नरहरिनाथ

इस ‘लम्बी नाथ परम्परा’ में नरहरिनाथ का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। शिवदीन केसरी के सन्दर्भ में चर्चा करते समय इस बात का उल्लेख हुआ है कि उन्होंने अपने दोनों पुत्रों का गुरुत्व ग्रहण करते हुए, उन्हें अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बनाया था, उन्हीं में से एक नरहरी भी थे जो बाद में नरहरिनाथ के नाम से प्रसिद्ध सन्त-भक्त एवं कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। आचार्य शर्मा के अनुसार ये पैठणवासी प्रसिद्ध सन्त शिवदीन केसरी के पुत्र तथा शिष्य हैं। शक संवत् की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ये हुए हैं। महाराष्ट्र सारस्वतकार के अनुसार “शिवदिननाथ का नरहरिनाथ नामक एक शिष्य था। यह इनका पुत्र था। इस नरहरि के अनेक पद मिलते हैं।” पृष्ठ 367 पर पाद टिप्पणी में वि.ल.भावे ने लिखा है, “वामनपंडित के सन्दर्भ में चर्चा करते समय भर्तृहरी के श्लोकों का अनुवाद करने वाले नरहरी का उल्लेख हुआ है। यह उस नरहरी से भिन्न हैं। उस नरहरी ने अपने भर्तृहरी के श्लोक के अनुवाद के आरंभ में ही अपनी जानकारी दी है।” इनके अनेक मराठी पद मिलते हैं। इन्होंने अपने पुत्र को भी दीक्षा दी। इनका एक हिन्दी पद दिया जाता है, जिसे पढ़ने पर इनकी मस्त वृत्ति का सहज ही बोध हो जाता है। ये नाथपंथ रहस्यवादी प्रतीत होते हैं और उन्मनी अवस्था में पहुँचकर अमृत प्याला पीते और नाद सुनते रहते हैं। पद इस प्रकार है -

क्या बे किसी से काम, हम तो गुलाम गुरु घर के।
 बेपरवाह मन मौजी राजा, हम अपने दिल के ॥1॥
 नहीं किसी से दरकार, टुकड़ा मांगकर खाते हैं।
 गुरु ज्ञान के अमल नशे में, हमेशा झूलते हैं ॥2॥
 गगन मंडल में दस नादों का, आवाज़ सुनते हैं।
 तीनों ऊपर धुनी लगाकर, बैठे रहते हैं ॥3॥
 चाँद सूरज मशाल लेकर, आगे चलते हैं।
 अर्धचन्द्र का अमृत प्याला, भर भर पीते हैं ॥4॥
 उलटी तुरिया हो गई उन्मनि, मिल गई जाकर के।
 पलख में रहना अलख जगाना, कलख जला करके ॥5॥

हुआ दिवाना फकीर भोला, भटकत फिरता है ।

भूटी माया प्रीति लगाकर, गोते खाता है ॥6॥

नाहीं रहना काम करो कुछ, डेरा गिरता है ।

नरहरि मौला जल्दी आकर, हुशार करता है ॥7॥

पद में 'महाराष्ट्रीय हिन्दी' का लचीलापन देखने योग्य है, जो उस क्षेत्र की तत्कालीन भाषा रही होगी । पहली दो पंक्तियों में कवि की बेफिक्री और मनमोजीपन कितनी सरलता से व्यक्त हुआ है । क्या बे किसी से काम और बेपरवाह बन मौजी राजा हम अपने दिल के में कितनी अकृत्रिमता और बेतकल्लुफी झलकती है ।

सारांशतः कहा जा सकता है कि परवर्ती सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य एक ओर भक्ति आन्दोलन से जुड़ता है, तो दूसरी ओर वह उससे आगे निकल जाता है । इसमें भक्ति आन्दोलन का वह तेज जाता हुआ दिखाई देता है, जो नामदेव, एकनाथ, तुकोबा आदि कवियों के काव्य में देखने मिलता है । किन्तु साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें इसका उतना भी अभाव नहीं है, जितना इनके समकालीन विकसित होती हुई शाहिर परम्परा के कवियों में था । उन्होंने व्यापक सामाजिक रूढ़ियों को अपने काव्य में व्यापक रूप में भले ही समीक्षित न किया हो, किन्तु उसके कुछ अंश तो उनके यहाँ देखे जा सकते हैं । इनका काव्य या तो रूपवादी रूढ़ानों की आँधियों में बहता चला गया अथवा उसमें वैयक्तिक भावों का आधिक्य होता गया । ऐसा लगता है, पूर्ववर्ती सन्त-भक्त कवियों में जैसी परकाया प्रवेश कर समाज के अधिकांश लोगों को भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति थी, उस कला का धीरे-धीरे ज़हास होता चला गया । अब कविता उस व्यापक सामाजिक सत्य को अभिव्यक्त करने की जमहत नहीं उठाती थी, जिससे उसे नदी में डुबो दिया जाता था । उसने या तो मठों की परम्परा में अपने-आप को कैद कर लिया, अथवा राजदरबारों में या फिर मनोरंजनात्मक व्यापार में । इन दलदलों से साहित्य इसाई अंग्रेजों के भारत को एक करने बाद ही निकल सका । बाकी अपवाद तो अपवाद ही होते हैं ।

सन्दर्भ संकेत-षष्ठम अध्याय

¹भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.343

²गोसावी, र.रा. : पांच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.347

³भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.342

⁴गोसावी, र.रा. : पांच भक्ति सम्प्रदाय, पृ.347

⁵भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.338-339

⁶शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.

⁷भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.339

⁸भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.339-340

⁹वही, पृ.340

¹⁰जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.392

¹¹शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.185-186

¹²भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.340-341

¹³वही, पृ.341

¹⁴जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.392

¹⁵भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.341

16. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.186
17. <https://www.youtube.com/watch?v=Lbp4GXmF0ZQ>
18. <https://www.youtube.com/watch?v=YCAx95wucEE>
19. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.342
20. वही, पृ.वही, पादटिप्पणी क्रमांक 2
21. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.392
22. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.342
23. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.392
24. गोवासी, र.रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.347
25. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.363
26. वही, कविता क्र.1, पृ.361
27. वही, कविता क्र.12, पृ.363
28. वही, कविता क्र.2, पृ.361
29. वही, कविता क्र.13, पृ.364
30. वही, कविता क्र.13, पृ.वही
31. वही, कविता क्र.17, पृ.वही
32. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.387
33. वही, पृ.वही
34. वही, पृ.187
35. वही, पृ.वही
36. वही, पृ.वही
37. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.394
38. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.387-88
39. गोसावी, र.रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.348
40. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.187
41. वही, पृ.वही
42. वही, पृ.188
43. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.
44. गावडे, शैला :
45. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.190
46. गावडे, शैला : दहा सन्त कवयित्री, पृ.260
47. वही, पृ.261
48. गोसावी, र.रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.347
49. यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.166
50. गावडे, शैला : दहा सन्त कवयित्री, पृ.260
51. भारतीय इतिहास संशोधक मंडल, अह.शके 1833, पृ.90-94 से गोसावी, र.रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.347 पर उद्धृत.
52. यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.167
53. अजगावकर, ज.र. : महाराष्ट्र सन्त कवयित्री, पृ.211 से गावडे, शैला : दहा सन्त कवयित्री, पृ.263 पर उद्धृत
54. यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.168
55. गोसावी, र.रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.347
56. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.191
57. गावडे, शैला : दहा सन्त कवयित्री, पृ.260-261
58. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.192
59. गोसावी, र.रा. : पाच भक्तिसम्प्रदाय, पृ.339-340 पर इसके उदाहरण स्वरूप केवल रामदास के चरित्र (जीवन) को आधार बनाकर लिखे गए एक सूची दी गई है।
60. यादव, मा.के. : मराठी सन्त कवयित्री, पृ.168
61. शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.191
62. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.412 और भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.463 दोनों इतिहासकारों की यही मान्यता है।
63. भावे, वि.ल. : महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.463
64. वही, पृ.वही
65. वही, पृ.464
66. वही, पृ.वही
67. जोशी, प्र.न. : मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.412

- ⁶⁸.वही, पृ.412-13
- ⁶⁹.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.382
- ⁷⁰.वही, पृ.वही
- ⁷¹.वही, पृ.381
- ⁷².दादू पदावली 28
- ⁷³.शर्मा, आचार्य विनयमोहन: हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.377
- ⁷⁴.वही, पृ.378
- ⁷⁵.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.380
- ⁷⁶.अधिक जानकारी के लिए इस सेतु पर देखें <http://www.sanatan.org/mr/a/574.html>
- ⁷⁷.जोशी, प्र.न. : मराठी साहित्याचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.413
- ⁷⁸.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.367-368
- ⁷⁹.जोशी, प्र.न.: मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास, पृ.413
- ⁸⁰.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.469
- ⁸¹.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.469-470
- ⁸².पटवर्धन, माधवराव : संत तुकोबा, पृ.216 से शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.228 पर पूर्वोद्धृत
- ⁸³.शर्मा, विनयमोहन: हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.393
- ⁸⁴.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.393
- ⁸⁵.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.398-399
- ⁸⁶.सिंह, नामवर : छायावाद, पृ.
- ⁸⁷.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.204-205
- ⁸⁸.वही, पृ.वही
- ⁸⁹.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.414
- ⁹⁰.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.205
- ⁹¹.वही, पृ.वही
- ⁹².वही, पृ.411
- ⁹³.वही, पृ.205
- ⁹⁴.ढेरे, रा.चिं. : नाथ सम्प्रदायाचा इतिहास, पृ.110-111
- ⁹⁵.“आदिनाथ-मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथ-गहिनीनाथ-प्रकाशनाथ-चिन्द्रजनाथ-उत्पत्तिनाथ-प्रवृत्तिनाथ-हंसनाथ-निरंजननाथ-सिद्धनाथ-भैरवनाथ-आदिनाथ”, वही, पृ.124
- ⁹⁶.“ज्ञानेश्वर शिष्य सत्यामलनाथ ने अपने ग्रंथ ‘नवरत्नमाला’ में ज्ञानेश्वर के नौ शिष्यों का उल्लेख किया है-सोपानदेव, मुक्ताबाई, विसोबा खेचर, विमलानन्द, सत्यानन्द, स्वरूपनाथ, चर्पटनाथ, सञ्जिदानन्द और रामचन्द्रवृष” वही, पृ.126-127
- ⁹⁷.“सोपान-मुचकुंदानंद(मुकुंदनाथ)-अव्यक्त-जनार्दन-अलक्ष्य-अचिन्त्य-त्र्यंबक”, वही, पृ.वही
- ⁹⁸.“मुक्ताबाई-चांगा वटेश्वर-विमलानन्द-चांगा केशव-जनकराज-नृसिंह”, वही, पृ.130
- ⁹⁹.वही, पृ.139
- ¹⁰⁰.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.452
- ¹⁰¹.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.450
- ¹⁰².ढेरे, रा.चिं.: नाथ सम्प्रदायाचा इतिहास, पृ.142
- ¹⁰³.जोशी प्र.न.: मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ, पृ.
- ¹⁰⁴.ढेरे, रा.चिं.: नाथ सम्प्रदायाचा इतिहास, पृ.142-143
- ¹⁰⁵.भावे, वि.ल.: महाराष्ट्र सारस्वत, पृ.
- ¹⁰⁶.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.
- ¹⁰⁷.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.388-389
- ¹⁰⁸.वही, पृ.201
- ¹⁰⁹.वही, पृ.वही
- ¹¹⁰.वही, पृ.388
- ¹¹¹.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.201
- ¹¹².वही, पृ.389
- ¹¹³.वही, पृ.203
- ¹¹⁴.शर्मा, विनयमोहन : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ.203

सप्तम अध्याय

हिन्दी भक्ति आन्दोलन और मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ : तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी भक्ति आन्दोलन से तात्पर्य हिन्दी प्रदेश में घटित भक्ति आन्दोलन एवं उस दौरान लिखित साहित्य से है। मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का अर्थ मराठी प्रदेश में अपनी मातृभाषा मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी अपनी रचनाएँ लिखनेवाले कवियों के काव्य से है। इन कविताओं का सविस्तार अध्ययन पिछले अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी भक्ति आन्दोलन को लेकर कई अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें दृष्टिभेद ही नहीं, कई मत तो दो ध्रुवों पर स्थित नज़र आते हैं। कई विवादों को टालते हुए यहाँ उन्हीं बिन्दुओं को चुनने का प्रयास किया गया है, जिनका मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं के साथ तुलना करने में उपयोग किया जा सके। इन आधारों को ध्यान में रखते हुए मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं की हिन्दी भक्ति आन्दोलन के दौरान लिखित कविताओं से तुलना को करने का प्रयास किया जा रहा है।

भक्ति काव्य में कई विचारधाराओं, भावधाराओं, दर्शनों एवं देवी-देवताओं का समन्वय तथा सह-अस्तित्व देखने को मिलता है। यह मात्र काव्य के स्तर पर ही नहीं, अपितु इसे व्यवहार में भी बरतने पर बल दिया गया है। यह समन्वय या सामंजस्य बिना शर्त था, जो सभ्यता एवं संस्कृति का और पर्याय रूप में मानवता का विस्तार करता है। इस क्रम में कई बार आदिवासियों एवं लोक देवताओं का विलय कर लिया गया, तो कई बार लोक-देवताओं को ही प्रमुख रूप देकर लोकधर्म को सर्वमान्य धर्म बनाने का प्रयास किया गया। यही बात श्रीविठ्ठल के सन्दर्भ में हुई। भक्ति आन्दोलन को देखकर सहज कहा जा सकता है कि समस्त भारतीय दर्शन, भक्ति एवं भावधारा वैष्णव या शैव ही नहीं रही है, इसमें कई-कई देवी-देवताओं तथा कई समाज चिन्तक-कवियों का भी योगदान रहा है।

नाथ पंथ की विचारधारा एवं भावधारा को अधिकांश भक्ति आन्दोलन के आरंभ में देखा जा सकता है। हिन्दी में रचना करनेवाले आरंभिक मराठी सन्त-भक्त कवियों में महानुभाव पंथ के कवियों की गणना की जाती है, जिन्हें नाथ सम्प्रदाय की आलोचना करने के लिए चक्रधर द्वारा नियुक्त किया गया था। किन्तु उन्होंने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय देते हुए नाथ सम्प्रदाय के साथ-साथ अन्य मतों की भी आलोचना करते हुए, अपने मत को सर्वश्रेष्ठ बताया। महदंबा ने अपने काव्य में नाथों का उल्लेख तक नहीं किया। एक मिशन के तहत सैद्धान्तिक पाखण्ड-खण्डन को केन्द्र में रखते हुए भी दामोदर की

कविताएँ किसी से संवाद करने की मुद्रा धारण किए हुए हैं। उनकी कविताओं में सामाजिक नहीं अपितु भक्ति एवं धर्म सम्बन्धी सैद्धान्तिक रूढ़ियों का खण्डन मिलता है। वे धर्म या धार्मिक भावनाओं के व्यापारियों के सख्त विरोधी हैं। साथ ही वे मात्र ज्ञान साधना के भी विरोधी हैं। ‘सारमसार बुझती हे बिरला, तत्व ज्ञान जीन्हं पाया। कलयुग माहे बढंती ग्यानी, सब लोक धंदे लगाया।’ कहते हुए उन्होंने ज्ञान में उस सम्पूर्ण को पूर्ण रूप से व्याप्त नहीं माना है। इसी कारण उसके सार को बिरला समझने की बात भी उनके एक पदों में आयी है। एक अन्य पद में उन्होंने लिखा है - ‘सुन हो बाबा, सुन हो पंडित सुन बैरागी भाइ। हमारी साखी बीरला सुने, बूझति बीरला कोइ।’ इस सन्दर्भ में गोरखनाथ एवं नामदेव की एक एक कविता में साम्य लक्षणीय है। गोरखनाथ की कविता है -

कुम्हरा के घर हांडी आछे अहीरा के घरि सांडी।

बह्मना के घरि रान्डी आछे रान्डी सांडी हांडी।

राजा के घर सेल आछे जंगल मंधे बेल।

तेली के घर तेल आछे तेल बेल सेल।

अहीरा के घर महकी आछे हींग ल्यंग स्यंग।

एक सुन्ने नाना वणयां बहु भांति दिखलावे।

भणत गोरष त्रिगुण माया सतगुर होइ लषावे ॥

इस कविता को नामदेव ने अपनी विचारधारा, भावधारा एवं भक्ति-भाव के अनुसार मोड़ते हुए कविता का रूप एवं कथ्य परम्परा को स्वीकार किया है। आदिग्रंथ में संग्रहित उन्होंने अपनी इस कविता में लिखा है -

तीन छंदे खेलो अच्छे। कुंभार के घर हंडी अच्छे ॥४॥

राजा के घर सांडिगो। बह्मना के घर रांदी अच्छे ॥१॥

रांदी सांदी हांदी गो। वानी के घर हिंग अच्छे ॥२॥

भहिसर माथे सिंगगो। देवल मध्य लिंगया अच्छे ॥३॥

लिंग सिंग हिंग गो। तेली के घर तेल अच्छे ॥४॥

जंगलमध्ये बेल गो। माली के घर केल अच्छे ॥५॥

केल बेल तेल गो। संतांमध्ये गोविंद अच्छे ॥६॥

गोकलमध्ये स्याम गो। नामेमध्ये राम अच्छे ॥७॥

राम श्याम गोविंद गो ॥¹

इन कविताओं में साम्य और अन्तर स्पष्टतः देखा जा सकता है, जिसे परम्परा का विकास देखा जा सकता है। दामोदर द्वारा किया गया खण्डन-मण्डन मात्र नाथ पंथ से सन्बन्धित नहीं है, अपितु अन्य कई साधना-पद्धतियों, रीति-रिवाजों, बाह्याडंबरों की निस्सारता का सैद्धान्तिक बखान है। उन्होंने न केवल नाथों की आलोचना की है, बल्कि तत्कालीन प्रचलित अन्य कई मतों, सिद्धान्तों की भी आलोचना की है। उनके निशाने पर केवल नाथ पंथ नहीं था। विचार प्रणाली के झूठे बाह्यचार, दंभ और सिद्धान्त विहीनता उनकी आलोचना की शिकार बनी है। अपने सिद्धान्तों पर दंभ करनेवालों और अपने ही पंथ को सम्पूर्ण ज्ञान का अगार मानने वालों को वे सीधे प्रश्न करते हैं कि 'शून्य-निरशून्य की बात तुम कहाँ करते हो, तुम तो ब्रह्म का पार तक नहीं जानते।' 'इस शिव-शक्ति की युक्ति से तुमने क्या पाता है।' 'आत्मज्ञान की बात तो बहुत से मार्गों में बताई गई है, लेकिन वह आदिनाथ का अनुभव लिए बगैर नहीं आता है, क्योंकि आत्मज्ञान तो गूँगे के सपने जैसा होता है, जिसका अनुवाद करना संभव नहीं है' - 'मुझे नि सपना दीठे अनुवाद करे कोण। तैसा सुन रे भया अस आतम ज्ञाना।' दामोदर पंडित की कविता में महानुभाव पंथ के अनुसार 'निर्गुण का मूळ' खाने की बात आयी है। यह अभिव्यक्ति आरंभिक हिन्दी सन्त कवियों की तरह की स्पष्टतः देखी जा सकती है।

मठों का विकास मुक्तिबोध ने मराठी भक्ति आन्दोलन का विकास ज्ञानेश्वर से माना था, जबकि वह महानुभाव सम्प्रदाय के कवियों से आरंभ होता है। इसके बाद वारकरी एवं नाथों का एकीकरण होता है। दत्त सम्प्रदाय का उदय भी होता है और उनकी सूफियों के साथ साँठ-गाँठ भी होती है। सत्ता और आध्यात्म में भागीदारी भी बाँटी जाती है। रामदास ने तो मठों की श्रृंखला खड़ी कर दी है। अर्थात् मराठी क्षेत्र में अधिकांश साहित्य मठीय परम्परा से लिखा गया है, जहाँ आरंभिक मठों के अर्थ, व्यवस्था एवं दृष्टिकोण तथा विचारधारा, सर्वसमावेशकता के प्रति रुझान आदि में बाद के मठों से बहुत अधिक अन्तर देखने को मिलता है। वही हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में मठों की परम्परा बहुत बाद में आरंभ होती है। यहाँ कुछ कवि अपने आप को संघठित करते आवश्य हैं, किन्तु गद्दी आदि स्थापित नहीं करते। ठीक यही बात वारकरियों के यहाँ आरंभ में देखी जा सकती है। मराठी साहित्य का आरंभ ही नाथ एवं महानुभाव सम्प्रदाय के संघठित होने से होता है। अर्थात् हिन्दी और मराठी भक्ति आन्दोलन में यह दृष्टिभेद देखा जा सकता है। महानुभाव सम्प्रदाय में ब्राह्मणों का आधिक्य था, जबकि हिन्दी प्रदेश के आरंभिक कवियों में अधिकांश कारीगर एवं वयनजीवी जातियों की उपस्थिति थी। वारकरियों एवं नाथों के समन्वय का पहला सफल प्रयास ब्राह्मण जन्मा बन्धुओं द्वारा ही हुआ।

हिन्दी के आरंभिक कवियों में जो नारी निन्दा का भाव में मिलता है, वह यहाँ नाथ पंथ से प्रभावित-अप्रभावित सम्पूर्ण हिन्दी कविताओं में न के बराबर देखने को मिलता है। हिन्दी के आरंभिक सन्तों में पायी जाने वाली इस प्रवृत्ति के सन्दर्भ में कहा जाता है कि “निर्गुणपंथी भक्तों में नारी-निन्दा का संस्कार नाथपंथी प्रभाव का परिणाम है।”² किन्तु बाद के सगुण कवियों में आनेवाली नारी निन्दा की प्रवृत्ति उनके संस्कारों का परिणाम है। इसी के साथ सूरदास की नारी दृष्टि की आधुनिक व्याखाँ उन्हें तुलसीदास से अधिक व्यापक दृष्टिकोण के कवि के रूप में प्रस्तुत करती हैं। ऐसे में विशिष्ट रूप से एकनाथ की नारी दृष्टि न केवल उनके मराठी काव्य से उनके हिन्दी काव्य में उन्हें भिन्न रूप में प्रस्तुत करती है, अपितु उनके लगभग समकालीन तुलसीदास से भी अलगाती है। बहेणाबाई ने एक हिन्दी कविता में नाथों जैसी अभिव्यक्ति की है, जो उनके नाथ संस्कारों को दर्शाती है। इस कविता में उन्होंने नाथ पंथ की वेशभूषा एवं बाह्याचारों को भले ही अस्वीकार कर दिया हो, किन्तु वैचारिक तथा अराधना पद्धति के स्तर पर कई स्थानों पर नाथपंथी कविता से अपने सूर में सूर मिलाती है। ऐसे व्यक्ति को गुरु भी मार्ग नहीं दिखा सकता, जिसके पेट (हृदय) में वासना बची है, जो ‘जिकीर नहीं करता’ अर्थात् नाम स्मरण नहीं करता, जो अपने-आप को नहीं पहचानता है।

महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन में नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव बड़े पैमाने पर था। नाथ और वारकरी सम्प्रदाय में अटूट सम्बन्ध है। ज्ञानेश्वर ने अपनी हिन्दी कविताओं में नाथों जैसी अभिव्यक्ति करते हुए इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है। यहाँ आकर ज्ञानेश्वर का व्यक्तित्व संयोगवश आदि शंकराचार्य (788-820 ई.) एवं रामानन्द से तादात्म्य स्थापित करता हुआ दिखाई देता है। “शंकर के जीवन में विरोधी भावों का संग्रह मिलता है। वे दार्शनिक भी हैं, और कवि भी, ज्ञानी पंडित भी और सन्त कवि भी, वैरागी भी हैं और धार्मिक सुधारकर भी।”³ आनन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी में उनकी काव्य प्रतिभा व्यक्त हुई है, उनकी बौद्धिक क्षमताएँ तो भाष्यों में स्पष्ट हैं ही। धार्मिक सुधारक और संघटनकर्ता का परिचय देते हुए उन्होंने देश के चारों कोनों में मठ स्थापित किए - श्रृंगेरी, द्वारका, पुरी और बदरीनाथ। “रामानन्द समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु थे, उपासना के क्षेत्र में ही वे जाति-पाँति के बन्धन को वे अस्वीकार करते थे, पर अपने किसी भी व्यक्तिगत मत को उन्होंने शिष्यों पर लाद नहीं दिया।”⁴ ज्ञानेश्वर ने अपनी दोनों हिन्दी कविताओं में नाथों के अधिक समीप देखे जा सकते हैं। बहेणाबाई ने भी इसी भाव की हिन्दी कविता लिखी है।

मराठी सन्त-भक्तों द्वारा लिखित हिन्दी कविताओं में नामदेव की तरह व्यापकता और विविधता एकनाथ के काव्य में है। दोनों कवियों में लगभग ढाई सौ वर्षों का अन्तर है। इन दोनों कवियों को ही

नहीं, तमाम मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं को कुछ अपनी निजी विशेषताओं के अतिरिक्त कई सामान्य प्रवृत्तियाँ जोड़ती है। जिस प्रकार यह आपस में जुड़ी हुई है, उसी प्रकार वे हिन्दी भक्ति आन्दोलन के दौरान लिखित कविताओं से भी अपना सम्बन्ध स्थापित करती हैं। मराठी सन्त-भक्तों की हिन्दी कविताएँ उपलब्ध धर्म पद्धतियों एवं उसके प्रैक्टिसेस की आलोचना करती हैं, उनके मूल तर्क से विरोध जाहिर करती हैं, किन्तु वह धर्म-विरोधी कविता नहीं है, वह किसी न किसी रूप में धर्म के अस्तित्व को मानती हैं। एक से निष्कासन के कारण वह दूसरे की तलाश करती है, दूसरे से निष्कासन के तीसरे की ओर यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है, किन्तु जैसे-जैसे यह खोज आगे बढ़ती है, वह अधिक व्यापकता पाती है, वह अधिक लोकतांत्रिक एवं अन्तर्वेशी होती जाती है। यह भक्तिकालीन कविता का विशेषता है और इसी अर्थ में उसे मानवतावादी और सत्यान्वेषी सिद्ध किया जा सकता है।

इसी क्रम में प्रत्येक सन्त-भक्त ने अपनी विचारधारा, आचारधारा एवं भक्ति पद्धति का चुनाव कर अपनी कविताओं में उन्हें अनुस्यूत करने का प्रयास करता है और इस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में वह व्यक्तिगत साधना से सामाजिक समानता का प्रवास करता है। यही कारण है कि मध्यकालीन सन्त-भक्त कवियों की कविताएँ जितनी वैयक्तिक हैं, उतनी ही वे सामाजिक अभिव्यक्ति भी हैं। कहीं-कहीं यह विभाजन दिखता है, तो कहीं वह कविता में काव्यत्व ग्रहण कर लेता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मध्यकालीन सन्त-भक्त कवि धर्म की अनिवार्यता उसी अर्थ में मान रहे थे, जिस अर्थ में धर्म के व्यापारी। ऐसा होता तो वे नए धर्म या संघठन की स्थापना करने पर अधिक जोर देते। उनके यहाँ धर्म की सामूहिकता का अर्थ सामाजिक था, व्यापारी नहीं। वे उपलब्ध धर्मों की आलोचना द्वारा उसे अधिक-से-अधिक अन्तर्वेशी बनाना चाहते थे, जिसे उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक सन्दर्भों में अभिव्यक्त किया। संभवतः यही कारण है कि कबीर ने अपने नाम से पंथ चलाने से मना कर दिया। नामदेव वारकरियों के वृत्त से बाहर निकलकर उत्तर भारत की ओर चल दिए। चक्रधर ने मठ की तो स्थापना की, किन्तु मठाधीश बनकर ही जीवन व्यतीत नहीं किया। विजयदेव नारायण साही को जायसी का नाम सूफियों की सूची में नहीं मिल पाया। तुकोबा वारकरियों में होकर भी अपनी हिन्दी कविताओं में वारकरी सम्प्रदाय की आचरण व्यवस्था की आलोचना करते हैं। यही कारण है कि मठीय परम्परा के उदय के साथ ही भक्ति आन्दोलन की सामाजिकता जाती रही और उसका दरबारीकरण एवं मठीकरण आरंभ होता गया। यह हिन्दी-मराठी दोनों क्षेत्र के भक्ति आन्दोलन, सम्पूर्ण भारत के, भक्ति आन्दोलन में समान तत्व देखने को मिलता है। भक्ति आन्दोलन ने 'भक्ति' शब्द के अर्थ को परिवर्तित करने का कार्य

किया और इसी में उसकी सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षाएँ भी बोलती हैं, जिन्हें मठीय एवं दरबारी काव्य ने बाद के समय में अपहृत कर लिया।

भक्ति आन्दोलन कई प्रकार के विकेन्द्रीकरण करने का भी प्रयास करता है। इसे धर्म एवं भक्ति की संरचना में बदलाव लाने का प्रयास कहा जा सकता है, जो अन्ततोगत्वा सामाजिक संरचना में बदलाव का ध्योतक बनता है। धर्म एवं भक्ति के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को 'भक्ति के समान अधिकार की माँग' कहा गया तो धर्म की संरचना में बदलाव को 'क्रान्तिकारिता' से व्याख्यायित किया गया और इसके समन्वित रूप से सन्त-भक्तों के समाज सुधारक रूप को उभारने का कार्य हुआ। इतना ही नहीं, भक्ति आन्दोलन ने अराध्य और अराधक के बीच के केन्द्रों को भी नष्ट करने का प्रयास किया और इस प्रकार वैयक्तिक साधना एवं उसकी सामाजिकता को नए सन्दर्भ देने का प्रयास किया। उसने भक्त को अपने अराध्य की नई मूर्ति गढ़ने, उसकी नई व्याख्या गढ़ने का स्वातंत्र्य देने का प्रयास किया। उससे भी पूर्व उसने अपने अराध्य को चुनने और उसकी अराधना करने के अधिकार के लिए संघर्ष किया।

अराध्य के लोकरक्षक-लोकरंजक, प्रेमी-प्रेमिका, नायक-नायिका, स्त्री-पुरुष, विरहदाता-प्रेमदाता, बालक-पालक आदि रूपों का चित्रण भक्ति काव्य में देखने मिलता है। इन रूपों एवं अराध्य के स्वीकार पर हिन्दी में भक्ति काल का विभाजन भी किया गया है। मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं को भले ही इस प्रकार से विभाजित नहीं किया जा सकता हो, किन्तु वहाँ भी अराध्य विभिन्न छवियाँ देखने को मिलती हैं। अवतारवाद में राम-कृष्ण सर्वोपरि देवता रहे हैं और इन्हें केन्द्र में रखकर भक्ति काव्य विकसित हुआ। साथ ही अवतारवाद में इन अराध्यों को देखने की दृष्टि में भी अन्तर है। जैसेकि कृष्ण के किस रूप का स्वीकार किया जा रहा है, इस पर कवियों का दृष्टिकोण एवं कई बार कविता का स्वरूप भी तय होता था। इसमें भागवत एवं तमिळ के आलवार सन्तों ने कृष्ण भक्ति को काव्यात्मक आधार प्रदान किया। प्रायः प्रत्येक हिन्दी कवि ने कृष्ण की चारों ओर सम्पूर्ण लीला संसार को जन्म दिया, जिसमें यशोदा से लेकर गोपियों का प्रवेश कई भावों से किया गया है। भ्रमरगीत में गोपी भाव से सम्बन्धित रचनाएँ भी अष्टछाप कवियों ने की हैं। जयदेव का 'गीतगोविन्द' कोमलकान्त पदावली के साथ-साथ श्रृंगार को खुले तौर पर अपनाता है, जहाँ राधा-कृष्ण का मानवीकरण किया गया। प्रायः यही बात विद्यापति के यहाँ भी उपस्थित है, जहाँ नायिका को लावण्यमूर्ति तो कृष्ण नायक को रसमूर्ति के रूप में देखा जा सकता है। अष्टछाप ही में परमानन्ददास (1493-1583) जैसे कवि हैं, जो कृष्ण कथा में रुचि न लेते हुए अपने काव्य को केवल बाललीलाओं तक ही सीमित कर लेते हैं। मीराँ जैसे रचनाकारों ने कृष्ण के नितान्त भिन्न प्रेमी रूप का चित्रण किया है, जहाँ वह प्रेमी भी हैं, पति भी हैं और

परम आराध्य भी। रहीम और रसखान भी अपनी दृष्टि लेकर कृष्ण काव्य को प्रस्तुत करते हैं, जहाँ कथा प्रायः गौण हो जाती है और प्रसंगविशेष और उसके भाव प्रमुख।

इन स्थितियों में यह जानना रोचक है कि मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित अधिकांश हिन्दी काव्य भले ही सम्पूर्णतः सम्प्रदायबद्ध न रहा हो, किन्तु उसमें कई मायनों में एकता देखने को मिलती है। ‘अष्टछाप’ कवियों में जैसी एकता बाललीलाओं के सन्दर्भ में देखने मिलती है, कुछ उसी प्रकार की। हिन्दी भक्ति आन्दोलन में लिखित कृष्ण काव्य जितनी विविधता मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित कृष्ण कविताओं में नहीं है। प्रायः अधिकांश कवियों ने अपने आप को बाल लीलाओं तक ही सीमित कर लिया है। अपवादस्वरूप एकनाथ और तुकोबा ने गौळण एवं गोपी प्रसंग को छूने का प्रयास किया है, किन्तु वह भी अधूरा है। हिन्दी में लिखनेवाले मराठी सन्त-भक्तों में बहेणाबाई ने कृष्ण जन्म कथा को सबसे विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है, तो एकनाथ ने गौळणों में गोपियों से शरारत करनेवाले कृष्ण का रूप प्रस्तुत किया। यहाँ के हिन्दी काव्य में रामदास तक आने तक अराध्य के रूप में राम का कोई चित्र प्राप्त नहीं होता है।

हिन्दी भक्ति आन्दोलन के रचनाकारों में एकनाथ की तुलना तुलसीदास से की जाती है, किन्तु उनके हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में यह तुलना सही नहीं ठहरायी जा सकती है। एक तो एकनाथ ने तुलसीदास की भाँति हिन्दी में कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा। दूसरे वे अपने हिन्दी काव्य में तुलसीदास की भाँति केवल रामभक्त कवि के रूप में ही रेखांकित नहीं किए जा सकते हैं। एकनाथ की काव्यभाषा दक्खिनी के अधिक करीब और अव्यवस्थित है तो तुलसीदास की भाषा संस्कृतनिष्ठ अवधी है। एकनाथ ने तुलसीदास की भाँति अपने समय का चित्रण व्यापक स्तर पर नहीं किया है। इसके बरअक्स इन दोनों से पूर्व हुए नामदेव ने अपने समय को कलिकाल की अवधारणा द्वारा हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त किया है।

तुलसीदास और नामदेव के अपने युग को कलिकाल कहने की दृष्टि को एक ही माना जाए? दोनों ने अपने समय को कलिकाल कहा आवश्यक है किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भरपूर अन्तर देखने मिलता है। नामदेव एक ओर तीर्थों के कुटिल होने का, मुनेश्वर, सुरनर, पीर-पैगंबर उल्लेख किया गया है, वहीं दूसरी ओर ‘उजल बग ध्यान, प्रणवे अलख अभवे’ का उल्लेख है इन कविताओं को उनकी अवधारणाओं के अतिरिक्त इस रूप में भी देखा जाना चाहिए कि मन्दिरों तथा अन्य धर्मस्थलों की हो रही दुर्दशा को नामदेव कलिकाल का नाम दे रहे हैं और अपने धर्म में आयी बुराइयों को भी इसी के अन्तर्गत समाहित कर रहे हैं। इस पूर्णत्व से उनकी कलिकाल की अवधारणा बनती है। तो दूसरी ओर तुलसीदास द्वारा

अपने युग को कलिकाल के रूप में चित्रण किए जाने की कई वर्णवादी व्याख्याएँ की गई हैं। यदि तुलसीदास अपने समय में वर्णवादी व्यवस्था के टूटने का विलाप कलिकाल कहकर कर रहे थे, तो नामदेव किस व्यवस्था के टूटने का विलाप कर रहे थे? दोनों कवियों की दृष्टि के अन्तर को देखना अधिक संगत होगा। “हिन्दू परम्परा में चार युगों की अवधारणा कालगणना की अवधारणा होने से कहीं अधिक समाज के नैतिक स्वास्थ्य की सूचना देनेवाली अवधारणा रही है। समाज के स्वास्थ्य का आदर्श रूप सतयुग है, और कलियुग है-मूल्यों और व्यवस्थाओं के पूर्ण विघटन का ‘प्रोटो-टाइप’। मूल्यपरक होने के कारण कलियुग की अवधारणा का परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है।”⁵ नामदेव तीर्थों के व्यापारीकरण और उसमें उजले बगलों के वर्चस्व को कलिकाल कह रहे थे, तो तुलसीदास उस व्यवस्था के टूटने को। इसका अर्थ नामदेव के समय की स्थिति तुलसीदास के समय तक आते-आते टूटने लगी थी। एकनाथ के काव्य में ऐसे उल्लेख नहीं मिलते हैं और न तुकोबा के।

इसे हमने सविस्तार दिखाया है कि नामदेव ने कई प्रचलित धारणाओं को अपने वैचारिक मतानुसार स्वीकार किया। नामदेव की इस अवधारणा में उस स्थिति का भी आभास मिल जाता है, जहाँ निम्न वर्ग-वर्ण से नव-धर्मान्तरित मुसलमान एक साथ हिन्दू-मुसलमान की अस्मिताओं को जी रहे थे। इसे हमने नामदेव और एकनाथ के समय की स्थितियों पर प्रकाश डालते समय विवेचित किया है।

भक्तिकाल में एक नहीं अनेक समूहों की सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति हुई है, यह भी कारण है कि बुल्लेशाह, फरीद, कबीर, नानक, रविदास, नामदेव, जायसी, सूरदास, एकनाथ, तुलसीदास, मीराँ, तुकोबा, बहेणाबाई, आदि भक्तिकालीन कवियों की कविताएँ एक से दूसरे समाज में सहज स्वीकृत हो जाती हैं। तुकोबा अपनी हिन्दी वाणी लगभग कबीर के स्वर में कहते देखे जा सकते हैं। नामदेव के करीब नानक, कबीर और रैदास सहज रूप में देखे जा सकते हैं। एकनाथ की लोक दृष्टि जायसी के अधिक समीप लगे तो इसमें क्या अचरज। ख्वाजा बन्देनवाज गेसूदराज और रामदास एक जैसी दृष्टि रखे तो उनके समय और समाज की एकता को देखना अनिवार्य हो जाता है। इसका रहस्य भक्तिकालीन कवियों का कई समाज-समूहों के सम्पर्क में आने में देखा जा सकता है। जितने कवि ने प्रवास किये हैं, जितना वह समय-समाज समूहों में घुला-मिला है, जितने समूहों में उसने विचलन किया है, इस पर निर्भर करता है कि वह कितनी दूर तक स्वीकार हुआ है। इस क्रम में कवियों मान्यताओं में कई बार परिवर्द्धन-परिवर्तन होते हुए भी देखा जा सकता है।

नामदेव ने अपनी जीवन यात्रा के साथ विभिन्न सामाजिक-भौगोलिक समूहों से ग्रहण की गई मान्यताओं को उन्होंने सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक स्तर पर समझने और कविताओं में समाझाने का

प्रयास किया है। जातिगत सामाजिक विभाजन को कुछ स्थानों पर उन्होंने सामाजिक समस्या के रूप में रेखांकित करते हुए कटु आलोचना के केन्द्र में रखते हुए उसे कई उदाहरणों द्वारा अमानवीय विभाजन माना है और सामाजिक समानता का उद्घोष किया। कुछेक कविताओं का स्वर इसके अनुरूप नहीं है, जहाँ उन्होंने इसे मात्र आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हुए नियतिवादी समाधान प्रस्तुत किया है। जब नामदेव जातिगत विभाजन का को नियति या भाग्य पर छोड़ देते हैं तो उनकी कविता में भावुकता का अधिक्य हो जाता है, किन्तु इसी समस्या को सामाजिक समस्या के रूप में चित्रित करते समय उनके विचारों और भावों में कनककुंडलवत् मिश्रण देख जा सकता है। एकनाथ तथा रामदास की हिन्दी कविताओं में अनेक अराध्यों की स्वीकृति उनके कई धार्मिक-सांस्कृतिक वर्गों में पैठ को दिखाते हैं। यही कारण है कि एकनाथ कई परम्पराओं में स्वीकृत भी हुए। तुकोबा की हिन्दी कविताओं की व्यापकता कहिए या उसका सबको अपने अन्दर समेटने का प्रयास, इन कविताओं को सगुण-निर्गुण, किसी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण, लोक-शास्त्र, धर्म, वैष्णव-शैव, राम-कृष्ण, प्रेम-ज्ञान, वस्तु-रूप आदि किसी भी आधार पर विभाजित करना दुरुह कार्य है। उनकी कविताओं में आया सगुण-निर्गुण का यह विचारवैविध्य परस्पर पूरक है।

पर्याय रूप में अराध्य के नामों का प्रयोग करने के साथ ही हिन्दी निर्गुण कहे जानेवाले कवियों की तरह मराठी सन्त-भक्त कवियों ने अपनी हिन्दी कविताओं में उसे निर्वचनीय भी माना है। रामदास के अनुसार 'मन्दिर तोड़े जा सकते हैं, मस्जिद फोड़े जा सकते हैं, किन्तु जो टूट-फूट नहीं सकता, वही गैबी मरद होता है।' पंजाबी कवि फरीद ने अपनी एक कविता में अप्रस्तुत अराध्य को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। फरीद ने अपनी 'हुस्ने हक्रीकी' शीर्षक कविता में 'हुस्ने हक्रीकी नूर-ए-अज़ल' को क्या-क्या कहा जा सकता है, इसका बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण किया है। फरीद ने स्वयं अराध्य से प्रश्न पूछा है कि तुझे क्या-क्या कहूँ, हैवान-इन्सान-ईन्सान की रूह-शिव-पार्वती-विष्णु-मनुष्य का धर्म-अविनाश-गुरु-मंत्र-कलमा-अर्श-अबलाक-मन्दर-मस्जिद-दैर-पोथी-कुरआन-कुफ्र-ईमान-बादल-बरखा -गाज-बिजली-दशरथ-लच्छमन-राम-सीता की जननी-बलदेव-जसोदान्द-किश्र-कन्हैया-कान्ह-बरहमा-बिश्र-गनेश-महादेव-भगवान-बेद का भेद-ज्ञान-अज्ञान-नूह-ईबराही-बावशीष-मूसा बिन ईमरान-हर दिल दा दिलदार-रहेमत आली शान-सुरती-बिड़ा-पान-तबला-तंबुर-मोदक-सुर-तान-हुस्नम का हर सिंगार-ईशक-ईल्म-गुमान-हैरत और हैरान-तस्लिम और तल्विन-हरगिज़ ना फरमान-तीर और कमान-बेरंग-बेसुरत-रहेमान-सम्भान-अर्शे नूँ पर तुक्कालर-अलख-बेऐब-भक्त- पै नाम निशान आदि-आदि बता तुझे क्या कहूँ?

फरीद ने कई विरोधी वस्तुओं-व्यक्तियों की संज्ञाओं से अपने अराध्य संबोधित किया है। निर्माता और निर्माण, जननी-जनक और आपत्य सभी कुछ वही है, सबमें वही है।

इसी प्रकार कबीर ने भी अपनी एक कविता में अपने अराध्य को सर्वव्यापी मानते हुए लिखा है-

‘इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
 खाली पुर्ण जगत के माही व्यापे तू का तू,
 हाथी में हाथी बन बैठा, किड़ी में है छोटा तू,
 होय महावत ऊपर बैठे हाकण वाला तू का तू,
 चोरों के संग चोरी करता, बदमाशों में बैठो तू,
 चोरी करके तू भग जावे, पकड़नेवाला तू का तू,
 चोरों के संग चोर बण जावे, डाकू को भी भेळो तू,
 चोरी करके तू भग जावे, पकड़नेवाला तू का तू,
 इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
 खाली पुर्ण जगत के माही व्यापे पूरा तू का तू,
 दात के संग दाता बन गया, भिकारी में भेळो तू,
 मंगतो होकर माँगण लागे, देने वाला तू का तू,
 इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
 खाली पुर्ण जगत के माही व्यापे तू का तू,
 नर नारी में एक बिराजे, दो दुनिया में पीसे क्यों,
 बालक होकर रोवन लागे, राखण वाला तू का तू,
 इनका भेद बता मेरे अवधू, अच्छी करनी करले तू,
 खाली पूर्ण जगत के माही व्यापे तू का तू,
 जल थल जीव में तू ही बिराजे, खादे कुँआ तू का तू,
 कहे कबीर सुनो भई साधो गुरु मिल्या है तू का तू ॥’

नाम साधना के लिए यह अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त तत्कालीन धर्म में प्रचलित कर्मकाण्डों से इस वर्ग-वर्ण को बचाने के लिए एक ऐतिहासिक कदम था। इस प्रकार नामा भक्ति के आधार रूप में ईश्वर के निर्गुण रूप की, जो सर्वव्यापी एवं सब में समाहित हो, की परिकल्पना पर अधिक जोर दिया गया। उनकी कविताओं में अधिकतर वैष्णव रूप भले ही नज़र आते हो, किन्तु शैव, अन्तर्व्यापी,

सर्वव्यापी, वेद-पुराण के अनुसार उन्हें सत्यापित करने का प्रयास, अद्वैत भाव, अलख लखने का प्रयास, अकथ रूप आदि भी उनकी कविताओं में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं। कबीर के अनुसार-‘सहज सहज सब कहे, सहज न चीन्हें कोय।’ सहज को अपने भीतर पहचानना होता है। रूढ़ियों से मुक्त धर्म में अपने आप को फिट करने की भी कुछ शर्तें थी। और सबसे पहली थी प्रचलित धर्म के उपनिवेशवादी मानसिकता से स्वयं को मुक्त करना। यही सहज को चीन्हना था।

रूढ़ परम्पराओं से धर्म को मुक्त कराने के लिए आराध्य के स्वरूप का निर्धारण नहीं, उसका स्वच्छन्द होना आवश्यक था। उसका प्रचलित नामों से परे जाना आवश्यक था। इस कारण एक ओर निर्गुण अराध्य ने प्रमुख स्थान पाया तो इसका दूसरी ओर ईश्वर की सर्वव्यापकता के विचार को पुनर्स्थापित करके किया गया। इस सर्वव्यापक ईश्वर को भले की कई पारम्परिक नामों से पुकारा गया हो, उसकी महिमा गयी गई हो, किन्तु कई नामों के प्रयोग के बावजूद भी सन्तों के ईश्वर एक ही हैं। नामदेव के सभी साथियों ने अजीवन भक्ति की समानता के लिए संघर्ष किया, किन्तु उन्हें स्वीकृति नहीं मिली। नामदेव की कविताएँ श्रमजीवी-कारीगर वर्ग से उपजती हैं, जिसे प्रचलित धर्म पद्धतियों का बाह्याचार दो कारणों से संभव न हो सकता था। भक्ति आन्दोलन में प्रायः प्रत्येक आरंभिक सन्त ने अपने श्रम के साथ भक्ति को जोड़ने का प्रयास करता देखा जा सकता है, चाहे वह रैदास, कबीर, नानक हो या नामदेव, चोखामेळा, सदना खाटिक, बंका महार या सेना नाई।

हिन्दी भक्तिकालीन कवियों की तरह ही मराठी सन्त-भक्त कवियों ने अपनी हिन्दी कविताओं में कई नामों का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ नाम हैं - हकीम, रहमान, साहेब, गोविन्द, देव, राम, स्वामी (शिव के लिए), जगदीश, अल्ला, कृष्ण आदि। भले ही उन्होंने अभिधार्थ में शैव, वैष्णव या ईस्लामी विभिन्न नामों का प्रयोग अपनी कविता में किया है, किन्तु इनके अर्थ में कहीं भी भेद नहीं दिखाई देता है। इसके विपरित वे उसका सच्चा रूप तो एक ही मानती हैं। बहेणाबाई ने लिखा है ‘सच्चांम साहेब तू येक मेरा, काहे मुजे फिकीर।’ वे अन्य पीर-फ़कीर के पास जाने की वह आवश्यकता नहीं समझती हैं। उनका स्पष्ट कहना है कि “अन्य पीर-फ़कीर के पास जाकर मुझे क्या करना है और ‘महाल-मुलुख’ (महल-राज्य) की मैं क्यूँ परवाह करूँ। वह तो अरूप-निर्गुण एक ही है, ‘तारणहारा’ है। बहेणाबाई के निर्गुण-अरूप ईश्वर ही रूप धारण कर सबकी भव-बाधाओं को हरते हैं, उसी के कारण सब कुछ संभव होता है। उनका पूर्ण विश्वास है कि नही राम, कृष्ण आदि रूप धारण करके कईयों को मुक्ति दे चुका है।

तुकोबा के अनुसार मन्दिर, महल, झोपड़ी, माया सभी राम बिन व्यर्थ है। उनके अनुसार माया-मिथ्या सब मन का धंदा है। अगले जन्म को लेकर रोना रोनेवाला उनके अनुसार गँवारू होते हैं। राजा लोक सभी अपना-अपना कहते हैं, तन जोबन की बड़ाई गाते हैं, उस पर अभिमान करते हैं, इस काम क्रोध के संसार को सर पर ढोते हैं और स्वयं को जोगी या संन्यासी कहलवाते हैं, उनके अनुसार वही सच्चा संन्यासी है जो अपने तन की आशाओं का त्याग दे। ये सब दिखावा है, ये सभी अन्दर से मैले होते हैं। भीतर का मैला ऊपर से धोने से कैसे मिटेगा। तुकोबा साधु संगत धरने की भी बात करते हैं किन्तु उनके अनुसार मिलना ऐसा होना चाहिए जो चित से चित मिला दे, अन्यथा ऐसे मिलने से क्या लाभ जैसे पानी से पत्थर और पत्थर से पानी मिलता है, पत्थर की तो सतह ही भीगती है तथा उसका अन्तर तो सूखा ही रह जाता है। इसलिए वे मन से मन मिलना अनिवार्य मानते हैं। इतना कहकर भी तुकोबा कथनी और करनी में समानता का दावा प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कहा है, 'तुका केवल शब्दों का शूर नहीं है, घन की चोट सहे बगैर हीरा भी नहीं बनता'। अर्थात् सतत संघर्ष तुकोबा के काव्य की मूल प्रवृत्ति है।

पारम्परिक धार्मिक-आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण ज्ञानेश्वर, नाथ सम्प्रदाय की अराधना पद्धति से पूर्णतः परिचित विद्रोही निवृत्तिनाथ, अनुभवी गोरोबा कुम्हार, अतिशूद्र कही जाने वाली जातियों के चोखामेळा, बंका महार, शैव-ब्राह्मण किन्तु सबसे ऊपर उठ चुके गुरु विसोसा खेचर, सावता माळी, नरहरी सुनार, स्त्री सन्त-भक्तों में दासी विशेषण से प्रसिद्ध जनाबाई, सोयराबाई, बुद्धिमान मुक्ताबाई आदि नामदेव का सन्त परिवार था। तो उत्तर भारत में रैदास, कबीर, त्रिलोचन, सेना नाई के साथ अपने शिष्य लब्धा और जल्ला का साथ मिल 'जिनके साथ उन्होंने पंजाब का भ्रमण किया'। यह था उनका उत्तर भारत का संतमंडल। इसके अतिरिक्त नामदेव के अनुसार कुछ 'पराए सन्त' भी थी जो 'दूर से ताकते रहते थे और चोरी चोरी देखते रहते थे'। हिन्दी भक्ति आन्दोलन में था कबीर का अपना संतमंडल, जिसके सदस्य नामदेव भी थे। कृष्णभक्त कवियों के अष्टछाप का भी विकास हुआ

सन्त-भक्त कवि भी सामाजिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। राजकीय इतिहासों में भाटों, चारणों एवं दरबारी मसखरों के नाम आते हैं, सन्त-भक्त कवियों के नहीं। एकनाथ ने अपनी एक हिन्दी कविता में कई हिन्दी-मराठी सन्तों को गिनाया है। कविता में ज्ञानेश्वर को विष्णु का अवतार, निवृत्ति को बाबा आदम अर्थात् शिव का अवतार, सोपानदेव को ब्रह्मा का अवतार माना गया है। साथ ही कविता में 'चांगदेव', 'नामा दरजी', 'कबीर', 'सावता माली', 'सज्जन कसाई', 'गोरोबा कुंभार', 'दादू पिंजारी', 'प्रल्हाद', 'विभिषण', 'विसोबा खेचर', 'नरहरी सोनार', 'रोहिदास चंभार', 'चोखोबा' इन सन्तों को विभिन्न कारणों से याद किया गया है। ज्ञानेश्वर को भैसे के मुख से वेदोच्चार

निकलवाने और दीवार को चलवाने के लिए, नामदेव को देव भुलाने के लिए, सांवता माळी को पेट चीरने के लिए, सज्जन कसाई को मुसलमान होकर भी हिन्दू भजन पद्धति अपनाने के लिए, गोरोबा कुम्हार को अपने ही हाथ तोड़ने के लिए, दादू पिंजारी को मुसलमान होकर भी नाम जपते रहने के लिए, विसोबा खेचर को शिव लिंग पर पैर धरकर सोने के लिए और रैदास को कठौती में गंगा दिखाने के लिए याद किया गया है। स्मरण रहे कि यह चमत्कार इन सन्तों के नाम के साथ जोड़े जाते रहे हैं। कबीर के नाम के साथ किसी भी चमत्कार का उल्लेख एकनाथ ने नहीं किया है। अपने समय की कई मान्यताओं एवं प्रथाओं का उल्लेख भी एकनाथ की हिन्दी कविताओं में जाने-अनजाने हुआ है।

भक्तिकालीन सन्त-भक्त कवियों के साथ चमत्कारिक घटनाओं का जुड़ना एक सामान्य प्रवृत्ति है। इन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन सन्तों के जीवन से जुड़ी चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख काव्य में किया है। कई बार तो इन कवियों ने अपने ही जीवन के साथ जुड़ी चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख किया है। यह प्रवृत्ति महानुभाव सम्प्रदाय के हिन्दी काव्य में नहीं मिलती है। बाद के वारकरी सम्प्रदाय के कवियों ने कई चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख किया है। हिन्दी सन्त-भक्त कवियों में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है, किन्तु उन्होंने अधिकांश अन्य समकालीन कवियों के सन्दर्भ में ऐसा किया है, स्वयं के सन्दर्भ में कम। गोंदा की एकमात्र पूर्ण कविता नामदेव के जीवन की चमत्कारिक कथा को चित्रित करती है। नामदेव ने स्वयं अपने जीवन के चमत्कारों को अभिव्यक्त किया है। एकनाथ ने इस क्रम में कई कवियों का स्मरण उनके जीवन की चमत्कारिक घटनाओं के सन्दर्भ में किया है। इस विषय में तुकोबा, बहेणाबाई और रामदास का काव्य चुप्पी साधे हुए हैं। अपने मराठी काव्य के विपरित हिन्दी कविताओं में बहेणाबाई की दृष्टि या तो अराध्य पर है अथवा सामाजिक रूढ़ियों पर।

समाज में एक ही प्रकार के समूह नहीं रहते हैं। भक्तिकालीन कविता अपने समाज से जुड़ाव के कारण विशेष उल्लेखनीय रही है। उसने अपने समय-समाज की विविधता को भी अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, इस कारण उसमें आन्तरिक विभिन्नता भी देखी जा सकती है। एक ही समय में रहनेवाले कवियों ने समाज के भिन्न पक्षों का चित्रण किया है। कई बार तो ऐसा हुआ है कि एक ही कवि की विभिन्न कविताओं में अलग-अलग सामाजिक समूहों की मान्यताओं का चित्रण हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' में राजघराणों की मान्यताओं, तत्कालीन युद्धों से जुड़ी आकांक्षाओं, स्त्रियों की मनोकामनाएँ, लोक की समझ आदि की अभिव्यक्ति एक साथ होते हुए देखा जा सकता है। 'रामचरितमानस' में परिवार है, माता-पिता, पुत्र, पुत्रवधु, पति-पत्नी, बन्धु है, राजा-प्रजा, रानी है, पुरवासी, नगरवासी हैं, भक्त-अभक्त हैं। सूरदास के काव्य में भी यह विविधता देखी जा सकती है। मीरा जैसा प्रतिरोध

बहेणाबाई के हिन्दी काव्य में नहीं है, किन्तु कृष्णकथा के प्रति लगभग वही रवैया है, जो सूरदास के यहाँ है। मराठी सन्त-भक्त कवियों के हिन्दी काव्य में भी कई सामाजिक समूहों की मान्यताओं, आशाओं-आकांक्षाओं, विचारों-भावों, लोक-शास्त्रों की अभिव्यक्ति हुई है। दामोदर पण्डित की कविताओं में आयी मान्यताएँ एवं आचार-विचार पद्धति परवर्ती कवियों से वैसी ही भिन्न हैं, जैसी परवर्ती कवियों की एक दूसरे से। एकनाथ ने अपने हिन्दी काव्य के माध्यम से अपने युगीन सत्य को, अपनी विचारधारा को, अपने आदर्श को सम्प्रेषित करने का सफल प्रयास किया है। उनके काव्य में अभिव्यक्त विचारधारा, भक्ति भाव एवं दर्शन में पूर्ण तादात्म्य देखने को मिलता है। रामदास इससे भिन्न दृष्टि लेकर आगे बढ़ते हैं।

आरंभिक हिन्दी भक्तिकालीन काव्य का अधिकांश मुक्तकों में लिखा गया और बाद के समय में महाकाव्यों की भी रचना हुई है। प्रबंधकाव्य लिखनेवाले हिन्दी कवियों ने मुक्तकों की भी रचनाएँ की हैं। इसमें कथा काव्य की अधिक्य रहा। मराठी भक्तिकाल में एकनाथ के अतिरिक्त शायद ही किसी कवि ने सफल प्रबंध काव्य लिखा है। मराठी सन्त-भक्त कवियों ने हिन्दी में मुक्तकों की रचना है। बहेणाबाई के अतिरिक्त किसी भी कवि ने हिन्दी में कथा कहने का प्रयास नहीं किया है। गोंदा की रचना को भी कथाकाव्य कहा जा सकता है। बहेणाबाई ने कृष्ण जन्म कथा को अपनी हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। एकनाथ के कृष्णकथा पर आधृत गवळणों को अधिक-से-अधिक प्रसंग काव्य कहा जा सकता है।

लोक से जुड़ाव भक्तिकाव्य को लोकधुनों की ओर ले जाता है। दोहे चली आती हुई परम्परा की देन थे। प्रत्येक काव्य अपनी एक धुन के साथ प्रचारित हुआ, लोक में रचा-बसा। मराठी सन्त-भक्त कवियों में महदंबा की एकमात्र कविता के सन्दर्भ में भी कहा जाता है कि उसने यह कविता गयी थी। दामोदर पण्डित तो स्वयं गायक थे। उनकी प्रत्येक कविता राग-रागिनियों के निर्देश के साथ लिखी गई है। नामदेव की कविताएँ अपनी पूर्वपरम्परा को आगे बढ़ाते हुए सारे बन्धनों को तोड़ती हुई, अपने में कीर्तन की लय को समेटती हैं। उनकी कविताएँ कीर्तन परम्परा का आरंभ होने के साथ एक मानक भी स्थापित करती हैं। एक ऐसा मानक जिसे हर कोई पा सकता है। इसके तहत उन्होंने ऐसी कविताओं की रचना की है, जो हर कोई गा सकता है, हर स्थान पर गा सकता है। उन्होंने कविता को रूप के स्तर पर ही नहीं, लय के स्तर पर भी सामाजिक करते हुए मुक्त करने का प्रयास किया है। नामदेव के इस प्रयास का प्रभाव बाद के सभी कवियों पर देखा सकता है।

कविता के लहज़े में नामदेव के बाद सबसे बड़ा परिवर्तन एकनाथ ने लाया। इसके लिए एकनाथ ने नामदेव की तरह किसी नवीन छन्द का प्रबंध नहीं किया, अपितु उन्होंने सामान्य जन में प्रचलित

माध्यमों का उपयोग कविता के लिए करने की परम्परा कायम की। उन्होंने समाज में लोकरंजन के लिए प्रचलित गारूडी, सपेरा आदि खेल दिखानेवाले पात्रों के माध्यम से लोक से अधिक समीप ले जाने का प्रयास किया। तुकोबा, बहेणाबाई, रामदास आदि कवियों ने लय एवं लहजे के क्षेत्र में प्रायः नामदेव का ही अनुसरण किया है। तुकोबा ने दोहों की रचना कर कबीरादि निर्गुण कहे जानेवाले कवियों से प्रभावित होने के प्रमाण प्रस्तुत कर दिए हैं। वैसे तुकोबा का अपना लहज़ा भी था, जिसका उन्होंने सभ्यता समीक्षा के लिए उपयोग किया।

भाषा के स्तर पर भक्तिकाल में आद्यन्त विविधता देखने मिलती है। कबीर की वही भाषा नहीं है, जो अपने पूर्ववर्ती कवियों थी। जायसी और तुलसीदास की अवधी में काफी अन्तर है। आरंभिक भक्तिकाली हिन्दी कवियों ने मिश्रित भाषा का उपयोग किया, जिसमें राजस्थानी और ब्रज का मिश्रण था। धीरे-धीरे हिन्दी भक्तिकालीन कवियों की भाषा ब्रज एवं अवधी की ओर मुड़ती हुई दिखाई देती है। कबीर उस पूरबी में बात कर रहे थे, जिसे उनके अनुसार वही समझ सकता है, जो धुर पूरब का है। कृष्ण काव्य के साथ ब्रज प्रमुख काव्यभाषा बन गई और भारतेन्दु युग तक बनी रही। उसी प्रकार मराठी सन्त-भक्त कवियों की भाषा में भी समयानुसार अन्तर आता गया। इतना ही नहीं, उनकी भाषा प्रायः बदल भी गई।

भाषायी आधार पर नामदेव पूर्व लिखित मराठी सन्त-भक्त कवियों के हिन्दी काव्य में चक्रधर और महदंबा के काव्य को 'सधुक्कड़ी भाषा' की कोटी में रखा जा सकता है, जहाँ भाषा का स्थिर रूप नहीं दिखाई देता है। नामदेव की भाषा भी कुछ इसी प्रकार की है, किन्तु वहाँ भाषा में मिश्रण के होते हुए भी नामदेव की निजी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। मराठी सन्त-भक्त कवियों में एकनाथ के बाद ब्रजभाषा से मुक्ति का एक अभियान-सा चल निकला। रामदास ने ब्रज की अपेक्षा हिन्दुस्तानी की ओर अपना रुख मोड़ लिया और बयाबाई ने भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाया। नामदेव के यहाँ ब्रज है तो दक्खिनी की ओर भी झुकाव है। इसका पूर्णत्व उनके पुत्र गोंदा की कविता में देखा जा सकता है, जिसे मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित दक्खिनी कविता कहा जा सकता है। एकनाथ में यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती दिखाई देती है। अर्थात् आरंभिक मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ या तो ब्रज भाषा की तरफ झुकी हैं या फिर उसमें मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। गोंदा-एकनाथ के बाद यह ब्रज भाषा की अपेक्षा दक्खिनी भाषा की प्रवृत्तियों से अधिक मेल खाती दिखाई देती हैं। एकनाथ ही नहीं तुकोबा, रामदास, बहेणाबाई एवं परवर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों का अधिकांश काव्य दक्खिनी भाषा का काव्य कहा जा सकता है।

इस प्रकार हिन्दी भक्तिकालीन साहित्य और मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित कविताओं को एक परम्परा के रूप में देखा जा सकता है। भाषायी आधार पर देखा जाए तो मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित हिन्दी काव्य भी अपनी यात्रा प्रायः हिन्दी भक्ति आन्दोलन के साथ ही करते हुए देखा जा सकता है। काव्य वस्तु एवं रूप के स्तर पर दोनों क्षेत्रों में लिखित हिन्दी काव्य में काफी कुछ भिन्न होते हुए भी उनमें अभिव्यक्त सामाजिकता एवं मूल्य दृष्टि उन्हें जोड़ती है, जिससे भक्ति आन्दोलन के अखिल भारतीय रूप का निर्माण होता है।

सन्दर्भ संकेत

¹. नामदेव, ढेरे, रां.चिं : सकलसंत गाथा, गाथापंचक, पद क्र.2426, पृ.700

². अग्रवाल पुरुषोत्तम, : अकथ कहानी प्रेम की, पृ.57.

³ सर्वपल्ली, राधाकृष्णन. : भारतीय दर्शन, खण्ड प्रेमशंकर, 44.पृ. 2-: भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, पृ. 53. पर उद्धृत

⁴ हजारीप्रसाद द्विवेदी. : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.48.

⁵ पुरुषोत्तम, अग्रवाल. : अकथ कहानी प्रेम की, समय उनका और कविता की कबीर-पृ.49.

अष्ठम अध्याय

मराठी सन्त-भक्त कवियों की मराठी-हिन्दी कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तावना

किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन उसके सम्पूर्ण रचना-कर्म के आधार पर किया जाना अपेक्षित होता है। कई बार रचनाकार की रचनाओं का ऐतिहासिक क्रम निश्चित नहीं होता है, ऐसे में सम्पूर्ण रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक क्रम से करना संभव नहीं हो पाता है। ऐसे में हमें उस विशिष्ट रचनाकार की तमाम रचनाओं के अध्ययन कर निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहिए। इसे ध्यान में रखकर यहाँ पिछले अध्यायों में मराठी सन्त-भक्त रचनाकारों की उभय भाषाओं के अध्ययन को पूर्णत्व देने के क्रम में हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना यहाँ की जा रही है। मराठी सन्त-भक्त कवियों में ऐसे भी कुछ रचनाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी में रचनाएँ लिखी हैं। इस परिस्थिति में प्रस्तुत अध्याय कुछ रचनाकारों का उल्लेख नहीं होगा। जिन्होंने केवल हिन्दी और मराठी में रचनाएँ की हैं, उन मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी-मराठी कविताओं का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

8.1 महदंबा की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना

महदंबा ने मराठी कविताओं में कृष्ण-रुक्मिणी विवाह प्रसंग को शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है, जिन्हें धवळे कहा जाता है। इन मराठी कविताओं की रचनाओं की प्रेरणा एवं उसकी अधिकतर पंथीय थी। हिन्दी में उनकी उपलब्ध एकमात्र कविता वस्तु के स्तर पर इस प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं रखती है। मराठी साहित्य में रुक्मिणी स्वयंवर कथा-प्रसंग को आधार बनाकर महदंबा से आरंभ होनेवाली इस परम्परा में एकनाथ और उनके बाद के समय तक कई काव्य-कृतियाँ लिखी गईं। इन सारी रचनाओं में आरंभकर्ता के रूप में महानुभाव पंथ के रचनाकारों और उनमें भी महदंबा की कविताओं का विशेष स्थान है। उन्होंने अपनी हिन्दी कविता के लिए इससे नितान्त भिन्न विषय-वस्तु का चुनाव किया था।

महदंबा ने अपनी मराठी कविताओं में अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए कृष्ण कथा के विशिष्ट प्रसंग को चुना और उसमें भी उन्होंने उसे अपने पंथीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना का प्रयास करते हुए विशिष्ट सतर्कता का परिचय दिया। उन्होंने अपनी हिन्दी कविता में किसी भी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र का चुनाव न करते हुए अपने गुरु के प्रति भावों को सीधे-सीधे अभिव्यक्त किया है। कथा काव्य होने के कारण उन्हें अपनी मराठी कविताओं में सीधे तौर पर भावों को अपने भावों के रूप में प्रस्तुत करने में कठनाई थी। वहाँ प्रत्येक बात को पात्रानुकूल बनाकर प्रस्तुत करना पड़ता था। इसके ठीक विपरित हिन्दी कविता में किसी पात्र का आधार न लेने के कारण उन्हें यह छूट मिली हुई थी कि वह कविता में अपनी बात और भावों को सीधे-सीधे अपने ही भावों के रूप में प्रस्तुत कर दें। इस कारण गुरु के प्रति अपनी अभिव्यक्ति करते समय उन्हें इस बात का भी ध्यान रखना पड़ा कि वहाँ चक्रधर के प्रति भक्ति एवं शिष्यत्व की हद को वह कायम रखे। मध्यकालीन गुरु-शिष्य के अर्थ में उन्होंने इस संसरशीप का भी पालन अपने काव्य में किया है। जहाँ मराठी कविताओं में कथा रूप में उन्होंने कोई

नई उद्भावना करने का प्रयास नहीं किया, वहीं उन्होंने अपनी हिन्दी कविता में भी गुरु के प्रति नाथों की-सी अभिव्यक्ति करते हुए, उन्हें अपनी ओर ध्यान देने एवं अपनी चिन्ता को वहन करने की जिम्मेदारी देने का प्रयास किया है। उनकी हिन्दी कविता में प्रायः वही भाव व्यक्त हुआ है, जो नाथों के यहाँ गुरु के प्रति अभिव्यक्त होता आया है।

महदंबा ने अपना मराठी काव्य धवळों के रूप में लिखा है, जो एक प्रकार का चार चरणी छन्द है और उनकी एकमात्र कविता भी चार पदों की ही है, जिसे चौपदी कहते हुए ब्रज भाषा के छन्द चौपदी से जोड़ा जा सकता है। वस्तुतः उनकी हिन्दी कविता भी धवळा मानी जा सकती है। उनकी हिन्दी की अपेक्षा मराठी में अन्य भाषा के शब्दों का मिश्रण न के बराबर हुआ है। उनकी हिन्दी रचना में मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त हिन्दी का प्राचीनतम रूप मिलता है, ठीक उसी प्रकार जैसे मराठी का प्राचीन रूप मिलता है। इससे हिन्दी-मराठी साहित्य की भाषा का अध्ययन करने में विशेष सहायता मिलती है और साथ ही यह भी जानकारी मिलती है कि किस प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा अपना विकास प्रदेश की सीमाओं से परे कर रही थी। महदंबा को मराठी साहित्य की पहली स्त्री रचनाकार माना जाता है, वहीं हिन्दी में लिखनेवाले आरंभिक सन्त-भक्त कवियों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है।

8.2 दामोदर पण्डित

दामोदर पण्डित ने अधासूरवध की कथा के आधार पर ‘वद्धाहरण’ शीर्षक मराठी रचना लिखी, जिसकी गणना महानुभाव सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख सात ग्रंथों में सादर की जाती है। एक प्रतिभावान कवि प्रणित काव्य की सारी विशेषताएँ दामोदर की मराठी रचनाओं में हैं। तुळपुळे ने इस ग्रंथ के “वर्णन कौशल”, “कथा संक्षेपण एवं भाव विस्तारण” तथा “निसर्ग प्रेम” आदि विशेषताओं की ओर अपनी प्रभावी आलोचनात्मक दृष्टि से ध्यानाकर्षण करवाया है। उन्होंने भक्तिमय भावों की अभिव्यक्ति करने का प्रयास अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है। उन्होंने भक्ति की प्रधानता के कारण मराठी रचना के साथ पवित्रता की भावना भी जोड़ दी है। उनके सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि वे पहले नाथपंथी थे और बाद में उन्होंने महानुभाव पंथ में दीक्षा ली। यह बात उनकी मराठी रचनाओं से कहीं भी सिद्ध नहीं होती है, किन्तु उनकी हिन्दी रचनाएँ इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी मराठी रचनाएँ पंथ में दीक्षित होने वालों के लिए पंथीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर लिखी। वहीं पंथ के बाहर नाथ पंथियों की आलोचना करने के लिए उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं की रचना की है। यही कारण है कि उनकी हिन्दी कविताओं में एक मिशन के तहत सैद्धान्तिक पाखण्ड-खण्डन को केन्द्र में रखा गया है, जबकि मराठी में सम्प्रदाय के मूल्यों को अधिक अभिव्यक्ति दी गई है। वैसे उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में अपने सम्प्रदाय के सकारात्मक पक्षों को कई बार अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु ऐसे प्रसंग कम और संक्षिप्त हैं।

इस कारण उन्होंने हिन्दी में भक्ति को अबाध गति से गाने की भी सलाह दी है और अपनी इन कविताओं में इसे सिद्ध भी कर दिखाया है, किन्तु मराठी कविताओं की अपेक्षा ऐसे प्रसंग हिन्दी कविताओं में कम ही हैं। चूँकि दामोदर ने मराठी में पौराणिक कथा को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है और हिन्दी में उन्होंने पाठक-श्रोताओं से किसी कथा या पात्र के बगैर सीधे संवाद अथवा विवाद प्रस्थापित किया है, ऐसे में उनकी हिन्दी-मराठी कविताओं में वही अन्तर आ गया है, जिसकी

चर्चा हम ऊपर महदंबा के सन्दर्भ में कर आए हैं। दामोदर की प्रायः प्रत्येक कविता क्रोध में “किसी” को कुछ “बुझाने” का प्रयास कर रही है, समझाने का प्रयास कर रही है। यहाँ कविता का लहज़ा अपने पाठक या श्रोता को वाद-विवाद-संवाद के लिए आमंत्रित करता हुआ है।

भक्ति भावों का अबाध गायन उनकी कविता का उद्देश्य था। दामोदर पंडित की मराठी कविताओं की तरह उनके हिन्दी पद भी राग-रागिनियों में लिखे गए हैं। उन्होंने अपनी कविताएँ अपने गायन के लिए संगीत में पद लिखे हो, जो मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी हैं। “वे उपमाश्लेषादि अलंकारों की योजना कर अपने काव्य में कल्पना सौन्दर्य लाते हैं, नागरी बोली का आश्रय लेकर रसपूर्णता को साधते हैं, किन्तु उन्होंने साहित्य का उपयोग कृष्णभक्ति, के ध्येय से प्रेरित होकर किया है।” डॉ. कोलते ने दामोदर के काव्यसामर्थ्य एवं उसकी मर्यादाओं का समुचित मूल्यांकन करते हुए लिखा है, “दामोदर पण्डित के इस भावनोत्कट अन्तःकरण के अविष्कार को एक प्रकार की गांभीर्यता है और इसकी प्रतीति सम्पूर्ण काव्य को पढ़ते हुए लगातार होती है। कहीं भी भावनाओं का शोर नहीं, अवश्यकता से अधिक ऊँचाई नहीं, प्रदर्शन का प्रयास नहीं। इसी कारण ऐसा लगता है कि इस काव्य का परिणाम अन्तःकरण पर संयत स्वरूप में हुआ है। शान्तरस निर्मिती के यश का यही रहस्य है...शृंगार, करुण, हास्यादि रसों से...अन्तःकरण के शक्ति की ऊँचाई बढ़ जाती है। शान्त रस के कारण यह शक्ति की ऊँचाई बढ़कर भी अन्तःकरण को एक प्रकार की समाहितता प्राप्त होती है। मन के पार्थिव से अपार्थिव रूप में जाने के कारण सर्वत्र शान्तता का अनुभव होता है। दामोदर पण्डित के वल्लहरण के पठन से यही अनुभव आता है। यह उसके काव्यप्रयोजनों की यशस्विता का द्योतक है।”

8.3 ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई

ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्टी, हरिपाठ, नमन एवं स्फुट अभंगों द्वारा वारकरी सम्प्रदाय को दार्शनिक आधारभूमि देने की भूमिका का निर्वहन किया। मुक्ताबाई के 53 अभंगों में से 11 ‘ताटीचे अभंग’ मराठी जनमानस में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ज्ञानेश्वर नाथ सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय, लोक-शास्त्र आदि कई कडियों को जोड़नेवाले रचनाकार हैं। इस पृष्ठभूमि में उनके दोनों पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिखाई देते हैं। उसी प्रकार मुक्ताबाई के हिन्दी पद भी उनके मराठी काव्य-कर्म के साथ-साथ उनके नामदेव एवं संतमेळा में स्थान के आलोक में देखे जाने पर एक सेतु के रूप में दिखने लगता है। ‘ज्ञानेश्वरी’ लोकभाषा में लिखित दार्शनिक ग्रंथ है, एक प्रकार से टीका-ग्रंथ है। उसकी रचनात्मकता को लेकर कई अध्ययन हो चुके हैं। उनकी रचना ‘चांगदेव पासष्टी’ भी इसी कोटि का ग्रंथ है। ज्ञानेश्वर ने अपनी कविताओं में समतावादी विचारधारा को प्रश्रय दिया है। उन्होंने अपनी पहली हिन्दी कविता में भी इसी विचार को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है, ‘भगवान सभी प्राणियों में समाया हुआ है। इसका कोई रंग-रूप नहीं है, उसे काला और सफ़ेद कैसे कहा जा सकता है? पोथी-ज्ञान से निर्गुण ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता है। उस अलख को अन्तर्दृष्टि के माध्यम से ही देखा जा सकता है।’ मुक्ताबाई और ज्ञानेश्वर की मराठी ही नहीं, हिन्दी कविताओं में भी वैचारिक एवं भावनात्मक साम्य दिखाई देता है। जैसाकि हमने चतुर्थ अध्याय में सविस्तार चर्चा की ज्ञानेश्वर की दूसरी हिन्दी कविता और मुक्ताबाई की एकमात्र कविता में भाव-विचार साम्य दिखाई देता है। जहाँ ज्ञानेश्वर ने सच्चा ज्ञान प्राप्त होने के लिए गुरु की अनिवार्यता को माना है, वहीं मुक्ताबाई ने भी इसी बात को दोहराया है।

ज्ञानेश्वर ने इसे आत्मज्ञान प्राप्त ज्ञान बताया है, तो मुक्ताबाई ने भी गुरु और शिष्य में ज्ञान प्राप्त होने के बाद बराबर माना है। दोनों के पदों में बहुत हद तक भाव साम्य है। दोनों के पदों का कथ्य प्रायः एक है। ज्ञानेश्वर ने तीर्थाटन, मुद्रा, आसन, अभ्यास, पोथी ज्ञान आदि की निस्सारता को भी इस पद में अभिव्यक्त किया है। इसे दोनों रचनाकारों के मराठी अभंगों में भी कई स्थानों पर देखा जा सकता है।

ग.बा.सरदार ने ज्ञानेश्वरी के सन्दर्भ में लिखा है, “यह कईयों की समझ है कि सर्वसामान्य को समझने के लिए दार्शनिक बारिकियों को टालते हुए उसमें गीतार्थ को लागलपेटकर उन्होंने उपमा-दृष्टान्तों के आधार पर बता दिया। किन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। भावार्थ अर्थात् ऊपरी अर्थ नहीं। शब्दार्थ या वाच्यार्थ के परे जाकर गीता का गहराई एवं संपन्न आशय का बोध हो वह भावार्थ, यह ज्ञानेश्वर की कल्पना है। इसलिए “पाहतया भावज्ञा फावती गुण। चिंतामणिचे ॥” की उन्होंने निश्चिती दी है....अपना टीकासंबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने भावार्थ, सकलार्थ, फलितार्थ, गूढवर्म, मूलध्वनि, आतुवट, वस्तुविचार जैसे शब्दों की योजना की है। इससे गीता का अर्थ आसान कर बताना, इतना ही ज्ञानेश्वर का उद्देश्य नहीं था, इसे सहजता से समाझा जा सकता है।”¹ ‘चांगदेव पासष्टी’ 65 ओवियों का छोटा-सा ग्रंथ है, जिसमें चांगदेव नामक हठयोगी को लक्ष्य करते हुए, किसी भी मत की आलोचना किए बगैर सीधे-सीधे अपने दार्शनिक मतों को अभिव्यक्त किया गया है। ‘हरिपाठ’ में मधुरा भक्ति का आधिक्य देखा जा सकता है तो ‘नमन’ प्रार्थनोन्मुख रचना है। ‘संकिर्ण अभंग’ 969 जिन अभंगों का संकलन है वह वास्तविक रूप में वारकरी सम्प्रदाय के दार्शनिक आधार है। इसमें अराधक की व्याकुलता, सगुण-निर्गुण ऐक्य, नामस्मरण, गुरु महात्म्य, प्रेमा भक्ति इत्यादि उन विषयों-भक्ति-मूल्यों पर अभंग है, जो वारकरी सम्प्रदाय में मान्य भक्ति-मूल्य हैं। यह वह अभंग हैं जिनके आधार पर ज्ञानेश्वर का दार्शनिक, विचारक एवं रचनाकार रूप पूर्णरूपेण उभरकर सामने आया है। संभवतः इन्हीं रचनाओं ने आगे के रचनाकारों को प्रबंध की बजाए मुक्तक अभंग रचनाओं के लिए प्रेरित किया है।

भाषा में हुए मिश्रण के कारण ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई के पद कई बार प्रक्षिप्त माने जाते रहे हैं। कारण है उनकी भाषा में वह प्राचीनता नहीं दिखाई देती है, जो उनके समकालीन नामदेवादि कवियों की हिन्दी कविताओं में दृष्टिगोचर होती है। इसे आधार बनाते हुए आचार्य विनयमोहन शर्मा ने लम्बी चर्चा की है, जिसकी आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने इन पदों में आए ‘अन्य’ शब्दों को ‘विदेशी प्रभाव’ माना है। उन्होंने अल्लाउद्दीन खिलजी के आक्रमण और अरबी व्यापारियों के सम्पर्क को इसके लिए जिम्मेवार ठहराया। यह प्रभाव उस सेवाप्रदाता वर्ग के माध्यम से आया होगा, जो खिलजी के पूर्व से यहाँ आते रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह शब्दावली उन्होंने उन नाथों से ग्रहण की होगी, जिनसे उनकी गुरु परम्परा सीधे-सीधे जुड़ती है। यही बात मुक्ताबाई की कविता के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है।

8.4 नामदेव की मराठी-हिन्दी कविताओं की तुलना

नामदेव, तुकोबा एवं बहेणाबाई इन तीन सन्त-भक्त रचनाकारों के ही काव्य-संकलनों को ‘गाथा’ कही जाने की परम्परा है। ऐतिहासिक क्रम में नामदेव इनमें पहले रचनाकार हैं जिनके कविताओं की पुस्तक को गाथा कहा जाता है। नामदेव भी कबीर की ही भाँति ‘मसि कागद’ लेकर

¹ बहिरट, भा.पं. एवं भालेराव, प.ज्ञा. : वारकरी संप्रदाय-उदय व विकास, पृ.162 पर सरदार, गं.बा. : ज्ञानेश्वरांची जीवननिष्ठा, पृ.13 से पूर्वोद्धृत

कविता करनेवाले रचनाकार नहीं थे। यदि उनके सन्दर्भ में प्रचलित ‘शतकोटी अभंगों’ की रचना के प्रण माना जाए तो कहा जा सकता है कि उन्होंने सोदेश्य कविताओं की रचना करने का लक्ष्य स्थापित किया था। किन्तु उनकी आरंभिक मराठी कविताओं और बाद की कविताओं की रचना-प्रक्रिया में काफी अन्तर जान पड़ता है। उनकी आरंभिक कविताओं में भक्ति भाव का आधिक्य है तो बाद की कविताओं में उसे सामाजिक दृष्टिकोण का साथ भी दिखाई देता है, सामाजिक जिम्मेदारी का बोध भी दिखाई देता है। उनकी बाद की कविताएँ उनके ‘संतमेळा’ को समझकर उसे स्वीकार करने के पश्चात् की हैं। उन्होंने आरंभ में वैयक्तिक भावनाओं एवं भक्ति को अभिव्यक्त करने वाली कविताएँ लिखी हैं, जिसमें ‘घिघियाने’ का स्वर प्रमुख रूप में देखा जा सकता है। स्वाभाविक रूप में नामदेव की हिन्दी कविताएँ इसी बाद के समय की रही हैं, किन्तु वह पूर्णतः पहलेवाली भावना से मुक्त नहीं हैं।

ज्ञानेश्वर की समाधि के बाद के अपने घुमक्कड़ी जीवन में नामदेव का कई सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों से परिचय हुआ। उससे पूर्व भी ‘संतमेळा’ में रहते हुए उन्होंने कई वर्ग-वर्णों के बीच समन्वय का कार्य किया। यह चेतना उनके मराठी काव्य में भी देखने को मिलती है। इसी चेतना के चलते उन्होंने कीर्तन की परम्परा को अपनाते हुए काव्य के माध्यम से समाज में चेतना लाने का प्रयास किया। यही कारण है कि वे कविता लिखते नहीं थे, कीर्तन के दौरान कविता कहते थे या गाते थे, जो अधिकांश शीघ्र काव्य के रूप में आती थी। उसी प्रकार जब वे अमराठी श्रोताओं के सामने प्रस्तुत होते होंगे, तब वे अपनी मिली-जुली भाषा का प्रयोग करते होंगे। युगानुरूप जिस विचारधारा एवं भावधारा को उन्होंने ग्रहण किया था, वही उनकी मराठी के साथ-साथ हिन्दी कविताओं में भी अभिव्यक्त होती थी। अनुभवों के साथ-साथ उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक धारणाओं में जो व्यापकता आ रही थी, उनकी अभिव्यक्ति होती चली गई। नामदेव की मराठी-हिन्दी कविताएँ विभिन्न परम्पराओं में लोकप्रिय होती गई, जिसका प्रमाण उनके मराठी काव्य को वारकरी कीर्तन एवं लोक परम्परा में व्यापक रूप में स्वीकार एवं हिन्दी काव्य का ‘आदिग्रंथ’ में एक प्रमुख पाठ के रूप में स्वीकार होना है।

इस प्रकार नामदेव ने उत्तर और दक्षिण भारतीय परम्पराओं के बीच समन्वय साधने का प्रयास करते हुए, दोनों को ग्रहण कर, काव्य में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। काव्य की लोकप्रियता का रहस्य भी है कि वह देवमंदिरों एवं उससे भी बढ़कर कीर्तन की परम्परा से जुड़कर मौखिक परम्पराओं का एक अविभाज्य अंग बन गयी। उसी प्रकार उनकी हिन्दी कविताएँ भी विशिष्ट वर्ग तक सीमित नहीं रही। जिस प्रकार वे मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में रहकर कीर्तन किया करते थे, उसी प्रकार अपनी उत्तर भारत की यात्रा में भी अपने श्रोताओं-पाठकों से मुखातिब हुआ करते होंगे। इस प्रकार वे उनसे संवाद स्थापित कर उनसे अनेक प्रश्नों पर चर्चा भी करते होंगे। यह भी एक कारण है कि उनकी हिन्दी कविताओं में भी मराठी की तरह एक साथ कई प्रकार के अराध्यों के नाम आते हैं।

नामदेव कीर्तनकार थे। उनके अनुभव जगत् को उनके हिन्दी-मराठी काव्य में देखा जा सकता है। संभवतः वे जान गए थे कि शब्दों में लिखे जानेवाली कविता का समाज में उसी अर्थ में पहुँचना संभव नहीं है, जिस अर्थ में रचनाकार लिख रहा है या वे जिस भावना-विचार से कविता का सृजन कर रहे हैं। यह भी एक कारण है कि उनकी हिन्दी कविताओं को उत्तर भारतीय जनता में व्यापक स्वीकृति मिली। जिस प्रकार निम्बार्काचार्य से कृष्ण भक्ति को विशेष गति मिली, नामदेव एवं उनके काव्य से न केवल श्रीविठ्ठल भक्ति को गति मिली, अपितु भक्ति आन्दोलन में समन्वयात्मक गति मिली। उनकी कविता की

महत्त्वपूर्ण भूमिका यह थी कि उसमें भक्ति को सहज सामान्य भूमि पर लाकर प्रस्तुत करने का सक्षम प्रयास किया गया और इस दृष्टि से वे एक विशिष्ट मध्यकालीन कवि सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार उन्होंने मराठी भक्ति धारा को नई सर्जनात्मक दिशा देने में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वहन अपने मराठी काव्य एवं कीर्तन के माध्यम से किया, लगभग उसी प्रकार का कार्य उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं एवं उन्हें सामान्य जन तक पहुँचाकर किया है।

नामदेव ने अधिक-से-अधिक लोकतांत्रिक मूल्यों को भक्ति आन्दोलन में प्रस्थापित करने का प्रयास अपनी लोकवादी दृष्टि से किया। उन्होंने नामा भक्ति के माध्यम से भक्ति को ऐसी सहजता प्रदान की, जिस कारण भक्ति पद्धतियों पर युगों-युगों से व्याप्त विशेष अधिकारों को खत्म करने में विशेष सहायता मिली। उनकी नामा भक्ति में महल-झोंपड़ी, निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, निवृत्ति-प्रवृत्ति आदि विचारधाराओं का टकराव नहीं, न उनका विशिष्ट मात्रा में समन्वय की आवश्यकता है, अपितु उसमें इन सिद्धान्तों-व्यवहारों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। अपने जागृत व्यक्तित्व से उन्होंने सभी मतों का प्रतिनिधित्व किया और सभी मतों को अपने बुद्धिप्रामाण्यवाद की कसौटी पर अपनी मध्यकालीन समझ के अनुसार जाँच-परखने के बाद स्वीकृत किया।

नामदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में कई परम्पराओं का शान्तिपूर्ण समाहार होता दिखाई देता है। यही कारण है कि वे एक साथ भक्तिकालीन कई प्रवृत्तियों को अपने कृतित्व में मिलाते हुए उपसंहार भी करते हैं और कई प्रवृत्तियों का आरंभ करते हुए उनकी भूमिका भी बाँधते दिखाई देते हैं। एक ओर उन्होंने विठ्ठल भक्ति को अपना आधार बनाया तो दूसरी ओर वे केवल विठ्ठल भक्ति तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने सगुण भक्ति को आगे बढ़ाया तो नाथों-महानुभावों द्वारा स्वीकृत निर्गुण भक्ति को अपनाया। नाथ परम्परा से जुड़कर 'हर' की भक्ति में अपने को लीन कर लिया और वारकरी सम्प्रदाय को आधार प्रदान कर 'हरी' से नाता जोड़ लिया। भक्ति को सामाजिकता प्रदान करते हुए कथा-कीर्तन के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों पर कटाक्ष किया, वहीं अद्वैत दर्शन से जुड़कर दार्शनिक चिन्तन को भी गति प्रदान की। एक ओर निवृत्तिनाथ ज्ञानदेव एवं विसोबा खेचर जैसे नाथ सम्प्रदायी तथा शास्त्रीय ज्ञानियों से सम्बन्ध स्थापित किया, तो दूसरी ओर अपनी शिष्य परम्परा बंका महार, जनी दासी, चोखामेळा आदि शूद्र मानी जानेवाली जातियों में आगे बढ़ाई। उत्तर की यात्रा करते हुए उन्होंने अपनी भौगोलिक सीमाओं को पार जाकर कई सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं एवं विचारों-भावों को ग्रहण किया। उनके रैदास, कबीर, दादू जैसे सन्त-भक्तों के साथ समय बीताने के उल्लेख भी मिलते हैं। इन सन्तों से हुए वाद-विवाद-संवादों के चलते नामदेव की दृष्टि में और भी व्यापकता एवं ग्रहण शक्ति का संचार हुआ होगा। उन्होंने अपनी यात्रा भले ही पंजाब के घोमान में पूरी की हो किन्तु इससे पूर्व उन्होंने राजपुताना, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त से होते हुए इसे तय किया था। इन यात्रा अनुभवों को उनके हिन्दी काव्य में भी देखा जा सकता है और वैचारिक एवं भावनात्मक स्तर पर मराठी काव्य में भी।

नामदेव की कविताओं एवं उनकी उपस्थिति में वह गतिमानता भले ही न हो जो तुकोबा के काव्य तथा अपने परिवेश में उपस्थिति थी, किन्तु नामदेव का काव्य और उनकी उपस्थिति शान्तिपूर्ण सह-अस्थित्व के साथ अपना कार्य कर रही थी। सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थों में देखा जाए तो नामदेव का जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व 'विरोधों का सामंजस्य' बनकर प्रस्तुत होता है। वे उन विरल कवियों में से हैं, जिनका न केवल शिष्य समुदाय दो भिन्न संस्कृतियों में फैला है, बल्कि जिनके द्वारा रचित पाठ

दो भिन्न समुदायों में 'पवित्र पाठ' के सिंहासन पर आसीन है। वि.ल.भावे ने तो इस बात का भी उल्लेख किया है कि नामदेव की कविताओं को पवित्र मानकर पढ़ने के लिए पंजाब में कई लोग मराठी भाषा एवं लिपि का ज्ञान अर्जित करते हैं, ठीक उसी प्रकार की भावना से जैसी उनकी आदिग्रंथ में संग्रहित हिन्दी कविताओं के प्रति वे अभिव्यक्त करते हैं, जो पाठ के प्रति श्रद्धा की हद तक है।

नामदेव के जीवन की कई प्रसिद्ध घटनाओं में से यह भी कही जाती है कि उन्होंने शतकोटी काव्य रचना का प्रण लिया था, किन्तु उनकी जीवन-घटनाओं में इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता कि उन्होंने हिन्दी में कविताएँ लिखने के लिए विशिष्ट शपथ ली थी। वैसे यह शपथ लेनेवाली घटना का सविस्तार विश्लेषण उनके जीवन एवं मराठी काव्य के सन्दर्भ में हो चुका है। नामदेव के सन्दर्भ में प्रचलित कई चमत्कारिक घटनाओं की तरह यह भी एक किंवदन्ती के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उन्होंने कभी सप्रयास काव्यत्व नहीं किया। उनका आरंभिक काव्य जिस प्रकार भावनाओं का सहज प्रस्फुटन था, उसी प्रकार उनका बाद का अधिकांश काव्य कीर्तन के क्रम में शीघ्र काव्य के रूप में लिखा गया है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में कई बार पुनरुक्ति भी देखी जा सकती है। यह बात हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं की कविताओं के सन्दर्भ में सही मानी जा सकती है। जब वे उत्तर में जन-सामान्य से बातचीत किया करते होंगे, तब सूत्ररूप में अपने विचारों का सार उन्होंने कविताओं में भी प्रस्तुत किया। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गए, उन बातों का दोहराव करना भी अनिवार्य था। ऐसे में एक ही विचार-भावनाओं की बातों को अलग-अलग श्रोताओं के सामने प्रस्तुत करते समय उदाहरण या दृष्टान्तों में अन्तर के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया। जैसा उनके मराठी काव्य में देखा जा सकता है।

जिस प्रकार नामदेव की हिन्दी कविताओं के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं महीप सिंह ने सगुण से निर्गुण की ओर जानेवाले कवि के रूप में छवि बना दी, कुछ उसी प्रकार से नामदेव की मराठी कविताओं को देखने का प्रयास भी मराठी आलोचकों ने किया है। शं.दा.पेंडसे ने नामदेव की कविताओं का उनकी भक्ति दशाओं के अनुसार अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'श्रीमद्भागवत गीता' में उल्लेखित आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों की अवस्थाओं के अनुसार नामदेव की कविताओं को क्रम में सजाते हुए, किस अवस्था में नामदेव की कविताएँ किस मनोदशा, भावदशाओं एवं विचारधारा से गुज़र रही थी, इसका सोदाहरण अध्ययन प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसे मानने में यह कठनाई है कि नामदेव की कौन-सी कविता कब लिखी गई है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। उनकी आरंभिक कविताओं को तो उनकी भावदशा को देखकर पहचाना जा सकता है, किन्तु बाद की कविताओं का इस प्रकार क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार हिन्दी कविताओं के सन्दर्भ में भी सगुण-निर्गुण ईश्वर के उल्लेखों वाली कविताएँ किसी एक क्रम में नहीं लिखी गई हैं।

नामदेव के जीवन की आरंभिक अवस्था में उनके द्वारा विठ्ठलमूर्ति के दूध पीने जैसी चमत्कारिक घटनाएँ घटित हो चुकी थी, जिस कारण नामदेव को भक्ताश्रेष्ठ होने का अहंकार हो गया था। इसके साथ ही उनमें भक्ति के रूप में वह स्थिति थी, जो सूरदास की थी। अर्थात् वह अपनी कविताओं में 'घिघियाते' थे। नामदेव की इस दौरान लिखी गई कविताओं में नीरी भावात्मकता एवं ईश्वर को किसी मूर्ति तक ही सीमित करके देखने का आग्रह उपस्थित करने का साथ-साथ उनमें प्रायः चमत्कारिक घटनाओं का बाहुल्य देखा जा सकता है। उस अवस्था में लिखित उनके अभंगों के सन्दर्भ में कहा जाता है

कि “नामदेव आरंभ में आर्त भक्त थे। विठ्ठल दर्शन की छटपटाहट उन्हें लगी रहती। इस अवस्था में उनके द्वारा लिखे गए अभंग उत्कट भक्ति भाव की पराकाष्ठा से युक्त हैं। पंढरपुर आने से पूर्व उन्होंने इन अभंगों की रचना की होगी। नामदेव के साधकामस्था में ईश्वर दर्शन की उत्कट ईच्छा के कारण लिखे अभंगों में सादगी है और वह भावपूर्ण भी हैं।” उनके इस समय के पद केवल विठ्ठल महिमा और उनकी आर्त पुकार से सम्बन्धित ही थे और इस कारण वे पद स्वाभाविक रूप में कृष्ण भक्ति से भी सम्बन्धित थे। काव्य सृजन भी उनकी भक्ति का ही एक अंग था, वैयक्तिक भक्ति और मुक्ति साधना के रूप में वे काव्य साधना किया करते थे। “इसी से नामदेव के ईश्वरदर्शन के आर्तता की कल्पना हो जाती है। उनके ईश्वर प्रेम से भरपूर अभंग, भाविक भक्तों को उनकी भावनात्मकता समरस करा कर कभी रुलाती है तो कभी अमाप सुख प्रदान करती है।” इसी समय तक उनका काव्य एक भक्त के काव्य के रूप में लोकप्रिय होने लगा था। एक भक्त कवि के रूप में वे भी काफी चर्चित रहे होंगे।

जिस प्रकार ‘संतमेळा’ में बिताए अपने समय और सत्संग के कारण भी उनके बहुत सारे पूर्वाग्रह दूर होते गए, उसी प्रकार व्यापक समाज एवं उत्तर भारत की सन्त-भक्त परम्परा से परिचय के पश्चात भी उनके दृष्टिकोण में काफी परिवर्द्धन आना स्वाभाविक है। उनमें भक्ति पद्धति के साथ कविता में समाज दृष्टि का प्रवेश पहले ही हो चुका था, अब उसके व्यापक होने का समय था, जो समाज निरीक्षण से उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। काव्य या गीत गायन के साथ-साथ प्रस्तुत श्रोताओं को अंधश्रद्धाओं, धर्म के नाम पर हो रही असमानता, जातिभेद आदि कई सामाजिक रूढ़ियों के सन्दर्भ में जागरूकता लाने का प्रयास उन्होंने अपने हिन्दी-मराठी काव्य के माध्यम से किया। नामदेव ने विठ्ठलस्वरूप, नाम महिमा, कृष्ण कथा, तीर्थावली आदि कई विषयों के साथ-साथ कई सन्तों के चरित्रों का भी कथन अपनी मराठी कविताओं में किया है। उन्होंने जिस आदर एवं सम्मान के साथ अपने गुरु का स्मरण किया, उसी भावना के साथ सन्तों का भी।

जैसा कि कहा गया है नामदेव एक तरफ विद्वान-शास्त्रीय परम्परा वाले निवृत्ति-ज्ञानेश्वर की परम्परा से जुड़े थे तो दूसरी तरफ बंका-चोखा-जनी आदि की निरीक्षण कही जानेवाली परम्परा को भी आगे बढ़ाते हैं। ऐसे में दोनों परम्पराओं के सन्तों को ‘संतमंडली’ के अन्तर्गत गिना जाता था, जहाँ किसी भी प्रकार के भेद के लिए स्थान नहीं था और नामदेव इनके बीच की कड़ी के रूप में कार्य करते दिखाई देते हैं। उन्होंने इन दोनों परम्पराओं के कवियों की जीवन झलकियों को अपनी कविताओं में लिपिबद्ध किया है। नामदेव ने ज्ञानेश्वर, चोखामेळा, जनाबाई, बंका महार आदि कवियों के जीवन की प्रमुख घटनाओं को चमत्कारिक रूप में प्रस्तुत किया है। इनमें स्वाभाविक रूप से उन चमत्कारिक कथाओं को स्थान दिया गया है, जो लोक में प्रचलित थी। इन कथाओं में नीची कही जानेवाली जातियों के सन्तों के जीवन में घटित चमत्कारिक घटनाओं को इतिहास के साथ प्रस्तुत किया गया है। किन्तु नामदेव ने हिन्दी क्षेत्र के किसी भी सन्त-भक्त के सन्दर्भ में इतना सविस्तार लेखन न अपनी हिन्दी कविता में और न ही मराठी कविता में किया है।

नामदेव ने मराठी कविताओं में कृष्ण बाललीला, विठ्ठल लीला आदि कथाओं के साथ सन्त-भक्तों के जीवन के कई प्रसंगों का कई बार सविस्तार वर्णन किया है, किन्तु हिन्दी में वे कथा काव्य की अपेक्षा कथन काव्य में अधिक रुचि लेते दिखाई देते हैं, जहाँ सीधे लोगों से संवाद स्थापित करने का भाव है। उनकी कई मराठी कविताएँ भी पाठक-श्रोताओं से सीधे संवाद स्थापित करने के लहजे में हैं, वहाँ

कथाकाव्य भी है, जो लहज़ा हिन्दी काव्य में आकर न के बराबर रह जाता या फिर उसका विस्तारित रूप नहीं है। नामदेव की हिन्दी कविताओं में कुछ पौराणिक पात्रों का उल्लेख मात्र इस उद्देश्य से हुआ है कि वे भक्ति के सहारे तर गए थे। इन पात्रों की सम्पूर्ण कथा उन्होंने किसी भी कविता में नहीं लिखी है, बल्कि उस ओर संकेत मात्र किया था। इससे पता चलता है कि वे अपनी इन कविताओं का पाठ इन कथाओं को जाननेवाले पाठक-श्रोताओं के लिए कर रहे थे। इसी प्रकार की प्रवृत्ति उनकी मराठी कविताओं में भी देखी जाती है, किन्तु साथ ही कुछ मराठी कविताओं में उन्होंने इन कथाओं को सविस्तार भी प्रस्तुत किया है, जो हिन्दी कविताओं में नहीं है। उन्होंने कुछ मराठी सन्त-भक्तों के जीवन पर आधारित कविताएं भी लिखी हैं, किन्तु उन्होंने हिन्दी में ऐसी कोई कविता नहीं लिखी है या हिन्दी प्रदेश के सन्त-भक्त पर उनकी ऐसी कोई कविता उपलब्ध नहीं होती है। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए देखा जाए तो जिस प्रकार उन्होंने अपनी मराठी कविताओं को अधिकांश श्रीकृष्ण के बालरूप के वर्णन तक ही सीमित रखा है, उसी प्रकार हिन्दी कविताओं में भी कृष्ण के युवा या राजनीतिज्ञ रूप के चित्रण को चित्रित नहीं किया है। उनकी मराठी कविताओं में कुछेक स्थानों पर राधा का उल्लेख तो मिल जाता है, किन्तु हिन्दी कविताओं में राधा कहीं भी नहीं है।

ईश्वरी की सर्वव्यापकता एवं सर्वग्राह्यता उनकी हिन्दी एवं मराठी कविताओं में लक्षणीय है। पहले जहाँ मराठी कविताओं में हमेशा उन्होंने विठ्ठलमूर्ति दर्शन के मोह की अभिव्यक्ति की है, वहीं बाद की हिन्दी-मराठी कविताओं में वे उसे सर्वत्र एवं किसी भी रूप में पाने का उल्लेख करते हैं और इसी विश्वास से ज्ञानेश्वर की मृत्यु के पश्चात वे पंढरपुर छोड़कर उत्तर भारत की यात्रा पर निकल पड़े थे। अन्यथा अपने अराध्य की नगरी में रहनेवाला भक्त उसे छोड़कर दूरस्थ प्रदेशों की यात्रा पर क्योंकर निकल पड़ेगा !! यदि वे काशी आदि की यात्रा पर निकले होते, तो क्या वे वहीं नहीं रह जाते, जहाँ उन्हें ईश्वर के दर्शन के साथ-साथ रैदास-कबीर जैसे साथी मिल गए थे। वे किसी धार्मिक तीर्थयात्रा पर नहीं, अपितु उत्तर की यात्रा उन्होंने जन-जागृति के उद्देश्य से की थी, जो उन्हें पंजाब तक ले गई। भीमा नदी के किनारे से लेकर पंचनदियों के प्रदेश तक यात्रा उन्होंने इसी विश्वास के साथ की कि ईश्वर हर जगह व्याप्त है और इसकी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में होते हुए देखी जा सकती है।

नामदेव ने अपने लगभग सम्पूर्ण जीवन में एक प्रकार की भक्ति को कभी स्थान नहीं दिया। उनकी परिपक्वता के साथ भक्ति पद्धतियों में भी अन्तर आता गया, किन्तु उन्होंने एक प्रकार की भक्ति का दामन हमेशा थाम रखा, वह है नामाधारित नामा भक्ति। भक्त की भूमिका में अपने कीर्तन को उपस्थित होकर उसे पूरी तन्मयता से सुननेवाले व्यापक जन समूह को नामदेव ने भक्ति का उपदेश दिया वह मुख्यतः नामसंकीर्तन भक्ति का ही था। शास्त्रसम्मत नवधा भक्ति का उल्लेख उनके अलग-अलग अभंगों में आता है, किन्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम् । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' इनमें से ईश्वर का नाम वाणी अथवा मन से अखंड जपने के अतिरिक्त सर्वसुलभ भक्ति सामान्य जनों के लिए पुरस्कार करने के लिए नामदेव ने कहा है, जो उनकी हिन्दी-मराठी दोनों कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। यही भाव उनकी दोनों भाषाओं की कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है कि ईश्वर का नाम कोई भी कभी भी और किसी भी स्थिति में ले सकता है, इसमें किसी भी प्रकार के बन्धन एवं अनावश्यक अनुष्ठानों को स्थान न होना इसकी सर्वप्रमुख विशेषताएँ हैं, इसलिए वह सर्वसुलभ है।

ईश्वर के कई नाम और रूप हैं। वह किसी विशिष्ट एक ही ईश्वर के होने के कारण किसी विशिष्ट नाम का उच्चारण किया जाए, इसका आग्रह नामदेव ने कभी नहीं किया। विठ्ठल, राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, केशव, माधव इत्यादि विष्णु के ही क्या हरि-हर में भेद न होने के कारण हरि की ही तरह हर का भी नाम लिया जाए तो कोई बात नहीं। 'ब्रह्मादि सकल भजनीं तत्पर। तेव्हां हरिहर नाचतसे। कृष्ण विष्णु नाम अच्युत अनंत। सगुण निश्चित स्मरा वेगीं॥ नामा म्हण नको उदंड सायास। तोडी भवपाश रामनामें॥' नामदेव की मराठी कविताओं में मुक्ति से भी भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है और इसके लिए उन्होंने नामस्मरण से ही भक्त श्रेष्ठों की श्रेणी में आनेवाले तथा अपने जीवन के आरंभ में दुर्जन माने जानेवाले ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के पात्रों का हावाला बार-बार दिया है। यह विशेषता उनकी हिन्दी कविताओं में भी देखी जा सकती है।

नामदेव उन विरल सन्त-भक्त कवियों में से हैं, जिन्होंने अपनी मराठी-हिन्दी कविताओं में अपने ही जीवन के सन्दर्भ में कई सूत्र दिए हैं। उनके ऐसे अभंगों को 'आत्मपर अभंग' या 'आत्मचरित्रात्मक अभंग' कहा जाता है। यह अभंग आधुनिक साहित्यिक विधा आत्मकथा के काफी समीप हैं, किन्तु इसमें क्रमवारिता एवं वैचारिकता का अभाव होने के कारण इसे पूर्णतः आत्मकथा नहीं कहा जा सकता है। इन अभंगों में एक व्यक्ति के रूप में झेलने पड़ रहे दुःख, एक भक्त के रूप में हो रही यातनाएँ, जीवन की न्यूनताओं का आभास, आनन्दरूपी ईश्वर के मिलन की उत्कंठा, संतमेळा में हानेवाले विभिन्न प्रसंग, पारिवारिक प्रसंग आदि इन अभंगों में अभिव्यक्त हुए हैं। इन अभंगों में वे कई बार आत्मालोचना भी करते देखे जा सकते हैं, जो एक भक्त की दृष्टि से अधिक हुई है। उन्होंने हिन्दी में लिखित कविताओं में भक्त के रूप में उन्हें हुई तकलीफों को अभिव्यक्त किया है, किन्तु मराठी कविताओं की अपेक्षा वह अपर्याप्त हैं। साथ ही उन्होंने इन कविताओं में उत्तर भारत के अपने किसी भी अनुभव के सन्दर्भ में नहीं लिखा है। उन्होंने अपनी मराठी कविताओं में अपने अराध्य के प्रति अपनी नाराज़गी व्यक्त करते हुए, उनसे झगड़ा भी किया है। इन लड़ाईवाले अभंगों को 'देवाशी भांडण' (अराध्य से लड़ाई) शीर्षक से जाना जाता है, किन्तु हिन्दी में ऐसे भाव न के बराबर अभिव्यक्त हुए हैं। वास्तव में उनकी हिन्दी कविताओं में मिलन या दर्शन की लालसा मराठी कविताओं की अपेक्षा बहुत कम अभिव्यक्त हुई है।

वारकरी सम्प्रदाय ने भक्तिसाधना अथवा मुक्ति दोनों में से किसी के भी लिए संसार-घर-द्वार छोड़कर जंगल-वनों में जाने या किसी मठ में बैठकर शिष्य सम्प्रदाय बढ़ाकर वैयक्तिक साधना के पक्षधर कभी नहीं थे। उन्होंने अपनी सामुहिकता एवं सामाजिक दृष्टि के माध्यम से सम्पूर्ण भक्ति सम्प्रदाय की ओर देखने के दृष्टिकोण में बदलाव लाने का प्रयास किया। ऐसे में नामदेव इसके अपवाद कैसे हो सकते थे, जहाँ इन मान्यताओं को अधिक बल प्रदान करने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ज्ञानेश्वर की मृत्यु (समाधि) तक संतमेळा ने अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया होगा और उसे एक व्यवस्थित एवं सुचारू रूप मिल गया होगा। यही कारण है कि इसके बाद नामदेव उत्तर भारत की यात्रा के लिए निकल पड़े। तीर्थयात्राओं और नामदेव-ज्ञानदेव को लेकर कई कथाओं ने कई विवादों को जन्म दिया है, जिस पर नामदेव के जीवन परिचय में आवश्यक चर्चा की गई है। इस बार नामदेव तीर्थयात्रा करने के उद्देश्य से उत्तर की ओर नहीं गए और न ही इस पर किसी आलोचक ने चर्चा की है। यदि इस बार नामदेव तीर्थयात्रा के लिए निकले होते तो सीधे वे उसी ओर जाते किन्तु इस बार राजपुताना की ओर से काशी पहुँचे और वहाँ भी न टिककर आगे पंजाब में घुमान में जाकर रहे।

नामदेव की विविधांगी रचनात्मकता एवं इतनी लम्बी यात्रा को देखकर मराठी आलोचकों ने यह भी माना कि पंजाब में प्रसिद्ध नामदेव एवं मराठी में प्रचलित कविताओं के कर्ता नामदेव दो भिन्न हैं, किन्तु यह विचार अब पूर्णतः निराधार सिद्ध हो चुका है, जिस पर चर्चा करना यहाँ न अनिवार्य है और न इसकी अब आवश्यकता रह गई है।

नामदेव का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था कि सन्तमेळा में रहते हुए उन्होंने सभी को अपनाया और सभी ने उन्हें अपनत्व से स्वीकार भी किया। ठीक उसी प्रकार उन्होंने उत्तर भारत के वास्तव्य में रैदास, कबीर आदि सन्त कवियों का अपना वृत्त बनाया होगा, जिसमें कई बातों को लेकर वाद-विवाद-संवाद होता रहा होगा। नामदेव अपने विचारों से इन्हें अवगत कराते हुए सभी के विचारों से लाभान्वित भी हुए होंगे। नामदेव का अधिकांश समय पंजाब में बीता जहाँ उन्होंने अपने साथी-शिष्यों के साथ तत्कालीन सम्पूर्ण पंजाब प्रान्त का भ्रमण करने के उल्लेख मिलते हैं। इन सबने उनके साहित्य को कई मायनों में प्रभावित किया होगा, जिसे अलग से छनकर नहीं निकाला जा सकता है। जिस प्रकार नामदेव के पहले शिष्य परिसा भागवत से लेकर नामदेव की दासी जनाबाई, राका उसकी पत्नी बाका, सावता माली (सन् 1250-1295), नरहरी सोनार (मृत्यु सन् 1313), जोगा तेली, जोगा परमानन्द, जगमित्र नागा (समाधिकाल सन् 1330), साळ्या रसाळ, कुर्मदास, वत्सरा, चोखामेळा (मृत्यु सन् 1338), सेना न्हावी, कान्होपात्रा आदि उनके साथियों की सम्पूर्ण सूची उपलब्ध होती है, उस प्रकार की आधिकारिक सूची उत्तर भारत के वास्तव्य के सन्दर्भ में उपलब्ध नहीं होती है। उनकी देवमंदिरों-गुरुद्वारों एवं कीर्तन परम्परा से जुड़कर कविताओं का सुरक्षित हो जाना, उन्होंने मराठी में आत्मपरक अभंग भी लिखे हैं। देवाशी भांडण भी उन्होंने किया है, किन्तु इस सन्दर्भ में उनकी हिन्दी कविताएँ उनकी भिन्न छवि निर्माण करती हैं। उन्होंने हिन्दी और मराठी कविताओं में अपनी मूल्यदृष्टि को अभिव्यक्त करते हुए अपने समय को कलिकाल भी कई स्थानों पर कहा है।

रूप के स्तर पर तुलना

मराठी हो या हिन्दी कविताएँ, नामदेव ने उभय भाषा में लिखित कविताएँ तत्कालीन प्रचलित भाषा की ओर इंगित करती हैं। उन्होंने छन्द के क्षेत्र में अभंग छन्द के लचीले नियम बनाकर जो नवीनता दिखाई, वैसी नवीनता भाषा के क्षेत्र में दिखाने की उन्हें यदि आवश्यकता महसूस नहीं हुई है, तो इसमें उनकी सामाजिक दृष्टि का पता चलता है। उन्होंने रूप के स्तर पर कविताओं में केवल उन्हीं उपादानों को अस्वीकार किया, जिनकी या तो आवश्यकता नहीं रह गई थी, या तो जो दुरुह एवं समाज की दृष्टि से कविता के लिए आवश्यक नहीं थे। यदि पारम्परिक पिंगलशास्त्र की बात की जाए तो उसके अनुसार प्रत्येक सामाजिक का कवि बनना असंभव सा था, किन्तु अभंग छन्द के माध्यम से उन्होंने इसे संभवनीय कार्य बना दिया। यही बात भाषा के सन्दर्भ में लागू होती है। नामदेव ने अपनी हिन्दी-मराठी कविताओं में शब्दों की देशज, विदेशी, देशी आदि कोटियों को ध्यान में नहीं रखा, अपितु उनके भावों के अनुसार उन्हें अकुंठ भाव से स्वीकार किया। यही कारण है कि उनकी हिन्दी कविताओं में दक्खिनी, ब्रज, राजस्थानी, अरबी-फारसी आदि शब्दों को देखा जा सकता है, वहीं उनकी मराठी कविताओं में ग्रामीण से लेकर आधुनिक मराठी में प्रचलित शब्दों का तक व्यवहार देखा जा सकता है। उनकी मराठी एक ओर अपभ्रंश से मुक्त भी नहीं है, किन्तु वह ज्ञानेश्वर की अपभ्रंश लोकभाषा भी नहीं है।

उनकी मराठी कविताओं की तरह ही, हिन्दी कविताएँ भी अपनी लयात्मकता के लिए अपना ध्यान आकर्षित करती हैं। उन्होंने अभंग छन्द में जो लचीलापन रखा था, वह इसी लय एवं कीर्तन के दौरान उनमें गेयता बचाए रखने के लिए, शास्त्रीयता के बरअक्स प्रस्तुत करते हुए। यह विशेषता उनकी हिन्दी कविताओं में भी देखने को मिलती है। जिस प्रकार उन्होंने अपनी मराठी कविताएँ कीर्तन के दौरान गाकर प्रस्तुत की होगी, उसी प्रकार अमराठी दर्शक-श्रोताओं के लिए उन्होंने अपनी हिन्दी कविताएँ प्रस्तुत की होगी। उन्होंने अपनी मराठी कविताओं में अभंग के स्वनिर्धारित प्रतिमानों को तोड़ा है, वही बात उनकी हिन्दी कविताओं में भी दर्ज की जा सकती है। उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में छन्द के नियमों का कई बार पालन नहीं किया है।

इसी प्रकार नामदेव ने भाषा और साहित्य को लोक के अधिक करीब लाने के लिए मराठी के तत्कालीन प्रचलित नागरी मराठी और ग्रामीण मराठी, दोनों का समन्वय करते हुए अपनी साहित्यिक भाषा का निर्माण करने का प्रयास किया है। उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी में भाषायी सीमाओं को ध्यान में नहीं रखा है। यही कारण है कि लगभग रचनाकाल समान होते हुए भी 'ज्ञानेश्वरी' और नामदेव के अभंगों की भाषा में बहुत अन्तर देखने को मिलता है, उसी क्रम में नामदेव से पूर्व के रचनाकारों में दामोदर पण्डित की हिन्दी भाषा को छोड़कर नामदेव से किसी की भी हिन्दी भाषा मेल नहीं खाती है।

8.5 गोंदा

गोंदा की हिन्दी कविता उनके मराठी काव्य-कर्म का ही विस्तार कहा जा सकता है। उन्होंने अपने मराठी अभंगों की ही तरह हिन्दी में भी अपने कथाकाव्य में भावनाओं की तीव्रता, विचारों की मार्मिकता, अभिव्यक्ति में संवादों-प्रसंगों के माध्यम से लक्षणीय तन्मयता आदि लोकप्रिय कथावाचक साधनों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने अधिकतर मराठी अभंगों का विषय नामदेव के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को बनाया है, जिसमें चमत्कारिकता एवं किंवदन्तियों का आधार लिया गया है और ठीक उसी क्रम में उन्होंने अपनी हिन्दी कविता में भी उसका दोहराव किया है। उनकी मराठी कविताओं में नामदेव की आदर्श भक्ति पद्धति 'नामा भक्ति' की गूँज सर्वत्र सुनाई देती है, जिसमें भक्त आर्त पुकार को सुनकर अराध्य उसकी सहायता के लिए दौड़े आते हैं या फिर अपने भोले-भाविक भक्त की प्रत्येक मंशा को बालक का हठ समझकर पूर्ण करते हैं, या फिर उसकी किसी आसमानी या सुलतनी संकट से सहायता करते हैं। इसी तर्ज पर हिन्दी कविता में भी मुख्य कथ्य के रूप में नामा भक्ति ही आकार लेती हुई दिखाई देती है, जहाँ काव्यनायक नामदेव की आर्त पुकार एवं नाम लेकर अवाहन करने पर स्वयं विठ्ठल विष्णु रूप में अवतरित होकर उसकी सहायता करते हैं। ध्यातव्य है कि नामदेव ने भी किसी भी नाम का बन्धन नामा भक्ति में नहीं माना था, उसी परम्परा का निर्वहन करते हुए गोंदा ने भी विठ्ठल को कविता में पुकारा है और वह विष्णु रूप में काव्यनायक का संकट हरने आते हैं। जिस प्रकार नामदेव ने भक्ति को मुक्ति से बढ़कर माना है, उसी प्रकार गोंदा ने भी अपनी हिन्दी-मराठी कविताओं में माना है। कथा में नामदेव अपने संकटों का कारण बननेवाले बादशाह को भी क्षमा करने की प्रार्थना अपने अराध्य से करते हैं। इन महान मूल्यों को आगे बढ़ाने का कार्य गोंदा ने किया है, जिसे वह अपने दर्शकों के सामने आदर्श जीवन-मूल्यों के रूप में इस कविता के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं।

इसका पहले ही उल्लेख हो चुका है कि आचार्य विनयमोहन शर्मा ने कहा है कि गोंदा के इस एकमात्र दीर्घ अभंग में कहीं भी कवित्व दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसके लिए उन्होंने वि.ल.भावे के उस कथन का आधार लिया, जिसमें उन्होंने नारा और गोंदा के कवित्व के सन्दर्भ में कहा है, “नारा और गोंदा का कथ्य भी लगभग वही है। विठा के अभंग कुछ बेहतर हैं। इसमें थोड़ा सा तेज दिखाई देता है। किन्तु पिता के अभंगों की पहचान इस पुत्र के कवित्व में नहीं है।” इसी कथन के हवाले से या इसी का आधार लेते हुए आचार्य विनयमोहन शर्मा ने गोंदा की हिन्दी कविता के कवित्व के सन्दर्भ में भी फतवा दे दिया और उसमें कवित्व को नकार दिया। उनके अनुसार, “मराठी का अभंग छन्द इन्होंने हिन्दी में प्रयुक्त किया, यही इनकी विशेषता कही जा सकती है।” इसी एकमात्र हिन्दी अभंग में डॉ.श्रीराम शर्मा को संवाद शैली के माध्यम से भावात्मक चित्रण, नाटकीयता एवं भाषा में दक्खिनी एवं उत्तर में प्रचलित हिन्दी के पूर्वसंकेत मिले हैं। डॉ.श्रीराम शर्मा ने गोंदा की भाषा के सन्दर्भ में तीन विरोधी स्थापनाएँ दी हैं, जिसमें व्याप्त विरोधों को हम बाद में देखेंगे, पहले उनकी स्थापनाओं से रूबरू हो जाया जाए। उनकी पहली स्थापना है - “गोंदा की हिन्दी में मराठी का प्रभाव कम हो गया है।” इस स्थापना को यदि स्वयं गोंदा की कविता की आलोक में देखा जाए तो यह धारणा पुर्णतः गलत सिद्ध होती है। गोंदा की इस कविता में न केवल मराठी शब्दों का प्रयोग हुआ है, बल्कि कई हिन्दी शब्दों का मराठीकरण करने की भी प्रवृत्ति दिखाई देती है। जैसे प्रभुराय, विनंती (बिनती), मजल दर मजल (मंज़िल दर मंज़िल), नक्कल, सरयत (शर्त), बम्मन (ब्राह्मण), पोंचे (पहुँचे) आदि कई शब्दों का उन्होंने मराठी उच्चारणानुसार प्रयोग किया है।

8.6 भानुदास

भानुदास ने अपनी भक्ति भावना एवं कवित्व के बल पर विठ्ठलमूर्ति को राजदरबार से वापस लाने वाली कथा का उल्लेख हो चुका है। “उनके सौ अभंग उपलब्ध होते हैं। ‘आमुचिये कुळीं पंढरीचा नेम। मुखीं नाम सदा विठोबाचें।’ जैसे उनके वचन हैं। इसी भक्ति के रंग में रंगकर उन्होंने अभंगरचना की है। विठ्ठलमहात्म्य, पंढरीमहात्म्य, नाममहिमा, रामनाममहिमा, मुमुक्षुओं को बोध, करुणा, बाळक्रिडा, गौळणी, काला, फुगडी कुछ इस प्रकार की उनके साहित्य की रूपरेखा है। ‘वेदीं सांगितलें श्रुती अनुवादिलें। तें ब्रह्म कोंदलें पंढरिये।’, ‘चन्द्रभागेतीरीं उभा विटेवरी। विठ्ठलराज्य करी पंढरीये।’, ‘जैसा उपनिषदाचा गाभा। तैसा विटेवरी उभा।’, ‘लावण्य रूपडें पाहा डोळेभरी। मूर्ति हे गोजिरे विटेवरी।’, ‘पंढरिचें सुख पाहतां अलौकिक। वैकुंठ नायक उभा जेथें।’ इत्यादि पंक्तियों से भानुदास के कवित्व एवं भक्ति भाव की कल्पना आ जाती है।” इन पंक्तियों एवं विषयों को देखा जाए तो भानुदास एवं नामदेव के काव्य में कई समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। नामदेव ही नहीं, सन्तमेळा के सारे कवियों ने इन्हीं विषयों को अपने काव्य का आधार बनाया है, किन्तु भाव उनके अपने-अपने हैं। भानुदास ने अपनी हिन्दी कविताओं में अपने भक्ति-भावों को बड़ी ही सादगी से अभिव्यक्त किया है। उनके दोनों पद कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित हैं, जो वारकरियों के तर्ज पर ही लिखे गए जान पड़ते हैं। इनमें से एक पद में “प्रातः यशोदा कृष्ण को प्रभाती गाकर जगा रही है। दूसरे पद में जमुना के तट धेनु चरानेवाले मोहन का चित्रण किया गया है। दोनों पदों में भानुदास ने अपने निजी भक्ति भावों की अभिव्यक्ति की है।

8.7 सेनानाई

सेनानाई मराठी भाषी क्षेत्र के बाशिंदे थे अथवा हिन्दी भाषी क्षेत्र के यह तय न कर पाने की स्थिति में उनके नाम से दो सौ से अधिक मराठी अभंगों का होना उन्हें मराठी भाषा से अवगत ही नहीं, अपितु उसका रचनात्मक स्तर तक जानकारी सिद्ध करता है। जिस प्रकार उनका ‘आम्ही वारीक वारीक। करूं हजामत वारीक’ रूपकात्मक अभंग आज भी महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय है, उसी प्रकार आदिग्रंथ में संग्रहित होने के कारण उनका हिन्दी पद भी लोकप्रिय है। उन्होंने मराठी में अत्यन्त सरल और मुहावरेदार अभंग लिखे हैं, जो आसानी से याद रह जाते हैं। उनके अभंगों के विषय तत्कालीन अन्य सन्त-भक्तों के समान ही हैं। उन्होंने अपने कई जीवन-प्रसंगों को भी शब्दबद्ध किया है। नामदेव एवं सन्तमेळा सम्बन्धी प्रेम उनकी कविताओं में झलकता है। उनकी एकमात्र हिन्दी कविता आरती का पद है। इस पद में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि स्वामी रामानन्द से उन्होंने राम भक्ति का मार्ग प्राप्त हुआ है। त्रिलोचन की तरह उनकी एकमात्र रचना भी वैयक्तिगत भक्ति का शब्दांकन है।

8.8 एकनाथ की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना

एकनाथ की चाहे मराठी कविताएँ हो या हिन्दी, उनके सम्पूर्ण कृतित्व की एक सामान्य विशेषता है कि वह अनेक रंगों में रंगी हुई है और इस अर्थ में उनके कृतित्व को उद्यान की उपमा दी जा सकती है। उन्होंने अपने कृतित्व से काव्य के क्षेत्र में लोक से शास्त्र मिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनकी हिन्दी और मराठी भाषाओं में लिखित कविताओं में जितनी विविधता मिलती है, उतनी किसी भी मराठी सन्त-भक्त कवि की कविताओं में नहीं मिलती है। यह विविधता काव्य की विषय-वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर मिलती है। उन्होंने मराठी में जब प्रबंध काव्य लिखे तो उसमें भी शिखर को छूने का प्रयास किया और जब उन्होंने हिन्दी-मराठी दोनों में मुक्तक लिखे तो उसे निश्चित ऊँचाई पर पहुँचाया। विषय वस्तु के स्तर पर उन्होंने सामान्य जन से लेकर मुल्ला-मौलवी, पंडित पुरोहित, साधु, फकीर, भांडू, जोगी, सपेरा, गोसाँई, भविष्यवेत्ता, गोप-गोपियों, राज दरबार के प्रतिनिधियों को ही नहीं, विविध प्राणियों को अपनी बात रखने का माध्यम बनाकर कविताओं के पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया।

उनकी उभय भाषाओं की कविताओं में पात्र चयन उनकी मूल्य दृष्टि, साहित्यिक सूझ-बूझ, लक्ष्य श्रोता-पाठक और दार्शनिक पीठिका की जानकारी देता है। मराठी में प्रबंध एवं मुक्तक दोनों में रचना करनेवाले एकनाथ ने भले ही अपनी सारी हिन्दी कविताएँ मुक्तक के रूप में लिखी हो किन्तु, उसमें भी उन्होंने निश्चित पात्रों के माध्यम से ही अपनी बात को प्रस्तुत किया है। हिन्दी-मराठी मुक्तक कविताओं में आए यही पात्र उनकी कविताओं का कथ्य, रूप, कहन शैली आदि काव्य-तत्वों के निर्णायक बने हुए हैं, जो स्वाभाविकता लिए हुए हैं।

एकनाथ ने अपने मराठी प्रबंध काव्य में श्रीकृष्ण के युवा रूप का चित्रण किया है और अधिकांश मराठी मुक्तक काव्यों में बालरूप का चित्रण किया है। उसी प्रकार हिन्दी कविताओं में भी चित्रित कृष्ण बालक के रूप में ही हैं। उनकी हिन्दी-मराठी दोनों कविताओं में वे प्राचीन कथा प्रसंगों के अनुसार ही इन ग्वालनों को विभिन्न पद्धतियों से परेशान करते हैं, कभी हाट-बाज़ार जाती हुई बालाओं की दूध-दही भरी मटकी तो कभी यमुना से जल भरकर लाती हुई मटकी फोड़ते हैं, कभी ग्वालनों का अचला

पकड़कर फाड़ रहे हैं तो कभी अपने रूप से मोहित करते हुए उनकी गऊओं को गायब कर रहे हैं। वे माखन चोर भी हैं। अर्थात् एकनाथ ने अपने काव्य में कृष्ण चरित्र में कोई विशेष नवीन उद्भावना करने का प्रयास नहीं किया है। उन्होंने 'रुक्मिणीस्वयंवर' में कृष्ण की स्वयंवर कथा को प्रस्तुत किया है और मराठी मुक्तकों में बालरूप का खण्ड-खण्ड के रूप में चित्रण किया है, किन्तु हिन्दी कविताओं में उन्होंने कथा का कोई भी भाग पूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। वास्तविक रूप में एकनाथ ने कृष्ण की बाललीलाओं के कुछेक प्रसंगों को अपनी कविता का विषय बनाकर अपनी दार्शनिक विचारधाराओं के बिन्दु उसमें रेखांकित करने चाहे और इन प्रसंगों को उसी रंग में रंगाकर अपनी हिन्दी ही नहीं मराठी कविताओं में भी प्रस्तुत कर रहे थे। ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार उनकी मराठी कविताओं में चित्रित कृष्ण के चरित्र में विरोधी रंगछटाएँ आयी हैं, वैसी हिन्दी में नहीं आयी हैं।

उन्होंने मराठी में प्रयुक्त गौळण काव्यरूप की हिन्दी में भी सफलतापूर्वक रचना की, जिनमें मराठी काव्य की तरह ही गोपियों के भावों एवं उनके दृष्टिकोण को महत्व दिया गया है। अधिकांश गौळण में वाच्यार्थ में ही दर्शन की अभिव्यक्ति होने के कारण पात्र अपने-आप गौण हो जाते हैं, किन्तु एक बात लक्षणीय है कि इस काव्य प्रकार में एकनाथ ने अपनी बात प्रस्तुत करने के लिए स्त्री पात्रों का चुनाव कर उनके मुख से दर्शन जैसे विषय की अभिव्यक्ति की, जो कम-से-कम मध्यकाल तक तो मराठी साहित्य में विरल है और इसका प्रयोग उन्होंने हिन्दी कविताओं में भी कर अपनी मराठी की प्रवृत्ति को कायम रखा।

'भांड' शीर्षक हिन्दी कविताएँ एकनाथ ने साहित्यकारों एवं भजन मंडलियों को संबोधित करने के लिए लिखी हैं। भांड के पारम्परिक अर्थ को बगल करते हुए उन्होंने उसे सकारात्मक सामाजिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ देने का प्रयास किया है। इन कविताओं के माध्यम से उन्होंने आदर्श व्यक्ति को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है, जो उनकी अधिकांश कविताओं का लक्ष्य है। इसी प्रकार उनका फकीर भी आदर्श भक्त का रूप प्रस्तुत करता है और "बीठल अल्ला" को एक साथ अराध्य मानता है, वह इनमें कोई अन्तर ही नहीं मानता है। "गुरु पीर" में उसके लिए कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि उसने इन दोनों शब्दों में संकल्पनात्मक समानताएँ पायी हैं। यह एकनाथ ही के नहीं, अपितु सम्पूर्ण मराठी और हिन्दी भक्ति आन्दोलन की विशेषता कही जा सकती है, जहाँ अराध्यों, गुरु एवं सामान्य जन के मूल्यों में समानताओं को साधने के प्रयास में अन्तर को पाटने का कार्य किया गया। भक्ति आन्दोलन ने सामाजिक अन्तर को पाटने का कार्य निरन्तर अपने-अपने अर्थों में करने का प्रयास किया है, उसमें एकनाथ के हिन्दी-मराठी काव्य ने भी अपना योगदान दिया है।

एकनाथ ने अपनी एक हिन्दी कविता में कई भक्तश्रेष्ठों के साथ-साथ हिन्दी-मराठी क्षेत्र के सन्त-भक्तों के कार्यों एवं चमत्कारों को गिनाया है। इस कविता में सन्तों के कृतित्व को गिनाते हुए उसका सारांश बताया गया है। यह कविता 'नानक' शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई कविताओं में एक महत्वपूर्ण कविता है। कविता में ज्ञानेश्वर को विष्णु का अवतार, निवृत्ति को बाबा आदम अर्थात् शिव का अवतार, सोपानदेव को ब्रह्मा का अवतार माना गया है। साथ ही कविता में 'चांगदेव', 'नामा दरजी', 'कबीर', 'सावता माली', 'सज्जन कसाई', 'गोरोबा कुंभार', 'दादू पिंजारी', 'भक्त प्रल्हाद', 'विभिषण', 'विसोबा खेचर', 'नरहरी सोनार', 'रोहिदास चंभार', 'चोखोबा' आदि सन्तों को विभिन्न कारणों से याद किया गया है। ज्ञानेश्वर को भैसे के मुख से वेदोच्चार निकलवाने और दीवार को चलवाने के लिए,

नामदेव को देव भुलाने के लिए, सावता माळी को पेट चीरने के लिए, सज्जन कसाई को मुसलमान होकर भी हिन्दू भजन पद्धति अपनाने के लिए, गोरोबा कुम्हार को अपने ही हाथ काट लेने के लिए, दादू पिंजारी को मुसलमान होकर भी नाम जपते रहने के लिए, विसोबा खेचर को शिव लिंग पर पैर धरकर सोने के लिए और रैदास को 'कटौती में गंगा' दिखाने के लिए याद किया गया है। स्मरण रहे कि यह चमत्कार इन सन्तों के नाम के साथ जोड़े जाते रहे हैं। कबीर के नाम के साथ किसी भी चमत्कार का उल्लेख एकनाथ ने नहीं किया है। उनके अनुसार कबीर का होना ही 'दूजा कमाल' है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी मराठी कविताओं में सभी सन्त-भक्तों का और विशेषतः ज्ञानेश्वर का कई बार-बार स्मरण किया है।

उन्होंने ब्राह्मणों के धर्म का व्यापरीकरण करने की प्रथा का खुलकर विरोध किया धर्म की आड़ में नाथों, महानुभावियों, जंगम, गोसांई आदि द्वारा किए जा रहे पाखंडों को भी उन्होंने खुलकर अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। अपने समय की कई मान्यताओं एवं प्रथाओं का उल्लेख भी एकनाथ की हिन्दी कविताओं में जाने-अनजाने हुआ है। मराठी भारूडों में उन्होंने बहुदेववाद एवं अंधश्रद्धाओं में फँसे समाज को फटकार लगाई है। इतना ही नहीं कई पंथों की दार्शनिक विचारधारा एवं आचारधारा की उन्होंने खुलकर आलोचना की है। इस आधार पर यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उन्हें कई पंथों की दार्शनिक विचारधारा-आचारधारा एवं अपने काल में उसके भटकाव का पूरा ज्ञान था। जिस प्रकार उन्होंने अपनी हिन्दी-मराठी कविताओं में ज्ञानेश्वर से लेकर कबीर तक का स्मरण किया है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी उत्तर भारत के वास्तव्य में कबीर, रैदास, नानक, सेना नाई आदि के लेखन एवं परम्पराओं का भी अध्ययन-मनन किया होगा, उन्हें जानने का प्रयास किया होगा।

एकनाथ ने अपनी हिन्दी और कई स्थानों पर मराठी कविताओं में भी अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं किया, बल्कि उसका रचनात्मक उपयोग करते हुए संकेत रूप में ही प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि उनके पाठकों को कई बार कविता के सन्दर्भों को समझने और कविता में अभिव्यक्त भावों तक पहुँचने के लिए सन्दर्भ को ज्ञात कर लेना पड़ता है। ऐसी अपेक्षा उनके हिन्दी-मराठी दोनों भाषाओं में लिखित काव्य के सन्दर्भ में है। किसी भी मिथक, प्राचीन कथा, सन्त-भक्तों के जीवन, दार्शनिक मत या विचारधारा, इतना ही नहीं अपना मूल कथ्य आदि के विस्तार में न जाते हुए उसे संकेत रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। इस रूप में उनकी हिन्दी कविताओं के भक्ति-भाव, विचार-दर्शन में विस्तार से वर्णन करने की प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि उसकी ओर संकेत मात्र है, जो प्रवृत्ति बराबर उनके मराठी काव्य में भी देखी जा सकती है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एकनाथ ने अपने मराठी काव्य के माध्यम से अपने युगीन सत्य को, अपनी विचारधारा को, अपने आदर्श को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है, उसे उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में दोहराया है। उनके हिन्दी और मराठी काव्य में अभिव्यक्त विचारधारा, उनमें चित्रित भक्ति भाव एवं दर्शन में पूर्ण तादात्म्य देखने को मिलता है। उनकी मराठी कविताओं की ही तरह उनकी हिन्दी कविताएँ भी सामान्य से लेकर विद्वत्जन को भी कुछ-न-कुछ देती हैं। किसी भी प्रकार का पाठक उनकी कविताओं से निराश नहीं लौटता, चाहे वह भक्त हो, चाहे वह दार्शनिक हो अथवा वारकरी, दत्त सम्प्रदाय से उसका सम्बन्ध रहा हो या फिर साहित्यिक महकमें का

पाठक हो। इतना ही नहीं उनकी कविताएँ अपने पाठकों को मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा व ज्ञान देने में समर्थ हैं, इसलिए उनकी कविताएँ उबाऊ नहीं हैं और वे आज भी प्रदर्शनीय हैं। कलावादियों को उनकी कविताएँ मध्यकालीन लोक कलाओं से लेकर शास्त्रीय प्रतिमानों की उपस्थिति दिखा सकती हैं। वस्तुवादियों को उनकी कविताएँ अपने धारदार कथ्य के माध्यम से आकर्षित करती हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के पात्र सामान्य जन-जीवन से चुने हैं और साथ ही मिथकीय पात्रों को अपने युग के अनुसार ढालने का प्रयास भी किया। उनके पात्र भले ही उनके हाथों की कठपुतलियाँ बनकर उनकी दार्शनिक विचारधारा की वाहक बनकर रह जाते हैं, किन्तु उनकी स्वाभाविकता को बनाए रखना एकनाथ की काव्य दृष्टि की विशिष्ट विशिष्टता है, जो उभय भाषा में लिखित काव्य में दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने समय में समन्वय की विराट न सही किन्तु अधिकाधिक चेष्टा अवश्य काव्य के माध्यम से की है, किन्तु इस समन्वय की आँधी में उन्होंने तद्युगीन वाद एवं विवादों को अनदेखा नहीं किया और अपनी कविताओं में उन्हें भी स्थान दिया।

एक कवि एवं एक सन्त-भक्त दोनों रूपों में एकनाथ ने अपने हिन्दी-मराठी काव्य के माध्यम से अपने युगीन सत्त्यों से टकराने का प्रयास किया है। भले ही प्रबंध काव्यों में वे इस कार्य में अधिक सफल नहीं होते हैं, किन्तु उन्होंने इन दोनों भूमिकाओं का निर्वहन अपने काव्य के माध्यम से किया है। गवळणों में भावभीनी भक्ति एवं भारुड आदि अन्य काव्य रूपों में अपने समय के सामाजिक इतिहास को शब्दबद्ध करके एवं उससे सम्बन्धित सामाजिक अवधारणाओं को अपने काव्य में संरक्षित कर उन्होंने अपने ही समाज को अभिव्यक्त किया है। सामाजिक अवधारणों को तोड़ने के क्रम में उन्होंने कहीं-कहीं उनका रूढ़ अर्थों में भी प्रयोग किया है। उन्होंने गुरु, ईश्वर, अल्ला और विठ्ठल में कोई अन्तर करने का प्रयास नहीं किया। धर्म या सम्प्रदाय के नाम पर ढोंग रचने वालों के उन्होंने कान उमेठे हैं। न उन्होंने सांसारिक जीवन का विरोध किया है और न संन्यास धर्म का। उन्होंने कहा है व्यक्ति द्वारा स्वीकृत जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करने का प्रयास करना चाहिए। दर्शन एवं विचारों को समझाने के क्रम में कई बार उन्होंने अपने विचारों को अनिवार्यता का रूप भी देने का प्रयास किया है, ऐसे प्रसंग हिन्दी कविताओं में कम और मराठी कविताओं में अधिक हैं।

अपने पूर्वज हिन्दी-मराठी क्षेत्र के सन्त-भक्तों को उन्होंने उनके कार्यों के साथ स्मरण किया है, भले ही वह कार्य चमत्कारिक कथाओं से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इन सन्त-भक्तों का स्मरण करते समय उन्होंने जाति, क्षेत्र, धर्म, भाषा, व्यवसाय आदि किसी भी मानडंड को ध्यान में नहीं रखा हो, किन्तु लिंग की दीवार तो आवश्यक उन्होंने खड़ी कर दी, क्योंकि इस कविता में उन्होंने एक भी स्त्री सन्त-भक्ति को स्मरण उन्होंने नहीं किया है। अपने हिन्दी और मराठी काव्य में वे समय के साथ चलनेवाले रचनाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने अपने युग को हमारे सामने दोनों भाषाओं में लिखित काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है, तथा भाषायी दीवारों और लोकभाषा एवं शास्त्रीय भाषा की मान्यताओं को तोड़ने का प्रयास किया है।

रूप के स्तर पर तुलना

एकनाथ के सम्पूर्ण कृतित्व पर वस्तु और रूप की भिन्न दृष्टियों से देखने के क्रम में यह तय कर पाना दुरूह कार्य है कि उनके काव्य की वस्तु ने रूप का निर्माण किया अथवा रूप ने वस्तु का या पात्रों ने वस्तु और रूप दोनों का। उनका लोकभाषाओं के प्रति लगाव उनके पुत्र हरि के साथ हुए विवाद से स्पष्ट

होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक तरफ तो मराठी में काव्य रचना करते समय प्रबंध काव्य एवं पारम्परिक पौराणिक मिथकों को चुना तो दूसरी तरफ लोक में व्याप्त लोककलाओं एवं पात्रों को अपने काव्य का आधार बनाया। यह दोनों प्रवृत्तियाँ उनकी हिन्दी कविताओं में देखने को मिलती हैं, जहाँ उन्होंने कोई प्रबंध काव्य तो नहीं लिखा किन्तु सामान्य जन-जीवन एवं पौराणिक-मिथकीय पात्रों का चुनाव अपने काव्य में किया। इसी प्रकार काव्य वस्तु एवं काव्य रूप में उन्होंने ऐसी कई असमानताओं का शमन कर समानताओं में समन्वय साधने के लिए लोक तक पहुँचने वाले काव्य-रूपों को ही हिन्दी और मराठी काव्य के लिए चुना। उनके सारे मराठी प्रबंध काव्य का कथ्य, उसमें अभिव्यक्त उनकी विचारधारा एवं भावधारा पहले से निर्मित होती आ रही थी, इन मराठी-हिन्दी लोक-रूपों में सफलता से उन्होंने यही सिद्ध कर दिया।

एकनाथ ने अपना अधिकांश हिन्दी-मराठी काव्य के पात्रों के संवाद या किन्हीं पात्रों के वाद-विवाद के रूप में लिखे हैं। ऐसे में उनकी कविताओं में वाद-विवाद-संवाद एवं वाक् की विशेषताएँ स्वाभाविक रूप में देखने को मिलती हैं। इस संवाद प्रक्रिया में उन्होंने इन कविताओं को सामान्य जन को दृष्टि में रखकर लिखा है, जिनमें उन्हें दार्शनिक-आध्यात्मिक रूप से शिक्षित करने का प्रयास किया है। इसी कारण उनके प्रायः सभी लोक-कविताओं के पात्र लोकधुनों में बात करते देखे जा सकते हैं। ऐसा लगता है एकनाथ गद्य से अधिक पद्य में और उससे भी अधिक गीतात्मकता में विश्वास रखते थे, यह बात हिन्दी और मराठी दोनों प्रकार के मुक्तक काव्य में देखी जा सकती है। उनकी गेय कविताएँ शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त भले ही न हो, किन्तु लोकधुनों की ऋणी आवश्यक हैं। उन्होंने तत्कालीन समाज में संवाद को स्थापित करने का प्रयास अपनी हिन्दी-मराठी लोक कविताओं के माध्यम से किया, भले ही वह संवाद सामाजिक समस्याओं से अधिक दार्शनिक मान्यताओं को लेकर किया गया हो। उनकी कविताओं का रूप और उसकी हिन्दी-मराठी भाषा का स्वरूप उनके पात्र चयन में निहित है, जिसमें पात्रों द्वारा बोली जानेवाली संभाव्य भाषा उन्हीं के द्वारा निर्धारित होती हुई दिखाई देती है। यहाँ पात्रों के संवाद समाज में विचरित पात्रों से उठाये गए हैं किन्तु निश्चित तौर पर उनसे आनेवाले अर्थ रचनाकार ने स्वयं भरे हैं। उनकी मुक्तक कविताओं की अन्तिम पंक्तियाँ कविता को एक नया सन्दर्भ देती हैं और यहाँ आकर एकनाथ की रचनात्मकता अपने सम्पूर्ण रूप में देखी जा सकती है। अपने पूर्ववर्ती पंक्तियों के अर्थ को चमत्कृत कर देने वाली पंक्तियाँ उनकी हिन्दी और मराठी दोनों प्रकार के भारूडों एवं गौळणों में देखी जा सकती हैं।

एकनाथ ने मराठी की तरह हिन्दी में भी भारूड कहे जानेवाले काव्यरूपों में गौळण, फकीर, मुंडा, भांड, नानक, जोगी, बैरागी, बुलबुल और संवाद शीर्षक कविताओं की श्रृंखलाएँ लिखी। मराठी की ही तरह एकनाथ ने हिन्दी में गवळण के माध्यम से कृष्ण की बाल लीलाओं, बाल क्रिडाओं, बाल सुलभ चंचलताओं, बालमन पर होनेवाले प्रभावों एवं बालक के स्वाभाविक शरारतों का चित्रण किया है। कई स्थानों पर जम्हुरा उनकी कविताओं में न होने के कारण गारुडी के अधिकांश कथन एकालाप भी लगते हैं, ऐसा हिन्दी कविताओं में अधिक हुआ है। सरायनीय पक्ष यह है कि गारुडियों की कथन शैली, कहने का ढंग, उतार-चढ़ाव, भंगिमाओं आदि को एकनाथ ने अपनी तमाम दार्शनिकता के लादने के बावजूद जीवित रखने में सफलता प्राप्त की है, यह उनके हिन्दी-मराठी भारूडों का सबल पक्ष कहा जा सकता है। अपनी पैनी कहन शैली के माध्यम से दोनों धर्माचार्यों की जमकर आलोचना करने की

परम्परा को एकनाथ ने भी आगे बढ़ाया। यह वाद-विवाद एकनाथ ने शास्त्रीय शैली में प्रस्तुत किया है, जहाँ पहले विपक्षी के मतों का खण्डन किया जाता है और फिर अपने मत या विचारधारा को स्थापित करने वाले तर्क दिए जाते हैं।

पुत्र हरि के संस्कृताभिमानि विद्वान बनने से एकनाथ परिवार में अल्पकालीन संघर्ष निर्माण हुआ क्योंकि एकनाथ जनभाषा मराठी के समर्थक थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि “संस्कृत देववाणी है, तो क्या मराठी क्या चोरों ने बनाई?” इस आधार पर एकनाथ को मराठी भाषा का समर्थक सिद्ध किया गया, यह सही है, किन्तु वह मात्र मराठी भाषा के ही समर्थक नहीं, अपितु जन-भाषा के समर्थक थे। इसी कारण उन्होंने अधिक-से-अधिक लोगों तक समाज-प्रबोधन के विचारों को साहित्य के माध्यम से पहुँचाने के लिए लोक काव्य रूपों को हिन्दी में भी लिखा। एकनाथ के इन विचारों से यह भी स्पष्ट होता है कि सम्पर्क भाषा एवं लोकभाषा के रूप हिन्दी का विकास मध्यकाल से ही हो रहा था, जिसे दक्खिनी, हिन्दुस्तानी, हिन्दी आदि आदि नामों से जाना जाता रहा है। क्षेत्रानुसार इसके कई नाम थे। कोई इसे हिन्दुस्तान की तुती के रूप में गौरन्वित करता था तो कोई इसमें हिन्दवी के नाम से गौरवशाली साहित्य रचता था। यदि एकनाथ केवल मराठी के समर्थक होते तो अपेक्षाकृत पराई भाषा में रचना क्यों करते? एकनाथ की भाषा दृष्टि आज के मराठी राजनीतिज्ञों को बहुत कुछ सीखाती है, जहाँ भाषायी संकुचितता के माध्यम से बोटों को बाँटने की गंदी राजनीति की जाती है। यदि मध्यकालीन रचनाकारों का भाषा बोध इतना होते हुए भी संकुचित कहा जाता है, तो ऐसे संकुचित ही सही, भाषा बोध की हमें अत्यन्त आवश्यकता है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि एकनाथ की कविताओं का उद्देश्य लोकरंजन, लोकशिक्षण या दर्शन का सम्प्रेषण, इनमें से जो चाहे रहा हो, किन्तु उन्होंने अपने दर्शक, काव्य-पात्र एवं काव्य-वस्तु को ध्यान में रखते हुए काव्य के विभिन्न रूपों को चुना और उसी पाठक-श्रोता वर्ग को दृष्टि में रखकर शब्दचयन एवं उसकी लय-धुन, उच्चारण चुनकर काव्य को सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया। उनके द्वारा हिन्दी-मराठी में किया गया शब्दचयन दक्खिनी, मराठी और हिन्दी का मिलाजुला रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है, जो भारतेन्दु युग और महात्मा गाँधी जी के पुरस्कार के साथ हिन्दुस्तानी भाषा के विकास में सहायक हुआ। तो दूसरी ओर उनके मराठी काव्य में किया गया शब्दचयन किसी भी प्रकार के शब्दों का परहेज़ नहीं करता है। इसी का निखरा हुआ रूप हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य की विशेषता बना। उनकी कविताओं में उनकी भाषा दृष्टि एवं काव्य-रूप सम्बन्धी दृष्टि निःसंदेह अपने से बहुत आगे दिखाई देती है। भाषा एवं अन्य काव्य-रूपों द्वारा समन्वय साधने का प्रयास उनके काव्य की अनन्य विशेषता कही जा सकती है।

एक ओर दक्खिनी में विकसित हो रही काव्य परम्परा से वे जुड़ते हैं, तो दूसरी ओर ब्रज-हिन्दी की परम्परा से, तो तीसरी ओर अपनी जड़ें ज्ञानेश्वर में तलाशते हैं। अपने लोककाव्य रूपों के माध्यम से लोक से जुड़ते हैं, तो दूसरी ओर शास्त्रीय विषयों को उसमें अनुस्यूत करते हुए शास्त्रीय परम्परा से। एकनाथ अपने मराठी काव्य के साथ-साथ हिन्दी काव्य के माध्यम से भी समन्वय का प्रयास अपने स्तर पर कर रहे थे, क्या यह एक प्रकार के राष्ट्रीयता का विकास नहीं है, जो मध्यकाल से ही दक्षिण और उत्तर को जोड़ने का प्रयास कर रहा था, किन्तु वह राष्ट्रीयता नहीं जो अनिवार्यतः दूसरों से द्वेष के बल पर विकसित की जाती है। क्या तत्कालीन राजाओं की सीमाओं को एकनाथ जैसे सन्तों ने तोड़कर जन

को एक ही स्तर पर देखने की दृष्टि का विकास करने में अपना योगदान नहीं दिया? इस प्रश्न के साकारात्मक उत्तर में ही एकनाथ के काव्य के ऐतिहासिक महत्व को समझा जा सकता है और समाझा जाना चाहिए। इन आँचलिक प्रयासों को अनदेखा कर हिन्दी साहित्य का अविरल इतिहास कैसे लिखा जा सकता है? आवश्यकता है इन सूत्रों को जोड़ने की।

इस प्रकार एकनाथ का काव्य अपने भक्ति-भाव, विचारधारा-दर्शन, पात्रों का विशिष्ट चयन आदि वस्तुवादी दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु रूप की दृष्टि से भी समन्वय की चेष्टा करता दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपने युगीन सत्त्यों एवं वाद-विवाद-संवाद की परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए अपने युग से ही काव्य रूपों का चयन किया। 'साधु काव्य निबंधनम्' के साथ लोकरंजन भी उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से करने का प्रयास किया, इसमें उन्होंने अपने काव्य-रूपों से विशेष सहायता प्राप्त की। गेयता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने काव्य की धुन एवं लय को अपने पात्रों के अनुरूप कायम रखने का भरपूर प्रयास किया, जिसमें मिली सफलता कवि की विशेष उपलब्धी कही जा सकती है। उनके काव्य की लय और धुन कभी गद्याभास निर्माण करती है, तो कभी गीतशैली की सर्वोच्चता पर अवस्थित होती है।

8.9 तुकोबा की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना

तुकोबा के मराठी काव्य की संख्या आठ हजार से अधिक बताई जाती है, जिनमें अभंग, भारुड, गवळणी, झोपाळा, पिंगा, ओव्या आदि काव्यरूप हैं। इसकी तुलना में उनकी हिन्दी कविताएँ मात्रा में अत्यन्त अल्प हैं, किन्तु इन कम कविताओं में तुकोबा की मराठी कविताओं के अधिकांश भाव एवं उनकी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ हिन्दी काव्य में भी देखने मिलती हैं। उन्होंने अपनी मराठी-हिन्दी काव्य में अर्जित परम्पराओं और चिन्तन को अभिव्यक्त किया। उनका चिन्तन एक ओर कई परम्पराओं को उदार भाव से स्वीकार करता है, तो दूसरी ओर अपनी समकालीन परिस्थितियों में मानवतावादी दृष्टि को अपनाते हुए कई रूढ़ियों को अस्वीकार भी करता है। यह स्वीकार-अस्वीकार तुकोबा के यहाँ भावनात्मक प्रतिक्रिया मात्र न होकर विवेकानुसार होता है। यही कारण है कि कई अध्ययनकर्ताओं ने अपनी विचारधारा के अनुसार अपने अध्ययन का उपसंहार प्रस्तुत किया है, जो कई स्थानों पर परस्परविरोधी भी बन गया है, किन्तु यही स्थिति उनकी हिन्दी कविताओं के सन्दर्भ में नहीं हुई है। उनकी मराठी कविताओं में जितना मतवैविध्य है, उतना मतवैविध्य हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त नहीं हुआ है।

तुकोबा की हिन्दी-मराठी कविताओं में आया साधना का विकासक्रम में समझाते हुए भी कईयों ने लेखनकार्य किया। कई विचारकों ने समाज एवं उनकी कविताओं के परस्पर प्रभाव का भी अध्ययन किया है। सगुण-निर्गुण ज्ञान की ऊँचाई और द्वैत-अद्वैत की जाँच पड़ताल भी उनके काव्य में की गई। तुकोबा की भाषा और आर्त-करुण उद्गारों में व्यक्त संवेदना की मधुरता आरंभ से आकर्षण का विषय रही है। वस्तुतः सभी ने किसी-न-किसी अर्थ में तुकोबा के सामाजिक कार्य एवं उनका जनसामान्य पर पड़े प्रभावों को अपने विवेचन-विश्लेषण का विषय बनाया, जिसमें वस्तुवादी और रूपवादी दोनों दृष्टियाँ देखी जा सकती हैं। यह उनकी कविताओं का कथ्य और रूप का सामाज दर्शन ही कहना चाहिए, जो व्याख्याकारों एवं आलोचकों को साहित्य के सामाजिक सरोकारों से जोड़े रखता है। यह

बात उनकी दोनों भाषाओं में लिखित कविताओं के सन्दर्भ में कही जा सकती है। यही कारण है कि कबीर ही तरह तुकोबा के संत और समाजसुधार दोनों रूप मराठी समाज-साहित्य में स्वीकृत हुए हैं।

वारकरी पंथ से व्यापक स्तर पर जुड़े होने के कारण तुकोबा की मराठी-हिन्दी कविताओं में सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव आदि सभी ईश्वर के रूपों-स्वरूपों का समावेशन देखा जा सकता है। किन्तु उन्होंने अराध्य के रूप में अधिकांश मराठी कविताओं में विठ्ठल का ही नाम लिया है, जिससे वे प्रायः माता का सम्बन्ध जोड़ते हैं। इसके ठीक विरुद्ध प्रवृत्ति उनकी हिन्दी कविताओं में देखी जा सकती है, जहाँ एकाध कविता को छोड़कर कहीं भी श्रीविठ्ठल का नामोल्लेख नहीं है। यदि तुकोबा केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी कविताएँ ही लिखते तो उन्हें 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में निर्गुण कवियों की परम्परा में कबीर के बाद सबसे महत्वपूर्ण कवि के रूप में गिने जाने में शायद ही कोई समस्या निर्माण नहीं होती। किन्तु किसी भी भक्तिकालीन तथाकथित निर्गुण कवि की ही तरह उनकी निर्गुण भक्ति भी सगुण से पूर्णतः मुक्त नहीं है।

मराठी में कृष्ण की विभिन्न कथाओं पर आधारित काव्य लिखने की परम्परा आरंभ से ही रही है, जिसमें कृष्ण जन्म एवं विवाह प्रसंग अधिक कविप्रिय प्रसंग रहे हैं। इस परम्परा का विकास मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं में भी देखा जा सकता है। तुकोबा की अपेक्षा बहेणाबाई ने अपनी हिन्दी कविताओं में कृष्ण जन्म की कथा अधिक विस्तार से गिरिधर के जन्म से लेकर 'जमुना के तट धेनु चरावत' तक सुनाई है, जिसे तुकोबा ने एक ही पद में अतिसंक्षेप में निचोड़कर प्रस्तुत किया है। तुकोबा निर्गुण कवि अपनी हिन्दी कविताओं में भी हैं, किन्तु मराठी कविताओं की तरह ही एकाध स्थान पर सगुण के संकेत भी उनकी कविताओं में मिलते हैं। तुकोबा के जीवन-मूल्य हैं - प्रेम और मनुष्यता तथा आध्यात्मिक-मूल्य हैं - पूर्णतः एकात्म या तदाकार होने के लिए नाममार्गी भक्ति का आलंबन। इन मूल्यों के ईर्द-गिर्द ही उनका तमाम काव्य घूमता है, किन्तु कई अधिक व्यापक दृष्टि को लिए।

भक्ति आन्दोलन के मूल में भक्ति की समानता को कई विद्वानों ने रेखांकित किया है। तुकोबा ने मराठी कविताओं में हरि के चरणों में समर्पित होने का अधिकार सभी वर्गों जातियों को होने की बात की है, उसके लिए जाति के प्रमाण को सीधे-सीधे अमान्य कर दिया।² अस्पृश्यता का पालन करनेवाले ब्राह्मण को, ब्राह्मण मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया।³ इससे भी आगे बढ़कर तुकोबा ने ब्राह्मणों को भी उपदेश दिए हैं। उन्होंने नाममार्गी भक्ति में जाति के मत को ही हीन मानकर जिसके मुख में नाम है, उसे ही धन्य माना है।⁴ तुकोबा के अनुसार भक्ति के लिए नाम स्मरण अनिवार्य है। इसमें किसी भी भेद के लिए स्थान नहीं है। बस आवश्यकता है उसमें पूर्णतः एकाकार हो जाने की। नामभक्ति को ही सर्वस्व माननेवाले, नाम को ही भक्ति के सार के रूप में स्थापित करने वाले तुकोबा नाम के अतिरिक्त कोई काज नहीं मानते। नाममार्गी भक्ति में किसी का महल या झोंपड़ी वासी होना, काया या माया, किसी विशिष्ट जाति का होना आदि कुछ भी बीच में नहीं आता। वास्तव में नाममार्गी भक्ति के माध्यम से तुकोबा सभी भेदों को मिटा देने की उम्मीद करते थे। राम कहने वाले के वे पग लग जाने के लिए तैयार हैं, नारायण को जानने वाले को वे प्राणप्रिय मानते हैं, जीव-तन-धन वारने के लिए तैयार हैं।

². जिहीं म्हणविलें हरिचे अंकित। जातिचे ते होत कोणी तरी ॥

जाति कुळ नाही तयासी प्रमाण। अनन्या अनन्य तुका म्हणे ॥

³ तुकोबा-ब्राह्मण नव्हे महारासि सिवे कोपें तो.

⁴ तुका म्हणें नाही जातीसवें काम। ज्याचें मुखीं नाम तोचिं धन्य ॥

नाममार्गी भक्ति में वे किसी भी बाधा को न तो मानते हैं या न देख पाते हैं। उसे सभी के लिए अनुकूल पाते हैं। उसमें तुका अधिक 'जाति कुल नहीं मानते'। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है – “राम का नाम ज्यो लेंगे बरेबार। त्याके पाउं मेरे तन के पैजार ॥धृ.॥” इसके लिए वे सिर्फ प्रेम को आधार मानते हैं, जाति या किसी भी अन्य भेद को नहीं – “जातनसु मुझे कछु नहीं प्यार। असते की नही हेंदु धेड चंभार। ज्याका चित लगा मेरे रामको नाव। कहे तुका मेरा चित लागा त्याके पाव ॥” इतना ही नहीं वे 'जिस मुख में नाम नहीं उसमें धूल पड़ी हुई मानते हैं' और जो राम का नाम नहीं लेता उसे प्रश्न पूछते हैं कि 'क्या उसे किसी रांड ने पैदा किया है?' 'उस मुख पर बलि जाना चाहते हैं, जिस मुख से राम नाम निकलता रहता हो।' तुकोबा अपनी कविताओं में नाम स्मरण को सर्वाधिक महत्व देते दिखाई देते हैं। यह बात भी उन्होंने पूर्ण दरवेश होने के लिए आवश्यक मानी है।

उनकी मराठी कविता जितने तीखे शब्दों में सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करती है, उतनी ही वह अहिंसात्मक पद्धति से सामाजिक समन्वय चाहती हैं। यही बात उनके हिन्दी काव्य में भी दिखाई देती है। अपने तन को भी दाँव पर लगाकर प्रेममार्ग को सामाजिक सामजस्य का हथियार बनाने का स्वप्न देखने और नाममार्गी भक्ति को सबसे प्रबल भक्ति मानने के कारण ही नहीं, बल्कि अधिक व्यावहारिक होने के कारण तुकोबा की कविताएँ भक्ति आन्दोलन की परिपक्व स्थिति को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इस परिपक्वता का पहला लक्षण है, सभी भेदभावों से परे होना, इसका दूसरा लक्षण है उसका अधिक विस्तारिक दृष्टिकोण को प्राप्त करना। उनकी भक्ति पद्धति में मठ बनाना, भव्य मन्दिरों का निर्माण करना-करवाना आदि दिखावों के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्होंने इन अडंबरयुक्त प्रयासों को 'झूठा धंदा' कहा है।

इसी कारण तुकोबा का सम्पूर्ण काव्य एक भिन्न पद्धति से सामाजिक एकता का कार्य कर रहा था। उन्होंने हमेशा लघुता को महत्व दिया है, न की महानता या विराटता को। अपने अराध्य से भी उन्होंने चींटी सी लघुता ही माँगी है।⁵ उनके अनुसार सन्तो को होनेवाला दैहिक कष्ट जगत के कल्याण के लिए ही होता है, वे समाज पर उपकार करने के लिए ही विभूति आते हैं।⁶ तुकोबा ने 'विश्व मिथ्या' को अस्वीकार करते हुए 'विश्व ब्रह्म' को स्वीकार किया है। इस कारण वे पक्षी और लताओं को भी मनुष्य के परिजन मानते हैं एवं इस कारण उनका जीवन दर्शन अधिक व्यावहारिक बनकर सर्वजन ग्राह्य हुआ है। उनकी वाणी में जितना सर्वजन अंतर्वेशन है, उतना रूढ़ियों के प्रति अपवर्जन है और इसलिए वे प्रतिरोध के कलाकार हैं। तुकोबा को अपने परिजनों की मात्र चिन्ता नहीं थी बल्कि मनुष्य मात्र की चिन्ता थी जो उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। इसलिए वे अपनी आत्मकथा नहीं लिखते बल्कि सामाजिक चिन्ताओं, मनुष्य जाति की समस्याओं को अभिव्यक्त करते हैं, न कि अपने पारिवारिक या निजी दुःखों का। तुकोबा के सम्पूर्ण काव्य पर दृष्टिपात करने से पता चल जाता है कि उन्होंने सामाजिक मान्यताओं, रूढ़ियों का खण्डन-मण्डन, भक्ति पद्धति, प्रेम भावना, उपदेश आदि किसी भी विचार या भाव को केन्द्र में रखकर स्वतंत्र रूप से कविताओं की रचना नहीं की है। अपने चिन्तनजनित विवेक के कारण उन्होंने कई प्रचलित मान्यताओं की पुनर्व्याख्या की है और अपना

⁵.लहानपण देगा देवा। मुंगी साखरेचा रवा ॥

⁶.जगाच्या कल्याणा संतांच्या विभूति। देह कष्टविति उपकारें ॥

प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया है। तुकोबा का जीवन और काव्य धार्मिक एवं सामाजिक सत्ता के प्रतिरोध में घटित हुआ है, जो प्रत्येक युग में प्रतिपक्ष के काव्य की विशेषता रही है।

उनकी प्रत्येक कविता में एक साथ कई तत्वों को एक साथ देखा जा सकता है। कई बार उनकी एक ही कविता में कई-कई विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति की गई है। तुकोबा के हिन्दी काव्य में भक्ति की विशिष्ट पद्धति देखने को मिलती है, जिसे निर्गुण-सगुण या साम्प्रदायिक-पंथीय दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेम के जिस रूप को अभिव्यक्त किया है और जिन सामाजिक-आध्यात्मिक मूल्यों को इसके माध्यम से सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है, उन पर भी दृष्टिक्षेप करना अनिवार्य हो जाता है। तुकोबा के काव्य की व्यापकता कहिए या उसका सबको अपने अन्दर समेटने का प्रयास, इन कविताओं को सगुण-निर्गुण, किसी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण, लोक-शास्त्र, धर्म, वैष्णव-शैव, राम-कृष्ण, प्रेम-ज्ञान, वस्तु-रूप आदि किसी भी आधार पर विभाजित करना दुरुह कार्य है। इन दोनों का सह-अस्तित्व तुकोबा की मराठी ही नहीं हिन्दी कविताओं में भी दोनों की ओर रुझान दिखाई देता है।

अपनी कविताओं में भी तुकोबा गुरु की भाँति सीख देते हैं, पिता का दुलार देते हैं और माता की ममता देते हैं। प्रेमी-प्रेमिका की गर्माहट देते हैं। वे यहाँ सलाह देते हैं तो कहीं माता की तरह माटी न खाने की नसीहत, तो पिता की तरह डाँट भी देते हैं। वे कहीं घर के उस वृद्ध की बोली बोलते हैं, जो घर के आँगन में खंखारते हुए बोलता जो बहुत महत्वपूर्ण हैं, किन्तु 'जनरेशन गैप' के कारण अनसुना किया जाता है और इस बात को लेकर वह वृद्ध चीढ़ता-कुढ़ता रहता है। इन सब लहज़ों में, बातों में एक बात सामान्य हैं, वह है-प्रेम। यही कारण है कि उनका प्रेम न्याय हैं, आलोचनात्मक न्याय। किन्तु अधिकांश मराठी कविताओं की भाँति लहज़ा आलोचना वाला नहीं है यहाँ, समीक्षात्मक है, जहाँ बूढ़ा समीक्षक चष्मे से झाँकते हुए आचार्य शुक्ल की तरह तीखी किन्तु व्याख्यात्मक टिप्पणी करता है, जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक चिन्ता गहराई तक अनुस्यूत रहती है, जिसे रचनाकार उसी अकुंठ भाव से स्वीकारता है, जिस अकुंठता से वह टिप्पणी की गई है। इस अर्थ में तुकोबा अपनी हिन्दी कविताओं में भी सभ्यता समीक्षक की भूमिका में नज़र आते हैं, किन्तु कई रूपों में, बहुरूपिया सभ्यता समीक्षक थे।

तुकोबा हिन्दी कविताओं में सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक कुरीतियों के प्रति प्रतिरोध कई बार सीधे-सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं, तो कई बार यह विरोध-प्रतिरोध अप्रस्तुत रूप में अभिव्यक्त हुआ है। किसी भी विचारधारा, दर्शन, अर्चन पद्धति या सामाजिक मान्यताओं को इन हिन्दी कविताओं में त्यागने या स्वीकारने की बात कहीं भी प्रस्तुत ढंग से नहीं की गई है। किसी भी बाह्याडंबर, धार्मिक अनुष्ठान, तीर्थ-हज, पूजा-पद्धति, रोजा-नमाज़ आदि का नाम लिए बगैर वे इसका विरोध कुछ इस रूप में करते हैं कि, अपनी बात भी पूरे प्रभाव के साथ कह जाते हैं और किसी भी प्रकार की कटुता के लिए भी स्थान नहीं छोड़ते। मराठी कविताओं में कई कुप्रवृत्तियों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है। तुकोबा की हिन्दी कविताओं में आया पाखण्ड का खंडन प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत रूप लिए हुए है। ऐसे कम ही स्थान हैं, जहाँ तुकोबा ने अपनी हिन्दी कविताओं में सीधे-सीधे रूढ़ियों पर प्रहार किये हैं। मराठी में तुकोबा इस प्रवृत्ति के लिए विशेष जाने जाते हैं कि उन्होंने अप्रवृत्ति और कुप्रवृत्ति के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा का निर्माण अपनी कविताओं में किया है, वहाँ बिगूचन के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस रूप में वे हिन्दी में लिखनेवाले मराठी सन्त-भक्त कवियों में भक्ति आन्दोलन की परिपक्वता को प्रस्तुत करनेवाले सन्त-भक्त सिद्ध होते हैं, तो मराठी में वे स्पष्टवक्ता के रूप में सराहनीय हैं। तुकोबा की हिन्दी कविता इस बात का प्रमाण है कि मातृभाषा से इतर लिखकर भी अपनी बात को प्रभावी ढंग से समझाने की कला मराठी सन्त-भक्त कवियों ने अर्जित कर ली थी। तुकोबा ने पाखण्ड खण्डन करते समय अपनी हिन्दी कविताओं में शोरगुल के स्थान पर शान्त स्वभाव से काम लिया, वहीं मराठी कविताओं में विशिष्ट कथन तीव्रता देखी जा सकती है। यह उनकी और भक्ति आन्दोलन परिपक्वता की स्थिति का परिचायक है और साथ ही उस जन-सामान्य की परिपक्वता का भी जो इस काव्य संदेश को समझती है, जिसके लिए यह हिन्दी-मराठी काव्य रचा जा रहा था। इसी प्रकार तुकोबा ने प्रचलित कई आध्यात्मिक-सामाजिक पारिभाषित शब्दों की भी पुनर्व्याख्या करने का प्रयास किया है, जिससे उनके चिन्तन के साथ-साथ उनकी मूल्य दृष्टि का भी पता चलता है।

तुकोबा अपने सामाजिक चिन्तन एवं ऐतिहासिक दृष्टि का सम्पूर्ण सार अपनी कविताओं में प्रस्तुत कर रहे थे। उन्होंने इसी के चलते अपनी चिन्तनधारा का स्पष्ट रूप में चुनाव कर लिया था, जिसे उन्होंने अधिक समकालीन बनाकर अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया। यही कारण है कि तुकोबा अपनी अधिकांश हिन्दी कविताओं में नीतिपरक अधिक हैं, किन्तु उनके यहाँ नीतिपरक होने का अर्थ है, जीवनमूल्यवादी होना, न कि कोरा सिद्धान्तवादी होना। यही नैतिक दृष्टि उनके मराठी काव्य में भी देखी जा सकती है, जो मानवतावादी एवं समाज सापेक्ष (यहाँ हम समाजवादी टाल रहे हैं, किन्तु अभिप्रेत उसी से है) है। इस कारण उनके जीवन मूल्य अधिक व्यावहारिक हैं, उनकी भक्ति दृष्टि की तरह। तुकोबा की भक्ति दृष्टि हो या नैतिक दृष्टि उसमें करनी और कथनी की समानता पर अतिरिक्त जोर दिया गया है, समानता की वकालत की गई है।

उन्होंने जैसे अपनी मराठी कविताओं में वृक्ष, लताओं, पक्षियों तथा सभी प्राणियों को मानव सम्बन्धी माना हैं, उसी प्रकार अपनी एक हिन्दी कविता में प्रकृति से निरपेक्ष एवं निःस्वार्थ भाव की प्रेरणा लेने को कहते हैं, जो वर्तमान समय में सबसे प्रमुख जीवन-मूल्य है, होना चाहिए। एक संघर्षरत जीवन को सामान्य पद्धति से काव्यबद्ध करने के कारण भी उनका काव्य सभी को अपनी गाथा लगा और उनके जीवनकाल में ही वह सभी के मात्र जीव्हा पर ही नहीं अपितु हृदय में बस गया।

रूप के स्तर पर तुकोबा की मराठी-हिन्दी कविताओं की तुलना

यह सविस्तार स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार तुकोबा के समय तक मराठी में टीका-भाष्य ग्रंथों की एक लम्बी परम्परा का विकास किया जा चुका था और उसके प्रभावों के चलते मराठी क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन के प्रभावों को सप्रयास नष्ट कर सामाजिक सत्ता को हासिल करने का प्रयास किया जा रहा था। इस आलोक में तुकोबा के काव्य को देखा जाए तो उनके हिन्दी-मराठी काव्य के रूप पक्ष की विशेषताएँ भी अपने आप उभरकर आएंगी। तुकोबा ने अपने समकालीन मराठी टीकाओं-भाष्यों की परम्परा को नकारते हुए नामदेव-बंका महार की अधिक रचनात्मक अभंग-कीर्तन परम्परा को स्वीकार किया। उन्होंने सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में आ रही या लायी जा रही फाँक को दूर करते हुए प्रयत्न को सर्वोपरि माना। उनके समय तक संसार और आध्यात्मिकता को विलोम शब्दों के बतौर प्रयुक्त करने की परम्परा को जोर दिया जाने लगा था, किन्तु तुकोबा ने अपने जीवन एवं काव्य के माध्यम से इसे गलत सिद्ध किया। उन्होंने अपनी हिन्दी-मराठी उपदेशपरक

कविताओं में ब्राह्मण एवं जाति की अवधारणाओं को गुणवाक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया, बजाए रूढ़ जातिवादी या व्यवसायवादी धारणाओं के।

अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं को समझते हुए तुकोबा ने न केवल वस्तु के स्तर पर अपने पूर्ववर्तियों के कथ्य को अपने समकालीन बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया, अपितु रूप के स्तर पर भी उन्होंने अपने क्षेत्र के साथ उत्तर भारत की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को आत्मसात करने का प्रयास किया। वैसे तुकोबा ने मराठी हो या हिन्दी, दोनों भाषाओं में लेखन करते समय रूप के प्रति कोई विशेष सतर्कता नहीं बरती, किन्तु इस अर्थ में उनके यहाँ ऐतिहासिक चेतना देखी जा सकती है। उन्होंने मराठी में लेखन के लिए नामदेव के समय से प्रचलित अभंग छन्द एवं अपने समय समाज की भाषा को चुना, तो वहीं कबीर की परम्परा से चला आता हुआ दोहा और हिन्दी साहित्य में जायसी-तुलसीदास द्वारा लोकप्रिय किया गया चौपाई छन्द भी।

उनमें पूर्ववर्ती सारे सन्तों की अपेक्षा कई अधिक आक्रोश देखा जा सकता है, जिसके चलते उनकी मराठी कविताओं में कई बार तथाकथित अभद्र शब्दों का प्रयोग भी स्वाभाविक प्रयोग देखा जा सकता है। हिन्दी में लिखते समय उन्होंने एकनाथ की ही भाँति विभिन्न काव्यरूपों के लिए अलग-अलग प्रकार की भाषा का प्रयोग भले ही न किया हो और उनके रूप पक्ष में विभिन्नता को कम ही स्थान है। तुकान्त, छन्द, आदि रूप प्रतिमानों में वस्तु की भाँति बहुत अधिक विभिन्नता होते हुए भी उन्होंने शब्द चयन में अपने पाठक-श्रोता को बराबर ध्यान में रखा। उनकी भाषा उनके काव्य-वस्तु के लिए मार्ग बनाती है, तो कविताओं में पद एवं दोहा सदृश्य छन्द उन्हें मुहावरों में ढलने का मार्ग बनाता है। यह भी कारण है कि उनकी मराठी कविताओं की तरह ही हिन्दी कविताएँ भी लोकोक्ति बनने की शक्ति रखती हैं।

महाराष्ट्र के गाँव-गाँव में तुकोबा की वाणी आज भी भोर से गाई जाती है क्योंकि वह आज के भी किसानों की आवाज़ हैं, उसमें मानवीय स्वाभाविकता है, नैसर्गिक उपमाएँ हैं, भाषा की सरलता है और सबसे ऊपर एक आन्तरिक लय है जो श्रम में विश्राम देती रहती है, अपनत्व की गर्मी देती रहती है। आचार्य शर्मा ने तुकोबा की भाषा को “मराठी हिन्दी” कहा है। दूसरी ओर प्रभाकर सदाशिव पंडित ने तुकोबा की भाषा को “टूटी फूटी सधुक्कड़ी हिन्दी भाषा” कहा है। इसके अतिरिक्त तुकोबा ने एकनाथ की तरह हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में प्रचलित समान शब्दों का प्रयोग भी अपनी कविताओं में किया है। इससे उनके सामान्य पाठक के सन्दर्भ में पता चलता है, जो उभय भाषाओं को जानते थे। काफ़र, दुनिया, भर, हीरिदा, कठोर, लोक, जग, धेनु, प्रेम, थंड, चित्त, पानी, कोर, दुख, मुख, संग, काल आदि शब्दों के माध्यम से उन्होंने अपने पाठक-श्रोताओं तक पहुँचने का प्रयास किया। यह उदाहरण उनकी हिन्दी कविताओं से हैं, जो कई ऐतिहासिक तथ्यों को समझने में सहायक हो सकते हैं। जैसाकि कैसे मराठी सन्त-भक्त कवि मातृभाषा के अतिरिक्त इतनी सफलतापूर्णक रचना कर रहे थे। किस प्रकार हिन्दी या हिन्दुस्तानी एक सामान्य सम्पर्क भाषा के रूप में सुदूर दक्षिण तक दक्खिनी आदि रूप में प्रचलित हो रही थी, किस प्रकार से हिन्दी या हिन्दुस्तानी को तंजावर से लेकर पंजाब तक के रचनाकार अपने पाठक-श्रोताओं तक पहुँचने का माध्यम बना रहे थे। निसंदेह सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास राजनीतिक इतिहास जितना विष फैलानेवाला नहीं बनाया जा सकता है, संभवतः इसीलिए उसका प्रयोग भी कम होता है और उस दिशा में लेखन भी।

जहाँ मराठी में तुकोबा मराठा योद्धाओं को ध्यान में रखकर 'पाईक के अभंग' लिखते हैं, वहाँ उनके काव्य की वस्तु के साथ-साथ भाषा, लय एवं उद्देश्य में भी अन्तर आ जाता है। जहाँ वे अपने भक्ति के कोमल भावों को अभिव्यक्त करते हैं, वहाँ करुणा की अजस्र धारा बहती दिखाई देती हैं। साथ ही जब तुकोबा माता-पिता की भूमिका में आकर अपने साथियों-श्रोताओं को उनकी भूलों पर डाँटने लगते हैं, उन्हें कई बार खरी-खोटी सुनाने लगते हैं, तो स्वाभाविक रूप में वह दूसरों को तो क्या अपने-आप पर भी दया नहीं करते। जब तुकोबा समाज में धर्म एवं जातियों के नाम पर हो रही असमाताओं को प्रस्तुत करते हैं, ढोंगियों की खबर लेने लगते हैं, तब वे आक्रामक तुकोबा बन जाते हैं। यह सारी विशेषताएँ ही तुकोबा को तुकोबा बनाती हैं। ऐसे रचनाकार की कविताओं को कैसे नदी में डुबोया जा सकता है। जैसाकि दागिस्तानी (रशिया का एक भाग) कवि-उपन्यासकार ने अपने एकमात्र उपन्यास 'मेरा दागिस्तान' में लिखा है 'असली कविताओं को नदी में डुबोया नहीं जा सकता, वे लोगों के दिलों में साँस लेती हैं।' कैसे डूब सकती थी तुकोबा की कविताएँ, क्योंकि वह भी तो लोगों के दिलों में साँस लेती हैं। इसी कारण उन्हें मराठी का साहित्यकार ही नहीं, पूर्ण रूप से उनकी पहचान 'महाराष्ट्र के संस्कृतिपुरुष' के रूप में की जाती है।

8.10 रामदास की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना

रामदास के साहित्य की प्रवृत्तियाँ अपने पूर्ववर्ती या समकालीन किसी भी साहित्यकार उसी प्रकार मेल नहीं खाती हैं, जिस प्रकार जायसी या तुलसीदास अपने पूर्ववर्ती या समकालीन रचनाकार से ग्रहण-त्याग की प्रक्रिया में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्हीं सन्त-भक्तों की तरह रामदास के काव्य ने अपने पूर्ववर्ती सन्त-भक्तों की कुछ प्रवृत्तियों को अकुंठ भाव से अपनाया और उसमें बहुत कुछ नया भी जोड़ने का सफल प्रयास किया, किन्तु साथ ही बहुत कुछ उन्होंने अपनी विशाल विचारधारा के क्रम में त्याग भी दिया। जिस प्रकार मराठी भक्ति आन्दोलन में रामदास अपनी विशिष्ट पहचान के कारण जाने जाते हैं, उसी प्रकार उनका हिन्दी काव्य भी मराठी सन्त-भक्तों द्वारा लिखित काव्य में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। भक्ति पद्धति, सामाजिक सरोकार, सीमित निर्वैयक्तिकता आदि गुण पूर्ववर्ती हिन्दी कविताओं से उनकी कविताओं में कई मायनों में एक होते हुए भी भिन्न हैं। वहीं निर्गुण-सगुण, राम-कृष्ण-अल्लाह आदि भेदों से परे जाकर उन्होंने अपने निजी भक्ति संबंधी विचारों को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। रामदास ने अपने दीर्घ रचना के हेतुओं को स्पष्ट करते हुए अपनी सबसे प्रसिद्ध रचना 'दासबोध' में कहा है "सब के लिए इसका पहला उद्देश्य हरिकथानिरूपण है, दूसरा उद्देश्य राजकारण और तीसरा सावधान करना है।" अपने सम्पूर्ण साहित्य में उन्होंने इन्हीं तीन उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया है, जिसमें उन्हें काफी सफलता मिली है।

रामदास का मराठी काव्य अत्यन्त विशाल है। उनकी 'करुणाष्टके' शीर्षक रचना करुण रस से ओत-प्रोत है। इस रचना को उनके साधकावस्था में डूबे हुए मन का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। इसके बाद की रचना 'एकवीससमासी' में साधनारत रामदास के मन के भावों को देखा जा सकता है। रामदास ने दो रामायणों की रचना की है। एक 'लघुरामायण' और दूसरी 'दीर्घरामायण'। इसमें उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति का खूब आधार लेते हुए कई नवीन प्रसंगों की उद्भावना करते हुए अपनी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति की है। 'मनाचे श्लोक' और दूसरी 'दासबोध' उनकी सबसे प्रसिद्ध रचनाएँ

हैं। यह दोनों रचनाएँ अपने शिष्यों की अपेक्षा समान्य जन को अधिक संबोधित लगती हैं। यही कारण है कि रामदास को कथाकाव्य की अपेक्षा अधिक सफल स्फुट रचनाकार माना जा सकता है। इन काव्य संकलनों की प्रत्येक पंक्ति में रामदास ने आदर्श समाज, आदर्श व्यक्ति, आदर्श शिष्य, आदर्श गुरु आदि कई ‘आदर्शों’ के गुणों को संजोने का कार्य किया है। जहाँ वारकरी सम्प्रदाय ने अपना कार्य करते हुए भक्ति करने का आदर्श स्थापित किया था, वहीं रामदासी सम्प्रदाय में वैराग्य एवं भीक्षा को अनिवार्य माना गया। भीक्षा माँगने के लिए जब रामदासी शिष्य किसी के घर के सामने जाएगा, तो वह जिन श्लोकों का उच्चारण करेगा, उसका लेखन भी रामदास ने किया है, जिसे ‘मनाचे श्लोक’ नाम से जाना जाता है। विशिष्ट मूल्यों को घर-घर तक पहुँचाने का कार्य इस माध्यम से करने का प्रयास रामदास ने किया है। मनाचे श्लोक में वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में सुचारु रूप से चलाने के लिए इन कविताओं की रचना की गई थी।

रामदास की हिन्दी कविताओं में अभिव्यक्त भक्ति पद्धति को श्रीमान प्रभाकर पंडित ने “निर्गुणोन्मुख सगुणोपासना” कहा है, अर्थात् निर्गुण की ओर बढ़नेवाली सगुणोपासना। रामदास के हिन्दी काव्य में अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों की तरह निर्गुण एवं सगुण दोनों भक्ति पद्धतियों की प्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं। रामदास की हिन्दी-मराठी कविता में सगुण-निर्गुण का कोई भेद नहीं दिखाई देता है, किन्तु उसकी उन्मुखता तय नहीं की जा सकती। इस दिशा में रामदास ने कोई नयी बात नहीं की, ज्ञानेश्वर-नामदेव-एकनाथ-तुकोबा आदि से होती हुई परम्परा को ही उन्होंने आगे बढ़ाया। किन्तु, कृष्णभक्ति के साथ पर श्रीराम भक्ति का अधिक्य उनके काव्य में दिखाई देते हैं। वास्तव में रामदास ने अपनी हिन्दी कविताओं किसी भी ईश्वर स्वरूप-अरूप में कोई भेद नहीं किया है। उन्होंने अराध्य के रूप में राम, कृष्ण, अल्लाह आदि का बराबर उल्लेख किया है और ईश्वर को मन में स्थित भी माना है, यह बात मराठी कविताओं में हिन्दी कविताओं की अपेक्षा कम दिखाई देती है।

उन्होंने अपने काव्य में भक्ति के क्षेत्र में तीर्थ-व्रत एवं धन-दौलत आदि की निस्सारता को भी स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है। यह बात रामदास अपने स्वानुभवों के आधार पर कह रहे थे। वे स्वयं ज्ञान के भंडार और तीर्थों के दर्शक थे। उन्होंने सम्पूर्ण भारतभूमि के तीर्थों की यात्राएँ की थीं। इस कविता में कही गई बातों को उनसे बेहतर कौन जान सकता था। इसी प्रकार उन्होंने तत्कालीन सभी प्रचलित मतों का उल्लेख करते हुए उसकी निस्सारता को उजागर किया है। “इस सन्दर्भ में इधर प्रकाशित प्रो.रा.तु.भगत ने ‘समर्थ रामदासांची हिन्दी पदावली’ शीर्षक पुस्तक लिखी है, जिसकी प्रो.यू.म.पठान ने जो प्रस्तावना लिखी है, वह पठनीय है। प्रो.पठान का कहना है -‘अद्वैतमत ही रामदास के सम्प्रदाय का आधार है। इस सन्दर्भ में पिंड-ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में उनके द्वारा ‘दासबोध’ में किया गया विवेचन ध्यान में रखना चाहिए। पिंड-ब्रह्माण्ड में उन्हें एक ही चैत्यन्य का प्रत्यय होता हुआ और उनकी आत्माराम की संकल्पना में भी यही चैत्यन्य प्रतिबिम्बित हुआ है, मूर्त रूप में आया है....।”

रामदास ने अपनी भक्ति, पद्धति अथवा अपने पंथ पर अहंकार के बोल बोले हैं, एक हिन्दी कविता में वे स्वयं को अज्ञानी और भक्ति पद्धति के क्षेत्र में अज्ञानी भी कहते हैं। उन्होंने इस कविता में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि “मैं ज्ञान और ध्यान दोनों नहीं जानता, मैंने दान-धर्म नहीं किया है, इसलिए मुझे मुक्ति पाने का क्या अधिकार है। मैं तो मुफ्त का खानेवाला हूँ।” किन्तु इतना होते हुए भी उन्हें अपने अराध्य पर अडिग विश्वास है। वे जानते हैं कि वे “दयालु” और “पतित-पावन” हैं। इसी अराध्य

पर विश्वास के कारण रामदास की भक्ति उन्हें मधुरा भक्ति की सीमा तक ले जाती है, जो मराठी कविताओं में कम ही देखने को मिलती है। “संत रामदास जैसे परम विरक्त भक्त ने भी महाराष्ट्र के अन्य सन्तों की तरह मधुरा भक्ति को अपनाया। ‘पीरत लागी रे माधो’ कहकर माधव से अपनी पुरानी प्रीति की घोषणा करते हुए विरहिणी मीराँ की तरह वे कहते हैं, ‘प्रियतम के लिए उन्होंने गृह-गृहिणी एवं धन-सम्पत्ति का त्याग कर दिया है, अतः दर्शन देकर मेरे मन की आशा पूरी करो।’” रामदास के बाद के मराठी भक्ति आन्दोलन में लिखी जानेवाली हिन्दी कविता में निरी भक्ति कविता और श्रृंगारिक कविता दो अलग-अलग धाराओं में विकसित होती दिखाई देती हैं। श्रृंगारिकता के प्रमाण रामदास के बाद विकसित हुई शाहिरी परम्परा में देखे जा सकते हैं और साथ ही भक्ति का भिन्न धारा के रूप में विकास केशव स्वामी के हिन्दी पदों में देखा जा सकता है। रामदास के यहाँ दोनों का संक्षिप्त रूप देखा जा सकता है और साथ ही अगले युग का संकेत भी।

प्रभाकर सदाशिव पंडित जी ने इस विशेषता को उनके अद्वैत दर्शन की परिणति मानते हुए लिखा है - “अद्वैत दर्शन की ही यह परिणति माननी चाहिए कि हिन्दुओं और मुसलमानों में अभेद भाव की उपासना को उन्होंने सहज रूप से प्रदर्शित किया” और साथ ही रामदास को अपने अराध्य सर्वत्र व्याप्त दिखाई देते हैं। रामदास का स्पष्ट मत है कि धर्म चाहे कितने भी चल पड़े हो, किन्तु सभी का सर्जनहारा एक ही है और वही इस सृष्टि का पालनकर्ता भी है।

‘दासबोध’ रामदास की सबसे सशक्त रचना मानी जाती है। दासबोध में उत्तमपुरुष निरूपण, मूर्खलक्षण, गुरुलक्षण, शिष्यलक्षण आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें रामदास के दृष्टिकोण एवं विचारधारा काव्य रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसी में उन्होंने सांसारिकता और वैराग्य में सन्तुलन साधने का प्रयास करते हुए भी सांसारिकता को दूसरा दर्जा दिया है। रामदास ने डफगाणी, भूपाळ्या, पद, सवाया आदी लोकगीतों का उद्धार करने का प्रयास करते हुए अपनी लेखनी चलायी। इस साहित्य में उनके अपने अनुभव मूल्य जोर देकर रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। अपने सम्पूर्ण साहित्य के आधार पर उन्होंने अपने समाज के भार को उठाकर एक विशिष्ट दिशा में ले जाने का प्रयास किया। उन्होंने एक विशिष्ट किस्म के समाज का स्वप्न देखा था।

रामदास अपने हिन्दी काव्य में अपने मराठी काव्य की अपेक्षा एक भिन्न रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। उन्होंने अपने हिन्दी कृतित्व में अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है और साथ ही भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों को अग्रेषित करने का सफल प्रयास किया है।

रूप विधान के स्तर पर रामदास का हिन्दी-मराठी काव्य

रामदास एक सजग रचनाकार हैं। उन्होंने मराठी ही नहीं, अपने हिन्दी काव्य में भी काव्य के प्रत्येक उपादान पर ध्यान देते हुए काव्य की मीनाकारी करने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी कविताओं का कथ्य इतना दमदार है कि तमाम प्रयासों के बावजूद वे एक वस्तुवादी रचनाकार ही बनकर रह जाते हैं, जो एक सकारात्मक प्रवृत्ति कही जा सकती है। विशेष बात यह है कि रामदास ने अपनी कविताओं में रूप को लेकर अधिक प्रयोग करने का प्रयास शायद ही कभी किया हो, जो उन्होंने सोचा-समझा सीधे-सीधे कहने का, उसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसमें उन्हें काफी सफलता मिली। उनके पास अपने शिष्यों, अपने समुदाय एवं समाज के लोगों को कहने के लिए बहुत कुछ है, इस क्रम में उन्होंने किस प्रकार कहा जाए, इसकी कई बार उन्होंने परवाह नहीं की है। सामान्यतः उनकी

लेखन शैली उस पर्वतश्रृंखला की तरह है, जिस पर छोटे-छोटे पत्थरों के कारण हरियाली ही नहीं उगती है।

मराठी कविताओं में रामदास ने अपने ठीक पूर्ववर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों से हटकर एक ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जो सरस एवं काव्योपयोगी थी। उन्होंने इस भाषा के प्रयोग में किसी भी प्रकार का निष्कासन नहीं किया। जो शब्द उन्हें अपने काव्य के लिए उपयोगी लगे, उन्होंने उसे अकुंठ भावे से स्वीकार कर, अपना काव्यकर्म किया। रामदास ने अपना हिन्दी काव्य हिन्दुस्तानी में लिखा गया है। आचार्य विनमोहन शर्मा ने रामदास की काव्यभाषा को तत्कालीन जनभाषा मानते हुए लिखा है, “उसकी भाषा तत्कालीन जन-भाषा प्रतीत होती है जो खड़ी बोली का दक्षिण में व्यवहृत बाजारू रूप है।” रामदास ने अपना हिन्दी काव्यकर्म अपने मठों में रहने वाले शिष्यों में दृष्टि में रखकर नहीं किया था। यह काव्यकर्म मराठी भाषा-भाषी प्रदेश के बाहर के पाठकों के लिए था। ऐसे में उनकी भाषा को देखकर अन्दाज़ा लगाना कठिन नहीं होगा कि यह पाठक मराठी भाषी पाठकों के अतिरिक्त रहे होंगे, क्योंकि उनकी हिन्दी काव्यभाषा में मराठी शब्दों की उपस्थिति अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों की अपेक्षा ही क्या, एक भी मराठी शब्द नहीं मिलता। यह अचरज का विषय नहीं है कि रामदास ने एक भी ठेठ मराठी शब्द का प्रयोग अपने हिन्दी काव्य में नहीं किया है।

रामदास की हिन्दी कविताओं की लय कविता की वस्तु के अनुरूप बदलती है। मधुरा भक्ति में वह कोमल हो जाती है, तो संदेश देते समय कभी-कभी वह सख्त हो जाती है। इसका रहस्य रामदास के शब्द चयन में है। रामदास जानते थे कि उन्हें अपने भावानुरूप शब्दों का चयन करना पड़ेगा इस कारण उन्होंने अपने समय में प्रचलित फारसी शब्दों से भी परहेज नहीं किया और साथ ही देशज शब्द तो उनके साथ परम्परा में मौजूद थे ही। इस पर आश्चर्य हो सकता है अपनी मातृभाषा के शब्दों कोई भी असर उनकी कविताओं पर दृष्टिगोचर नहीं होती है, किन्तु अपने समय-समाज में प्रचलित दक्खिनी के शब्दों का खुलकर प्रयोग उन्होंने किया है। रामदास की हिन्दी कविताएँ शब्द चयन में उनके अकुंठ भाव का परिचय देती हैं, वहीं उनका शास्त्रीय कसौटियों पर खरा उतरना उनके बहुज्ञता की ओर इंगित करता है। उनका शब्द चयन के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण ही उन्हें हिन्दुस्तानी लेखकों के इतिहास में आरंभिक प्रयोक्ताओं में लाकर खड़ा कर देता है।

रामदास क्या कह रहे हैं, इस पर अधिक ध्यान देनेवाले कवि थे, बरअक्स इसके कि कैसे कह रहे हैं। उनके द्वारा काव्यलक्षणों को सविस्तार बताना और फिर अपनी काव्य वस्तु पर उन्हें न्यौछावर कर देना, इसी बात की सूचना देता है कि उन्होंने अपनी प्रासादिक वाणी में किसी की भी परवाह नहीं की। महाकाव्य के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव प्रकट करते हुए भी उन्होंने ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अधिकांश काव्य मुक्तकों में रचकर अपने समय में मृतप्राय मूल्यों को बचाने का कार्य किया। उन्हें कविता के रूप से अधिक समाज बिगड़ते हुए रस-छन्द-अलंकारों की चिन्ता थी। इन्हीं चिन्ताओं को उन्होंने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है, जिसमें कहीं-कहीं उनका वैचारिक आग्रह आ गया है।

रामदास सामान्य जनता से अधिक घुलने-मिलने वाले सन्त-भक्त नहीं थे। वे अपने समय-समाज में अपने मठों और उसमें बसनेवाले शिष्यों के माध्यम से सम्मिलित होते थे। उनके मराठी काव्य में विषय की माँग के अनुसार परुषता और खड्ग की खनखनाहट अधिक है। इसके स्थान पर हिन्दी काव्य में कोमलता और संवेदनशीलता अधिक है। उन्होंने अपने सबसे रचनात्मक समय में उत्तर भारत

की विभिन्न यात्राएँ कर भाषा एवं समाज का अनुभव लिया था। ऐसे में उनका भावानुरूप भाषा का चुनाव उनके साहित्यिक संस्कार के अतिरिक्त सामाजिक जिम्मेवारी का प्रमाण है। जैसाकि उनके काव्य की वस्तु पर चर्चा करते समय उनके काव्य में आए मधुरा भक्ति, अराध्य की सर्वव्यापकता, सर्वसमानता आदि पर चर्चा की गई है। उनके हिन्दी काव्य में समझाने का स्वर अधिक देखने को मिलता है। मराठी काव्य की तरह वे अपने हिन्दी काव्य में उपदेश कम ही देते दिखाई देते हैं। ऐसे में इस काव्य की भाषा में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग विषयानुरूप कहा जाएगा।

रामदास के हिन्दी काव्य में लय का भी बहुत महत्व है। उन्होंने अर्थलय एवं शब्दलय पर बराबर ध्यान दिया है। उनके कुछ पद तो राग-रागिनियों में भी गाए जा सकते हैं और वैसे निर्देश भी पद के नीचे दिए गए हैं। इस बात के तो कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं कि रामदास को शास्त्रीय संगीत का ज्ञान था, किन्तु इन हिन्दी कविताओं को देखकर ऐसे लगता है कि उन्हें संगीत की आरंभिक जानकारी तो रही होगी, अथवा उनके किसी शिष्य ने इन पदों को शास्त्रीय लय-धुनों में ढालकर गाया होगा और तत्पश्चात् लिपिकारों ने उसी क्रम में राग-सुर-लय का निर्देश कर दिया होगा।

उन्होंने पद्य में भी गद्य ही लिखा है, इस कारण उनकी अधिकांश रचनाएँ पद्याभास मात्र बनकर रह जाती है। रामदास ने विभिन्न छन्दों का चुनाव अपने काव्य के लिए चुना, किन्तु उनके पास कहने के लिए ही कुछ ऐसी बातें थी कि छन्द आदि रूपगत वैशिष्ट्य पीछे छूट गये और उनका कथ्य ही प्रमुख हो गया। वस्तु के भार से रूप अपने आप दब गया, जो एक सकारात्मक बात भी कही जा सकती है। रामदास की अधिकांश रचनाएँ ‘कहन शैली’ या शिष्यों को समझाने के रूप में भी लिखी जान पड़ती हैं। कहने शैली और समझाने का आधिक्य एवं प्रासादिक शैली के कारण रामदास की कविताओं को ‘न्याय के लिए कठोर बोलनेवाली कविता’, ‘तीखा बोलनेवाली कविता’, ‘सटिक बोलनेवाली कविता’ ‘भेदक शैली की कविता’ आदि विशेषण भी दिए गए हैं। कहन शैली में होने के कारण वह सीधे पाठक-श्रोता से संवाद साधने का प्रयास करती हैं और सीधे उनके प्रश्नों के उत्तर और प्रतिप्रश्न भी उपस्थित करती हैं। रामदास ऐसी कई कविताएँ मराठी भाषा-भाषी क्षेत्र में कहावतों एवं मुहावरों के रूप में प्रचलित-प्रसिद्ध हो गई हैं।

8.11 बहेणाबाई की हिन्दी-मराठी कविताओं की तुलना

बहेणाबाई की सभी स्रोतों से प्राप्त कविताओं का संकलन सौ.शालिनी जावडेकर ने ‘संत बहेणाबाईचा गाथा’ प्रकाशित करवाया है, जिसमें बहेणाबाई की कुल 720 कविताओं का संकलन किया है जिनमें 24 हिन्दी कविताएँ भी सम्मिलित हैं। इस संकलन को सर्वाधिक प्रामाणिक संकलन माना जाता है। उक्त संकलन में बहेणाबाई की हिन्दी कविताओं को विशिष्ट शीर्षक के अन्तर्गत नहीं रखा गया है, अपितु मराठी कविताओं के शीर्षकों के अन्तर्गत आनेवाली कविताओं को उनकी विषय-वस्तु के अनुसार समाविष्ट किया गया है। अर्थात् उनकी मराठी कविताओं के अनुसार ही इन कविताओं का समावेश किया गया है। जहाँ इस प्रवृत्ति में हिन्दी-मराठी कविताओं में भेदरहित स्वीकार दिखाई देता है, वहीं हिन्दी कविताओं की अलग से पहचान नहीं करने की भी। उक्त संकलन के सम्पादक ने भूमिका में हिन्दी कविताओं में अलग से विचार करते हुए भी ऐसा क्यों किया, इसका कोई उत्तर उन्होंने प्रस्तुत संकलन में नहीं दिया है। उन्होंने मराठी कविताओं के ही प्रतिमानों से हिन्दी कविताओं को देखने का

प्रयास किया है, जो अधिकतर शास्त्रीय संस्कृत काव्यशास्त्रीय हैं। ऐसे में उनकी हिन्दी कविताओं को मराठी कविताओं के साथ पढ़ने की अपनी परम्परा बनती हुई सी दिखाई देती है, जिसमें हिन्दी कविताएँ मराठी कविताओं का भाग मानी जाती हैं। किन्तु यहाँ दोनों को एक मानते हुए भी दोनों में परस्पर तुलना द्वारा बहेणाबाई का मराठी की अपेक्षा सीमित काव्य-कर्म देखने का प्रयास किया जा रहा है।

बहेणाबाई अपने श्रीकृष्ण कथा पर लिखे गए मुक्तकों के लिए प्रसिद्ध हैं। लगभग 25 पदों में उन्होंने श्रीकृष्ण कथा की झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। हिन्दी में लिखित उनकी कृष्ण-जन्म-कथा से उनकी इस प्रसिद्धी में बढ़ोतरी होती है। वारकरी सम्प्रदाय में कृष्ण का बालरूप की अराधना का विषय रहा है और बहेणाबाई भी इस परम्परा का पालन करते हुए अपनी अधिकांश कविताओं में बालक कृष्ण की कथाओं का ही चित्रण किया है, किन्तु साथ ही उन्होंने गोपियों के संग इस बालक द्वारा किए गए क्रिडाओं का भी सुन्दर वर्णन अपनी कविताओं में किया है। इस में भक्ति एवं ज्ञान का समन्वय होने के कारण श्रृंगार एवं अश्लिलता का नाममात्र भी पूट नहीं आ पाया है। इसी क्रम में उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में भी कृष्णजन्म की कथाओं को सम्पूर्ण वातावरण के प्रभाव के साथ चित्रण किया है। उन्होंने हिन्दी कविताओं में गोपियों के प्रेमिकाओं का नहीं, अपितु भक्तश्रेष्ठ के रूप में ही स्वीकृत की गई हैं। कुंज में केलि करनेवाले श्रीकृष्ण का चित्रण प्रायः किसी भी कवि ने अपने काव्य में नहीं किया है। संभवतः इसी कारण मराठी भक्ति आन्दोलन में राधा उल्लेख नहीं के बराबर मिलता है।

बहेणाबाई की हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में लिखित कविताओं में राधा उल्लेख नाममात्र को मिलता है, जो न के बराबर है। हिन्दी कविताओं में तो राधा है ही नहीं, क्योंकि कवयित्री द्वारा कथा-भाग का वहाँ तक विस्तार ही नहीं होने दिया गया है। बहेणाबाई ने भी अपनी हिन्दी कविताओं के एक अंश में कृष्ण-जन्म से लेकर उनके गोकुल पहुँचाने तक की कथा अतिसंक्षेप में गायी है। इसका विस्तारित रूप उनकी मराठी कविताओं में देखा जा सकता है, जहाँ उन्होंने गोपियों आदि तक कथा का विस्तार किया है। किन्तु वहाँ भी उन्होंने मराठी कवियों की परम्परा को कायम रखते हुए मानलीला आदि का चित्रण नहीं के बराबर किया है। उनकी मराठी कवियों में आए गोपी वर्णन की एक और विशेषता है कि वह गोपियों को कृष्ण की दृष्टि से नहीं, अपितु गोपियों के अपने विचारों को सीधे शब्दबद्ध करती है, ठीक उसी प्रकार कृष्ण के भी अपने विचारों को अभिव्यक्त करती हैं और साथ ही कृष्ण के प्रति गोपियों के विचारों-भावनाओं को भी बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करती है। संभवतः स्त्री होने के कारण वे अधिक सफलता से ऐसा कर पायी हैं। हिन्दी कविताओं में उन्होंने कृष्ण कथा को एक सन्त-भक्त कवि के रूप में कथा को प्रस्तुत किया है।

अपने मराठी अभंगों में इन्होंने श्रीकृष्ण को परपुरुष के रूप में स्मरण किया है। इस बात का उन्होंने पूरा ध्यान रखा कि कहीं भी बालक कृष्ण को सामान्य बालक के रूप में चित्रित न किया जाए। इसी कारण उन्होंने कई बार स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि - सुत मत कहो नन्द, ब्रह्म सो ये ही गोविंद। इसे उन्होंने शास्त्रों से भी सिद्ध किया है - शास्त्र की ऐसी बात। उसी प्रकार माता के हृदय-भावों का चित्रण भी उन्होंने नहीं के बराबर किया है। अपने बालकृष्ण को अवतार रूप में चित्रित करने के साथ ही बहेणाबाई ने तर्कपूर्ण शैली में अपनी मूल्य दृष्टि के अनुसार यशोदा और नन्द के यहाँ उनके जन्म लेने के कारणों का भी बखान किया है।

प्रचलित कथा के ही अनुसार बहेणाबाई की कविता में भी कथा को भाग को अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया है। सर्वज्ञात एवं अधिक प्रचलित होने के कारण उन्होंने कथा के प्रमुख प्रसंगों को एवं भावों को ही प्रस्तुत किया है। छोटे-छोटे प्रसंगों में भी अतिशय भावात्मकता को संजोने का कार्य उन्होंने बखूबी किया है। बहेणाबाई की इन कृष्ण कथात्मक कविताओं का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है-भक्ति, धर्म एवं नीति को इस कथा के माध्यम से शिक्षा देकर उन्हें और अधिक दृढ़ करना। इसी क्रम में उनसे जाने अनजाने-भावों का बड़ा ही संवेदनशील चित्रण हुआ है। कथा के बीच-बीच में आनेवाले इन पदों के माध्यम से श्रोताओं-पाठकों को नीति एवं धर्म का शिक्षण देकर, भक्ति-नीति को बनाए रखने का प्रयास कवयित्री ने किया है।

बहेणाबाई की हिन्दी में लिखित कृष्ण कथेत्तर कविताओं का स्वर नितान्त भिन्न है। इन कविताओं की विषय-वस्तु, विचारधारा, कविता कहने का ढंग, कविताओं की भाषा, इतना ही नहीं भक्ति का आलंबन भी कई जगह पहले प्रकार की कविताओं से भिन्न तो क्या विपरित भी है। ठीक उसी प्रकार का विभाजन इन कविताओं में देखने को मिलता है, जैसा उनकी मराठी कविताओं में विषय-वस्तु के अन्तर के कारण आ गया है। इन कविताओं में उन पर परम्परा का दबाव तो कम होता दिखाई देता है, किन्तु सामाजिकता का दबाव अत्यन्त अधिक रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार की उनकी कविताओं पर तुकोबा के प्रभाव को कई आलोचकों ने विश्लेषित किया है, जिस पर उनकी मराठी कविताओं पर विचार करते समय हो चुका है।

“सद्गुरु तुकोबा की सामाजिक विचारधारा से बहेणाबाई पूर्णतः समरस हो गई थी। इसके उदाहरण उनकी अभंगवाणी में दिखाई देते हैं -

‘महारासी शिवे। कोपे, ब्राह्मण तो नव्हे ॥’

‘ब्राह्मण तो एक चोखामेळा महार’

‘भेदाभेद भ्रम अमंगळ।’

बहेणाबाई की हिन्दी कविताओं में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ वे तुकोबा एवं रामदास इन दोनों की सन्त-भक्ति कवियों की हिन्दी-मराठी कविताओं से भाव, विचार एवं रूप साम्य है। जातिव्यवस्था की आलोचना, आदर्श भक्त के गुण, संत महिमा या उनके गुण, कर्मयोग, पातिव्रत्य, पंढरी महात्म्य, दार्शनिक विचार, मायाब्रह्म निरूपण, ज्ञानयोग, वैराग्य, सद्गुरुकृपा, साधना एवं सिद्धावस्था, देवाशी भांडण आदि वारकरी एवं सन्त-भक्त कवियों के पारम्परिक विषयों पर लेखन बहेणाबाई ने अपनी मराठी कविताओं में किया है। कमोबेश यह भाव यदा-कदा उनकी हिन्दी कविताओं में भी अभिव्यक्त हुए हैं।

बहेणाबाई के अनेक ऐसे मराठी अभंग हैं जिनमें योग विधि-विद्या का वर्णन किया गया है। उन्होंने यह माना है कि यह योगमार्ग सद्गुरु कृपा के अभाव में अत्यन्त दुर्गम हो जाता है, इसलिए सद्गुरु की कृपा को प्राप्त करना चाहिए। उन्होंने न केवल इसका पुरस्कार किया है, अपितु उस मार्ग पर चलने का मार्गदर्शन किया है। उनका हिन्दी में भी एक ऐसा पद है, जिसमें योग-विद्या का बखान किया गया है। यहाँ वे ‘उल्टे पंथ’ और जाति-पाँति से परे जाने की बात करती हैं। सहज साधना का उल्लेख करती हैं। निर्गुण पर बलि जाना चाहती हैं। ‘संतन की दासी’ बन जाती हैं। रहस्यात्मकता की तरफ भी मुड़ती हैं। एक अन्य कविता में नाथों की तरह गुरु द्वारा ‘ग्यान प्याला’ पिलाये जाने की बात करती

हैं। इसके साथ ही उन्होंने अपनी हिन्दी-मराठी कविताओं में आराधना के नाम पर बाह्याडंबरों की जमकर आलोचना की है। उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में 'दिल की सुनने' और 'आप पछानने' को उन्होंने महत्व दिया है। इसके लिए उन्होंने अन्य सभी बाह्याडंबरों 'निमाज़' (नमाज़) पूजादि को व्यर्थ माना है। मुंडियों की उन्होंने जमकर खबर ली है।

बहेणाबाई ने अपनी मराठी कविताओं में स्पष्ट किया है कि सदाचार, दया, प्रेम, समभाव, सन्तों के आगे नतमस्तक इन्हीं गुणों से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि आज-कल इन गुणों से युक्त भक्तों से अधिक अभक्तों की संख्या अधिक हो गई है। सन्तों की निंदा करनेवालों को भी बहेणाबाई ने तुकोबा की कडवी वाणी में बात की है। उन्होंने हिन्दी-मराठी कविताओं में गुरु की अनिवार्यता से भी अधिक शिष्य को मन की ईच्छाओं को मारकर स्वयंप्रेरणा से, स्वयं को पहचानकर नाम भक्ति के माध्यम से शान्ति को प्राप्त करने की सलाह दी है। नाम स्मरण के लिए भी बहेणाबाई किसी भी नाम में भेद इसलिए नहीं करती कि उनके यहाँ यह नाम मात्र प्रतीक के रूप में अपनाए गए हैं, इन सभी का अर्थ एक ही है। उन्होंने स्वयं अपनी कविताओं में अराध्य के कई नामों का प्रयोग किया है। बहेणाबाई के द्वारा प्रयुक्त निर्गुण अराध्य के नामों के आधार पर उन्हें धार्मिक-आध्यात्मिक समन्वयवादी कहा जा सकता है। इनके अर्थ में कहीं भी भेद नहीं दिखाई देता है। इसके विपरित वे उसका सच्चा रूप तो एक ही मानती हैं। किन्तु साथ ही उन्होंने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि सम्पूर्ण काव्य में अराध्य लोकरक्षक के रूप में ही चित्रित किए जाए, जिसमें वे पूर्णतः सफल हुई हैं और जहाँ इसके अतिरिक्त बात होते दिखाई देती है, वहाँ वे इसका स्पष्ट उल्लेख करती है, 'पूत मत कहो देवकी, यह तो पूर्ण अवतार हैं।'।

बहेणाबाई की हिन्दी कविताओं की एक और प्रवृत्ति यह भी है कि उन्होंने अधिकतर परम्परा प्राप्त धारणाओं को अभिव्यक्त किया है। इतना ही नहीं उन्होंने मध्यकाल के सन्दर्भ में हमारी धारणा को अधिक पुष्ट करते हुए 'नर तहाँ नारी' की भी बात कही है। इसे उनके निजी जीवन में घटी वैवाहिक जीवन की त्रासदियों से भी जोड़कर देखा जा सकता है, जहाँ उन्हें कई पारिवारिक कठनाईयों के चलते अपने पिता-पति के साथ बंजारों-सा जीवन व्यतीत करने पर विवश होना पड़ा। जहाँ-जहाँ ये पुरुष ले जाते उन्हें जाना पड़ा। संभवतः इसी कारण उन्हें 'बिन पुरुष नहीं छाया' की अनुभूति हुई होगी। इन भावनाओं को अपनी मराठी कविताओं में अभिव्यक्त करते हुए भी उन्होंने अपने पर हो रहे पुरुषवादी अन्यायों का भी चित्रण किया है। वारकरी सम्प्रदाय की अन्य सन्त-भक्त रचनाकारों से बहेणाबाई की भिन्नता यह भी है कि उन्होंने बावन मराठी अभंगों में आत्मकथा लिखी। उन्होंने पति के परम्पराओं, रूढ़ियों एवं अहंकार के चंगुल में फँसकर किए अत्याचारों का बड़ा ही खुलकर वर्णन किया है। सखी संवाद शैली में लिखित अपने आत्मकथात्मक अभंगों का आरंभ उन्होंने बचपन से किया है, जिसमें विवाह, तदोपरान्त खानाबदोशों सा जीवन एवं पति द्वारा किये गए अत्याचारों का वर्णन उन्होंने सविस्तार किया है। किन्तु हिन्दी में लिखते समय उन्होंने एक तो अपने सम्बन्ध में बहुत ही कम लिखा और दूसरे उन्होंने पति एवं परिवार एवं उनके कष्टों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। साथ में उन्होंने अपनी अधिकांश और विशेषतः हिन्दी काव्य में इस बात का बराबर ध्यान रखा कि काव्य में लोकमर्यादा को लाँघनेवाला कोई भी प्रसंग नहीं है और कवयित्री ने उसे न आने देने का भरपूर प्रयास

भी किया है। वस्तुतः उन्होंने इस कथा में पूर्वनिर्धारित मर्यादाओं की रक्षा की है। उनके यहाँ गोपियाँ प्रेम की नहीं, भक्ति की आलंबन हैं।

बहेणाबाई ने अपने अभंगों में अपना आध्यात्मिक प्रवास एवं अनुभवों को अभिव्यक्त तो किया ही किन्तु साथ में उनके एक महत्त्वपूर्ण काम के रूप में 'वज्रसूची' का अनुवाद का उल्लेख आवश्यक किया जाता है। जिसका प्रभाव उनके हिन्दी मराठी उभय भाषाओं में लिखित काव्य पर देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन स्त्रियों में प्रचलित झीम्मा, फुगड़ी, पिंगा आदि ग्रामीण-लोक रूपों में भी कविताएँ लिखी, जो संखी संवाद शैली में हैं। इन कविताओं में उन्होंने एक प्रकार से सीधे अपनी सखियों (स्त्रियों) से संवाद स्थापित करने का प्रयास किया है। यह संवाद अधिकांश आध्यात्म एवं परम्पराओं से सम्बन्ध रखता है। तुकोबा के काव्य में जो प्रकृति के चित्र आए हैं, वे उनकी इस शिष्या के न तो हिन्दी काव्य में हैं और न तो मराठी काव्य में, जबकि उन्हें काफी लम्बा प्रवास करना पड़ा था। मराठी में लिखित गाय-बछड़े के प्रति लिखित कविताओं में ममता इतनी भरी है कि वह कथा मात्र सुनने से हृदय द्रवित हो जाता है, किन्तु हिन्दी में लिखित कविताओं में इस प्रसंग की ओर इंगित भी नहीं किया गया है। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि बहेणाबाई द्वारा लिखित हिन्दी कविताएँ इस प्रसंग के बहुत बाद में लिखी गई होंगी। 'पुंडलिक महात्म्य' भी उनकी लेखनी से निकाला हुआ अपने प्रकार का एकमात्र काव्य माना जा सकता है। हिन्दी में लिखित कविताओं में यह किसी कथा के रूप में न आने पर भी पूर्णतः अनुपस्थित नहीं है। वैसे भी श्रीकृष्ण के बालरूप एवं श्रीविठ्ठल में वारकरियों के यहाँ कोई मूलभूत भेद नहीं माना जाता है।

उन्होंने अपनी कविताओं में जहाँ एक ओर सामाजिक बुराइयों का सामना किया, वहीं दूसरी ओर कई रूढ़ियों को एक मध्यकालीन स्त्रियों की भाँति शब्दबद्ध भी किया। सर्वप्रथम अपनी पारिवारिक स्थिति से लड़ते हुए वह अपनी निजी आस्था पर कायम रही। तत्पश्चात् पति के साथ हुए टकरावों में उन्होंने अपनी स्थिति को कायम रखा। तुकोबा को गुरु बनाए जाने के मुद्दे पर उन्होंने अपने पति से बैर मोल लिया ही, किन्तु समाज की भी परवाह नहीं की। अपने गुरु को उन्होंने प्रभाव के रूप में ही ग्रहण किया और अपनी विशिष्ट कथन एवं कहन शैली विकसित की। कई बार तुकोबा कड़े शब्दों में समझाते हैं किन्तु बहेणाबाई की मृदु वाणी अत्यन्त मधुरता से समझाती है। इस क्रम में बहेणाबाई के सम्पूर्ण हिन्दी-मराठी काव्य-कर्म को देखा जा सकता है।

रूप विधान के स्तर पर तुलना

बहेणाबाई ने अपने मराठी काव्य में अभंगों का अधिकतर प्रयोग भले ही किया हो, किन्तु उन्होंने भारुड, झिम्मा, फुगड़ी, वासुदेव, पाळणा, पिंगा, खेलिया, दादला, सोंग, आरती, मुंढा, हमामा, प्रार्थना, श्रोता गाणे आदि लोक एवं ग्रामीण गीत प्रकारों में भी अपनी काव्य रचना की है। उन्होंने अपने काव्य में कथाओं को भी शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है, जहाँ वे एक कथावाचक की शैली में प्रस्तुत होती है। इसी के साथ उन्होंने स्त्रियों को बातचीत की शैली में भी समझाने का प्रयास किया है। तो कई स्थानों पर उन्होंने उपदेश देने के साथ तुकोबा की भाँति डाँट-फटकार भी सुनाई है। हिन्दी कविताओं में जहाँ कृष्ण कथा का संक्षिप्त रूप और दूसरे जहाँ वे अपनी बातों, अपने विचारों को बिना किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत करती हैं। इन दोनों काव्य-प्रकारों के अनुसार उनकी कविताओं के रूप में पक्ष में भी स्वाभाविक

अन्तर आ जाता है। कृष्ण कथा का वर्णन करने के लिए कुल 11 पदों में कही गयी इस कृष्ण कथा में चार ऐसे पद हैं, जो इस कथा गायन के हेतु रचे गए हैं।

पहले प्रकार की कृष्ण कथावाली कविताओं में कोमलकान्त पदावली के समीप वाली शब्दावली का प्रयोग देखने को मिलता है। यह दिखाया जा चुका है कि बहेणाबाई ने मूल कथा में कोई नयी उद्भावना नहीं की है और उन्होंने पूर्ण कथा अतिसंक्षेप में आयी है। इस क्रम में उन्होंने कथा में अत्यन्त सूक्ष्म भावों का चित्रण भी किया है। कृष्ण जन्म के उपलक्ष्य पर ग्राम में आयोजित हो रहे महोत्सवों के माध्यम से ग्रामवासियों के आनन्दोल्लास की ओर भी इंगित किया है। बहेणाबाई ने तर्कपूर्ण शैली में अपनी मूल्य दृष्टि के अनुसार यशोदा और नन्द के यहाँ उनके जन्म लेने के कारणों का भी बखान किया है।

मराठी कविताओं की तरह ही बहेणाबाई की दूसरी प्रकार की कविताओं का रूप-विधान उनकी कृष्ण-जन्म-कथा वाली कविताओं से नितान्त भिन्न है। इन कविताओं की विषय-वस्तु, विचारधारा, कविता कहने का ढंग, कविताओं की भाषा, इतना ही नहीं भक्ति का आलंबन भी कई जगह पहले प्रकार की कविताओं से भिन्न ही नहीं विपरित भी है। इन दूसरे प्रकार की कविताओं में बहेणाबाई तुकोबा की शिष्या के रूप में खूब सुहाती है। भाववाद मात्र भावनाओं की छाया में जीवित रह सकता है, तर्क के ताप को वह सह नहीं सकता। यहाँ बहेणाबाई बड़े तार्किक ढंग से बाह्याडंबरों के मार्ग पर चलनेवालों को खरी-खोटी सुना रही है, किन्तु साथ ही उन्हें अपने दिल की सुनने को भी कह रही है। जिस कारण भाषा में एक प्रकार की गति है, जिसे आक्रोश भी कहा जा सकता है।

इन विभिन्न शैलियों के प्रयोगानुसार जितना भाषा में अन्तर आना चाहिए था, उतना भाषा का अन्तर उनकी हिन्दी-मराठी कविताओं में देखने को नहीं मिलता है। उनकी मराठी भाषा प्रायः संस्कृत की ओर झुकी हुई है, जो लोकभाषा से भी दूर होने के संकेत देती है। उस प्रकार की स्थिति उनकी हिन्दी भाषा में नहीं है। उनकी हिन्दी भाषा कुछ अंशों में दक्खिनी की ओर मुड़ी हुई है। जो बात उनके काव्य की मराठी भाषा के सन्दर्भ में कही जा सकती है, ठीक वही बात उनकी हिन्दी कविताओं के सन्दर्भ में भी सही है। अर्थात् बहेणाबाई की भाषा तुकोबा जितनी ग्राम्यता लिए हुए नहीं है, किन्तु वह रामदास जितनी सधी हुई एवं नागरता लिए हुए भी नहीं है। यह तीनों रचनाकार समकालीन ही हैं किन्तु इनकी भाषा में यह अन्तर लक्षणीय है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो उनकी भाषा पर चिन्तन करते समय उनके जीवन में किए गए प्रवासों को ध्यान में रखना अनिवार्य है। उसी प्रकार इस दौरान जहाँ-जहाँ उनके प्रवास के पड़ाव आए या उन्हें जिन-जिन हस्तियों-व्यक्तियों के यहाँ रहना पड़ा, उनमें अधिकांश संस्कृतनिष्ठ भाषा का व्यवहार करनेवाले लोग ही अधिक थे, इसलिए उनकी मराठी में परिनिष्ठितता अधिक देखने को मिलती है।

इसके अतिरिक्त बहेणाबाई की कुछ कविताओं में उनके नाथ पंथ पद्धतियों एवं उसकी शब्दावली से प्रभावित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। उनकी एक हिन्दी कविता तो पूर्णतः किसी नाथ पंथी की कविता जान पड़ती है। इस प्रकार बहेणाबाई की कविताएँ उनके विषय-वस्तु को पूर्णत्व प्रदान करने एवं उनकी सहायता के रूप में आती है। ऐसा किसी भी कविता को देखकर नहीं लगता है कि उन्होंने कहीं भी रूप-पक्ष पर विशेष ध्यान देकर अपनी कविताओं में नक्काशी करने का प्रयास किया हो। जो

रूपगत विशेषताएँ उनकी कविताओं में आयी हैं, वह अनायास एवं प्राकृतिक स्वरूप में आयी हैं। संभवतः यही कारण हैं कि उनकी कविताएँ स्वाभाविकता लिए हुए हैं।

सारांशतः कहा जा सकता है मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी रचनाकर्म वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर प्रायः मराठी रचनाकर्म के साथ चलता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी हिन्दी कविताएँ मराठी कविताओं का पूर्णतः अनुगमन करती हैं। ऐसी भी कई रचनाएँ हैं, जो मराठी कविताओं के विपरित-सी जान पड़ती हैं। उनकी हिन्दी कविताएँ अपने आप में भक्ति काल के पूर्णतः मातृभाषा का आन्दोलन होने के मिथ को तोड़ती हैं। सम्पूर्ण मराठी भक्तिकाल के दौरान लिखित इन कविताओं की भाषा एवं अन्य रूप-विधानों पर समयानुसार अपने आप के प्रतिमानों को तोड़ा, किन्तु मराठी में लिखित कविताओं में रूप के स्तर पर अधिक प्रयोग नहीं दिखाई देते हैं। महदंबा की कविता से लेकर रामदास-बहेणाबाई की कविताओं तक इसमें लोकगीत, अभंग, गवळण आदि दिखाई देते हैं, किन्तु मराठी में जो नहीं लिखा गया वह दोहा भी यहाँ दिखाई देता है। भाषा के स्तर मराठी के अतिरिक्त इन कविताओं पर अपभ्रंश, ब्रज, गुजराती, दक्खिनी का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है, किन्तु मराठी में नामदेव के बाद की मराठी में स्थिरता देखने मिलती है। जिस प्रकार नामदेव की कविताओं में विविधता मिलती है, उसी प्रकार एकनाथ, बहेणाबाई की कविताओं में भी देखने मिलती हैं। रामदास की हिन्दी-मराठी कविताओं के लहजे में काफी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य-कर्म कई मायनों में मराठी रचनात्मकता से भिन्न होते हुए भी एक है।

उपसंहार

सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में मध्यकाल में घटित भक्ति आन्दोलन ने एक सांस्कृतिक जनान्दोलन के रूप में अपना रूप ग्रहण किया। उसका दक्षिण से उत्तर, लोक-सम्पर्क से लोक एवं लोक से शास्त्र बनने की प्रक्रिया काफी संघर्षपूर्ण रही। इस आन्दोलन का प्रभाव तत्कालीन सभी कलारूपों पर समान रूप से देखा जा सकता है। जहाँ समाज में कई मानवतावादी मूल्यों की स्थापना इसका साध्य रहा वहीं साधन के रूप में साहित्य में भी इसने कई असाध्य कार्य कर दिखाए। महाराष्ट्र में भी कुछ इन्हीं भावभूमियों की स्थापना भक्ति आन्दोलन ने की जिसका प्रभाव इस प्रदेश के समाज पर वर्तमान समय में भी देखा जा सकता है।

इस प्रकार लोक-रूपों की रचनात्मक परम्परा पृष्ठभूमि में जाकर रूपवादी रुझान का आधिक्य मंच पर आसीन हो गया। किन्तु ध्यातव्य है कि मात्र आधिक्य ही हुआ, लोक-रचना रूपों एवं समाजोन्मुखता की जो प्रवृत्ति भक्ति साहित्य ने आरंभ की थी वह पूर्णतः समाप्त नहीं हुई, वह आगे के समय में भी वारकरियों के माध्यम से जारी रही। अभंग रचना रूप आधुनिक मराठी साहित्य में भी विभिन्न प्रयोजन के लिए रचना जाता रहा। महात्मा फुले, नारायण वामन टिळक, बाळ सीताराम मर्डेकर, अरुण कोलाटकर आदि कई आधुनिक रचनाकारों ने अभंगों की रचना कर इसके संवेदना में बढ़ोतरी की।

सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में घटित इस भक्ति आन्दोलन और तदनुसार रचित साहित्य ने समाज पर अभूतपूर्व प्रभाव कायम किया। उसने सामाजिक-साहित्यिक मूल्यों को आन्दोलित कर नए प्रतिमान स्थापित किए। समाज के एक बड़े तबके ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इस आन्दोलन को बनाया। अपनी सीमाओं से परे जाकर अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त भी रचनात्मकता कर रचनाकारों ने अपनी मानवतावादी दृष्टि का परिचय दिया। मराठी सन्तों ने हिन्दी में भी रचनाएँ कर इसी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया।

मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी पाठ एक पाठ के तौर पर अपनी ऐतिहासिक स्थितियों में किन आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है, वर्तमान में इसे जानने का कोई विश्वसनीय साधन नहीं होता है। इस सन्दर्भ में पाठ की समकालीन विचारधारा एवं भावधार से व्याख्याएँ काफी नहीं होती हैं। हमने पाठ परम्परा से यह जानने का प्रयास किया है कि यह पाठ किस परम्परा स्वीकृत हुआ और उनमें

उसके चलते कौन-कौन-से बदलाव देखने मिलते हैं। हमने केवल उन पाठों का विकासक्रम एवं उनमें समय-समयानुसार हुए बदलावों को जानने का प्रयास किया है। हमारे सामने जो आज मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं का पाठ है, वह कई परम्पराओं से चलकर पहुँचा है। उन परम्पराओं का उल्लेख करना एवं उनका इस पाठ निर्माण में योगदान एवं पाठान्तर में हस्तक्षेप का विश्लेषण करने का प्रयास ही यहाँ 'पाठ-परम्परा' है। जिससे स्पष्ट है कि विभिन्न परम्पराओं के पाठों में काफी अन्तर देखने को मिलता है और प्राचीनतम पाठों में तत्कालीन भाषायी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। नामदेव की कविताओं का 'आदिग्रंथ' में स्वीकृत पाठ एवं वारकरी सम्प्रदाय में प्रचलित पाठ उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है।

परवर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ मराठी क्षेत्र में भक्तिकाल का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए कई दिशाओं में आगे बढ़ती दिखाई देती हैं। उनमें से कहीं पर श्रृंगारिकता का परदा पड़त हुआ दिखाई देता है तो कई स्थानों पर वह मात्र कविता के लिए कविता रह जाती है। भक्तिकालीन हिन्दी कविताओं में आया रूढ़ि विरोधी स्वर एवं उसका सामाजिक सन्दर्भ, सामान्य जन की चिन्ता, लोक को उपदेश कर उनमें मानवीय मूल्यों का प्रसार करने की चाह धीरे-धीरे कम होती देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक शाखा इस समय में 'शाहीरी कविता' की और दूसरी दरबारी कविता की भी चल पड़ी थी। अर्थात् मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा मराठी की ही तरह हिन्दी में किया गया लेखन अब कई दिशाओं में निकल पड़ा और उसमें निहित सामाजिकता जाती रही।

मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ उनकी सम्पूर्ण रचनात्मकता नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी मातृभाषा मराठी में रचनाएँ लिखी हैं। भले ही उनकी हिन्दी रचनाएँ मराठी कविताओं के बरअक्स बहुत कम हैं। ऐसे में आवश्यक है कि उनके उभय भाषा के काव्य की तुलना कर यह देखा जाए कि भाषा में अन्तर आने के कारण उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त भावधारा, विचारधारा एवं काव्य-रूप में क्या अन्तर आ जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि इन सन्त-भक्त कवियों द्वारा हिन्दी और मराठी दोनों में काव्य रचना हुई हो। हमारे अध्ययन में ऐसे कवियों महदंबा सर्वप्रथम आती हैं, जिन्होंने अपना मराठी काव्य धवळों के रूप में लिखते हुए उसमें अधिकांश कृष्ण-विवाह-कथा गायी है। उनकी एकमात्र हिन्दी रचना भी धवळा काव्य-रूप मानी जा सकती है। उनकी इस हिन्दी कविता का विषय उनकी मराठी कविताओं से नितान्त भिन्न और पंथीय है। इसमें उन्होंने अपनी मराठी कविताओं से हटकर गुरु को अपने को संबोधित किया है, जो उनकी मराठी कविताओं में देखने नहीं मिलता है।

महदंबा की ही तरह महानुभाव पंथ के रचनाकार दामोदर पण्डित ने अपनी हिन्दी रचनाओं में अपने पंथीय दृष्टिकोण एवं विचारधारा की अभिव्यक्ति की है, किन्तु कई स्थानों पर वे नाथ पंथ से भी जुड़े देखे जा सकते हैं। वे अपने पंथ के आदरणीय ग्रंथकार हैं, जिनका मराठी ग्रंथ 'वद्धाहरण' महानुभाव पंथ के प्रमुख सात ग्रंथों में पूजनीय स्थान पर विराजमान है। जिस प्रकार एक प्रतिभावान कवि प्रणीत काव्य की सारी विशेषताएँ दामोदर की मराठी रचनाओं में हैं, उनकी हिन्दी कविताओं में प्रायः वही सब विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। उनकी मराठी कविताएँ संवाद करने की मुद्रा धारण किए हुए तो हिन्दी कविताएँ विवाद-विवाद करने की बात करती है। उनकी हिन्दी कविताओं में एक मिशन के तहत सैद्धान्तिक पाखण्ड-खण्डन को केन्द्र में रखा गया है, जबकि मराठी में सम्प्रदाय के मूल्यों को अधिक अभिव्यक्ति दी गई है। वैसे उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में अपने सम्प्रदाय के सकारात्मक पक्षों को कई बार अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु ऐसे प्रसंग कम और संक्षिप्त हैं।

दामोदर पण्डित की मराठी कविताओं की तरह उनके हिन्दी पद भी राग-रागिनियों में लिखे गए हैं। महानुभाव पंथ का आरंभ से ही लोकभाषा की ओर रुझान सकारात्मक रहा है और इसके संकेत हमें महदंबा एवं दामोदर पण्डित की कविताओं में मिलते हैं। एक मिशन के तहत सैद्धान्तिक पाखण्ड-खण्डन को केन्द्र में रखते हुए भी दामोदर की कविताएँ किसी से संवाद करने की मुद्रा धारण किए हुए हैं। इस संवाद की प्रवृत्ति का विकास आगे एकनाथ एवं तुकोबा की कविताओं में देखा जा सकता है। जहाँ एकनाथ पात्रों के माध्यम से प्रश्नोत्तर शैली में संवाद स्थापित करने का प्रयास करते हैं तो तुकोबा अपने पाठक-श्रोताओं से सीधे संवाद स्थापित करते हैं। इस सन्दर्भ में बाद के समय में नामदेव द्वारा कीर्तन माध्यम का चुनाव भी लक्षणीय है, जहाँ दामोदर का एकान्तिक संगीत प्रेम एवं पाठकों से संवाद व्यापक रूप ग्रहण करते हुए श्रोता से संवाद के अवतार में उपस्थित होता है। एकनाथ इससे भी आगे बढ़ते हुए लोक माध्यमों को अपनी बात श्रोता तक पहुँचाने का माध्यम बनाते हैं। मध्यकाल में अक्षर ज्ञान के अभाव को समझकर इन सन्त-भक्त कवियों ने अपनी बात सामान्य जन तक पहुँचाने के लिए लोक कलाओं एवं उसकी संगीतात्मकता का सकारात्मक उपयोग किया है।

ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई की एक-एक कविता प्राप्त होती है, जिनमें उन्होंने अपने नाथ सम्प्रदाय के सम्बन्धों स्पष्ट करते हुए, लगभग उसी विचारधारा-भावधारा की अभिव्यक्ति की है, जो उनकी मराठी कविताओं में कई स्थानों पर देखने को मिलती है। त्रिलोचन एवं भानुदास ने भी अपनी कविताओं में भक्ति की अभिव्यक्ति की है। इन दोनों प्रवृत्तियों का विकास नामदेव की हिन्दी-मराठी कविताओं में देखने को मिलती है, जहाँ भक्ति अपने पूर्ण सामाजिक सन्दर्भ के साथ उपस्थित होता है। नामदेव ने

उत्तर और दक्षिण भारतीय परम्पराओं के बीच समन्वय साधने का प्रयास दोनों को ग्रहण कर, काव्य में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। उनके अनुभव जगत् को उनके हिन्दी-मराठी काव्य में देखा जा सकता है। उनकी मराठी कविताओं को जिस प्रकार वारकरी सम्प्रदाय में ही नहीं, सम्पूर्ण महाराष्ट्र में लोकप्रियता मिली, उसी प्रकार हिन्दी कविताओं को उत्तर भारतीय जनता में व्यापक स्वीकृति मिली। उनकी कविता की महत्वपूर्ण भूमिका यह थी कि उसमें भक्ति को सहज सामान्य भूमि पर लाकर प्रस्तुत करने का सक्षम प्रयास किया गया।

नामदेव ने अधिक-से-अधिक लोकतांत्रिक मूल्यों को भक्ति आन्दोलन में प्रस्थापित करने का प्रयास अपनी लोकवादी दृष्टि से किया। उन्होंने नामा भक्ति के माध्यम से भक्ति को ऐसी सहजता प्रदान की, जिस कारण भक्ति पद्धतियों पर युगों-युगों से व्याप्त विशेष अधिकारों को खत्म करने में विशेष सहायता मिली। जिस प्रकार नामदेव की हिन्दी कविताओं के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं महीप सिंह ने सगुण से निर्गुण की ओर जानेवाले कवि के रूप में छवि बना दी, कुछ उसी प्रकार से नामदेव की मराठी कविताओं को देखने का प्रयास भी मराठी आलोचकों ने किया है। उनके जीवन से जुड़ी चमत्कारिक घटनाओं का चित्रण उनके हिन्दी-मराठी दोनों काव्य में देखा जा सकता है।

नामदेव ने मराठी कविताओं में कृष्ण बाललीला, विठ्ठल लीला आदि कथाओं के साथ सन्त-भक्तों के जीवन के कई प्रसंगों का कई बार सविस्तार वर्णन किया है, किन्तु हिन्दी में वे कथा काव्य की अपेक्षा कथन काव्य में अधिक रुचि लेते दिखाई देते हैं, जहाँ सीधे लोगों से संवाद स्थापित करने का भाव है। किन्तु यही भाव गोंदा की कविता में नहीं दिखाई देता है। गोंदा के यहाँ केवल चमत्कार के वर्णन को केन्द्रीयता प्राप्त हुई है। नामदेव कई मराठी कविताएँ भी पाठक-श्रोताओं से सीधे संवाद स्थापित करने के लहजे में हैं, वहाँ कथाकाव्य भी है, जो प्रकार हिन्दी काव्य में आकर न के बराबर रह जाता या फिर उसका विस्तारित रूप नहीं है। नामदेव की हिन्दी कविताओं में कुछ पौराणिक पात्रों का उल्लेख मात्र इस उद्देश्य से हुआ है कि वे भक्ति के सहारे तर गए थे। ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं सर्वग्राह्यता उनकी हिन्दी एवं मराठी कविताओं में लक्षणीय है।

नामदेव ने अपने लगभग सम्पूर्ण जीवन में एक प्रकार की भक्ति को कभी स्थान नहीं दिया। ईश्वर के कई नाम और रूप हैं। वह किसी विशिष्ट एक ही ईश्वर के होने के कारण किसी विशिष्ट नाम का उच्चारण किया जाए, इसका आग्रह नामदेव ने कभी नहीं किया। विठ्ठल, राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, केशव, माधव इत्यादि विष्णु के ही क्या हरिहर में भेद न होने के कारण हरि की ही तरह हर का भी नाम लिया जाए तो कोई बात नहीं। 'ब्रह्मादि सकळ भजनीं तत्पर। तेव्हां हरिहर नाचतसे। कृष्ण

विष्णु नाम अच्युत अनंत । सगुण निश्चित स्मरा वेगीं ॥ नामा म्हण नको उदंड सायास । तोडी भवपाश रामनामें ॥' नामदेव की मराठी कविताओं में मुक्ति से भी भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है और इसके लिए उन्होंने नामस्मरण से ही भक्त श्रेष्ठों की श्रेणी में आनेवाले तथा अपने जीवन के आरंभ में दुर्जन माने जानेवाले ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के पात्रों का हावाला बार-बार दिया है । यह विशेषता उनकी हिन्दी कविताओं में भी देखी जा सकती है ।

मराठी हो या हिन्दी कविताएँ, नामदेव की उभय भाषा में लिखित कविताएँ तत्कालीन प्रचलित भाषा की ओर इंगित करती हैं । मराठी कविताओं की तरह ही उनकी हिन्दी कविताएँ भी अपनी लयात्मकता के लिए अपना ध्यान आकर्षित करती है । नामदेव ने भाषा और साहित्य को लोक के अधिक करीब लाने के लिए मराठी के तत्कालीन प्रचलित नागरी मराठी और ग्रामीण मराठी, दोनों का समन्वय करते हुए अपनी साहित्यिक भाषा का निर्माण करने का प्रयास किया है । उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी में भाषायी सीमाओं को ध्यान में नहीं रखा है । नामदेव की कविताओं से मराठी सन्त-भक्त कवियों का काव्य कर्म कई भाषाओं को एक साथ कविता में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा ।

एकनाथ की चाहे मराठी कविताएँ हो या हिन्दी, उनके सम्पूर्ण कृतित्व की एक सामान्य विशेषता है कि वह अनेक रंगों में रंगी हुई है और इस अर्थ में उनके कृतित्व को उद्यान की उपमा दी जा सकती है । उभय भाषाओं की कविताओं में पात्र चयन उनकी मूल्य दृष्टि, साहित्यिक सूझ-बूझ, लक्ष्य श्रोता-पाठक और दार्शनिक पीठिका की जानकारी देता है । मराठी में प्रबंध एवं मुक्तक दोनों में रचना करनेवाले एकनाथ ने भले ही अपनी सारी हिन्दी कविताएँ मुक्तक के रूप में लिखी हो किन्तु, उसमें उन्होंने निश्चित पात्रों के माध्यम से ही अपनी बात को प्रस्तुत किया है ।

उन्होंने मराठी में प्रयुक्त गौळण काव्यरूप की हिन्दी में भी सफलतापूर्वक रचना की, जिनमें मराठी काव्य की तरह ही गोपियों के भावों एवं उनके दृष्टिकोण को महत्व दिया गया है । अधिकांश गौळण में वाच्यार्थ में ही दर्शन की अभिव्यक्ति होने के कारण पात्र अपने-आप गौण हो जाते हैं, किन्तु एक बात लक्षणीय है कि इस काव्य प्रकार में एकनाथ ने अपनी बात प्रस्तुत करने के लिए स्त्री पात्रों का चुनाव कर उनके मुख से दर्शन जैसे विषय की अभिव्यक्ति की, जो कम-से-कम मध्यकाल तक तो मराठी साहित्य में विरल है और इसका प्रयोग उन्होंने हिन्दी कविताओं में भी कर अपनी मराठी की प्रवृत्ति को कायम रखा । एकनाथ ने अपनी एक हिन्दी कविता में कई भक्तश्रेष्ठों के साथ-साथ हिन्दी-मराठी क्षेत्र के सन्त-भक्तों के कार्यों एवं चमत्कारों को गिनाया है । जिस प्रकार एकनाथ ने अपने मराठी काव्य के माध्यम से अपने युगीन सत्य को, अपनी विचारधारा को, अपने आदर्श को सम्प्रेषित करने का प्रयास

किया है, उसे उन्होंने अपनी हिन्दी कविताओं में दोहराया है। उनके काव्य हिन्दी और मराठी काव्य में अभिव्यक्त विचारधारा, उनमें चित्रित भक्ति भाव एवं दर्शन में पूर्ण तादात्म्य देखने को मिलता है। उनकी मराठी कविताओं की ही तरह उनकी हिन्दी कविताएँ भी सामान्य से लेकर विद्वत्जन को भी कुछ-न-कुछ देती हैं। किसी भी प्रकार का पाठक उनकी कविताओं से निराश नहीं लौटता, चाहे वह भक्त हो, चाहे वह दार्शनिक हो अथवा वारकरी, दत्त सम्प्रदाय से उसका सम्बन्ध रहा हो या फिर साहित्यिक महकमें का पाठक हो। इतना ही नहीं उनकी कविताएँ अपने पाठकों को मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा व ज्ञान देने में समर्थ हैं, इसलिए उनकी कविताएँ उबाऊ नहीं है और वे आज भी प्रदर्शनीय हैं। कलावादियों को उनकी कविताएँ मध्यकालीन लोक कलाओं से लेकर शास्त्रीय प्रतिमानों की उपस्थिति दिखा सकती हैं। वस्तुवादियों को उनकी कविताएँ अपने धारदार कथ्य के माध्यम से आकर्षित करती हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के पात्र सामान्य जन-जीवन से चुने हैं और साथ ही मिथकीय पात्रों को अपने युग के अनुसार ढालने का प्रयास भी किया। उनके पात्र भले ही उनके हाथों की कठपुतलियाँ बनकर उनकी दार्शनिक विचारधारा की वाहक बनकर रह जाते हैं, किन्तु उनकी स्वाभाविकता को बनाए रखना एकनाथ की काव्य दृष्टि की खास विशिष्टता है, जो उभय भाषा में लिखित काव्य में दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने समय में समन्वय की विराट न सही किन्तु अधिकाधिक चेष्टा अवश्य काव्य के माध्यम से की है, किन्तु इस समन्वय की आँधी में उन्होंने तद्युगीन वाद एवं विवादों को अनदेखा नहीं किया और अपनी कविताओं में उन्हें भी स्थान दिया।

एकनाथ के सम्पूर्ण कृतित्व पर वस्तु और रूप की भिन्न दृष्टियों से देखने के क्रम में यह तय कर पाना दुरूह कार्य है कि उनके काव्य की वस्तु ने रूप का निर्माण किया अथवा रूप ने वस्तु का या पात्रों ने वस्तु और रूप दोनों का। एकनाथ ने अपना अधिकांश हिन्दी-मराठी काव्य विभिन्न पात्रों के संवाद या किन्हीं पात्रों के वाद-विवाद के रूप में लिखा है। ऐसे में उनकी कविताओं में वाद-विवाद-संवाद एवं वाक् की विशेषताएँ स्वाभाविक रूप में देखने को मिलती है। इस संवाद प्रक्रिया में उन्होंने इन कविताओं सामान्य जन को दृष्टि में रखकर लिखा है, जिनमें उन्हें दार्शनिक-आध्यात्मिक रूप से शिक्षित करने का प्रयास किया है।

एकनाथ ने मराठी की तरह हिन्दी भी में भारूड कहे जानेवाले काव्यरूपों में गौळण, फकीर, मुंडा, भांड, नानक, जोगी, बैरागी, बुलबुल और संवाद शीर्षक कविताओं की श्रृंखलाएँ लिखी। एकनाथ का काव्य में अपने भक्ति-भाव, विचारधारा-दर्शन, पात्रों का विशिष्ट चयन आदि वस्तुवादी दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु रूप की दृष्टि से भी समन्वय की चेष्टा करता दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपने युगीन

सत्यों एवं वाद-विवाद-संवाद की परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए अपने युग से ही काव्य रूपों का चयन किया। 'साधु काव्य निबंधनम्' के साथ लोकरंजन भी उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से करने का प्रयास किया, इसमें उन्होंने अपने काव्य-रूपों से विशेष सहायता प्राप्त की। गेयता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने काव्य की धुन एवं लय को अपने पात्रों के अनुरूप कायम रखने का भरपूर प्रयास किया, जिसमें मिली सफलात कवि की विशेष उपलब्धि कही जा सकती है। उनके काव्य की लय और धुन कभी गद्याभास निर्माण करती है, तो कभी गीतशैली की सर्वोच्चता पर अवस्थित होती है।

तुकोबा के मराठी काव्य की संख्या आठ हजार से अधिक बताई जाती है, जिनमें अभंग, भारुड, गवळणी, झोपाळा, पिंगा, ओव्या आदि काव्यरूप हैं। इसकी तुलना में उनकी हिन्दी कविताएँ मात्रा में अत्यन्त अल्प हैं, किन्तु इन कम कविताओं में तुकोबा की मराठी कविताओं के अधिकांश भाव एवं उनकी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ हिन्दी काव्य में भी देखने मिलती हैं। उन्होंने अपनी मराठी-हिन्दी काव्य में अर्जित परम्पराओं और चिन्तन को अभिव्यक्त किया। उनका चिन्तन एक ओर कई परम्पराओं को उदार भाव से स्वीकार करता है, तो दूसरी ओर अपनी समकालीन परिस्थितियों में मानवतावादी दृष्टि को अपनाते हुए कई रूढ़ियों को अस्वीकार भी करता है। यह स्वीकार-अस्वीकार तुकोबा के यहाँ भावनात्मक प्रतिक्रिया मात्र न होकर विवेकानुसार होता है। वारकरी पंथ से व्यापक स्तर पर जुड़े होने के कारण तुकोबा की मराठी-हिन्दी कविताओं में सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव आदि सभी ईश्वर के रूपों-स्वरूपों का समावेशन देखा जा सकता है। किन्तु उन्होंने अराध्य के रूप में अधिकांश मराठी कविताओं में विठ्ठल का ही नाम लिया गया है, जिससे वे प्रायः माता का सम्बन्ध जोड़ते हैं। इसके ठीक विरुद्ध प्रवृत्ति उनकी हिन्दी कविताओं में देखी जा सकती है, जहाँ एकाध कविता को छोड़कर कहीं भी श्रीविठ्ठल का नामोल्लेख नहीं है। यदि तुकोबा केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी कविताएँ ही लिखते तो उन्हें 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में निर्गुण कवियों की परम्परा में कबीर के बाद सबसे महत्वपूर्ण कवि के रूप में गिने जाने में शायद ही कोई समस्या होती। किन्तु किसी भी भक्तिकालीन तथाकथित निर्गुण कवि की ही तरह उनकी निर्गुण भक्ति भी सगुण से पूर्णतः मुक्त नहीं है।

उनकी मराठी कविता जितने तीखे शब्दों में सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करती है, उतनी ही वह अहिंसात्मक पद्धति से सामाजिक समन्वय चाहती हैं। यही बात उनके हिन्दी काव्य में भी दिखाई देती है। तुकोबा का सम्पूर्ण काव्य एक भिन्न पद्धति से सामाजिक एकता का कार्य कर रहा था। तुकोबा के काव्य की व्यापकता कहिए या उसका सबको अपने अन्दर समेटने का प्रयास, इन कविताओं को सगुण-निर्गुण, किसी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण, लोक-शास्त्र, धर्म, वैष्णव-शैव, राम-कृष्ण, प्रेम-ज्ञान,

वस्तु-रूप आदि किसी भी आधार पर विभाजित करना दुरूह कार्य है। इन दोनों का सह-अस्तित्व तुकोबा की मराठी ही नहीं हिन्दी कविताओं में भी दिखाई देता है। अपनी कविताओं में भी तुकोबा गुरु की भाँति सीख देते हैं, पिता का दुलार देते हैं, माता की ममता देते हैं और प्रेमी-प्रेमिका की गर्माहट देते हैं। वे कहीं माता की तरह माटी न खाने की नसीहत, तो पिता की तरह डाँटते भी हैं। वे कहीं घर के उस वृद्ध की बोली बोलते हैं, जो घर के आँगन में खंखारते हुए बोलता तो बहुत महत्वपूर्ण हैं, किन्तु 'जनरेशन गैप' के कारण अनसुना किया जाता है और इस बात को लेकर वह वृद्ध चिढ़ता-कुढ़ता रहता है।

अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं को समझते हुए तुकोबा ने न केवल वस्तु के स्तर पर अपने पूर्ववर्तियों के कथ्य को अपना समकालीन बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया, अपितु रूप के स्तर पर भी उन्होंने अपने क्षेत्र के साथ उत्तर भारत की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को आत्मसात करने का प्रयास किया। वैसे तुकोबा ने मराठी हो या हिन्दी, दोनों भाषाओं में लेखन करते समय रूप के प्रति कोई विशेष सतर्कता नहीं बरती, किन्तु इस अर्थ में उनके यहाँ ऐतिहासिक चेतना देखी जा सकती है।

रामदास का मराठी काव्य अत्यन्त विशाल है। प्रत्येक पंक्ति में रामदास ने आदर्श समाज, आदर्श व्यक्ति, आदर्श शिष्य आदर्श गुरु आदि कई 'आदर्शों' के गुणों को संजोने का कार्य किया है। रामदास के हिन्दी काव्य में अन्य मराठी सन्त-भक्त कवियों की तरह निर्गुण एवं सगुण दोनों भक्ति पद्धतियों की प्रवृत्तियाँ मिल जाती है। रामदास की हिन्दी-मराठी कविता में सगुण-निर्गुण का कोई भेद नहीं दिखाई देता है। कृष्णभक्ति काव्य-सृजन के बावजूद श्रीराम भक्ति का अधिक्य उनके काव्य में दिखाई देता है। रामदास अपने हिन्दी काव्य में अपने मराठी काव्य की अपेक्षा एक भिन्न रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। उन्होंने अपने संक्षिप्त से हिन्दी कृतित्व में अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है और साथ ही भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों को अग्रेषित करने का सफल प्रयास किया है।

रामदास एक सजग रचनाकार हैं। उन्होंने मराठी ही नहीं, अपने हिन्दी काव्य में भी काव्य के प्रत्येक उपादान पर ध्यान देते हुए कई जगह काव्य की मीनाकारी करने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी कविताओं का कथ्य इतना दमदार है कि तमाम प्रयासों के बावजूद वे एक वस्तुवादी रचनाकार ही बनकर रहते हैं, जो एक सकारात्मक प्रवृत्ति कही जा सकती है। विशेष बात यह है कि रामदास ने अपनी कविताओं में रूप को लेकर अधिक प्रयोग करने का प्रयास शायद ही कभी किया हो, जो उन्होंने सोचा-समझा सीधे-सीधे कहने का, उसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसमें उन्हें काफी सफलता

मिली। उनके पास अपने शिष्यों, अपने समुदाय एवं समाज के लोगों को कहने के लिए बहुत कुछ है, इस क्रम में उन्होंने किस प्रकार कहा जाए, इसकी कई बार उन्होंने परवाह नहीं की है।

भाषायी आधार पर नामदेव पूर्व लिखित मराठी सन्त-भक्त कवियों के हिन्दी काव्य में चक्रधर और महदंबा के काव्य को 'सधुक्कड़ी भाषा' की कोटि में रखा जा सकता है, जहाँ भाषा का स्थिर रूप नहीं दिखाई देता है। नामदेव की भाषा भी कुछ इसी प्रकार की है, किन्तु वहाँ भाषा में मिश्रण के होते हुए भी नामदेव की निजी विशेषताएँ देखने को मिलती है। मराठी सन्त-भक्त कवियों में एकनाथ के बाद ब्रजभाषा से मुक्ति का एक अभियान-सा चल निकला। रामदास ने ब्रज की अपेक्षा हिन्दुस्तानी की ओर अपना रुख मोड़ लिया और बयाबाई ने भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाया। नामदेव के यहाँ ब्रज है तो दक्खिनी की ओर भी झुकाव है। इसका पूर्णत्व उनके पुत्र गोंदा की कविता में देखा जा सकता है, जिसे मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित दक्खिनी कविता कहा जा सकता है। एकनाथ में यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती दिखाई देती है। अर्थात् आरंभिक मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताएँ या तो ब्रज भाषा की तरफ झुकी है या फिर उसमें मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। गोंदा-एकनाथ के बाद यह ब्रज भाषा की अपेक्षा दक्खिनी भाषा की प्रवृत्तियों से अधिक मेल खाती दिखाई देती हैं। एकनाथ ही नहीं तुकोबा, रामदास, बहेणाबाई एवं परवर्ती मराठी सन्त-भक्त कवियों का अधिकांश काव्य दक्खिनी भाषा का काव्य कहा जा सकता है।

गोंदा-एकनाथ के बाद का हिन्दी काव्य अधिकांश दक्खिनी भाषा की प्रवृत्तियों से भले ही मेल खाता हो, किन्तु सम्पूर्ण काव्य नहीं। ध्यातव्य है कि एकनाथ ने गौळण, भारुड आदि लोक काव्य रूपों की रचना दक्खिनी में की है, किन्तु उन्होंने कृष्ण कथा वाला भाग ब्रज में लिखा है। तुकोबा ने भी गोपियों के संवादों को गुजराती मिश्रित ब्रज में लिखा है, किन्तु उनका अन्य काव्य दक्खिनी की ओर मुड़ा हुआ है। बहेणाबाई के सन्दर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। रामदास का तो सम्पूर्ण हिन्दी काव्य हिन्दुस्तानी भाषा का काव्य कहा जा सकता है। इस तरह से देखा जाए तो दक्खिनी के विकास में हमें हिन्दुस्तानी भाषा के विकास के चिन्ह देखने को मिलते हैं। परवर्ती सन्त-भक्त कवियों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। मराठी क्षेत्र में जो बाद का श्रृंगारिक काव्य लिखा गया, उसमें ब्रज और दक्खिनी की प्रधानता दिखाई देती, जो प्रकारान्तर से हिन्दुस्तानी कही जा सकती है। राजदरबारों में लिखित काव्य का अधिकांश ब्रज से प्रभावित है। इस समय तक हिन्दी में रीतिकालीन प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ लिया था। अर्थात् हिन्दी क्षेत्र में लिखा जानेवाला काव्य बहुत अंशों तक मराठी क्षेत्र में लिखे जानेवाले हिन्दी काव्य को भी प्रभावित कर रहा था, जिसमें संभवतः यह मान लिया गया था कि

कृष्णभक्ति से युक्त काव्य ब्रज में लिखा जाना चाहिए। बाद के समय में यह प्रवृत्ति श्रृंगारिक काव्य के सन्दर्भ में देखी जा सकती है।

बहेणाबाई अपने श्रीकृष्ण कथा पर लिखे गए मुक्तकों के लिए प्रसिद्ध हैं। बहेणाबाई की हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में लिखित कविताओं में राधा का उल्लेख नाममात्र को मिलता है, जो न के बराबर है। प्रचलित कथा के ही अनुसार बहेणाबाई की कविता में भी कथा भाग का अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया है। सर्वज्ञात एवं अधिक प्रचलित होने के कारण उन्होंने कथा के प्रमुख प्रसंगों को एवं भावों को ही प्रस्तुत किया है। छोटे-छोटे प्रसंगों में भी अतिशय भावात्मकता को संजोने का कार्य उन्होंने बखूबी किया है। बहेणाबाई की इन कृष्ण कथात्मक कविताओं का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है-भक्ति, धर्म एवं नीति को इस कथा के माध्यम से शिक्षा देकर उन्हें और अधिक दृढ़ करना। इसी क्रम में उनसे जाने अनजाने-भावों का बड़ा ही संवेदनशील चित्रण हुआ है। कथा के बीच-बीच में आनेवाले इन पदों के माध्यम से श्रोताओं-पाठकों को नीति एवं धर्म का शिक्षण देकर, भक्ति-नीति को बनाए रखने का प्रयास कवयित्री ने किया है।

बहेणाबाई की हिन्दी में लिखित कृष्णकथेत्तर कविताओं का स्वर नितान्त भिन्न है। इन कविताओं की विषय-वस्तु, विचारधारा, कविता कहने का ढंग, कविताओं की भाषा, इतना ही नहीं भक्ति का आलंबन भी कई जगह पहले प्रकार की कविताओं से भिन्न तो क्या विपरित भी है। ठीक उसी प्रकार का विभाजन इन कविताओं में देखने को मिलता है, जैसा उनकी मराठी कविताओं में विषय-वस्तु के अन्तर के कारण आ गया है। उन्होंने हिन्दी-मराठी कविताओं में गुरु की अनिवार्यता से भी अधिक शिष्य को मन की ईच्छाओं को मारकर स्वयंप्रेरणा से, स्वयं को पहचानकर नाम भक्ति के माध्यम से शान्ति को प्राप्त करने की सलाह दी है। नाम स्मरण के लिए भी बहेणाबाई किसी भी नाम में भेद इसलिए नहीं करती कि उनके यहाँ यह नाम मात्र प्रतीक के रूप में अपनाए गए हैं, इन सभी का अर्थ एक ही है। उन्होंने स्वयं अपनी कविताओं में आराध्य के कई नामों का प्रयोग किया है। बहेणाबाई के द्वारा प्रयुक्त निर्गुण अराध्य के नामों के आधार पर उन्हें धार्मिक-आध्यात्मिक समन्वयवादी कहा जा सकता है।

इन विभिन्न शैलियों के प्रयोगानुसार जितना भाषा में अन्तर आना चाहिए था, उतना भाषा का अन्तर बहेणाबाई की हिन्दी-मराठी कविताओं में देखने नहीं मिलता है। उनकी मराठी भाषा प्रायः संस्कृत की ओर झुकी हुई है, जो लोकभाषा से भी दूर होने के संकेत देती है। उस की प्रकार उनकी हिन्दी भाषा स्थिति नहीं है। बहेणाबाई की कुछ कविताओं में उनके नाथ पंथ पद्धतियों एवं उसकी शब्दावली

से प्रभावित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। उनकी एक हिन्दी कविता तो पूर्णतः किसी नाथ पंथी की कविता जान पड़ती है। इस प्रकार बहेणाबाई की कविताएँ विषय-वस्तु को पूर्णता प्रदान करने एवं उसकी सहायता के रूप में आती है। ऐसा किसी भी कविता को देखकर नहीं लगता है कि उन्होंने कहीं भी रूप-पक्ष पर विशेष ध्यान देकर अपनी कविताओं में नक्काशी करने का प्रयास किया हो। जो रूपगत विशेषताएँ उनकी कविताओं में आयी हैं, वह अनायास एवं प्राकृतिक स्वरूप में आयी हैं।

दामोदर पण्डित से ही मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं में 'सभ्यता समीक्षा' देखी जा सकती है। दामोदर ने अपने पंथीय लक्ष्य के चलते ऐसा किया था, किन्तु नामदेव ने सभी आडंबरों एवं प्रदर्शनों को अपनी आलोचना के बाणों से भेदने का प्रयास किया है। उनके यहाँ सभ्यता समीक्षा कई बार आत्मालोचना का भी रूप ग्रहण करती देखी जा सकती है। एकनाथ ने अपने समय की लगभग सम्पूर्ण विचारधारों एवं उसके प्रयोग में व्याप्त विरोधों पर एवं कर्मकाण्डों पर अपनी हिन्दी कविताओं में व्यंग्य किया है। उन्होंने अपने पात्रों के माध्यम से दार्शनिक लहजे में धर्म में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार करने का प्रयास किया है, जो कई बार दार्शनिक विचारधारा के बोझ तले दब जाता है। एकनाथ ने तो सामान्य जन-जीवन से जुड़ी विसंगतियों को भी अपने काव्य में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। तुकोबा अपने काव्य में इस दृष्टि को न केवल आगे बढ़ाते हैं, अपितु उन्होंने इसमें अत्यन्त सूक्ष्मता लाते हुए व्यक्ति के विचारों की भी समीक्षा की है। बहेणाबाई ने हिन्दी काव्य के माध्यम से भी तुकोबा के इन विचारों को सहमति देती दिखाई हैं। रामदास ने सभ्यता की अपेक्षा दार्शनिक समन्वय द्वारा धार्मिक उन्माद को शान्त करने का प्रयास किया है।

मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी रचनाकर्म वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर प्रायः मराठी रचनाकर्म के साथ चलता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी हिन्दी कविताएँ मराठी कविताओं का पूर्णतः अनुगमन करती हैं। ऐसी भी कई रचनाएँ हैं, जो मराठी कविताओं के विपरीत-सी जान पड़ती हैं। उनकी हिन्दी कविताएँ अपने आप में भक्ति काल के पूर्णतः मातृभाषा का आन्दोलन होने के मिथ की तोड़ती हैं। सम्पूर्ण मराठी भक्तिकाल को दौरान लिखित इन कविताओं की भाषा एवं अन्य रूप-विधानों पर समयानुसार अपने आप के प्रतिमानों को तोड़ा, किन्तु मराठी में लिखित कविताओं में रूप के स्तर पर अधिक प्रयोग नहीं दिखाई देते हैं। महदंबा की कविता से लेकर रामदास-बहेणाबाई की कविताओं तक इसमें लोकगीत, अभंग, गवळण आदि दिखाई देते हैं, किन्तु मराठी में जो नहीं लिखा गया वह दोहा भी यहाँ दिखाई देता है। भाषा के स्तर मराठी के अतिरिक्त इन कविताओं पर अपभ्रंश, ब्रज, गुजराती, दक्खिनी का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है, किन्तु मराठी में नामदेव के बाद की मराठी में स्थिरता

देखने मिलती है। जिस प्रकार नामदेव की कविताओं में विविधता मिलती है, उसी प्रकार एकनाथ, बहेणाबाई की कविताओं में भी देखने मिलती हैं। रामदास की हिन्दी-मराठी कविताओं के लहजे में काफी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य-कर्म कई मायनों में मराठी रचनात्मकता से भिन्न होते हुए भी एक है।

सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य की सामान्य विशेषताओं में भक्ति भावों की अभिव्यक्ति, गुरु के प्रति आदरभाव, सत्संग की अनिवार्यता, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, शास्त्र एवं लोक का समन्वय, काव्य के लोक उपादानों का प्रयोग आदि को गिनाया जाता है। कभी कम तो कभी अधिक मात्रा में यह सारी प्रवृत्तियाँ मराठी सन्त-भक्त कवियों की हिन्दी कविताओं में देखी जा सकती है। मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी काव्य न केवल भाषायी आधार पर अपितु काव्य वस्तु एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में भी उत्तर एवं दक्षिण को जोड़ने का कार्य कर रहा था। उसमें भले ही शुद्ध कहेजानेवाले सूफी काव्य की रचना नहीं हुई हो, किन्तु उन्होंने प्रेमगाथाओं की रचनाओं के अतिरिक्त लगभग उन्हीं बातों का समावेश अपने काव्य में किया है, जो इस समय के दक्खिनी कवि कर रहे थे। रामदास के काव्य को किसी भी दक्खिनी प्रेमाख्यान कवि के साथ रखकर पढ़ने से बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी। इसी के साथ नामदेव-तुकोबा के काव्य को किसी भी हिन्दी कवि के साथ रखने से पता चलेगा कि कबीर, नानक, रविदास से बहुत अधिक भिन्न बातों को प्रसार वे अपनी कविताओं के माध्यम से नहीं कर रहे थे। एकनाथ, तुकोबा, बहेणाबाई का कृष्ण काव्य अष्टछाप कवियों से मात्रा में कम है, किन्तु उनमें प्रायः उन्हीं भावों-विचारों को अभिव्यक्त होते हुए देखा जा सकता है। इन बिन्दुओं के आधार पर भक्ति आन्दोलन एवं उसके दौरान लिखित भक्तिकाव्य के सम्पूर्ण उपमहाद्वीप के चरित्र तथा उसकी समाजसापेक्षता को समझा जा सकता है।

आधार ग्रंथ-सूची

आधार ग्रंथ हिन्दी

1. अष्टछाप के कवि : सूरदास-सम्पा.डॉ.हरगुलाल, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-03, प्रथम संस्करण 2007.
2. कबीर ग्रंथावली-सम्पा.श्यामसुन्दर दास, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, द्वितीय लोकभारती संस्करण-2011.
3. कवितावली-तुलसीदास, सम्पा.सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, संस्करण-2009.
4. जायसी ग्रंथावली-सम्पा.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल रिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-03, प्रथम ज्ञानपीठ संस्करण-2011.
5. मराठी सन्तों का हिन्दी काव्य-प्रभाकर सदाशिव पंडित, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1991.
6. मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी-सम्पा.डॉ.यू.म.पठान, श्री ग.सा.मुळे, महाराष्ट्र राजभाषा सभा, 387, नारायण पेठ, पुणे-02, प्रथम संस्करण- 20 अक्तूबर 1973.
7. रैदास बानी-सम्पा.डॉ.शुकदेव सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., 7/31, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, दूसरी आवृत्ति 2011.
8. शेख फरीद वाणी : जीवनी व साहित्य-रचना भोला यामिनी, डायमंड बुक्स प्रा.लि., एक्स-30, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-2, नई दिल्ली-20, संस्करण 2010.
9. सन्त एकनाथ : परिचय तथा कविताएँ-डॉ.प्रभाकर माचवे, हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा.लि., जी.टी.रोड, शहादरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण-1991.
10. सन्त नामदेव-सम्पा.डॉ.प्रभाकर माचवे, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्रा.लि., जे-40, जोरबान लेन, नई दिल्ली-03, संस्करण-2010.
11. हिन्दी के जनपदीय सन्त-सम्पादक मंडल काका कालेलकर और अन्य, शोभीराम सन्त साहित्य शोध संस्थान द्वारा संपादित, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण 1963.
12. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, परिशिष्ट-आचार्य विनयमोहन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 3, प्रथम संस्करण-मार्च 1957.

आधार ग्रंथ मराठी

1. नाथांचे रूक्मिणी स्वयंवर-सम्पा.डॉ.सुहासिनी इर्लेकर, स्नेहवर्धन पब्लिशिंग हाउस, 863, सदाशिव पेठ, पुणे-30, प्रथम आवृत्ती-15 नवंबर 2006.
2. विसोबा खेचर विरचित षट्स्थल-सम्पा.रामचन्द्र चिन्तामण ठेरे, अबोली प्रकाशन, 126-बी, मार्कंडेय नगर, सोलापुर-03, प्रथम आवृत्ती- सितंबर 1999.

3. श्री नामदेव महाराज गाथा-संग्राहक श्री नाना महाराज साखरे, वरदा, सेनापति बापट मार्ग, 397/1, पुणे-16, पहला संस्करण-1 जनवरी 1990, तीसरा पुनर्मुद्रण- अक्तूबर 2002.
4. संत चोखामेळा : अभंगवाणी (निवडक अभंग) – सम्पा.डॉ.मु.श्री.कानडे, प्रा.भालचन्द्र खाण्डेकर, स्नेहवर्धन पब्लिशिंग हाउस, 863, सदाशिव पेठ, पुणे-30, द्वितीय आवृत्ती
5. संत चोखामेळा महाराज सार्थ गाथा-सम्पा.डॉ.शांताराम गोवर्धन बुटे, सुनंदा प्रकाशन, तापडिया नगर, अकोला, दूसरी आवृत्ति जनवरी 2008.
6. संत तुकारामांचे अप्रकाशित अभंग-सम्पा.वा.सी.वेन्द्रे, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, विजयानगर, पुणे-30, प्रथम संस्करण-2003.
7. संत नामदेवांचा सार्थ चिकित्सक गाथा-सम्पा.मु.श्री.कानडे एवं रा.शं.नगरकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, लोककल्याण, शनिवार पेठ, पुणे-30, संस्करण मार्च 2005.
8. सकलसंत गाथा, गाथापंचक, सम्पा.डॉ.रा.चिं.ढेरे, वरदा बुक्स, वरदा प्रकाशन, 'वरदा', सेनापती बापट मार्ग, पुणे-16, नौवी आवृत्ती, 15 मार्च 1983
9. सन्त बहेणाबाईचा गाथा-सम्पा. सौ.शालिनी जावडेकर, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, धार्मिक व सांस्कृतिक वाङ्मय प्रकाशन मंडळ, पुणे, तृतीय आवृत्ती-2003
10. सार्थ तुकारामाची गाथा-संत तुकाराम, सम्पा.विष्णुबुवा जोग, श्री समर्थ सदन, पहिली भटवाडी, गिरगाँव, मुंबई-04, उन्नीसवीं आवृत्ति फरवरी 2011.

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

सन्दर्भ ग्रंथ : हिन्दी

1. अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय-पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-002, प्रथम संस्करण 2009.
2. अकबर और तत्कालीन भारत-सम्पा.इरफ़ान हबीब, अनु.नरेश नदीम, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2009.
3. आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि-डॉ.महीप सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-03, पहला संस्करण 2003.
4. आरंभिक भारत का संक्षिप्त इतिहास-डी.एन.झा, मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, 4753/23, अंसारी रोज, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2011.
5. कबीर और समकालीन इतिहास-ओम पी.गुप्ता, स्वराज प्रकाशन, 7/14, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण 2011.
6. तुलसीदासी रामचरितमानस और एकनाथी भावार्थी रामायण : तुलनात्मक दृष्टि-डॉ.विनयमोहन शर्मा, अनादि प्रकाशन, 609, कटरा, इलाहाबाद-02, प्रथम संस्करण-1975.
7. दक्खिनी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-डॉ. इकबाल अहमद, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण-1986.
8. धर्म की मार्क्सवादी अवधारणा-गोरख पाण्डेय, सम्पा.गोपाल प्रधान, समकालीन प्रकाशन, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, पटना-03, प्रथम संस्करण 2003.

9. नाथ सम्प्रदाय-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-11, संस्करण-2010.
10. निबंधों की दुनिया-विजयदेव नारायण साही, सम्पा.निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2007.
11. निर्गुण सन्तों के स्वप्न-डेविड एन.लॉरेंज़न, अनु.धीरेन्द्र बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2010.
12. भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य-शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-11, संस्करण-1982, पूर्णतः संशोधित प्रथम लोकभारती संस्करण-2010.
13. भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार-सम्पा.गोपेश्वर सिंह, भारतीय प्रकाशन संस्थान, 24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, संस्करण-2007.
14. भक्तिकाव्य और सूरदास का काव्य-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-1993, चतुर्थ संस्करण-2005.
15. भक्तिकाव्य का समाजदर्शन-डॉ.प्रेमशंकर, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-02, द्वितीय संस्करण 2007.
16. भक्तिकाव्य से साक्षात्कार-कृष्णदत्त पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इनस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-03, पहला संस्करण 2007.
17. भारत का इतिहास-रोमिला थापर, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, तेरहवीं आवृत्ति-2008.
18. भारत के गाँव-सम्पा.एम.एन.श्रीनिवासन, अनु.मधु बी.जोशी, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, दूसरी आवृत्ति-2011.
19. भारतीय भाषाओं में रामकथा-सम्पा.योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण-2009.
20. भारतीय संत परंपरा-बलदेव वंशी, किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-02, संस्करण 2012.
21. भारतीय सामन्तवाद-रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, आठवीं आवृत्ति 2010.
22. भारतीय साहित्य में मुसलमानों का अवदान-जाफ़र रज़ा, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-11, प्रथम संस्करण-2011.
23. भोंसला राजदरबार के हिन्दी-कवि-डॉ.कृष्ण दिवाकर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
24. मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास-मीनाक्षी खन्ना, अनु.उमाशंकर शर्मा, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा.लि., 1/24 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण 2012.
25. मध्यकालीन योरोप-ओम् प्रकाश प्रसाद, , राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2011.
26. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान-श्याम मनोहर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-11, संस्करण-2007.

27. मराठी साहित्य : परिदृश्य-चन्द्रकांत बांदिवडेकर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-1997.
28. मीरा : एक पुनर्मूल्यांकन-सम्पा.पल्लव, आधार प्रकाशन प्रा.लि., एस.सी.एफ.267, सेक्टर-16, पंचकूला, हरियाणा-13, परिवर्द्धित संस्करण 2014
29. रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य का हिन्दी पर प्रभाव-डॉ.प्रेमचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-1991.
30. वल्लभाचार्य-विजयेन्द्र स्नातक, नेशनल बुक ट्रस्ट, ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-16, दूसरी आवृत्ति 2007.
31. विद्यापति-डॉ.शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-11, बीसवाँ संस्करण-2010.
32. संत काव्य-आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किबाब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-01, संस्करण 2009.
33. संत ज्ञानेश्वर : जीवन और कार्य -चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2009
34. संत ज्ञानेश्वर : जीवन और कार्य-चंद्रकांत बांदिवडेकर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, द्वितीय संस्करण-2009.
35. समय और संस्कृति-श्यामाचरण दुबे, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2000.
36. सामाजिक व्यवस्था में सन्त कवियों का योग - डॉ. उदय प्रताप सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2012.
37. साहित्य और इतिहास दृष्टि-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, तृतीय संस्करण-2008.
38. सूफीवाद : कुछ महत्वपूर्ण लेख-एन.आर.फारुकी, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा.लि., 1/24 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण 2014.
39. सूरदास-हरबंसलाल शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि.,जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-51, दसवीं आवृत्ति-2005.
40. सूरपूर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य – डॉ.शिवप्रसाद सिंह
41. हिन्दी आलोचना और भक्तिकाव्य-रुस्तम राय, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-51, पहला संस्करण 2001.
42. हिन्दी और मराठी का श्रृंगारकाल-डॉ.इन्द्र पवार, ग्रंथम्, कानपुर-12, प्रथम संस्करण-1974.
43. हिन्दी काव्य का इतिहास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-11, संस्करण-2007.
44. हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा-डॉ.पीताम्बरदत्त बड़थवाल, तक्षशीला प्रकाशन, 23/4762, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, संस्करण-1995.
45. हिन्दी के जनपदीय सन्त-सम्पादक मंडल काका कालेलकर और अन्य, शोभीराम सन्त साहित्य शोध संस्थान द्वारा संपादित, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण 1963.

46. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन-आचार्य विनयमोहन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 3, प्रथम संस्करण-मार्च 1957.
47. हिन्दी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य एवं अवधारणाएँ-सावित्री चन्द्र शोभा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2004.
48. हिन्दी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य एवं सहिष्णुतावाद-सावित्री चन्द्र शोभा, नैशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-16, प्रथम संस्करण-2007.
49. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02, नौवीं आवृत्ति 2009.
50. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, बाइसवां संस्करण-2009.
51. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, नई दिल्ली-06, संस्करण-2002.
52. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, पाँचवाँ भाग, सम्पादक मंडल, मैगरा प्रचारिणी सभा, काशी.

सन्दर्भ ग्रंथ : मराठी

1. 10 संत कवयित्री-डॉ.शैला गावंडे, पुणे विद्यार्थी गृह प्रकाशन, 1786, सदाशिव पेठ, पुणे-30. आवृत्ति-2011.
2. एका पथावरील दोन पंथ : भक्ति आणि सूफी-डॉ.आलीम वकील, प्रतिमा प्रकाशन, 1382, सदाशिव पेठ, पुणे-30, प्रथम संस्करण-2012.
3. चांगदेव पासष्टी आणि हरिपाठाचे अभंग-डॉ.मदन कुलकर्णी, डॉ.आरती कुलकर्णी, विजय प्रकाशन, हनुमान गली, सीताबर्डी, नागपुर-02, प्रथम संस्करण-1 अगस्त 2007.
4. चोखोबाची कविता-डॉ.सरिता हरिदास जांभुळे, सुगावा प्रकाशन, 862, सदाशिव पेठ, पुणे-30, प्रथम आवृत्ति-मई 2001.
5. जगद्गुरु श्री सन्त तुकाराम महाराज स्मारक ग्रंथ-सम्पा.एड.शैलजा ज्ञानेश्वर मोळक, जिजाऊ ग्रंथालय, शिवस्फूर्ती, अ-48, कस्तुरबा हाउसिंग सोसायटी, विश्रान्तवाडी, पुणे-15, प्रथम आवृत्ति-15 फरवरी 2009.
6. ज्ञानदेव आणि नामदेव-डॉ.श.दा.पेंडसे, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, विजयानगर कॉलनी, पुणे-30, तृतीय आवृत्ति मई 1998.
7. ज्ञानदेवांच्या अभंगातील शब्दकळा-वसुंधरा बनहट्टी, सुविचार प्रकाशन मंडळ, 461/4, सदाशिव पेठ, पुणे-30, प्रथम संस्करण- 26 जनवरी 1993.
8. तुका झालासे कळस-डॉ.रामचन्द्र देखणे, संस्कृति प्रकाशन, 688, नारायण पेठ, अप्पा बळवंत चौक, पुणे-30, प्रथम आवृत्ति फरवरी 2009.
9. तुकाराम-भालचंद्र नेमाडे, अनु.चंद्रकान्त पाटील, साकेत प्रकाशन प्रा.लि. 115, महात्मा गाँधी नगर, औरंगाबाद-05, पाँचवी आवृत्ति, 2010.
10. तुकारामांचा शेतकरी-डॉ.आ.ह.साळुंखे, लोकायत, 13, यशवंतनगर, गेंडामाळ, सातारा-02, डिसेंबर 1999.

11. नाथ सम्प्रदायाचा इतिहास-रा.चिं.ढेरे, पद्मगंधा प्रकाशन, 36/11, पांडुरंग कॉलनी, एरंडवन, पुणे-38, संस्करण सितंबर 2007.
12. नामदेव : आध्यत्मिक चरित्र व ज्ञानदीप-ग.वि.तुळपुळे, लाड ट्रस्ट, जी/12, विलेपार्ले (पूर्व), मुंबई-57, द्वितीय आवृत्ती- 18 मार्च 1995.
13. पाच भक्ति सम्प्रदाय-र.रा.गोसावी, प्रतिमा प्रकाशन, 1362, सदाशिव पेठ, पुणे-30, तृतीय आवृत्ति अगस्त 2008.
14. पुन्हा तुकाराम-दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे, पॉप्युलर प्रकाशन प्रा.लि., 35 सी, पं.मदन मोहन मालवीय मार्ग, ताडदेव, मुंबई-34, दूसरी आवृत्ति 2001.
15. प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा इतिहास-ल.रा.नसिराबादकर, फडके प्रकाशन, अथर्व अपार्टमेंट, फ्लैट नं.10, टी.पी.एस.नं.2/217/7 ए, दुधाळी, कोल्हापुर-12, दसवीं आवृत्ति मार्च 2013.
16. प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यानुबंध-सम्पा.डॉ.रा.गो.नार्कवाडे एवं अन्य चार, पद्मगंधा प्रकाशन, 36/11, पांडुरंग कॉलनी, एरंडवन, पुणे-38, तृतीय आवृत्ति जुलाई 2007.
17. भंडार-बुका-डॉ.प्रकाश खांडगे, मैत्रेय प्रकाशन, एम.जी.रोड, विलेपार्ले (पूर्व), मुंबई-57, प्रथम आवृत्ति 2012.
18. भारूड आणि नाट्यगीत : एक अनुबंध, प्राचीन अर्वाचीन साहित्यानुबंध-आरती कुलकर्णी,
19. भारूड वाङ्मयातील तत्त्वज्ञान-डॉ.रामचन्द्र देखणे, पद्मगंधा प्रकाशन, 36/2, पांडुरंग कॉलनी, एरंडवन, पुणे-38, प्रथम आवृत्ती-2002.
20. भाषाविज्ञान : वर्णनात्मक आणि ऐतिहासिक-सम्पा.डॉ.श.ग.मालशे, डॉ.हे.वि.इनामदार, डॉ.अंजली सोनम, संजय प्रकाशन, 917/22, फर्ग्युसन कॉलेज रोड, पुणे-08.
21. मध्ययुगीन संत साहित्य : काही आयाम-डॉ.यू.म.पठान, स्वरूप प्रकाशन, 858, सिडको, औरंगाबाद-01, पहली आवृत्ति जून 2003.
22. मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास-प्राचीन काळ - डा.प्र.न.जोशी, स्नेहवर्धन प्रकाशन, 863 सदाशिव पेठ, पुणे-30, तृतीयावृत्ति अप्रैल 2008.
23. मराठी संत कवयित्री-प्राचार्य मा.के.यादव, स्नेहवर्धन, 893, सदाशिव पेठ, पुणे-30. प्रथमावृत्ती-2012.
24. मराठी साहित्य : इतिहास आणि संस्कृति-वसंत अबाजी डहाके, पॉप्युलर प्रकाशन प्रा.लि., 301, महालक्ष्मी चेम्बर्स, 22, भुलाभाई देसाई रोड, मुंबई-26, प्रथम संस्करण-2005, पुनर्मुद्रण-2008.
25. महानुभाव पंथ आणि त्याचे वाङ्मय-शं.गो.तुळपुळे, व्हीनस प्रकाशन, तपश्चर्या, 381-क, शनिवार पेठ, पुणे-30, दूसरी आवृत्ती-2004.
26. महाराष्ट्र सारस्वत-विनायक लक्ष्मण भावे, खण्ड-1, पॉप्युलर प्रकाशन प्रा.लि. 35-सी, ताडदेव रोड, मुंबई-34, छठी आवृत्ति 1982.
27. मुसलमान मराठी संत कवी-रा.चिं.ढेरे, पद्मगंधा प्रकाशन, 36/11, पांडुरंग कॉलनी, एरंडवन, पुणे-38, तृतीय आवृत्ति जुलाई 2008.
28. वादांची वादळे-डॉ.आ.ह.साळुंखे, लोकायत, 13, यशवंतनगर, गेंडा माळ, सातारा-415002, प्रथम संस्करण-जून 2001, पुनर्मुद्रण-2010.
29. वारकरी सम्प्रदाय : उदय व विकास-भा.प.बहिरट, प्र.ज्ञा.भालेराव, व्हीनस प्रकाशन, तपश्चर्या, 381-क, शनिवार पेठ, पुणे-30, द्वितीय संस्करण-1988.

30. विद्रोही तुकाराम-डॉ.आ.ह.साळुंखे, लोकायत, 13, यशवंतनगर, गेंडामाळ, सातारा-02, तृतीय आवृत्ति सितंबर 2010.
31. विद्रोही संत-गौतम निकम, विमलकीर्ति प्रकाशन, चाळीसगाँव, जि.जळगाव-01, प्रथम आवृत्ति अक्तूबर 2010.
32. श्री भक्तविजय-महिपतीबुआ ताहाराबादकर, सम्पा.-डॉ.ज्ञानेश्वर तांदळे, अमोल प्रकाशन, 498 ब, नारायण पेठ, पुणे-30, नौवीं आवृत्ति 2011.
33. श्रीमद्भागवत आणि मराठी संत-डॉ.शं.रा.तळघट्टी, पद्मगंधा प्रकाशन, 36/11, पांडुरंग कॉलनी, एरंडवन, पुणे-38, प्रथम संस्करण- नवंबर 2006.
34. श्रीविठ्ठल : एक महासमन्वय-रा.चिं.ढेरे, पद्मगंधा प्रकाशन, 1966, तारा-भवन, सदाशिव पेठ, पुणे-30, चतुर्थ आवृत्ति 2012.
35. संत एकनाथ दर्शन-सम्पा.हे.वि.इनामदार, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, विजयानगर, पुणे-30, प्रथम आवृत्ति अक्तूबर 1983.
36. संत चोखमेळा : विविध दर्शन-एँलिनॉर झेलियट औरौ वा.ल.मंजूळ, सुगावा प्रकाशन, 562, सदाशिव पेठ, पुणे-30, द्वितीय आवृत्ति सितंबर 2011.
37. संत तुकाराम चरित्र-ल.रा.पांगारकर, वरदा प्रकाशन प्रा.लि.397/1, सेनापती बापट मार्ग, पुणे-16, चौथी आवृत्ति दिसंबर 2007.
38. संत नामदेव : काव्यदर्शन-डॉ.मु.श्री.कानडे, स्नेहवर्धन पब्लिशिंग हाऊस, 863, सदाशिव पेठ, पुणे-30, प्रथमावृत्ति जुलाई 2001.
39. संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति-गं.बा.सरदार, लोकवाङ्मय गृह, 85, सयानी रोड, मुंबई-25, चौथी आवृत्ति 1982.
40. संत सावता माळी-अनिल दीक्षित, उत्कर्ष प्रकाशन, 701, डेक्कन जिमखाना, पुणे-04, प्रथम आवृत्ति जनवरी 2005.
41. संत साहित्य आणि दलित संवेदना-सम्पा.रा.तु.भगत, चैतन्य प्रकाशन, 1758 ए, साकोली कॉर्नर, कोल्हापुर, प्रथम आवृत्ति सितंबर 2003.
42. संतवाणीतील पंथराज-शं.गो.तुळपुळे, मेहता पब्लिशिंग हाऊस, 1216, सदाशिव पेठ, पुणे-30, द्वितीय संस्करण-1994.
43. संतांची हे भेटी-डॉ.मु.श्री.कानडे, स्नेहवर्धन प्रकाशन, 863 सदाशिव पेठ, पुणे-30, द्वितीय आवृत्ति 2000.
44. समर्थ रामदास-वि.रा.करन्दीकर, नैशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-16, चौथी आवृत्ति 2004.

सन्दर्भ ग्रंथ : अंग्रेजी

1. Communalism and Culture-Divi Kumar, Mythri Book House, Karl Marx Road, Vijayawada-02, August 1999.
2. Debrahmanising History : Dominance and Resistance in Indian history-Braj Ranjan Mani, Manohar Publisher & Distributors, 4753/23, Ansari Road, Daruyaganj, New Delhi-02, First Published in 2005, Reprinted in 2007, 2008.
3. India's Islamic Traditions - 711-1750 - Edt. By Richard M. Eaton, Published in India by Oxford University Press, New Delhi, Seventh Impression 2011.

4. Poetics and Politics of Sufism & Bhakti in South Asia – Etd. by Kavita Panjabi, Orient Black swan private limited, 1/24, Asaf Ali Road, New Delhi-02, First published-2011.
5. Prominent Mystic Poets of Punjab-Lochan Singh Buxi, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, Patiala House, New Delhi-01, November 1994.
6. The History of Sikh Gurus – Prithi Pal Singh, Lotus Press, 4263/3, Ansari Road, Dariya Ganj, New Delhi-02, 2009, Lotus Press.
7. The Oxford Anthology of Bhakti Literature – Etd. by Andrew Schelling, Published in India by Oxford University Press, New Delhi, First Published in 2011.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अक्षत, सम्पा.श्रीराम परिहार, अंक-13, 2001
2. आलोचना, सम्पादक अरुण कमल
3. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्पादक मण्डल, वर्ष-63, अंक-02, सं.2015 वि.
4. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्पादक मण्डल, वर्ष-69, अंक-03, सं.2021 वि.
5. प्रगतिशील वसुधा, सम्पा.कमला प्रसाद, अतिथि सम्पा.चन्द्रकान्त पाटील, वर्ष-3, अंक-3.
6. वाक्, सम्पा.सुधीश पचौरी, अंक-18, वर्ष-2014,
7. विश्वभारती पत्रिका, सम्पा.हजारीप्रसाद द्विवेदी, खण्ड-6, अंक-2, अप्रैल-जून 1947.

कोश

1. ऊर्दू-हिन्दी कोश-आचार्य रामचन्द्र वर्मा,
2. भारतीय मिथक कोश-उषा,
3. भारतीय मिथक कोष-डॉ.उषा पुरी वाचस्पति, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, चौथा संस्करण-2004.
4. वरदा हिन्दी-इंग्रजी शब्दकोश-सम्पा. श्री ह.अ.भावे,
5. हिन्दी साहित्य कोष, भाग 1 और 2, सम्पा.धीरेन्द्र वर्मा,

वेब-स्थल सेतु (Website links)

1. <http://www.jstor.org/>
2. <https://www.youtube.com/watch?v=Lbp4GXmF0ZQ>
3. <https://www.youtube.com/watch?v=QzKxe4BeT-Q>
4. <https://www.youtube.com/watch?v=YCAx95wucEE>
5. www.tukaram.com